हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

(सोलह भागों में)

त्रयोदश भाग

नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

सं० २०२२ वि०

प्रकाशक : नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।
मुद्रक : शंभुनाथ वाजपेयी, नागरी मुद्रण, वाराणसी।
संस्करण : प्रथम, २६०० प्रतियाँ, संवत् २०२२ वि०
मूल्य [illegible]

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

त्रयोदश भाग

समालोचना, निबंध और पत्रकारिता

[सं० १९७५-९५ वि०]

(सन् १९२०-४० ई०)

प्रधान संपादक

डॉ० संपूर्णानंद

संपादक

डॉ० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' एम० ए०, डी० लिट्०

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

सं० २०२२ वि०

त्रयोदश भाग के लेखक

प्रथम खंड : डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु, एम० ए०, डी०-लिट्०

द्वितीय खंड : श्री हंसकुमार तिवारी

तृतीय खंड : डॉ० माहेश्वरी सिंह 'महेश', एम० ए०, पी-एच० डी०

चतुर्थ खंड : डॉ० शंभुनाथ सिंह, एम० ए०, पी-एच० डी०

पंचम खंड : डॉ० रामदरस मिश्र, एम० ए०, पी-एच० डी०

—०—

प्राक्कथन

यह जानकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई है कि काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास के प्रकाशन की सुचिंतित योजना बनाई है। यह इतिहास १६ खंडों में प्रकाशित होगा। हिंदी के प्रायः सभी मुख्य विद्वान् इस इतिहास के लिखने में सहयोग दे रहे हैं। यह हर्ष की बात है कि इस शृंखला का पहला भाग, जो लगभग ८०० पृष्ठों का है, छप गया है। प्रस्तुत योजना कितनी गंभीर है, यह इस भाग के पढ़ने से ही पता लग जाता है। निश्चय ही इस इतिहास में व्यापक और सर्वांगीण दृष्टि से साहित्यिक प्रवृत्तियों, आंदोलनों तथा प्रमुख कवियों और लेखकों का समावेश होगा और जीवन की सभी दृष्टियों से उनपर यथोचित विचार किया जायगा।

हिंदी भारतवर्ष के बहुत बड़े भूभाग की साहित्यिक भाषा है। गत एक हजार वर्ष से इस भूभाग की अनेक बोलियों में उत्तम साहित्य का निर्माण होता रहा है। इस देश के जनजीवन के निर्माण में इस साहित्य का बहुत बड़ा हाथ रहा है। संत और भक्त कवियों के सारगर्भित उपदेशों से यह साहित्य परिपूर्ण है। देश के वर्तमान जीवन को समझने के लिये और उसके अभीष्ट लक्ष्य की ओर अग्रसर करने के लिये यह साहित्य बहुत उपयोगी है। इसलिये इस साहित्य के उदय और विकास का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विवेचन महत्वपूर्ण कार्य है।

कई प्रदेशों में बिखरा हुआ साहित्य अभी बहुत अंशों में अप्रकाशित है। बहुत सी सामग्री हस्तलेखों के रूप में देश के कोने कोने में बिखरी पड़ी है। नागरीप्रचारिणी सभा ने पिछले ५० वर्षों से इस सामग्री के अन्वेषण और संपादन का काम किया है। बिहार, राजस्थान, मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश की अन्य महत्वपूर्ण संस्थाएँ भी इस तरह के लेखों की खोज और संपादन का कार्य करने लगी हैं। विश्वविद्यालयों के शोधप्रेमी अध्येताओं ने भी महत्वपूर्ण सामग्री का संकलन और विवेचन किया है। इस प्रकार अब हमारे पास नए सिरे से विचार और विश्लेषण के लिये पर्याप्त सामग्री एकत्र हो गई है। अतः यह आवश्यक हो गया है कि हिंदी साहित्य के इतिहास का नए सिरे से अवलोकन किया जाय और प्राप्त सामग्री के आधार पर उसका निर्माण किया जाय।

इस बृहत् हिंदी साहित्य के इतिहास में लोकसाहित्य को भी स्थान दिया गया है, यह खुशी की बात है। लोकभाषाओं में अनेक गीतों, वीरगाथाओं, प्रेमगाथाओं तथा लोकोक्तियों आदि की भी भरमार है। विद्वानों का ध्यान इस

ओर भी गया है, यद्यपि यह सामग्री अभी तक अधिकतर अप्रकाशित ही है। लोककथा और लोककथानकों का साहित्य साधारण जनता के अंतरतर की अनुभूतियों का प्रत्यक्ष निदर्शन है। अपने बृहत् इतिहास की योजना में इस साहित्य को भी स्थान देकर सभा ने एक महत्वपूर्ण कदम उठाया है।

हिंदी भाषा तथा साहित्य के विस्तृत और संपूर्ण इतिहास का प्रकाशन एक और दृष्टि से भी आवश्यक तथा वांछनीय है। हिंदी की सभी प्रवृत्तियों और साहित्यिक कृतियों के अविकल ज्ञान के बिना हम हिंदी और देश की अन्य प्रादेशिक भाषाओं के आपसी संबंध को ठीक ठीक नहीं समझ सकते। इंडोआर्यन वंश की जितनी भी आधुनिक भातीय भाषाएँ हैं, किसी न किसी रूप में और किसी न किसी समय उनकी उत्पत्ति का हिंदी के विकास से घनिष्ठ संबंध रहा है और आज इन सब भाषाओं और हिंदी के बीच जो अनेकों पारिवारिक संबंध हैं उनके यथार्थ निदर्शन के लिये यह अत्यंत आवश्यक है कि हिंदी के उत्पादन और विकास के बारे में हमारी जानकारी अधिकाधिक हो। साहित्यिक तथा ऐतिहासिक मेलजोल के लिये ही नहीं बल्कि पारस्परिक सद्‌भावना तथा आदान प्रदान बनाए रखने के लिये भी यह जानकारी उपयोगी होगी।

इन सब भागों के प्रकाशित होने के बाद यह इतिहास हिंदी के बहुत बड़े अभाव की पूर्ति करेगा और मैं समझता हूँ, यह हमारी प्रादेशिक भाषाओं के सर्वांगीण अध्ययन में भी सहायक होगा। काशी नागरीप्रचारिणी सभा के इस महत्वपूर्ण प्रयत्न के प्रति मैं अपनी हार्दिक शुभकामना प्रगट करता हूँ और इसकी सफलता चाहता हूँ।

राष्ट्रपति भवन
नई दिल्ली
३ दिसंबर, १९५७

राजेन्द्र प्रसाद

प्रधान संपादक का वक्तव्य

काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने संवत् २०१० में अपनी हीरक जयंती के अवसर पर यह संकल्प किया था कि १६ भागों में हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास प्रकाशित किया जाय। इस कार्य की आवश्यकता और उपादेयता को देखते हुए सभा ने योजनानुसार इस कार्य को अग्रसर किया। साहित्य लौकिक वा सामाजिक विषय है। राजन्य वर्ग में ईश्वरांश की मान्यता स्वीकार करने पर भी, व्यवस्थित राजनीतिक इतिहास तक जब यहाँ कम ही लिखे गए, तब कवियों और लेखकों के इतिवृत्त भला कैसे लिखे जाते? यही कारण है कि एक सहस्र वर्षों की अविच्छिन्न परंपरा होने पर भी हिंदी साहित्य के व्यवस्थित इतिहासलेखन का कार्य अत्यंत दुस्तर रहा है। परंतु रचनाकारों के इतिवृत्त के प्रति यह उपेक्षाभाव होने पर भी उनके द्वारा रचित ग्रंथों को यहाँ देवविग्रहवत् पूज्य माना जाता रहा जिसके कारण अनेकानेक प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथ आज भी सुरक्षित हैं।

हिंदी साहित्य के इतिहासलेखन का सर्वप्रथम प्रयत्न संवत् १६३४ वि० में शिवसिंह सेंगर ने किया था, जिसमें लगभग एक सहस्र कवियों का उल्लेख है। इसके बहुत पूर्व, संवत् १८६६ में उर्दू फारसी के फ्रांसीसी विद्वान् गार्सां द तासी ने 'हिंदुस्तानी साहित्य का इतिहास' प्रकाशित कराया था। परंतु यह इतिहास मुख्यतः उर्दू कवियों का था और हिंदी के कुछ बहुत प्रसिद्ध कवियों का ही उल्लेख इसमें था। 'शिवसिंह सरोज' के बाद से लेकर अब तक समय समय पर कवियों और लेखकों की रचनाओं के संग्रह और उनका परिचय निकलते रहे हैं। सरोज के अनंतर डा० सर ज्यार्ज ग्रियर्सन ने संवत् १६४६ (सन् १८८६) में अपना 'माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आव नार्दर्न हिंदुस्तान' कलकत्ते की एशियाटिक सोसायटी से प्रकाशित कराया जिसमें हिंदी साहित्य का सर्वप्रथम विषयविभाजन और कालविभाजन करने की चेष्टा की गई। सन् १६२० ई० अर्थात् संवत् १६७७ वि० में अंग्रेजी में एक अन्य इतिहास 'ए हिस्ट्री आव हिंदी लिटरेचर' जबलपुर मिशनरी सोसायटी के श्री एफ० ई० की ने 'हेरिटेज आव इंडिया सीरीज' में निकाला विषय और कालविभाजन आदि के संबंध में स्वतंत्र चिंतन का इसमे अभाव है और मुख्यतः ग्रियर्सन का ही अनुगमन किया गया है। इस प्रकार के जितने भी प्रयत्न हुए उनमें सर्वाधिक सामग्री का उपयोग मिश्रबंधु विनोद में किया गया जो तीन भागों में निकाला गया और जिसमें आरंभ से लेकर समसामयिक लेखकों और कवियों तक का समावेश था।

संवत् १९८४ में जब इस सभा ने अपना हिंदी शब्दसागर निकालना पूरा किया, तब यह भी स्थिर किया गया कि इसके साथ हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास भी दे दिया जाय। भाषा विषयक अंश स्व० डा० श्यामसुंदरदास जी ने और साहित्य विषयक अंश स्व० पं० रामचंद्र जी शुक्ल ने प्रस्तुत किया। शीघ्र ही दोनों महानुभावों के निबंध सामान्य संशोधन परिवर्तन के पश्चात् पुस्तकाकार भी प्रकाशित हो गए।

यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि उपर्युक्त समस्त इतिहासग्रंथों में से केवल स्व० शुक्ल जी का इतिहास हिंदी साहित्य का वास्तविक इतिहास कहलाने का अधिकारी है। इसके बाद तो साहित्य के इतिहासों का ताँता सा लग गया और इस क्रम में अभी तक विराम नहीं आया है, यद्यपि इन समस्त इतिहासों का ढाँचा स्व० आचार्य शुक्ल से ही लिया गया है। लगभग ४० वर्षों तक इतिहासक्षेत्र में मार्गदर्शन करने के पश्चात् स्व० शुक्ल जी का ग्रंथ आज भी अपने शीर्षस्थान पर बना हुआ है।

इस बीच हिंदी के प्राचीन साहित्य की खोज निरंतर होती रही है और अनेकानेक महत्वपूर्ण सामग्री प्रकाश मे आई है। अनेक अज्ञात कवियों और उनकी रचनाओं का तथा ज्ञात कवियों और लेखको की अज्ञात रचनाओं का पता लगा है, जिससे साहित्य की ज्ञात धाराओं के संबंध में हमारे पूर्वसंचित ज्ञान में वृद्धि होने के अतिरिक्त कतिपय नवीन धाराओं का भी पता चला है। विभिन्न विश्वविद्यालयों में होनेवाली शोधों द्वारा भी हमारे ज्ञान की परिधि में विस्तार हुआ है। प्रस्तुत इतिहासमाला में इन समस्त नवसंचित ज्ञानराशि का समुचित उपयोग हो रहा है। विभिन्न खंडों का संकलन संपादन तत् विषयों के विशेषज्ञ विद्वानों को सौंपा गया है, जिन्होंने अपने अपने खंडों के विभिन्न प्रकरणों और अध्यायों की रचना में ऐसे लेखकों का सहयोग लिया है जिन्होने इस क्षेत्र में विशेष अध्ययन मनन किया है। अबतक इस इतिहास के तीन भाग (भाग १, ६ और १६) प्रकाशित हो चुके हैं। चौथा भाग (भाग १३) आपके संमुख है और एकाध महीने में एक और भाग (भाग २) प्रकाशित हो जायगा। अन्य भागों के भी शीघ्र ही प्रकाशित होने की आशा है यदि संबद्ध विद्वान् संपादकों एवं लेखकों ने अपने आश्वासन यथासमय पूरा कर देने की कृपा की। हमें विश्वास है, प्रस्तुत इतिहासमाला अपने उद्देश्यों में सफल होगी और सभा के ऐसे अन्यान्य ग्रंथों की भाँति सुदूर अनागत काल तक साहित्य के विद्यार्थियों और जिज्ञासुओं का मार्गदर्शन करती रहेगी।

राजभवन,
जयपुर

संपूर्णानंद
प्रधान संपादक,
हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

प्रस्तावना

हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास का त्रयोदश भाग (समालोचना, निबंध और पत्रकारिता) सुधी पाठकों के निकट प्रस्तुत करते हुए मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है।

प्रस्तुत इतिहास का लेखनकार्य योजनानुसार सहकारिता के आधार पर किया गया है। प्रारंभ में इसके लेखकों में जिन विद्वानों को रखना निश्चित किया गया था, उनमें से अनेक ने अपने अंश का लेखनकार्य समय पर पूरा नहीं किया, अतः विवश होकर मुझे अन्य विद्वानों का सहयोग लेना पड़ा। स्व० नलिनविलोचन शर्मा के असामयिक देहावसान से उनके स्थान पर दूसरे विद्वान् की नियुक्ति में भी समय लग गया। इन्हीं सब कारणों से इस भाग के लेखन तथा संपादनकार्य में आशातीत विलंब हो गया, जिसके लिये मुझे खेद है।

बृहत् इतिहास के प्रस्तुत भाग में कुल पाँच लेखकों के सहयोग हैं। सभी लेखकों को अपने मत का आग्रह होना स्वाभाविक है। अतः इसी कारण पारस्परिक एकरूपता और सामंजस्य का ध्यान रखने पर भी कहीं कहीं पुनरावृत्ति हो गई है और कहीं सामंजस्य रखने में भी कुछ कसर रह गई है। इस भाग में अनेक जीवित साहित्यकारों का विवेचन किया गया है। जीवित लेखकों का साहित्येतिहासिक विवेचन जीवित विवाद का विषय हो सकता है। अतः उनके संबंध में मैंने यथासाध्य मर्यादा बनाए रखने का प्रयत्न किया है, किंतु लेखक के मत को उन्हीं के दायित्व पर छोड़ देने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय सुलभ नहीं था। मैं किसी लेखक पर अपना मत आरोपित करना उचित नहीं समझता, क्योंकि इससे इतिहासलेखन का मूल सिद्धांत ही खंडित हो जाता है।

बृहत् इतिहास के इस भाग की कालसीमा विक्रमी संवत् १९७५ से ९५ तक है। यह अवधि लगभग प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद से लेकर द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारंभ तक है। इन बीस वर्षों की अवधि में हिंदी समालोचना, निबंध और पत्रकारिता का विकास ऐतिहासिक दृष्टि से प्रस्तुत करना ही इस भाग का उद्देश्य है। इतिहास की वैज्ञानिक पद्धति से हुए विवेचन में कुछ कमी तो अवश्य है, किंतु उस कमी को पूरा कर पाना सरल भी नहीं था और इसी कारण उस दोष से ऊपर उठकर पूर्ण वैज्ञानिक पद्धति से इस काल के हिंदी साहित्य का मूल्यांकन कर पाना शायद आज संभव नहीं है। फिर भी प्रस्तुत भाग में जो कुछ तथ्य और सत्य सँजोया हुआ है, उससे भविष्य के इतिहासकार का मार्ग सुगम और प्रशस्त होगा, इसमें मुझे संदेह नहीं है।

यहाँ नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा नियोजित बृहत् इतिहास के मूल आयोजक डा० राजबली पांडेय को धन्यवाद देना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ, जिनकी सूझ-बूझ से हिंदी जगत् में ऐसी अभिनव योजना का आरंभ हुआ। यह योजना हिंदी जगत् में एक प्रयोग है। यह प्रयोग चाहे पूर्णरूप से सफल न भी हो, पर इससे इतिहास की बहुत कुछ सारसामग्री एकत्र अवश्य हो जायगी। बृहत् इतिहास के वर्तमान संयोजक श्री सुधाकर पांडेय के प्रयत्न और परिश्रम से ही यह त्रयोदश भाग मुद्रित होकर प्रकाशित हो रहा है, इसलिये उनको भी धन्यवाद देना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।

२, किंग जार्ज ऐवेन्यू,
पटना.
१६ जुलाई, १९६५

लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'

—— –

हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास की योजना

नागरीप्रचारिणी सभा के संक्षिप्त खोज विवरणों के प्रकाशन के साथ ही सं० १९०१ वि० से हिंदी साहित्य के इतिहासलेखन के लिये प्रचुर सामग्री उपलब्ध होनी आरंभ हुई और उसका विस्तार होता गया। धीरे धीरे अतुल संपत्ति का भंडार उपस्थित हो गया। इन उपलब्ध सामग्रियों का उपयोग और प्रयोग समय समय पर विद्वानों ने किया और सभा के भूतपूर्व खोज निरीक्षक स्व० मिश्रबंधुओं ने मिश्रबंधु विनोद में संवत्' ' 'तक उपलब्ध इस सामग्री का व्यापक रूप से उपयोग भी किया। यद्यपि उनके पूर्व भी गार्सा द तसी (संवत् १८९६ वि०), शिवसिंह सेंगर (सं० १९३८), डा० सर जार्ज ग्रियर्सन (संवत् १९४६), एफ० ई० की ने सं० १९७७ में क्रमशः हिंदुस्तानी साहित्य का इतिहास शिवसिंह सरोज, माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आव हिंदुस्तान, ए हिस्ट्री आफ हिंदी लिटरेचर प्रकाशित हो चुके थे, तो भी ये ग्रंथ हिंदी साहित्य के इतिहास नहीं माने जा सकते क्योंकि इनकी सीमा इतिवृत्तसंग्रह की परिधि के बाहर की नहीं। निश्चय ही ग्रियर्सन का मान अधिक वैज्ञानिक कालविभाजन के कारण और मिश्रबंधु विनोद की गरिमा उसके कालविभाजन तथा तथ्यसंग्रह की दृष्टि से है।

सभा ने हिंदी साहित्य के इतिहासलेखन का गंभीर आयोजन हिंदी शब्दसागर की भूमिका के रूप में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के द्वारा कराया था, जिसका परिवर्धित संशोधित रूप हिंदी साहित्य के इतिहास के रूप में सभा से सं० १९८६ में प्रकाशित हुआ। यह इतिहास अपने गुण धर्म के कारण अनुपम मान का अधिकारी है। यद्यपि अब तक हिंदी साहित्य के प्रकाशित इतिहासों की संख्या शताधिक तक पहुँच चुकी है तो भी शुक्ल जी का इतिहास सर्वाधिक मान्य एवं प्रामाणिक है। अपने प्रकाशनकाल से लेकर आज तक उसकी स्थिति ज्यों की त्यों बनी हुई है। शुक्ल जी ने अपने इतिहासलेखन में सं० १९६६ तक खोज में उपलब्ध प्रायः सारी सामग्री का उपयोग किया था। तब से इधर उपलब्ध होनेवाली सामग्री का बराबर विस्तार होता गया। हिंदी का भी विस्तार दिन पर दिन व्यापक होता गया और स्वतंत्रता-प्राप्ति तथा हिंदी के राष्ट्रभाषा होने पर उसकी परिधि का और भी विस्तार हुआ।

संवत् २०१० में अपनी हीरक जयंती के अवसर पर नागरीप्रचारिणी सभा ने **हिंदी शब्दसागर, और हिंदी विश्वकोश के साथ ही हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास की योजना बनाई।** सभा के तत्कालीन सभापति स्वर्गीय डा० अमरनाथ झा की

प्रेरणा से इस योजना ने मूर्तरूप ग्रहण किया। हिंदी साहित्य की व्यापक पृष्ठभूमि से लेकर उसके अद्यतन इतिहास तक का क्रमबद्ध एवं धारावाही वर्णन अद्यतन उपलब्ध सामग्री के आधार पर प्रस्तुत करने के लिये इस योजना का संगठन किया गया। मूलतः यह योजना ५ लाख ५६ हजार ८ सौ ५४ रुपए २४ पैसे की बनाई गई। भूतपूर्व राष्ट्रपति देशरत्न स्व० डा० राजेंद्रप्रसाद जी ने इसमें विशेष रुचि ली और प्रस्तावना लिखना स्वीकार किया। इस मूल योजना में समय समय पर आवश्यकतानुसार परिवर्तन, परिवर्धन भी होता रहा है। प्रत्येक विभाग के विलग विलग मान्य विद्वान् इसके संपादक एवं लेखक नियुक्त किए गए जिनके सहयोग से बृहत् इतिहास का पहला खंड संवत् २०१४ में, खंड ६, २०१५ में एवं खंड १६ संवत २०१७ में प्रकाशित हुआ। इन तीनों खंडों के प्रकाशन संपादन आदि योजना पर अब तक १६१८६६.७४ रुपए व्यय हुए। इस योजना को सफल बनाने के लिये मध्यप्रदेश, राजस्थान, अजमेर, बिहार, उत्तरप्रदेश और केंद्रीय सरकारों ने अब तक १ लाख ५२ हजार रुपए के अनुदान दिए हैं। देश के व्यस्त मान्य विद्वानों तथा निष्णात लेखकों को यह कार्य सौंपा गया था। इस योजना की गरिमा तथा विद्वानों की अतिव्यस्तता के कारण इसमें विलंब हुआ। एक दशक बीत जाने पर भी कुछ संपादकों एवं लेखकों ने रंचमात्र कार्य नहीं किया। किंतु अब ऐसी व्यवस्था कर ली गई है कि इसमें अब और अधिक विलंब न हो। संवत् २०१७ तक इसके संयोजक डा० राजबली पांडेय थे। और उसके पश्चात् संवत् २०२० तक डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा रहे।

इस योजना को गति देने तथा आर्थिक बचत को ध्यान में रखकर इस योजना को फिर से सँवारा गया है। महामहिम डा० संपूर्णानंद जी ने इसका प्रधान संपादक होना स्वीकार कर लिया है। इसके संपादकों आदि का अद्यतन प्रारूप निम्नांकित रूप में स्थिर किया गया है :

प्रधान संपादक : महामहिम डा० संपूर्णानंद जी
प्रस्तावना : भूतपूर्व देशरत्न स्व० राष्ट्रपति डा० राजेंद्रप्रसाद जी

विषय और काल	भाग	संपादक
हिंदी साहित्य की ऐतिहासिक पीठिका	प्रथम भाग (प्रकाशित)	डा० राजबली पांडेय
हिंदी भाषा का विकास	द्वितीय भाग (शीघ्र ही प्रकाश्य)	डा० धीरेंद्र वर्मा
हिंदी साहित्य का उदय और विकास १४०० विक्रमी तक	तृतीय भाग	पं० करुणापति त्रिपाठी सह० संपादक डा० शिवप्रसाद सिंह

भक्तिकाल (निर्गुणभक्ति) १४००-१७०० वि०	चतुर्थ भाग	पं० परशुराम चतुर्वेदी
भक्तिकाल (सगुणभक्ति) १४००-१७०० वि०	पंचम भाग	डा० दीनदयालु गुप्त
शृंगारकाल (रीतिबद्ध) १७००-१६०० वि०	षष्ट भाग (प्रकाशित)	डा० नगेंद्र
शृंगारकाल (रीतिमुक्त) १७००-१६०० वि०	सप्तम भाग	डा० भगीरथ मिश्र
हिंदी साहित्य का अभ्युत्थान (भारतेंदुकाल) १६००-५० वि०	अष्टम भाग	श्री विनयमोहन शर्मा
हिंदी साहित्य का परिष्कार (द्विवेदीकाल) १६५०-७५ वि०	नवम भाग	पं० कमलापतित्रिपाठी श्री सुधाकर पांडे
हिंदी साहित्य का उत्कर्षकाल (काव्य) १६७५-६५ वि०	दशम भाग	श्री रामेश्वरशुक्ल 'अंचल' पं० शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र'
हिंदी साहित्य का उत्कर्षकाल (नाटक) १६७५-६५ वि०	एकादश भाग	श्री जगदीशचंद्र माथुर सह० संपादक डा० दशरथ ओझा
हिंदी साहित्य का उत्कर्षकाल (उपन्यास, कथा, आख्यायिका) १६७५-६५ वि०	द्वादश भाग	श्रीकृष्णदेवप्रसाद गौड़ डा० भोलाशंकर व्यास डा० त्रिभुवनसिंह
हिंदी साहित्य का उत्कर्षकाल (समालोचना निबंध) १६७५-६५ वि०	त्रयोदश भाग (प्रकाशित)	डा० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'
हिंदी साहित्य का अद्यतनकाल १६६५-२०१० वि०	चतुर्दश भाग	डा० हरवंशलालशर्मा
हिंदी में शास्त्र तथा विज्ञान	पंचदश भाग	डा० विश्वनाथप्रसाद
हिंदी का लोकसाहित्य	षोडश भाग (प्रकाशित)	महापंडित राहुल सांकृत्यायन

इतिहासलेखन के लिये जो सामान्य सिद्धांत स्थिर किए गए हैं वे निम्नलिखित हैं :

(१) हिंदी साहित्य के विभिन्न कालों का विभाजन युग की मुख्य सामाजिक और साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर किया जायगा ।

(२) व्यापक सर्वांगीण दृष्टि से साहित्यिक प्रवृत्तियों, आंदोलनों तथा प्रमुख कवियों और लेखकों का समावेश इतिहास में होगा और जीवन की नई दृष्टियों से उनपर यथोचित विचार किया जायगा ।

(३) साहित्य के उदय और विकास, उत्कर्ष तथा अपकर्ष का वर्णन और विवेचन करते समय ऐतिहासिक दृष्टिकोण का पूरा ध्यान रखा जायगा अर्थात्

तिथिक्रम, पूर्वापर तथा कार्य-कारण-संबंध, पारस्परिक संपर्क, संघर्ष, समन्वय, प्रभावग्रहण, आरोप, त्याग, प्रादुर्भाव, अंतर्भाव, तिरोभाव आदि प्रक्रियाओं पर पूरा ध्यान दिया जायगा।

(४) संतुलन और समन्वय—इसका ध्यान रखना होगा कि साहित्य के सभी पक्षों का समुचित विचार हो सके। ऐसा न हो कि किसी पक्ष की उपेक्षा हो जाय और किसी का अतिरंजन। साथ ही साथ साहित्य के सभी अंगों का एक दूसरे से संबंध और सामंजस्य जिस प्रकार से विकसित और स्थापित हुआ, उसे स्पष्ट किया जायगा। उनके पारस्परिक संघर्षों का उल्लेख और प्रतिपादन उसी अंश और सीमा तक किया जायगा जहाँ तक वे साहित्य के विकास में सहायक सिद्ध हुए होंगे।

(५) हिंदी साहित्य के इतिहास के निर्माण में मुख्य दृष्टिकोण साहित्य-शास्त्रीय होगा : इसके अंतर्गत ही विभिन्न साहित्यिक दृष्टियों की समीक्षा और समन्वय किया जायगा। विभिन्न साहित्यिक दृष्टियों में निम्नलिखित की मुख्यता होगी :

क—शुद्ध साहित्यिक दृष्टि : अलंकार, रीति, रस, ध्वनि, व्यंजना आदि।

ख—दार्शनिक।

ग—सांस्कृतिक।

घ—समाजशास्त्रीय।

ङ—मानवीय, आदि।

च—विभिन्न राजनीतिक मतवादों और प्रचारात्मक प्रभावों से बचना होगा। जीवन में साहित्य के मूल स्थान का संरक्षण आवश्यक होगा।

छ—साहित्य के विभिन्न कालों में उसके विविध रूपों में परिवर्तन और विकास के आधारभूत तत्वों का संकलन और समीक्षण किया जायगा।

ज—विभिन्न मतों की समीक्षा करते समय उपलब्ध प्रमाणों पर सम्यक् विचार किया जायगा। सबसे अधिक संतुलित और बहुमान्य सिद्धांत की ओर संकेत करते हुए भी नवीन तथ्यों और सिद्धांतों का निरूपण संभव होगा।

झ—उपर्युक्त सामान्य सिद्धांतों को दृष्टि में रखते हुए, प्रत्येक भाग के संपादक अपने भाग की विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत करेंगे। उपसमिति इतिहास की व्यापक एकरूपता और आंतरिक सामंजस्य बनाए रखने का प्रयास करना होगा।

साथ ही जो पद्धति इतिहास लेखन में व्यवहृत करने का निश्चय किया गया वह इस प्रकार है—

(६) प्रत्येक लेखक और कवि की सभी उपलब्ध कृतियों का पूरा संकलन किया जायगा और उसके आधार पर ही उनके साहित्यक्षेत्र का निर्वाचन और

निर्धारण होगा तथा उनकी जीवन और कृतियों के विकास में विभिन्न अवस्थाओं का विवेचन और निदर्शन किया जायगा।

(७) तथ्यों के आधार पर सिद्धांतों का निर्धारण होगा, केवल कल्पना और संभावनाओं पर ही किसी कवि अथवा लेखक की आलोचना अथवा समीक्षा नहीं की जायगी।

(८) प्रत्येक निष्कर्ष के लिये प्रमाण तथा उद्धरण आवश्यक होंगे।

(९) लेखन में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया जायगा—संकलन, वर्गीकरण, समीकरण (संतुलन), आगमन आदि।

(१०) भाषा और शैली सुबोध तथा सुरुचिपूर्ण होगी।

सभा का आरंभ से ही यह विचार रहा है कि उर्दू कोई स्वतंत्र भाषा नहीं है, बल्कि हिंदी की ही एक शैली है, अतः इस शैली के साहित्य की यथोचित चर्चा भी ब्रज, अवधी, डिंगल की भाँति, इतिहास में अवश्य होनी चाहिए। इसलिये आगे के खंडों में इसका भी आयोजन किया जा रहा है।

यह तेरहवाँ भाग आपके संमुख और दूसरा भाग भी लगभग इसके साथ ही प्रकाशित किया जाएगा। शेष भाग के संपादन तथा लेखन कार्य में विद्वान् मनोयोगपूर्वक लगे हुए हैं और यदि उन्होंने आश्वासन का पालन किया तो निश्चयही अतिशीघ्र इतिहास के सभी खंड प्रकाशित हो जायँगे।

यह योजना अत्यंत विशाल है तथा अतिव्यस्त बहुसंख्यक निष्णात विद्वानों के सहयोग पर आधारित है। यह प्रसन्नता का विषय है कि इन विद्वानों का योग सभा को प्राप्त तो है ही, अन्यान्य विद्वान् भी अपने अनुभव का लाभ हमें उठाने दे रहे हैं। हम अपने भूतपूर्व संयोजकों—डा० पांडेय और डा० शर्मा—के भी अत्यंत आभारी हैं जिन्होंने इस योजना को गति प्रदान की। हम भारत सरकार तथा अन्यान्य सरकारों के भी कृतज्ञ हैं जिन्होंने वित्त से हमारी सहायता की।

इस योजना के साथ ही सभा के संरक्षक स्व० डा० राजेंद्रप्रसाद और उसके भूतपूर्व सभापति स्व० डा० अमरनाथ झा तथा स्व० पंडित गोविंद वल्लभ पंत की स्मृति जाग उठती है। जीवन में काल जिस भाँति इस योजना को उन्होंने चेतना और गति दी और आज उनकी स्मृति प्रेरणा दे रही है जिससे विश्वास है कि यह योजना शीघ्र ही पूरी हो सकेगी।

अब तक प्रकाशित इतिहास के खंडों को त्रुटियों के बावजूद भी हिंदी जगत् का आदर मिला है। मुझे विश्वास है कि आगे के खंडों में और भी परिष्कार और सुधार होगा तथा अपनी उपयोगिता एवं विशेष गुणधर्म के कारण वे समादृत होंगे।

इस खंड के संपादक डा० सुधांशु का मैं विशेष रूप से अनुगृहीत हूँ क्योंकि अतिव्यस्त होते हुए भी हिंदी के हित में इस कार्य को उन्होंने जो प्राथमिकता दी वह सराहनीय है।

इसके प्रधान संपादक तथा सभा के संरक्षक महामहिम डा० संपूर्णानंद जी के प्रति किसी भी प्रकार की कृतज्ञता व्यक्त करना सहज सौजन्य की मर्यादा का उल्लंघन है क्योंकि आज सभा में जो भी सत्कार्य हो रहे हैं उनपर उनकी छत्रच्छाया है। अंत में इस योजना में योगदान करनेवाले ज्ञात और अज्ञात सभी मित्रों के प्रति अनुगृहीत हूँ और विश्वास करता हूँ, उन सबका सहयोग इसी प्रकार सभा को निरंतर प्राप्त होता रहेगा।

सुधाकर पांडेय

दीपावली–सं० २०२२ वि०

संयोजक,

बृहत् इतिहास उपसमिति,

नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

—०—

विषयसूची

प्रथम खंड

परिस्थितियाँ

ले० डॉ० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'

द्वितीय खंड

निबंध का उदय

ले० पं० हंसकुमार तिवारी

तृतीय खंड

पत्र पत्रिकाओं का विकास : आलोचना का उदय

ले० डॉ० माहेश्वरी सिंह 'महेश' एम० ए० पी० एच० डी० (लंदन)

पृ० सं०

चतुर्थ खंड

समालोचना साहित्य का विकास

ले० डॉ० शंभुनाथ सिंह

पंचम खंड

सैद्धांतिक आलोचना

लें० डॉ० रामदरस मिश्र

———

प्रथम खंड

परिस्थितियाँ

लेखक

डा० लक्ष्मीनारायण सुधांशु

परिस्थितियाँ

सांस्कृतिक पुनरुत्थान का युग

उन्नीसवीं सदी वास्तव में प्राचीन गौरव और संस्कृति के पुनरुद्धार का युग था। अन्वेषण और अनुसंधान की विभिन्न प्रचेष्टाओं से विगत विस्मृत इतिहास की एक रूपरेखा खड़ी की गई। विभिन्न देशों जावा, सुमात्रा, बाली, लंका, चीन, तिब्बत, बर्मा, श्याम में भारतीय संस्कृति की जो निधियाँ बिखरी पड़ी थीं, उनके अवशेषों का उद्धार किया गया। पुराने राजवंशों की कीर्तिगाथाएँ खोज खोजकर संकलित की गई। प्राचीन मुद्राओं और शिलालेखों के पाठोद्धार से न केवल ऐतिहासिक परंपरा को आलोक और सूत्र मिला, बल्कि ब्राह्मी, खरोष्ठी जैसी लिपियों का भी जीर्णोद्धार हुआ। प्राचीन ग्रंथों का शोध, संस्कार और संकलन हुआ। सभी दिशाओं और सभी दृष्टियों से इतिहास के बीते वैभव को सामने लाकर उसे जीवन की प्रेरणा का आधार बनाया गया। आहत आत्म-गौरव को नए सिरे से सिर उठाने का बहुत बड़ा अवसर मिला। दासत्व के अभिशाप से निष्पेषित निष्क्रिय जाति को क्रियाशीलता और प्रगति की उद्बोधक शक्ति मिली। निरुपाय निश्चेष्ट प्राणों को जागरण की किरणों का जीवंत स्पर्श मिला। इसका प्रभाव जीवन के सभी क्षेत्रों पर पड़ा। साहित्य पर तो इसका बड़ा गहरा और प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। बीसवीं सदी के पहले दो दशाब्द में साहित्य के बहुमुखी विकास के जो लक्षण स्पष्ट हुए, वे इसी सांस्कृतिक पुनरुद्धार की देन हैं। रचनात्मक और उपयोगी साहित्य के सर्वतोमुखी विकास का द्वार उन्मुक्त हो गया। इसमें संदेह नहीं कि साहित्य में इस विकास का सूत्रपात भारतेंदु युग में ही हो चुका था, लेकिन उसके पूर्ण विकास के लक्षण बीसवीं सदी में प्रकट हुए। प्रारंभिक वर्षों में ही साहित्य में इस गौरवबोध के चित्र चरित्र उभरने लगे।

उन्नीसवीं सदी की सतत साधना का जो सौध बना, बीसवीं सदी के आरंभ के दशाब्दों में उसमें जिस चेतना की प्राणप्रतिष्ठा हुई, वह चेतना है पुनरुत्थानवादी। पिछली चेतना से इस चेतना में एक स्पष्ट अंतर है। वह अंतर

है दृष्टिकोण का। इस नवीन चेतना में स्पष्टतया एक वैज्ञानिक अथवा बुद्धिवादी सप्राणता की अँगड़ाई है। इस नवीन जागरुकता का प्रधान लक्षण है अपनी पिछली विरासत को नवोद्भूत परिस्थिति के अनुरूप गढ़ने की चेष्टा। प्राचीन संस्कृति के समुद्रमंथन से प्राप्त तत्वामृतों की नई दृष्टि से निरख परख तथा नई आवश्यकताओं के अनुकूल उनकी व्याख्या करने की प्रवृत्ति। अपने पुराने तत्वों को अविकल रूप में ग्रहण न करके संस्कार के साथ उन्हें अपनाने के इस आग्रह के दो कारण हैं, पहला पुराने में नवीन जीवन की प्राणवत्ता हो और दूसरा नवीनीकरण की प्रक्रिया हमें पश्चिम के प्रभाव से सर्वथा अभिभूत न कर दे। समन्वय की इस दृष्टि की दो प्रमुख दिशाएँ हुईं—मर्यादावाद और आदर्शवाद। राष्ट्रीय गौरव की भावना तथा पश्चिमी तत्वों का प्रभाव—इन दो भावों के संमेलन से ही इस दृष्टि का जन्म हुआ। राष्ट्रीय विशिष्टता की इस भावना ने पश्चिम के अजेय प्रभाव से हमारी निजता को बचाया। पश्चिमी प्रभाव ऊपर से प्रबल जितना ही क्यों न दिखाई देता हो, भीतर से हमारी इस आकांक्षा की सजगता रही कि हमारी निजस्वता सुरक्षित रहे। मर्यादावाद का यह निश्चित परिणाम और आगे चलकर प्रत्यक्ष हुआ कि रचनात्मक प्रवृत्ति पर ऐसे प्रभाव की छाप आरंभ में जो भी चाहे रही हो, किंतु धीरे-धीरे देश के स्वतंत्र साहित्यिक व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा हुई। विदेशी साहित्य के प्रभाव से विषय और उपादान का क्षेत्र बहुत बढ़ गया—उन्हें रूप देने के लिए व्यंजनाशैली भी बदली और वह शैली कल्पनाप्रधान तथा आदर्शवादी होने के साथ साथ बुद्धिमूलक हुई।

पाश्चात्य शिक्षा से हित हुआ ही नहीं, यह कहना असत्य होगा। किंतु अहित भी कम नहीं हुआ। एक बहुत बड़ा शिक्षित समुदाय अँगरेजी के कुप्रभाव से अपने आचारविचार, भाषा, साहित्य, रहन सहन से विरूप, विमुख हो उठा। इस अरुचि और उदासीनता पर राष्ट्रीय जागरण काल से ही देश के हितैषी सजग हो गए थे और सामाजिक जीवन में वैसे पश्चिमी प्रभाव के विरोध के लक्षण साहित्य में प्रकट होने लगे थे। भारतीय संस्कृति के प्रति उदासीन भाव और पाश्चात्य सभ्यता के अंधानुकरण पर व्यंग्य किया जाने लगा था। जैसे बालमुकुंद गुप्त की ये पंक्तियाँ—

> जो प्यारे छुट्टी नहीं पाओ,
> तो यह सब चीजें भिजवाओ।
> चमचम पौडर, सुंदर सारी,
> लाल दुपट्टा जर्द किनारी।
> हिंदू बिस्कुट साबुन पोमेटम,
> तेल सफाचट औ अरबीगम।

अथवा नाथूराम शंकर शर्मा की पंक्तियाँ—

> ईश गिरिजा को छोड़, योशु गिरजा में जाय
> शंकर सलोने मैन निस्तर कहावेंगे,
> बूट पतलून कोट कामफट टोपि डटी,
> जाकट की पाकट में वाच लटकावेंगे।
> घूमेंगे घमंडी बन रंडी का पकड़ हाथ,
> पिएंगे बरंडी मीट होटल में खावेंगे।
> फारसी की छार सी उड़ाय अँगरेजी पढ़ि,
> मानो देवनागरी का नाम ही मिटावेंगे।

बुद्धिवादी दृष्टिकोण

हम यह समझने लगे कि बाहरी आचारविचार की यह अंधाधुंध नकल हमारे लिये हानिकारक है। साथ ही हमने यह अनुभव किया कि हमारी आडंबर-प्रियता ने सत्य की प्रतीति के बदले हमारे सिर को बाह्य आचरणों के चरणों पर झुका दिया है। हमने इस प्रवृत्ति से भी विमुख होने का संकल्प किया। नवीन-प्राचीन के इस संधिकाल में ग्रहण और वर्जन की सतर्कता हमें वैज्ञानिक दृष्टि ने ही दी। यह सतर्कता सामाजिक आचरणों तक ही सीमित नहीं रही, वरन् इसने हमारी सर्जनात्मक प्रेरणाओं का भी नियंत्रण किया। सामाजिक रूढ़ियों के समानांतर साहित्य की रूढ़ि और परंपरा का भी परिष्करण प्रारंभ हो गया। बुद्धिवादी दृष्टिकोण की यही विशेषता है। तत्कालीन साहित्य की गतिविधि में उसकी सक्रियता के दो रूप हमें मिलते हैं। एक तो यह कि उसने रूढ़िगत साहित्य परंपरा के अंधानुकरण की प्रवृत्ति को दूर किया और दूसरा यह कि प्रयोग के सहारे नए सिद्धांतों का रूप स्थिर किया। पुराने नियम और विधान तोड़े जाने लगे, नए नियमों और सिद्धांतों की प्रतिष्ठा होने लगी। इस नए दृष्टिकोण से जीवन के सभी क्षेत्रों में अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ। इतना अवश्य है कि हमारी ये मान्यताएँ जिस तीव्रता से बढ़ीं, आधुनिकता की उस समग्रता को अंगीकार करने की पूरी समर्थता न तो भारतेंदु काल में आ सकी न द्विवेदी युग में, क्योंकि जिस अनुपात में उपादान और रूप का क्षेत्र विस्तृत हुआ, भाषा की प्राण शक्ति उस हद तक प्रौढ़ नहीं थी। भाषा की न तो ठोस परंपरा थी, न कोई निश्चित आदर्श। साहित्य के क्षेत्र में आनेवालों को स्वयं ही इसका मार्ग प्रशस्त करना पड़ा। फिर भी बीसवीं सदी के आरंभ के बीस वर्षों की साहित्यसाधना में आधुनिकता की कुछ विशेष पुष्ट रेखाएँ उभर कर आई हैं। संस्कार, प्रयोग और विकास की यथेष्ट प्रचेष्टाएँ हुईं। साहित्य के रूपों और भाषा की समृद्धि की दृष्टि

से पर्याप्त काम हुआ। सन् १६०० से १६२० ई० की अवधि में हिंदी साहित्य में दो प्रमुख विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं—साहित्य का रूपवैविध्य और प्रवृत्ति की विविधता। विकास और परिवर्तन की यह गति इतनी आश्चर्यमयी है कि इसे हम साहित्य का क्रांतिकाल कहें तो अत्युक्ति न होगी। साहित्य के इतिहास में बहुमुखी विकास का ऐसा कोई युग ही नहीं आया। पिछले संचय की निधि न तो पर्याप्त थी, न ऐश्वर्यमयी। साहित्य में विरासत रूप में जो शब्दभंडार हमें मिला, जो साहित्य परंपरा मिली, वह शिल्प और भाव संपद् की बढ़ती हुई आवश्यकता को अभिव्यक्ति देने की दृष्टि से क्षीण हीन थी, किंतु मात्र बीस पच्चीस साल की अवधि में ही क्रांतिकारी परिवर्तन के लक्षण स्पष्ट दिखाई देने लगे। काव्य के विभिन्न रूप–महाकाव्य, खंडकाव्य, प्रेमाख्यानक काव्य, प्रबंध काव्य, गीत —सामने आने लगे, सब प्रकार के–पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, चरित्रप्रधान, भावप्रधान, घटनाप्रधान उपन्यास लिखे जाने लगे, समालोचना का रूप निखरने लगा, निबंधों की रचनाएँ होने लगीं।

पाश्चात्य काव्य, साहित्य और दर्शन के पठन पाठन से भावों का नया आकाश बढ़ा, विषयों के नए क्षेत्र बढ़े। अपने साहित्य में नए नए प्रयोग का उत्साह उमड़ा। प्रयोग की इस प्रवृत्ति ने नए साहित्यिक रूपों का आविष्कार किया और साहित्य के सर्वतोमुखी विकास की राह बना दी। काव्य, उपन्यास के विविध प्रकार के रूपों की हमने ऊपर चर्चा की है। ध्यान देने की बात यह है कि गद्य के शृंगार में लय की स्थापना का जोर बढ़ा, उसमें काव्यगत गुण और तत्वों की प्रतिष्ठा की चेष्टा बढ़ी। उदाहरण के लिये उपन्यास के रूपों को सामने रखें, जैसे, भावप्रधान, चरित्रप्रधान या घटनाप्रधान उपन्यास। इनमें काव्य के विभिन्न तत्वों का समावेश है। भावप्रधान गीतितत्व, चरित्रप्रधान नाटकीय तत्व और घटनाप्रधान उपन्यास महाकाव्य तत्व के संमिश्रण से लिखे गए।

भाषा साहित्य की इस श्रीसमृद्धि के प्रबल उत्साह में हमारी उत्तरोत्तर बढ़ती हुई राष्ट्रीयता की भावना ने बड़ा योग दिया। उसके भ्रामक विकास में हिंदी और हिंदुस्तानी की प्रेमभावना बढ़ती गई। उन्नीसवीं सदी के नवें दशक में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म हुआ। किंतु देश के पुनरुज्जीवन— आंदोलन संबंधी उसके सारे कार्य प्रारंभ में अँगरेजी माध्यम से हुआ करते थे।

स्वदेशी आंदोलन और स्वदेशी भावना

आंदोलन की इस आँधी की अंतरात्मा धीरे धीरे बदली। अँगरेजी भाषा उस समय इस प्रकार से पढ़े लिखे लोगों की जबान पर चढ़ गई थी कि अपनी भाषा में भी उसके दो चार शब्द मिलाए बिना बोलना अपनी शान के खिलाफ

समझा जाने लगा। होते होते ज्ञान की यह आन विवशता बन गई। अंगरेजी के दामन से शिक्षित लोग इस बुरी तरह लिपटे कि अपनी भाषा में अपने विचार की अभिव्यक्ति कठिन हो गई, जबतक बीच में अँगरेजी का सहारा न लें। किंतु बंगाल, महाराष्ट्र और पंजाब के जननेता श्री विपिनचंद्र पाल, बालगंगाधर तिलक और लाला लाजपत राय के संमिलित उद्योग से स्वदेशी आंदोलन का सूत्रपात १९०५ ई० में हुआ। इसकी प्रेरणा से यह भावना हिंदीभाषियों में ही नहीं, देश के दूसरे भाषाभाषियों में भी फैली। अखंड और अविभाज्य भारत के आदर्श ने देश की अन्य भाषाओं के जननायकों में हिंदी प्रेम का बीजारोपण किया। बंग-विभाजन से जिस सशक्त स्वदेशी आंदोलन की उत्तेजना फैली, भारत की एकता के लिये एक भाषा के आधार को उसने बलवान बनाया। देश के दूरदर्शी नेता भारतीय भाषाओं के एकीकरण की प्रयोजनीयता समझने समझाने लगे।

स्वदेशी आंदोलन का आरंभ होते ही उपेक्षित मातृभाषा का प्रश्न चर्चित होने लगा, विशेषतः बंगाल में, जहाँ कि भाषा विभक्त बंगदेश के ऐक्य की अमर प्रतीक थी। परंतु अब भी हिंदुस्तानी को उसका उपयुक्त स्थान नहीं मिल सका था। परंतु बंगाल के राजनीतिक नेताओं में से एक पत्रकार स्वर्गीय कालीप्रसन्न काव्यविशारद ने हिंदुस्तानी के महत्व का सबसे पहले उस समय भी अनुभव किया।

अपनी भाषा और अपनी संस्कृति

सन् १९०० ई० में हिंदी को कचहरियों में स्थान मिल गया। इस सफलता के पीछे बहुत दिनों का प्रयत्न था। हिंदी को उसका प्राप्य और उचित स्थान दिलानेवालों के लिये यह एक विजय थी। विजय की इस उमंग में हिंदी प्रचारकों का उत्साह और भी बढ़ गया। सन् १९०५ ई० में बंगविच्छेद के विरोध में स्वदेशी आंदोलन छिड़ गया। यह आंदोलन धीरे धीरे बड़ा शक्तिशाली होता गया और उसने अखिल भारतीय रूप ले लिया। इस आंदोलन से राष्ट्रीय भावना बहुत व्यापक और सुदृढ़ बन गई। इसने अनोखी जनजागृति फैलाई। शिक्षित समुदाय की जागृति जन साधारण में फैलने लगी। स्वदेशी आंदोलन के फलस्वरूप उन शिक्षित तथा सरकारी पदाधिकारियों का ध्यान भी हिंदी की ओर आने लगा, जो अपनी भाषा को तुच्छ और उपेक्षा की वस्तु समझते थे। एक और भी बड़ी देन इस आंदोलन की है। साहित्य और भाषा के साथ साथ अपनी संस्कृति, अपना शिल्प, अपनी संगीतकला के पुनरुज्जीवन की भावना भी प्रबल हुई। लोग मूर्तिकला, चित्रकला, भवननिर्माण कला, संगीत कला के पुनरुत्थान की चेष्टा में दत्तचित्त हुए।

विभिन्न भाषाओं का प्रभाव

इस काल के कुछ पूर्व डा० श्यामसुंदर दास के प्रयत्न से काशी में नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना हो चुकी थी। आगे चलकर काशी में ही सन् १६१० ई० में अखिल भारतीय हिंदी साहित्य संमेलन की स्थापना हुई। हिंदी के भावी विकास में इस संस्था का सबसे बड़ा हाथ है। इस प्रकार चारों ओर से हिंदी के लिये बड़ा व्यापक वातावरण बनता चला गया। इसका परिणाम अच्छा ही हुआ, इसमें संदेह नहीं, लेकिन कुछ बुरा भी हुआ। विभिन्न क्षेत्र, विभिन्न भाषा तथा विभिन्न रुचि के लोगों ने हिंदी को अपनाया। अपनाने के अधिकार के साथ कुछ कर्तव्य भी था, जिसकी ओर लोगों का समुचित रूप से ध्यान नहीं गया या ध्यान देने की आवश्यकता नहीं समझी गई। साहित्यसाधना के लिये जो शिक्षा और संस्कार अपेक्षित था, उसकी उपेक्षा हुई। फल यह हुआ कि भाषासंबंधी अराजकता सी फैल गई। जिसने भी चाहा, हिंदी में अपने ढंग से बोलना और लिखना आरंभ कर दिया। अपनी अपनी शिक्षा दीक्षा के अनुसार कोई संस्कृत, कोई फारसी, कोई अँगरेजी शब्दों का धड़ल्ले से व्यवहार करने लगे। शब्दों की मनमानी के साथ वाक्यरचना तथा शैलियाँ भी भिन्न भिन्न प्रयुक्त होने लगीं। भाषा में अव्यवस्था आ गई। कहीं संस्कृतनिष्ठ अलंकृत शैली, कहीं उर्दूमिश्रित सीधी सादी वाक्यरचना, कहीं बँगला, मराठी, पंजाबी का प्रभाव तो कहीं अँगरेजी की व्यंजना शैली का अनुकरण। इस विविधता में भाषा की आंतरिक शक्ति भी होती, तो कोई क्षति न थी। लेकिन वैचित्र्य का वह ऐश्वर्य नहीं था। इसलिये साहित्य रूपों के जन्मकाल में, जब नए विषयों के आकलन और प्रकाशन की व्यग्रता थी, भाषा के इस अस्थिर तथा अव्यवस्थित रूप से बाधा पड़ी। जिसने जैसा चाहा, भाषा का वैसा ही भावविधान प्रस्तुत किया। इस मनमानी से ऐसी विशृंखलता आई कि तत्काल सुगठित परंपरा और मर्यादित आदर्श की प्रतिष्ठा की संभावना नहीं रह गई। इतना अवश्य है कि मातृभाषा के लिये अनुराग और उसकी सेवा के कर्तव्य का बोध जागा। सेवा के उस आग्रह और अधिकार के नाते हिंदी साहित्य के क्षेत्र में ऐसे अनेक सेवकों का प्रवेश हुआ जिनपर दूसरी भाषाओं का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव था। इसलिये उनकी रचनाओं के द्वारा हिंदी पर उन उन भाव भाषाओं का प्रभाव पड़ने लगा। यह स्वाभाविक ही था। लेकिन इस अव्यवस्था और अराजकता से तात्कालिक जो भी क्षति हुई हो, शैली, शक्तिमत्ता और शब्दसंपद् की दृष्टि से आगे चलकर हिंदी का इससे उपकार ही हुआ। अँगरेजी की सरल व्यंजनामयी गद्यशैली, संस्कृत पदावलीबहुल बंगला की भावप्रधान शैली आदि विविधता आने लगी। नए भावविचारों को प्रभावपूर्ण ढंग से व्यक्त करने के लिये उपयुक्त शब्दों का विशद

भंडार, जो अपेक्षित था, वह हिंदी में पर्याप्त नहीं था। तत्सम, तद्भव, देशज तथा फारसी अरबी के प्रचलित शब्दों की ही पूँजी थी। नए भाव विचारों का क्षितिज जितना बढ़ा उसे देखते हुए, शब्दभंडार बहुत दुर्बल था। विभिन्न भारतीय एवं अँगरेजी भाषा के प्रभाव से आवश्यकताओं के अनुकूल शब्दसंपद् की अभिवृद्धि होती गई।

उर्दू और हिंदी के आँकड़े

जिन भारतीय भाषाओं से हिंदी प्रभावित हुई, बंगला उनमें से अन्यतम है। अँगरेजी के अतिरिक्त भाव और शब्दसंपद् की दृष्टि से हिंदी पर इतना अधिक ऋण और किसी भी भाषा का नहीं है। उर्दू की बात कुछ और है। देखने में लिपि, आत्मा, वाक्यरचना, ध्वनि प्रणाली, स्वरों की लय आदि में उर्दू हिंदी से बिलकुल अलग लगती है, लेकिन वास्तव में वह हिंदी की ही एक शैली है। अंतर है तो यह कि उर्दू शब्दों के मामले में फारसी अरबी की मुखापेक्षी है और हिंदी संस्कृत की। दोनों के क्रियारूप एक हैं, व्याकरण एक है। दोनों का जन्म एक ही बोली से हुआ। विकास काल तक दोनों भाषाएँ एक साथ चलती रही। सैकड़ों वर्षों तक दोनों की गति समानांतर ही रही। विकास क्रम में एक ऐसा समय आया जब धार्मिक पुनरुत्थान के तीखे आंदोलन ने दोनों को स्वीयता की सावधानता दी। जातीय और सांस्कृतिक कट्टरता उभरी, जिसने दोनों के बीच भावना की एक विभाजक रेखा खींच दी। आर्यसमाज के आंदोलन से आत्मरक्षा की सशक्तता पैदा हो गई। पंजाब पहले उर्दू का गढ़ था। संयुक्त प्रांत के पश्चिमी इलाकों में उर्दू की पढ़ाई होती थी। हिंदू भी प्रायः मदरसे में अरबी फारसी पढ़ते थे। और तो और, हिंदू धर्म ग्रंथ भी वे उर्दू में पढ़ते थे। हिंदुओं के नाम तक उर्दू ढंग के होते थे। हिंदू धर्म और हिंदी भाषा के बढ़ते हुए आंदोलनों के कारण उर्दू को धक्का लग रहा था। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक उर्दू में हिंदी से कहीं ज्यादा पुस्तकें निकलती थीं। बीसवीं सदी के आरंभ में ठीक उलटा होने लगा। उर्दू से हिंदी की पुस्तकें ज्यादा निकलने लगीं। हिंदीपत्रों के ग्राहक बढ़ने लगे, स्कूल कालेजों में हिंदी पढ़नेवाले छात्रों की संख्या बढ़ने लगी ; 'हिंदी बनाम उर्दू' नाम की पुस्तक में श्री वेंकटेशनारायण तिवारी ने इसका एक आँकड़ा दिया है। सन् १८६१ ई० में हिंदी पत्रों की कुल ग्राहकसंख्या ८००० थी, उर्दू पत्रों की १६२१६। सन् १६३६ ई० में हिंदी पत्रों की ग्राहकसंख्या ३२४८८० हो गई, जब कि उर्दू पत्रों की २८२४८५ ही रही। सन् १८६१ ई० में यह आँकड़ा, हिंदी का ३१·६१ प्रतिशत और उर्दू का ६८·१ प्रतिशत था। सन् १६३६ ई० में वह बिलकुल पलट गया। हिन्दी का ६४ प्रतिशत और उर्दू का ३६ प्रतिशत हो गया। सन् १८६० ई० में वर्नाक्यूलर

फाइनल परीक्षा में हिंदी के सिर्फ २२'४ प्रतिशत छात्र बैठे थे, उर्दू के ७७'६ प्रतिशत। सन् १९३८ ई० में यही संख्या हिंदी की ५६'८ प्रतिशत और उर्दू की ४३'२ प्रतिशत हो गई। इसी प्रकार प्रकाशित पुस्तकों की संख्या सन् १८८९-९० ई० में उर्दू ५६१, हिंदी ३६१ थी। सन् १९३५-३६ ई० में उर्दू की कुल २५२ और हिंदी की २१३३ पुस्तकें निकलीं। मुसलमानों को अस्तित्व की आशंका होने लगी और धर्म की दुहाई देकर भाषा को उन्होंने जातीय भावना, आदर्श और संस्कृति का प्रतीक बना दिया। हिंदी का वे खुल्लमखुल्ला विरोध करने लगे। कई ने तो यहाँ तक कहा कि हिंदी नाम की कोई भाषा ही नहीं है। असल में उर्दू की बढ़ती देखकर लोगों ने संस्कृत की ठूँसठास से एक नई भाषा गढ़ ली है। मौलवी असगर अली ने कहा है, इसी कट्टर भावना ने हिंदी उर्दू झगड़े को जन्म दिया और दोनों के बीच दूरी की दीवार खड़ी कर दी, नहीं तो इन दोनों भाषाओं को लोग बहनें मानते रहे हैं। दोनों का पारस्परिक आदान प्रदान चलता रहा। दो जातियों के प्रेम और विवाद के बीच भी दोनों भाषाएँ निर्विकार भाव से दोनों के द्वारा सींची जाती रहीं। इसीलिये प्रभाव की दृष्टि से अँगरेजी के बाद बँगला का ही स्थान आता है।

बँगला का प्रभाव

इसका कारण भी है। भारत में विदेशी सत्ता की प्रभुता सबसे पहले बंगाल में स्थापित हुई। विदेशियों के संपर्क में आने से पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार प्रसार वहाँ पहले हुआ। इस कारण बँगला साहित्य हमसे बहुत पहले उन्नति की ओर अग्रसर हुआ। फलस्वरूप उस साहित्य से प्रेरणा और सामग्री ली जा सकती थी। लेने की स्वाभाविक सुविधा भी रही। बंगला हिंदी प्रदेशों का पड़ोसी प्रांत है। वहां का प्रमुख नगर कलकत्ता व्यापार का सर्वाधिक उन्नत केंद्र रहा, जहां रोजी रोटी की चिंता में हिंदीभाषी प्रांतों के बहुसंख्यक लोग जा बसे, जिन पर बँगला भाषा और साहित्य का प्रभाव पड़ता रहा। आर्थिक समृद्धि और बहुसंख्यक हिंदीभाषियों की आबादी के कारण वह हिंदी का एक बहुत बड़ा केंद्र भी रहा। आरंभ से वहाँ हिंदी की बहुत सी पत्र पत्रिकाएँ निकलती रहीं। प्रकाशन की दिशा में भी बंगाल हिंदी पुस्तकों के लिये सबसे आगे रहा। सन् १९०२-३ ई० में बंगाल में हिंदी की १३६ पुस्तकें प्रकाशित हुईं, जब कि पंजाब में ६७, बंबई में ४० और मध्यप्रांत में २१ हिंदी पुस्तकें निकलीं। सन् १९०३-४ ई० में भी उपर्युक्त तीनों प्रांतों – बंबई, पंजाब, मध्यप्रांत – में कुल १६२ पुस्तकें निकलीं, जब कि केवल बंगाल से प्रकाशित हिंदी पुस्तकों की संख्या १७५ रही। पूर्णतया हिंदी का प्रांत बिहार बंगाल का निकटतम पड़ोसी है। यहीं नहीं सन् १९१२ ई० तक बिहार बंगाल प्रांत के ही अंतर्गत था। वहाँ के उच्च न्यायालय और विश्व-

विद्यालय की शरण बिहारवालों को लेनी पड़ती थी। हिंदी के कुछ समर्थ साहित्यकार बँगला के अच्छे ज्ञाता रहे। अँगरेजी की अनेक विशिष्ट साहित्यिक भावधाराएँ बँगला के माध्यम से ही हिंदी में आईं। बंकिम, शरत, रवींद्र की साहित्यिक प्रतिभा हिंदी के लिये बड़ी प्रेरक रही। आरंभ में हिंदी के भंडार में मौलिक रचनाओं की संख्या नगण्य थी। विभिन्न भाषाओं के ग्रंथों के अनुवाद से इस अभाव की पूर्ति की जाती रही। अनुवाद में भी अँगरेजी की तरह बँगला की ही अधिक से अधिक पुस्तकों का हिंदी में अनुवाद हुआ। इन बातों से हिंदी भाषा पर उनका प्रभाव पड़ना अवश्यंभावी था। बँगला में संस्कृत शब्दों की ही प्रधानता होती है। हिंदी में उसके रूपांतर में बहुत अधिक कठिनाई भी न थी। कलकत्ते में कुछ दिनों तक रहकर जिन्हें थोड़ी बहुत भी जानकारी बँगला की हो गई और थोड़ी बहुत हिंदी जिन्हें आती थी, उन्होंने रुपांतर का काम सहज ही करना आरंभ कर दिया। क्रियापद भर बदलकर सारी की सारी पदावली नागरी लिपि में ज्यों की त्यों उतार कर रख दी।

बँगला वाक्यांश

साधारणतया प्रारंभ के जो भी बँगला के अनुवाद मिलते हैं, सबकी एक जैसी स्थिति है। दो एक शब्दो के हेर फेर के साथ पूरा का पूरा वाक्य वही रख दिया गया है। सुंदर, क्षुद्र, वीचिकामाला, कूल परिप्लाविनी, प्रसन्न सलिला, विपुल-जल-कल्लोलिनी, स्रोतस्विनी, आदि वाक्यांशों की भरमार मिलेगी। केवल अनुवाद में ही क्यों, बँगला प्रभावित कुछ लेखकों की मौलिक रचनाओं में भी यह प्रभाव स्पष्ट है। संस्कृत की तो बात ही क्या, वह तो हिंदी की प्रेरणा और पूँजी ही है।

पंजाबी और मराठी की भी देन है। पंजाब में पहले उर्दू का बोलबाला था। हिंदी की रुझान तो आर्यसमाज के आंदोलन से हुई। इसके पहले तो वहाँ की हिंदू संतान भी तेगबहादुर, खुरशेदबहादुर और इकबाल सिंह हुआ करते थे। पंजाब में हिंदी प्रचार से वहाँ के जो लोग हिंदी में लिखने लगे, उनकी भाषा में स्वभावतया उर्दू यानी अरबी फारसी के प्रचलित शब्द आने लगे। उर्दू की शैली यों हिंदी का एक रूप ही थी। इस प्रकार उर्दू, मराठी, बँगला, संस्कृत, अंगरेजी के शब्द ज्यों के त्यों या बन बनाकर हिंदी में आते रहे जिससे हिंदी का शब्दभंडार बढ़ता गया। वाक्यरचना की शैली में उर्दू, मराठी, बँगला और अँगरेजी की छाप से विविधता आई। अंगरेजी की स्पष्ट भावाभिव्यक्ति, बँगला का सुललित शब्दसौष्ठव और उर्दू का प्रवाह, इन विशेषताओं को अपनाकर हिंदी गद्य ने अपनी विशिष्टता स्थिर की। शैली की चर्चा आगे की जायगी, पहले हम शब्द-संपद् का संक्षेप में विचार कर लें।

जीवंत भाषा के लक्षण

जीवित भाषा का सबसे बड़ा लक्षण है उसकी ग्राहिका शक्ति। आवश्यकतानुसार जो भाषा औरों से अपनी जातीय विशेषता के अनुरूप जितना अधिक ग्रहण कर सकती है, उसका प्रवाह उतना ही दूरगामी और प्रांजल होता है। जीवंत भाषा का यह लक्षण हिंदी में शुरू से रहा है। जब जैसी जरूरत पड़ी, अपनी शक्ति और समृद्धि बढ़ाने में उसने ग्रहण की दिशा में उदासीनता नहीं दिखाई। इसी का परिणाम है कि अपनी इस लंबी यात्रा में स्वल्प पाथेय लेकर ही वह चली, लेकिन आज उसके सामने शक्ति की वैसी दीनता और हीनता नहीं है जो पहले थी। विभिन्न भाषाओं से शब्द और शैली अपनाकर अभिव्यंजना की प्रत्येक दृष्टि से हिंदी ने अपने को समर्थ बनाया। ज्ञान विज्ञान का क्षेत्र ज्यों ज्यों विस्तृत होता गया, लोगों का मानसिक और बौद्धिक स्तर भी ऊँचा उठता गया। इससे अभिव्यक्ति की नित्य नई समस्या सामने आने लगी, क्योंकि पहले न तो वैसे भाव विचार थे, न चिंतन मनन का वह ढंग ही था। बढ़ती हुई आवश्यकताओं के लिये हिंदी की शक्ति पर्याप्त नहीं थी। अतः वह संपन्नता इस ग्रहणशीलता से ही आई। ग्रीक, लैटिन, अंगरेजी, मराठी, अरबी, फारसी, संस्कृत अनेक भाषाओं से शब्द अपनाए गए और आज स्थिति यह है कि कई भाषाओं के बहुत से शब्द तो हिंदी के ऐसे अपने हो गए कि यह भी समझना मुश्किल है कि ये हिंदी के नहीं हैं। जैसे अँगरेजी के वोट, सर्कस, रेडियो, प्रेस, सिनेमा, टिकट, फैशन, पालिसी, होटल, लेट, सम्मन, कांग्रेस, नोटिस; मराठी के बाजू, चालू, लागू, घटाटोप, प्रगति। अरबी फारसी के मैदान, कागज, मिरजई, मौसम, पंजा। इसी तरह ग्रीक लैटिन आदि अन्य अनेक भाषाओं के शब्द हिंदी के नितांत निजी हो गए हैं।

संस्कृत का ऋण

संस्कृत का तो हिंदी पर अपार ऋण है। हिंदी साहित्य का जो भी कुछ है, उसका अधिकांश संस्कृत का ही दान है, शब्द शैली, पदरचना, व्याकरण, अलंकार आदि। गोष्ठी साहित्य की संकुचित सीमा से निकलकर साहित्य जब जनता के विशाल क्षेत्र में आया, तब भाषा की सहजता का प्रश्न प्रस्तुत हुआ और लोगों ने संस्कृत के तत्सम शब्दों का कम से कम व्यवहार करने का संकल्प किया, जिसमें सर्वसाधारण के लिये वक्तव्य सुगम हो। किंतु न चाहते हुए भी संस्कृत का सहारा लिए बिना काम नहीं चल सकता। आज जो सबसे बड़ी समस्या सामने है, वह है पारिभाषिक शब्दावली की। शासन और शिक्षा का हिंदीकरण हो रहा है। ज्ञान विज्ञान की दौड़ में संसार के समकक्ष होने के लिये

विषयों के विस्तार के अनुकूल शब्दभंडार की अनिवार्यता है और तब अपना अभाव बुरी तरह खटकता है। पदार्थविज्ञान, रसायन, चिकित्साशास्त्र, गणित, भूगोल, मनोविज्ञान, दर्शन, शासन, अर्थशास्त्र, साहित्य शास्त्र सबकी पारिभाषिक शब्दावली चाहिए और वैसी शब्दावली के निर्माण की समर्थता और संपन्नता संस्कृत में ही है। या तो वैसे शब्द संस्कृत से ही लिए जा सकते हैं या संस्कृत शब्दों के आधार पर ही सुगमता से बनाए जा सकते हैं। चेष्टा और उपाय दूसरे प्रकार से भी किए गए हैं, लेकिन सफलता नहीं मिल सकी। मिलने की संभावना भी नहीं। वह संपन्नता और शक्ति अन्यत्र दुर्लभ है। संस्कृत से ही यह काम सुगमता तथा सुंदरता से हो सकता है। जैसे समालोचना के क्षेत्र में प्रयुक्त होनेवाले शब्द—आर्ट=कला; आर्ट फौर आर्ट्स सेक=कला कला के लिये; पोएटिक जस्टिस=काव्यन्याय, स्टाइल=शैली; रियलिज्म=यथार्थवाद; आइडियलिज्म=आदर्शवाद, एक्सप्रेशनिज्म=अभिव्यक्तिवाद। विज्ञान में—थ्योरी ऑफ रिलेटिविटी=सापेक्षवाद, सेंटर ऑफ ग्रैविटी=केंद्राकर्षण शक्ति; फिजियोलाजी=शरीरविज्ञान; स्पैक्ट्रम एनेलिसिस=किरणविकरण। इसी प्रकार विविध विषयों के लेबर=श्रम, इनसाइक्लोपेडिया=विश्वकोश, सोशलिज्म=समाजवाद; लोकलसेल्फ गवर्नमेंट=स्वायत्त शासन, कामन सेंस=सहज बुद्धि, कंटेंपोरेरी=समसामयिक।

संस्कृत का अक्षय भंडार

शब्दनिर्माण की जो शक्ति संस्कृत में है, वह दूसरी भाषा में नहीं। इसमें धातुओं के आधार पर उपसर्ग, प्रत्यय के योग से बड़ी सुगमता से नए शब्द गढ़ लिए जा सकते हैं। इस पद्धति का प्रयोग बँगला में सफलतापूर्वक पहले ही किया जा चुका था। हिंदी का शब्दभंडार बढ़ाने की जब आवश्यकता पड़ी तब वही प्रणाली अपनाई गई। ध्यान से देखा जाय तो आज हिंदी के जो भी नए शब्द बने हैं, उनमें से अस्सी नब्बे प्रतिशत शब्द इसी पद्धति से बनाए गए हैं। यह योग्यता एकमात्र संस्कृत में ही है। परंतु भाषा पर संस्कृत के प्रभाव का मात्र यही कारण नहीं है। राष्ट्रीयता के उन्मेष ने प्राचीन गौरव के पुनरुत्थान की जो जागृति उत्पन्न की, उससे अपनी प्राचीन संस्कृति, प्राचीन साहित्य, प्राचीन शिल्प की ओर ध्यान जाना आवश्यक था। गौरव की ये सारी निधियाँ संस्कृत के अक्षय-भंडार में ही सुरक्षित थीं, जिसका अध्ययन मनन स्वभावतया बढ़ गया। अँगरेजी भाषा के प्रभाव से अपनी भाषा, अपनी संस्कृति के प्रति जो एक उदासीनता सी फैल रही थी, उसकी ओर से लोग खिंचे। भरसक ऐसे प्रयत्न होने लगे कि अँगरेजी शब्दों के प्रयोग से मुक्ति मिले। उर्दू से भी चिढ़ हो चली थी। इन दो भाषाओं के प्रश्न का रूप सांप्रदायिक हो चला था। एक मुसलमानों की भाषा

हो गई, दूसरी हिंदुओं की। सांप्रदायिकता का रंग चढ़ाकर भाषाप्रेम को कट्टर बना दिया गया। उर्दूवालों के हिंदीविरोध ने हिंदीवालों में उर्दूविरोध का भाव सुदृढ़ किया। हिंदीविरोधियों ने यहाँ तक कहा था कि संयुक्त प्रांत में हिंदी नाम की न कोई भाषा पहले थी, न अब है। इसका मुँहतोड़ उत्तर दिया गया और, लोगों को यह कहकर उर्दू की तरफ से विमुख करने की चेष्टा की गई कि वह उन लोगों की भाषा है, जिन्होंने हम पर बड़े बड़े अत्याचार किए हैं। अपने विश्वकोश की भूमिका में मथुराप्रसाद मिश्र ने स्पष्ट लिखा—'जनता के चरित्र को ऊँचा उठाना चाहिए। उन्हें लिखना पढ़ना सिखाना चाहिए, लेकिन उनकी भाषा में नहीं, जिन्होंने उनके साथ बुरा वर्ताव किया है, गालियाँ सुनाईं और अत्याचार किया, बल्कि अपने पूर्वजों की उस भाषा में शिक्षा देनी चाहिए, जो उनकी मूल्यवान विरासत है'[1]। इस तरह के वातावरण से स्वभावतया संस्कृत के भंडार की ओर लोग झुके जो उनकी पैत्रिक संपत्ति थी और जिसमें अक्षय धन था। हिंदी शब्दभंडार में संस्कृत के शब्दों की बहुलता का यह भी एक कारण है।

उर्दू के शब्द

गंभीर ग्रंथरचना में तो यह निभ गया, लेकिन व्यावहारिक भाषा और ललित साहित्य की भाषा में उर्दू से परहेज संभव नहीं हो सका, बल्कि जहाँ लोग जिद पर अड़े रहे वहाँ समर्थता की दृष्टि से क्षति भी हुई। उर्दू की जो सादगी, शक्ति और लोच है, उससे वंचित रहना पड़ा। इसीलिये प्रयोग की दृष्टि से भाषा के रूप पर कई मत हो गए और व्यवहार में किसी न किसी रूप में वह चलती रही। अरबी फारसी के जो शब्द जनता की जबान पर चढ़ गए थे, वे भाषा में घुल मिल गए। वे चलते रहे क्योंकि सदियों तक हिंदू मुसलमान साथ साथ रहे। कई सौ वर्षों तक भावों का आदान प्रदान चलता रहा। इसीलिये मानना होगा कि दोनों का संबंध ऐतिहासिक और सांस्कृतिक होने से अविच्छिन्न है। हिंदी पर इसीलिये उसका प्रभाव अमिट रहा। उर्दू के कुछ श्रेष्ठ लेखकों—प्रेमचंद, सुदर्शन आदि के हिंदी लेखन से भी हिंदी पर उर्दू की छाप पड़ी। एक नई शैली ही बन गई। भाषा निखरी, उसमें प्रवाह आया। उर्दू शैली की अपनी एक खास सजीवता है।

[1] दी कैरेक्टर ऑफ दी मास ऑफ दी पीपुल इज़ टु बी रेज्ड। दे मस्ट बी टौट टु रीड ऐंड राइट—नोट इन दी लैंग्वेज ऑफ दोज़ हू हैव यूज़ दैम वेयर इलट्रीटेड, एब्युज्ड ऐंड ओप्रेस्ड, बट इन दी जीनियल टंग ऑफ दीयर एन्सेस्टर्स, हिच इज दीयर वेल्युबुल इनहैरिटेंस।

बोलियों से शब्दों का ऋण

हिंदी का शब्दभंडार समृद्ध करने में बोलियों से भी काफी सहायता पहुँची। प्रारंभिक स्थिति में नए शब्दों की आवश्यकता की पूर्ति बोलियों के सहारे ही की जाती रही, क्योंकि बोलियों से शब्द ग्रहण किए बिना सभी भावों को ठीक ठीक व्यक्त करना संभव नहीं था। इस प्रकार तत्कालीन साहित्य में ऐसे शब्दों की भरमार मिलती है। यद्यपि सभी प्रदेशों के सब लोगों के लिये उनका समझना दुष्कर था। आज उनमें से बहुत से शब्द अच्छे अर्थबोधक और उपयुक्त प्रतीत होने लगे हैं। जैसे झमेला, चोचला, टंटा बखेड़ा, ठसाठस, थकियाना। शब्दों के अभाव में अच्छे से अच्छे लेखकों ने भी बोलचाल के शब्दों की शरण ली। 'ठेठ हिंदी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' में अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने अवध और बनारस के गँवई शब्दों के प्रयोग किए हैं। हरिऔध जी ने 'हिंदी भाषा का इतिहास' में उल्लेख किया है कि बिहार के बाबू रामदीन सिंह ने उनसे आग्रह किया था कि ग्रियर्सन साहब की इच्छा है कि कोई ऐसी किताब लिखी जाय, जिसमें न तो संस्कृत के शब्द हों न किसी दूसरी भाषा के। 'ठेठ हिंदी का ठाठ' में हरिऔध जी ने यही कोशिश की।

'सूरज वैसा ही चमकता है, बयार वैसी ही चलती है। धूप वैसी ही उजली है, रूख वैसे ही ठारों खड़े हैं, उनकी हरियाली भी वैसी ही है बयार लगने पर उनके पत्ते वैसे ही धीरे धीरे डोलते हैं, चिड़ियाँ वैसी ही बोल रही हैं। रात में चाँद वैसे ही निकला, धरती पर चाँदनी वैसी ही छिटकी, तारे वैसे ही निकले। सब कुछ वैसा ही है। जान पड़ता है, देवबाला मरी नहीं है।'

ग्रियर्सन साहब ने रामदीन सिंह को इस पुस्तक के लिये बधाई का पत्र भी भेजा था[१]। इन दोनों प्रयोगों में हरिऔध जी ने बरखा, ऊमस, अमरित जैसे बोलचाल के शब्दों का अधिकता से प्रयोग किया है। इस प्रकार विभिन्न बोलियों के अनेकानेक शब्द—चिरौरी, अगोरना, अंडस, डोकरा, हुमचना, भभरना, सोहराना, कबाहत—साहित्य में आ गए। उस समय, जब शब्दों का अभाव खटकता था, इसके अतिरिक्त उपाय भी क्या था।

[१] 'ठेठ हिंदी का ठाठ' के सफलता और उत्तमता से प्रकाश होने के लिये मैं आपको बधाई देता हूँ। यह एक प्रशंसनीय पुस्तक है। ...मुझे आशा है कि इसकी बिक्री बहुत होगी जिसके कि यह योग्य है। आप कृपा करके पं० अयोध्यासिंह से कहिए कि मुझे इस बात का हर्ष है कि उन्होंने सफलता के साथ यह सिद्ध कर दिया कि बिना अन्य भाषा के शब्दों का प्रयोग किए ललित और ओजस्विनी हिंदी लिखना सुगम है।

शब्दसंपद् में अँगरेजी का योग

अँगरेजी शब्दों के व्यवहार में बहुत हद तक विवशता रही। आधुनिकता के आगमन के साथ साथ ज्ञान विज्ञान की जितनी शाखाएँ प्रशाखाएँ बढ़ीं, वे सर्वथा नई थीं। उनको ठीक ठीक कह सकें, बता सकें, समझा सकें, इसके लिये हमारे पास उपयुक्त शब्द नहीं थे। तत्काल ही सबके प्रतिशब्द गढ़े नहीं जा सकते थे। वक्तव्य विषय को प्रकट करने में पद पद पर लोगों को बाधा होती थी। या तो ज्यों का त्यों अँगरेजी शब्दों को उठाकर रख दें या नए शब्द बनाएँ तो अप्रचलित होने के कारण मूल शब्द को कोष्ठक में दे दें। बहुत से ऐसे अँगरेजी शब्दों के हिंदी रूप बन गए हैं, लेकिन वे मूल रूप में भी चल रहे हैं। यथा एक्जिविशन, पब्लिक, सर्विस, लेट, फीस, टाइपराइटर, कोलोनी, युनिवर्सिटी आदि।

वाक्यांश और मुहावरा

अँगरेजी का हिंदी पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। मूलरूप में जो शब्द आए, उनकी तो बात ही अलग है, अँगरेजी के आधार पर बहुत से शब्द, वाक्यांश तक हिंदी में बन गए। साम्यवाद, समाजवाद, पूँजीवाद, नौकरशाही, गणतंत्र, जनतंत्र, प्रजातंत्र जैसे अनेक शब्दों का निर्माण अँगरेजी से हुआ है। वाक्यांशों में—विहंगम दृष्टि (ए बर्ड्स आइ व्यु), स्वर्णिम भविष्य (गोल्डेन फ्युचर), रंगे हाथों पकड़ना (टु कैच रेड हैंडेड), दृष्टिकोण (ए पॉइंट ऑफ विजन), स्वर्णयुग (गोल्डेन एज), हवाई किला (कैसेल इन द एयर), विचारबिंदु (पाइंट ऑफ व्यु) आदि। कविता में भी अँगरेजी का यह व्यापक प्रभाव पड़ा है—स्वप्निल मुस्कान, स्वर्गीय प्रकाश, रेखांकित, स्वर्णिमस्पर्श, भग्नहृदय अज्ञान जैसे शब्द क्रम से ड्रीमी स्माइल, हेवनली लाइट, अंडर लाइन्ड, गोल्डेन टच, ब्रोकेन हर्ट, इनोसेंट का ही रूपांतर है। बहुत बार कहावत और मुहावरे तक अँगरेजी से रूपांतरित हुए हैं—पैर के नीचे घास उगने देना (टु लेट ग्रास ग्रो अंडर दी फीट), इतिहास का नया पन्ना पलटना (टु टर्न ए न्यू लीफ इन हिस्ट्री) आदि।

नामधातु

भाव विषय की विविधता को उपयुक्त अभिव्यक्ति देने की सुविधा के लिये शब्दवैभव बढ़ाने की दृष्टि से हिंदी ने कुछ दूसरी भाषाओं के शब्दों को अपनाया अवश्य है, किंतु इसका यह अभिप्राय नहीं कि उसमें शब्दनिर्माण की निजी शक्ति या विशेषता रही ही नहीं है। उसने अपने ढंग से शब्द गढ़े भी हैं और वे शब्द न केवल व्यंजक शक्ति के लिये उपयुक्त सिद्ध हुए, सहज और सुंदर भी हैं। उदाहरण के लिए नामधातु को लें। नामधातुएँ आर्यभाषाओं में बहुत पहले

से पाई जाती है। इसके अनुसार संज्ञा या विशेषण में क्रिया के प्रत्यय जोड़ देने मात्र से नामधातु बनते हैं। जैसे, बात बतियाना; दुख-दुखाना; हाथ-हथियाना, पानी-पनियाना आदि। दूसरी भाषाओं के भी बहुत से शब्दों को इसी पद्धति से सर्वथा हिंदी का बना लिया गया है। जैसे, अरबी फारसी के शब्दों को— खर्च-खर्चना या खरचना, दाग-दागना, गुज़र-गुजरना आदि। संस्कृत के शब्दों में प्रत्यय लगाकर—जैसे, स्वीकार-स्वीकारना; धिक्कार-धिक्कारना आदि। यहाँ तक कि बहुत बार अँगरेजी आदि के शब्दों को भी इस ढंग से निजी बना लिया गया है। जैसे, फिल्म-फिल्माना।

हिंदी नामधातु के बीच आनेवाले इस 'आ' का संबंध संस्कृत के नाम धातुचिह्न 'आय्' से जोड़ा जाता है। यह भी कहा जाता है कि इसपर प्रेरणार्थक 'आपय्' का भी प्रभाव है। किंतु हिंदी में प्रेरणार्थक 'आ' और नामधातु के 'आ' के रूप में विशेष कोई अंतर नहीं है। नामधातु के बारे में श्री किशोरीदास वाजपेयी का कहना है—'स्वर्ण, पीतल आदि धातुओं से विविध आभूषण तथा पात्र आदि बनते हैं, और वे सब फिर धातुरूप में आ जाते हैं। इसी तरह भाषा में धातुओं से विविध आख्यात तथा (कृदंत) संज्ञा विशेषण आदि बनते हैं।'

संज्ञा और विशेषण के ही समान अनुकरणमूलक शब्दों में भी 'आ' प्रत्यय लगाने से नामधातु बनते हैं। जैसे, मनमन-मनमनाना; खटखट-खटखटाना; में में—मिमियाना; हुनहुन—हुनहुनाना; थरथर—थरथराना; सनसन—सनसनाना आदि।

संज्ञा में क्रिया का योग

इनके अतिरिक्त भी हिंदी में एक विशेषता और है। वह है, किसी भी संज्ञा शब्द के साथ ऐसी क्रिया का प्रयोग जो करना या बनाना का अर्थ देती हो। उदाहरण के लिये—विचार, विचार करना; विश्वास, विश्वास करना। यह रीति जितनी सहज है, उतनी ही उपयुक्त भी है। इससे दो लाभ तो प्रत्यक्ष होते हैं। एक यह कि क्रियारूप बनाने में प्रत्यय का सहारा नहीं लेना पड़ता। दूसरा यह कि वह दुरुहता दूर हो जाती है जो कि संज्ञा को ही क्रिया के रूप में व्यवहृत करने से आ जाती है। ऐसे व्यवहार में कुछ विस्तार तो आता है परन्तु वह अर्थ बहुत स्पष्ट हो जाता है, जिससे शब्द के विभिन्न प्रयोग और उन्हें याद रखने में सुविधा होती है। जैसे, प्रत्यय का सहारा न लेने की सुविधा—अंग्रेजी में होता है फूल—बीफूल (Fool-befool), स्टेबुल—स्टेबिलाइज (Stable-stabilise) और हिंदी में बना लिया मूर्ख या बेवकूफ बनाना, पक्का या मजबूत करना। और, संज्ञा को ही क्रिया न बनाना—जैसे, अंग्रेजी में फाइट—टुफाइट (Fight-

to fight), सर्च—दुसर्च (Search-to search)। हिंदी में बन गया लड़ाई करना और खोज करना। हिंदी की इस रीति के सहजता के लिये अंग्रेजी में भी अपनाने की चेष्टा चली है। 'बेसिक इंगलिश' का नया प्रयास यही है, ताकि वह सबके लिये सहज बोध्य हो।

विजातीय शब्दग्रहण में निजता

विजातीय शब्दों को अपने ढंग से अपना बना लेने की विशेषता का भी विशेष परिचय हिंदी ने दिया है। शब्दों को कुछ इस रूप में बनाया गया है कि वह सर्वथा अपने से हो गए हैं। बने अवश्य दूसरी भाषा के शब्द से किंतु उनमें मूल की छून का जरा भी आभास नहीं, हिंदी की निजता ही उसमें झलकती है। उदाहरण स्वरूप—आपरेशन का चीरफाड़; स्काउट का बालचर; पैट्रियट का देशसेवक; वायरलेस का बेतार; पोजिटिव एँड नेगेटिव वायर्स का ठंढा तार-गरम तार; बैंड ऑफ हेल्प का सेवादल आदि।

अनुवादात्मक समास

अनुवादात्मक समस्त पद या समास प्रायः सभी भाषाओं में पाए जाते हैं। पारस्परिक आदान-प्रदान के लिये इसकी अनिवार्यता भी है। किसी भी भाषा में किसी विदेशी शब्द के प्रयोग में यह आवश्यक हो जाता है कि उसे उसी अर्थ-बोधक स्वदेशी शब्द द्वारा सर्वजनबोध्य कर दिया जाय। लगभग प्रत्येक जीवित भाषा ने ऐसा किया है। किंतु हिंदी में कुछ ऐसे अनुवादात्मक समास प्रचलित हैं, जिनमें विदेशी शब्दों की स्वदेशी शब्दों से व्याख्या की प्रणाली सर्वथा भिन्न है; और ऐसे शब्द हिंदी में बहुत से हैं—जैसे, सील मुहर। सील अँग्रेजी का शब्द है, अर्थ है नामांकित मुद्रा और इसी अर्थ का फारसी शब्द है मुहर। दोनों एक ही अर्थ देनेवाले शब्द हैं और जुड़कर व्यवहृत होते हैं। इस प्रकार एक कोई विदेशी शब्द और एक या तो अपने या अन्य भाषा के अपनाए शब्द के समस्त पद हिंदी में अनेक मिलते हैं। जैसे, राजा बादशाह (राजा स्वदेशी और बादशाह फारसी), धन दौलत (धन देशी और दौलत फारसी), शाकसब्जी (शाक संस्कृत और सब्जी फारसी), खेल तमाशा (खेल स्वदेशी और तमाशा फारसी), हाटबाजार (हाट भारतीय और बाजार फारसी), कागज पत्र (कागज फारसी और पत्र संस्कृत) आदि।

प्रभाव का माध्यम बँगला

हिंदी का शब्दसंपद् बढ़ाने में अँगरेजी के बाद बँगला का ही स्थान है। बँगला से आई हुई शब्दावली अधिकांश में मूलतः संस्कृत ही है, किंतु वह बँगला के माध्यम से ही आई। हिंदी ने उन्हें वास्तव में बँगला से अपनाया। जैसे—अप्रतिहत, अवसन्न, आप्लुत, संभ्रव, स्मश्रु, प्रकोष्ठ, दोर्दंड, उत्ताल, विचक्षण,

निष्पत्ति, उच्छ्वसित, प्रसाधन, आशैशव, निसिक्त आदि। कविता में ध्वनिव्यंजक सुमधुर शब्दों में से अनेक, जैसे – कलकल, छलछल, कलरव, कोलाहल, निर्झर, झरझर, हरहर, मर्मर, गुनगुन।[1] ये शब्द बँगला के ही नहीं हैं, किंतु हिंदी में इनके प्रयोग की तत्परता बँगला के ही संसर्ग से आई। कोई संदेह नहीं कि बँगला का हिंदी पर बहुत बड़ा ऋण है, किंतु उस ऋण का स्वरूप दूसरा है। मूलतया वह ऋण वास्तव में संस्कृत या अँगरेजी का है, केवल विनिमय की मध्यस्थता बँगला की रही है। बँगला बीच में सुविधा के सेतु का काम करती रही। संस्कृत और अंगरेजी के भाव प्रभाव से बँगला पहले से ही उद्बुद्ध हो रही थी। उसके द्वारा उन नवीनताओं के ग्रहण में हिंदी को सुगमता हुई। बँगला से अनुवाद करके हिंदी को अपना क्षीण भंडार पुष्ट करने का सुयोग और सुविधा दूसरी भाषाओं की अपेक्षा ज्यादा थी। द्विजेंद्रलाल के नाटक, बंकिमचंद्र के उपन्यास और रवींद्रनाथ की कविताओं से हिंदी को पाश्चात्य नाट्यकला, औपन्यासिक विधान और काव्यतत्व का अनुकरण करने में आसानी हुई। द्विजेंद्रलाल की नाट्यकृतियों में पश्चिमी नाटकीय विधानों का अच्छा परिपाक हुआ है और वह परिपाक भारतीय वातावरण के अनुसार हुआ है। स्काट की उपन्यास शैली के आधार पर बंकिमचंद्र ने अनेक मौलिक उपन्यास लिखे, जिनसे हिंदी उपन्यासकला प्रभावित हुई। नोबुल पुरस्कार पाने के बाद रवींद्रनाथ की खूब ख्याति हुई। उनकी कविता की ओर आकृष्ट होकर हिंदी नए भावों और काव्य के नवीन रूपविधानों से अनुप्राणित हुई। शेक्सपियर के नाटक, स्काट के उपन्यास, शेली, कॉट्स आदि की कविताओं के भाव प्रभाव का मार्ग इस प्रकार हिंदी के लिये सुगम और प्रशस्त हुआ।

बहुमुखी परिवर्तन

आधुनिक हिंदी पर यह गहरा प्रभाव प्रत्यक्ष है। साहित्य की सामग्री, शैली सिद्धांत सब कुछ इससे प्रेरित और प्रभावित हुआ। इस प्रभाव के परिणामस्वरूप साहित्य के रूपविधान की नई दृष्टि आई जिससे कलात्मकता का उदय हुआ। पुराने रूपविन्यास, उपकरण और रचनापरंपरा के बदले प्रत्येक दिशा में नवीनता

[1] चातक की आकुल पी पो गुनगुन कलरव भ्रमरों का।
पत्रों की मधुर मर्मरध्वनि कोलाहल गगनचरों का।
निर्झर का झरझर विराव कलकल आराव सरित का।
सागर का वह लहर नाद स्वर हहर हहर मारुत का।

के दर्शन मिलने लगे। प्रकृति और मानव जीवन के व्यापक क्षेत्र से साहित्य की विषयवस्तु का संबंध जुड़ गया। अनेक साहित्यिक रूपों के प्रयोग होने लगे। यह बहुमुखी परिवर्तन अचानक ही हुआ। इससे भाषा में एक अव्यवस्था फैली, पर रूपविधान में बड़ा क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ। पच्चीस वर्षों में ही एक अद्भुत परिवर्तन हो गया। मुक्तकों के वनखंड के स्थान पर महाकाव्य, खंडकाव्य, आख्यानक काव्य (बैलेड्स), प्रेमाख्यानक काव्य (मेट्रिकल रोमांसेज), प्रबंधकाव्य और गीतों से सुसज्जित काव्योपवन का निर्माण होने लगा। गद्य में घटनाप्रधान, चरित्रप्रधान, भावप्रधान, ऐतिहासिक तथा पौराणिक उपन्यास और कहानियों की रचनाएँ हुईं; समालोचना और निबंध की अपूर्व उन्नति हुई। नाटकों की भी संतोषजनक उन्नति हुई, यद्यपि इनके विकास के लिये यह आधुनिक काल—साहित्यिक नियमों और विधानों का विरोधी काल, अत्यंत अनुपयुक्त था, क्योंकि नाटकों की स्थिरता और प्रभाव इन्हीं विधानों पर निर्भर है। केवल पच्चीस वर्षों में ही भाषा इतनी समृद्ध और शक्तिशालिनी हो गई कि उसमें उत्कृष्ट श्रेणी के गद्य और पद्य सरलतापूर्वक ढाले जाने लगे।[1]

द्विवेदी जी की देन

इस युग के प्रवर्तक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी थे। उन्होंने साहित्य की बहुमुखी सेवा की। उनका सबसे बड़ा कृतित्व यह है कि उन्होंने भाषासंबंधी एक नया प्रतिमान ही प्रस्तुत किया। भाव और भाषा, विषयवस्तु और उपादान, छंद और रूप, गति और परंपरा की दृष्टि से साहित्य के क्षेत्र में अनेकमुखिता के कारण जो अव्यवस्था और अस्थिरता आई, उनके समग्र जीवन की तपस्या उसी को व्यवस्थित और सुचारु रूप देने में समर्पित हुई। इसलिये भावविचार और भाषा शैली दोनों में द्विवेदी जी की देन है। बीसवीं सदी के पहले दो दशाब्दों की अवधि में साहित्य संबंधी जो भी आंदोलन हुए, सबपर द्विवेदी जी की सजग साधना की छाप है। मौलिक रचना की दृष्टि से उनकी सेवा साधना का महत्व उतना नहीं है जितना साहित्य की अनेकमुखी सामग्री एकत्र करने तथा बहुतों को साहित्यसेवा के लिये अनुप्रेरित करने में। हिंदी गद्य को उन्होंने व्याकरणसंमत शुद्ध रूप दिया। अँग्रेजी के आदर्श पर गद्य के विकास की व्यवस्था की, विभक्ति, विरामचिह्न और पैरेग्राफ की परिपाटी का श्रेय उन्हीं को है। किंतु इसका यह मतलब नहीं कि वे एकमात्र अंग्रेजी आदर्श के ही पृष्टपोषक थे। गति और प्रांजलता के लिये, शब्दसमृद्धि और शुद्धि के लिये, अभिव्यंजना की शक्ति

[1] आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास।

और सादगी के लिये उन्होंने अंग्रेजी गद्य का अनुकरण किया-बेकन और मिल की रचनाओं का अनुवाद करके गद्य के आदर्श निदर्शन प्रस्तुत किए—परंतु जहाँ तक कविता का प्रश्न है, उन्होंने भारतीय आदर्श को ही अपनाया। कुमारसंभव और किरातार्जुनीयम् के सरल पद्यानुवाद से उन्होंने काव्यभाषा का अनुकरणीय आदर्श उपस्थित किया। अपनी कविताओं में उन्होंने शब्द, छंद और विधान में संस्कृत की ही परंपरा रखी। नई नई प्रतिभाओं को प्रेरित करके न केवल रचना के लिये उन्मुख किया, वरन् उन्हें नई दृष्टि दी, नया रास्ता दिया और उन्हें समर्थ बनाया। उस युग में ज्ञानविज्ञान की जिन नई दिशाओं का द्वार उद्घाटित हुआ, सबके आहरण और प्रचारप्रसार के एकमात्र सफल माध्यम द्विवेदी जी बने। उस काल की 'सरस्वती' के अंकों को उलटकर देखने से इस सत्य की सहज ही प्रतीति हो सकती है। प्राचीन भारतीय संस्कृति, साहित्य, इतिहास, देशप्रेम, आर्थिक और राजनीतिक समस्या, देशी विदेशी नवीन विचारधारा; नए चित्र, नई रचनाएँ; यात्रावर्णन, कवि या साहित्यिक का विवरण; पुस्तक परिचय; नए वैज्ञानिक अनुसंधान; दार्शनिक और साहित्यिक मतवाद, हिंदी और सामयिक समस्या, आदि विषयों पर रचनाएँ और टिप्पणियाँ रहती थीं, जिनसे हिंदी के व्यापक भावी विकास को दिशा और गति मिली। सन् १९०० ई० से १९२० ई० तक का हिंदी साहित्य सभी दिशाओं में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से द्विवेदी जी की प्रतिभा का ऋणी है। नए युग की अवतारणा के नायक; बहुमुखी विकास के संवदाता और हिंदी की निश्चित प्रगति के पुरोहित वही थे। हिंदी का बहुविध साजसज्जा से सुसज्जित जो मनोरम महल आज खड़ा है, इसकी दृढ़ भित्ति उन्हीं की देन है। साहित्य के उस युग को इसी लिये द्विवेदी युग कहते हैं।

डा० श्री कृष्णलाल ने अपने 'आधुनिक साहित्य का विकास' में बीसवीं सदी के प्रथम चतुर्थांश को आठ आठ वर्षों की अवधि के तीन भागों में विभक्त किया है—अराजकता काल (१९००-१९०८), साहित्यिक व्यवस्था का काल (१९०८-१६) और निश्चित विकासोन्मुख (१९१६-२५)। गति की विशिष्टता के समझने समझाने के लिये ऐसा कालविभाजन सुविधाजनक भले ही हो, किंतु साहित्य के अंतःस्रोत की सही पहचान इससे संभव नहीं; क्योंकि उसकी अंतरात्मा को समय की ऐसी लक्ष्मण रेखा खींचकर नहीं देखा जा सकता—उसके निर्माण और विस्तार का एक लंबा क्रम होता है।

इस अवधि में साहित्य में हमें कुछ नवीन और निश्चित स्वर मिलता है जिसे हम उस युग की विशेषता कहेंगे। संभव है, निर्माणक्रम में उन विशेषताओं की पहले से भी स्थिति रही हो, किंतु वे स्पष्ट इसी अवधि में हुईं। उन विशेषताओं में सबसे प्रमुख दो हैं—साहित्य में गीतितत्व

की प्रधानता और कला का उन्मेष। इसमें संदेह नहीं कि ये दोनों ही लक्षण पाश्चात्य प्रभाव और अनुकरण से ही परिपुष्ट हुए। पश्चिमी साहित्य ने कला और गीतितत्व की प्रेरणा जुगाई और पश्चिम के औद्योगिक सभ्यता के प्रभाव ने देश में उसके अनुकूल परिवेश प्रस्तुत किया। नाटकों में छंदों की जगह गीत का समावेश हुआ। गद्य में गद्यगीत का एक नया प्रकार ही प्रकट हो गया। उपन्यासों में इस गीतितत्व के प्रभाव से भावप्रधान उपन्यासों की रचना होने लगी। कविता में गीतरचना तो स्वाभाविक ही थी—गद्य में लयात्मकता लाने का प्रयत्न होने लगा।

व्यक्तिवादी भावना का उन्मेष

विचारकों के निष्कर्ष के अनुसार व्यक्तिवादी भावना गीतितत्व की उत्स-भूमि है। पश्चिमी सभ्यता और विज्ञान के प्रचार प्रसार से उस भावना के अनुकूल वातावरण, परिस्थिति और भावभूमि तैयार हो चली थी। कल कारखानों की स्थापना तथा उद्योग धंधों के विस्तार से औद्योगिक नगरों और वर्गों का उदय हुआ। अंग्रेजी शिक्षा से उद्बुद्ध मध्यवर्ग की उन्नति से शहरी सभ्यता धीरे धीरे स्थिरता पाने लगी और जीवन की दिनानुदिन बढ़ती हुई व्यस्तता से अन्यों की चिंता का अवकाश हरण कर लोगों को अपनी ही चिंता तक सीमित और स्वमुखी बनाना शुरू किया। भारत की सामंती समाज व्यवस्था टूटने लगी, पूँजीवादी व्यवस्था रूप लेने लगी। व्यक्तिवादी भावना पूंजीवादी समाज व्यवस्था की उपज है।

व्यक्तिभावना और पूँजीवाद

तत्कालीन गीतितत्व के उन्मेष में व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के आभास को मात्र पूंजीवादी व्यवस्था की देन कहना युक्तियुक्त नहीं। उसपर भारत की अपनी दार्शनिक विशेषता और विशेषकर गांधीवाद की छाप है। गांधीवाद के अनुसार व्यक्ति समाज की एक अनिवार्य इकाई है। सैद्धांतिक विचार से व्यक्तिनिष्ठ जीवन-दृष्टि को हम पूँजीवाद की उपज भले ही कह लें, किंतु जिस भावभूमि पर साहित्य में यहाँ व्यक्तिमानव की प्रतिष्ठा हुई, वह इससे कुछ पृथक् है। उसमें पूंजीवाद का भी हाथ हो सकता है, किंतु उसकी एकमात्र प्रेरणा वही नहीं है। वैसा होता तो तत्कालीन काव्य अहम् की कुंठा का ही प्रतिरूप होता। काडवेल ने व्यावसायिक क्रांति के बाद की स्थिति पर अँग्रेजी रोमांटिक काव्य की निरख परख की है। उसके अनुसार 'व्यावसायिक क्रांति किसी हद तक पूंजीवाद के विस्फोट की अवस्था है। इस काल का कवि अपने को समाज से बिलकुल अलग एक जीव मान लेता है। वह ऐसा व्यक्तिवादी होता है, जो मात्र अपने ही अंतस्तल की प्रेरणाओं की शरण लेता है और समाज के प्रति अपने को जिम्मेदार नहीं मानता।' किंतु

हिंदी काव्य में जिस छायावाद का प्रादुर्भाव हुआ, वह अंग्रेजी के रोमांटिक काव्य की भाँति नहीं है। कुछ प्रवृत्ति और तत्व की समानता के कारण—जैसे, सौंदर्य और कल्पनावादी दृष्टि, व्यक्तिवादी भावना, स्वच्छंदता की प्रवृत्ति—कुछ लोग दोनों को एक कहते हैं। किंतु गहराई से देखने पर साफ दिखाई देगा कि दोनों की भावभूमियाँ सर्वथा अलग हैं। छायावाद की भित्ति सांस्कृतिक, राष्ट्रीय और मानवीयता की प्रवृत्तियों पर है। इसी लिये इसमें नैतिकता, संयम और अनुशासन है, जो अंग्रेजी के रोमांटिक काव्य में नहीं है। आगे चलकर यह व्यक्तिवादिता अहम् अवश्य बन गई। इस युग के बाद के जो उत्तराधिकारी कवि आए, उनमें इसकी पूर्ण परिणति दिखाई देती है।

प्रगीत

हरबर्ट रीड ने एक बहुत सही बात बताई है कि कोई भी विज्ञान हो उसमें जो नई संवेदनाएँ होती हैं वे रूपकों के रूप में तैयार होती हैं। विज्ञान के प्रारंभिक चरण काव्यात्मक होते हैं।[1] उस युग के गीतितत्व की प्रधानता के पीछे मुख्यतया यही सत्य है और इस सत्य का उस युग को एक बहुत बड़ा दान मिला प्रगीत। अपने साहित्य शास्त्र में ऐसे भाव गीतों से प्रबंध काव्य को कहीं श्रेष्ठ कहा गया है। किंतु प्रबंधकाव्य की अपेक्षा नितांत छोटा क्षेत्र होते हुए भी भावना की जैसी मार्मिक अभिव्यक्ति इसमें संभव है, आख्यानक काव्य में वैसी नहीं है। कवि का व्यक्तित्व संपूर्णतया प्रगीतों में ही प्रस्फुटित हो सकता है। कवि की आत्मा का सौरभ, उसके मर्म के प्रकाश का साधन प्रगीत है। नंददुलारे वाजपेयी ने प्रगीत की इस विशेषता पर तुलनात्मक ढंग से बहुत सुंदर विचार व्यक्त किए हैं। प्रगीत काव्य में कवि की भावना की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है उसमें किसी प्रकार के विजातीय द्रव्य के लिये स्थान नहीं रहता। प्रगीतों में ही कवि का व्यक्तित्व पूरी तरह प्रतिबिंबित होता है। वह कवि की सच्ची आत्माभिव्यंजना होती है। कथानक काव्यों में जीवन के भावात्मक संघर्ष और चरित्रों की रूपरेखा रहा करती है, पर कवि के अंतस्तल का उद्घाटन प्रगीत में ही संभव है। प्रबंधकाव्य में दृश्यचित्रण के साथ इतिवृत्त भी लगा रहता है, परंतु प्रगीतरचना में कविता इन समस्त उपचारों से विरत होकर केवल कविता या भावप्रतिमा बन कर आती है। संगीत के स्वरों की भाँति प्रतीति के शब्द ही अपनी भावना इकाइयों से कविता का निर्माण करते हैं, उनमें शब्द और अर्थ, लय और छंद

१. कला और मानव का विकास।

अथवा रूप और निरूप्य की अभिन्नता हो जाती है। प्रबंधकाव्य कविता का आवृत और आच्छादित रूप है। प्रगीतकाव्य उसका निर्व्याज निखरा हुआ स्वरूप है। प्रबंधकाव्य यदि कोई रसीला फल है, जिसका आस्वादन छिलके, रेशे और बीज आदि के निकालने पर ही किया जा सकता है तो प्रगीतरचना उसी फल का द्रव रस है, जिसे हम तत्काल पी सकते हैं।

कलात्मकता और वैयक्तिक स्वतंत्रता

कला की महत्ता बढ़ने के कारण भी लगभग वे ही थे जो गीतितत्व की प्रधानता के जनक हुए। उन कारणों में प्रमुख कारण हुआ व्यक्तिवाद का विकास। युग की सबसे महत्व की एवं अभूतपूर्व घटना हुई सार्वजनिक समानाधिकार की भावना का प्रसार। जहाँ वर्णव्यवस्था पर समाज का ढाँचा खड़ा था, ऊँच नीच के अनुसार सामाजिक अधिकार का बँटवारा था, वहाँ सर्वसाधारण में सम भाव का प्रादुर्भाव हुआ। शिक्षण संस्थाओं तथा अदालतों के द्वारा बौद्धिक और वैधानिक समानता की सुविधा प्राप्त हो गई। व्यक्तिभावना को इससे बल मिला और साहित्य में अंतर्भावना की स्वीकृति पर मुहर लगती गई। व्यक्तिवाद की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई भावना के साथ कला की परंपरागत परिपाटियाँ और मान्यताएँ टूटने लगीं, उसका नया महल वास्तविकता की नई नींव पर खड़ा होने लगा। राजनीतिक स्वतंत्रता के बढ़ते हुए संघर्ष में कलात्मक और वैयक्तिक स्वतंत्रता की भी जड़ मजबूत होती गई। नई आस्था की उद्भावना प्रबलतर जरूर हुई, किंतु पुरानी व्यवस्था को पूर्णतया उखाड़ फेंकना सहज संभव न था। फलस्वरूप पुरानी रूढ़ियाँ टूटकर बिखर नहीं गईं, उनपर नई दृष्टि ने नया रंग चढ़ाया। काव्यगत पात्रों का देवत्व और अवतारत्व अलौकिकता के कल्पना स्वर्ग से उतरकर उन्नत मानवता की वेदी पर प्रतिष्ठित हुआ। तत्कालीन रचनात्मक साहित्य में इस नई दृष्टि की एक विशेष देन हम यह देखते हैं कि काव्यकृतियाँ नायक के बदले नायिकाप्रधान होने लगीं। हरिऔध जी का 'प्रियप्रवास' और मैथिलीशरण गुप्त का 'साकेत' इसके उदाहरण हैं। एक में राधा और दूसरे में उर्मिला का चरित्र प्रधान है। इतना ही नहीं, प्राचीन परिपाटी में नायक में सर्वमान्य गुण की अनिवार्यता जो एक आवश्यक शर्त थी, वह भी टूट गई। जो राधा सूर में लौकिक प्रेम की पराकाष्ठा में आध्यात्मिकता की पावन प्रतीक थी, हरिऔध के 'प्रियप्रवास' में वह एक समाजसेविका के रूप में सामने आई।

कला की नई दृष्टि

कला की इस दृष्टि में हमें पूर्वगत परंपरा से कहीं अधिक कल्पनाप्रवणता, संवेदनशीलता और मानवीयता के दर्शन होते हैं। यह इस बात का परिचायक

है कि इस युग की नवोदित चेतना मुख्यतया संस्कार की थी। सुधार की आकांक्षा आदर्शवादी होती है। इसी लिये व्यक्तिवादी चेतना सामाजिक प्रयोजन की ही अंगी हो गई, व्यक्तित्व की विशिष्टता बन गई सामाजिक उपादेयता की प्रेरणा। इसी लिये तत्कालीन साहित्यिक कृतियों में आदर्श चरित्रों की अवतारणा द्वारा लोकमंगल की भावना को प्रोत्साहन दिया गया है, आदर्शवाद के प्रति अपने आप ही आस्था प्रकट हुई है। कला की दृष्टि से इस युग को जो भी स्थान मिले, युगचेतना को पूर्णतया प्रतिबिंबित करने में उनकी विश्वस्त तत्परता से इनकार नहीं किया जा सकता। युग की विषम जटिलताएँ आदर्शवादी प्रवृत्ति के कारण स्पष्ट रूप नहीं पा सकीं, किंतु राष्ट्रीयता, मानवीयता, तथा अन्य कुछ बौद्धिक व्याख्याओं के कारण पिछले काव्य की अपेक्षा हम इसे अधिक आधुनिक कहेंगे। नए शिल्पमाध्यम से पुरानी विषयवस्तु की अभिव्यक्ति निजत्व का विरोधी भी नहीं है। रूप, लय, बिंबपरिवर्तन किसी भी रूप में आ सकता है।

नए शिल्पमाध्यम का प्रयोग

प्रयोग, शब्दों को ऐसे कवियों की कृतियों के लिये संमानपूर्वक किया जाता है, जो प्रौढ़ता में परिणत होकर विकास प्राप्त करते हैं। प्रौढ़ता के साथ साथ मनुष्य नई विषयवस्तु की ओर मुड़ता है या वह पुरानी विषयवस्तु को ही नए शिल्पमाध्यम से प्रस्तुत करता है—क्योंकि हमारा आदिम स्व और वर्तमान स्व—दोनों, दो दुनिया में रहने लगते हैं या उसी दुनियाँ में भिन्न व्यक्ति हो जाते हैं। ये परिवर्तन लयात्मक, बिंबगत अथवा रूपगत, किसी भी प्रकार के परिवर्तन पथ से आ सकते हैं: सच्चा प्रयोक्ता अस्थिर कौतूहल या नई स्थापना की इच्छा या चमत्कृत करने की प्रवृत्ति से ही परिचालित नहीं होता, वह एक कवि के रूप में प्रत्येक नई कविता में, अपनी पिछली कविताओं के समान, नई संवेदनाओं के लिये, जिसके विकास पर उसका कोई वश नहीं उचित माध्यम खोजने की अनिवार्यता से विवश होता है।[1]

[1] दी वर्ड एक्सपेरिमेंटेशन मे बी एप्लाइड ऐंड औनरेबली एप्लाइड, टु द वर्क ऑफ मैनी पोएट्स टु डेवलेप ऐंड चेंज इमैच्युरिटी पेज ए मैन ग्रोज ओल्डर, ही [illegible] टर्न टु न्यू सब्जेक्ट मैटर, आर ही मे ट्रीट दि सेम मीटिरियल इन ए डिफरेंट वे, ऐज वी [illegible] लीव इन ए डिफरेंट वर्ल्ड ऐंड बिकम डिफरेंट मेन इन द सेम [illegible]। दी चेंजेज मे बी एक्स-प्रेस्ड बाइ ए चेंज ऑफ रिद्म, ऑफ इमेजरी ऑफ फौर्म; [illegible] एक्सपेरिमेंटर इज नाट इम्पेल्ड बाइ रेस्टलेस क्युरिऑसिटी, आर बाइ डिजायर [illegible] नो-वेल्टी, और टु विश टु सरप्राइज ऐंड ऐस्टोनिश बट बाइ दी कंपलसन टु फाइंड, इन ईच न्यू पोएम ऐज इन [illegible] पोएम्स ऐज हि हैज आरलिएस्ट दी राइट फौर्म फॉर फिलिंग्स ओवर दी डेवलपमेंट ऑफ व्हिच ही हैज ए पोएट, नो कंट्रोल। टी० ऍस० इलियट—सेलेक्टेड प्रोज।

समन्वयवादी दृष्टिकोण

यह युग साहित्य का संक्रांति काल था। नवीनता का प्रभाव बढ़ रहा था और धर्मभावना का रूढ़िगत प्रभाव पूर्णतया छूट नहीं पा रहा था। पुराने आख्यान और चरित्रों की अलौकिकता का मज्जागत मोह अब भी शेष था। इसलिये आदर्श और मर्यादा का समन्वयवादी दृष्टिकोण प्रकट हुआ। समन्वय की यह चेतना दोनों दिशाओं में दिखाई दी--प्राचीन और नवीन, पौर्वात्य और पाश्चात्य। साहित्यिक व्यवस्था के लिये आदर्श के चुनाव की समस्या थी कि कौन सा आदर्श ग्रहण किया जाय ? और इसमें दोनों मतों के पोषक, दोनों आदर्शों के अनुयायी आगे आए। एक वे जो परंपरागत प्राचीन आदर्शों के प्रति पश्चिमी भौतिकवाद की प्रतिक्रिया से और अधिक आकृष्ट हुए और दूसरे वे जो पश्चिम से आई हुई नई सभ्यता और आदर्शों के अनुयायी थे। उस युग की क्रियाशीलता में दोनों आदर्शों के अनुकरण के पर्याप्त निदर्शन हैं। द्विवेदी जी का उल्लेख हम कर आए हैं। जहाँ तक गद्य का प्रश्न था, वे अँगरेजी आदर्श के पृष्ठपोषक थे, किंतु काव्य के मामले में अपनी परंपरा के अनुयायी रहे। एक ओर उन्होंने बेकन और मिल की रचनाओं का अनुवाद किया, दूसरी ओर संस्कृत के 'कुमारसंभव' और 'किरातार्जुनीयम्' का। यही नहीं, उन्होंने काव्य के लिये अपनी शास्त्रीय रीति का अनुमोदन भी किया। ठीक इसी प्रकार आचार्य रामचंद्र शुक्ल पश्चिमी यथार्थवाद के पोषक रहे, किंतु कविता के क्षेत्र में भारतीय काव्यपरंपरा को ही अपनाया। श्रीधर पाठक ने अँगरेजी से 'डेजर्टेड विलेज', 'ट्रैवलर' और 'हरमिट' का तथा संस्कृत से 'ऋतुसंहार' का पद्यानुवाद किया। लेकिन व्यापकता के क्षेत्र में विचार करने पर यह रहस्य स्पष्ट हो जाता है कि पश्चिम की स्वीकृति औपचारिक ही थी। पश्चिमी प्रभाव आंतरिकता की सतह पर आसन नहीं जमा पाया था। साहित्य में भाव, भाषा, रूपविधान में पुरानी विशेषताएँ ही अधिक थीं। पात्रों की भावना और व्यक्तित्व की प्रधानता होते हुए भी अभिव्यक्ति में भावनात्मक प्रबलता रही। थोड़े में, साहित्य की यह स्थिति प्रयोगात्मक थी, पुरानी परंपरा का प्रभाव शेष था और कला अपनी प्रारंभिक दशा में प्रवेश भर कर पाई।

साहित्य के उन्नत भविष्य की भूमिका

फिर भी साहित्य के इतिहास में इस युग का अपना महत्व है। इन्हीं दो दशाब्दों में कुछ ऐसी प्रतिभाएँ साहित्य क्षेत्र में प्रकट होती हैं, जिनके कृतित्व से आगे चलकर साहित्य का आकाश समुज्ज्वल होता है। उपन्यास, कहानी, कविता, नाटक, समालोचना साहित्य के सभी अंगों की स्वस्थ भूमिका प्रस्तुत होती

है। प्रेमचंद की 'रंगभूमि' और 'प्रेमाश्रम', प्रसाद, सुदर्शन, कौशिक की कहानियाँ; पंत, निराला, प्रसाद के सुंदरतम गीत; मैथिलीशरण की पंचवटी और शक्ति, माखनलाल चतुर्वेदी की वीर रस की कविताएँ तथा प्रसाद के 'अजातशत्रु' और 'कामना' नाटक इसी युग की देन हैं। समालोचना साहित्य के सभी अंगों की नींव इसी समय पड़ी। सुविधा के लिये समालोचना साहित्य को चार श्रेणियों में बाँटा जा सकता है—समीक्षा, अनुसंधान और अध्ययन, समालोचना सिद्धांत और तुलनात्मक समालोचना। साहित्य के इस गंभीर अंग का पुष्टिसाधन तो इन आरंभिक बीस वर्षों के बाद हुआ, परंतु सभी दिशाओं में कार्य इसी युग में आरंभ हो गए। समीक्षाप्रणाली लेखक और पाठक के बीच संबंध सेतु सी है। रचना के गुणदोष, विषयविशेषता का दर्पण हाथ लग जाने से रुचि के विषयों के चुनाव और संग्रह में आसानी हो जाती है। मुद्रणकला के विकास की गति से पुस्तकों का प्रकाशन बढ़ने लगा। अपनी रुचि के अनुसार पुस्तक निर्वाचन का सबको अवकाश भी कहाँ। पाठक, लेखक के ग्रहण प्रचार की प्रवृत्ति के लिये समीक्षा पद्धति प्रकट हुई। इस प्रणाली का प्रारंभ सबसे पहले जयपुर से निकलने वाले 'समालोचक' में (१९०२) और 'सरस्वती' में (१९०४) से हुआ। दोनों में नई पुस्तकों की आलोचनाएँ प्रकाशित होती रहीं।

अनुसंधान और अध्ययन

अनुसंधान और अध्ययन की शाखा उन्नीसवीं सदी के अंतिम वर्षों में ही शुरू हो गई थी। लोग नए विषयों की खोज तथा अध्ययन के महत्वपूर्ण कार्य में बड़ी लगन से लग गए थे। एडविन ग्रिब्स रचित 'गोसाँई तुलसीदास का चरित्र' (१८९९), श्यामसुंदरदास विरचित 'बीसलदेव रासो' और राधाकृष्णदास कृत 'सूरदास का जीवन' (१९००), किशोरीलाल गोस्वामी का 'अभिज्ञान शाकुंतल' और 'पद्मपुराण' (१९००) आदि खोज संबंधी लेख इस दिशा की प्रारंभिक चेष्टाएँ हैं। सन् १९०० ई० में नागरीप्रचारिणी सभा ने पहले से होते आए खोज कार्य को स्वयं लेकर उत्तर प्रदेश सरकार के संरक्षण में कार्य करना आरंभ किया और तबसे सभा तत्परता से इस कार्य में जुटी हुई है। इन्हीं खोजों से हिंदी साहित्य के इतिहास का अध्ययन सुगम हुआ। सन् १९१३ ई० में तीन भागों में प्रकाशित 'मिश्रबंधु विनोद' इसी साधना का सुफल है, जिसमें १९०० पृष्ठों में ३७५७ कवि एवं लेखकों का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

सैद्धांतिक समालोचना

समालोचना सिद्धांत के क्षेत्र में भी इन बीस वर्षों में कम काम नहीं हुआ सैद्धांतिक समालोचना की तीन प्रमुख शाखाएँ हैं—संस्कृत समालोचना सिद्धांत, पाश्चात्य समालोचना सिद्धांत और समन्वयवादी समालोचना सिद्धांत, जिनमें

संस्कृत तथा पश्चिमी समालोचना पद्धति का सामंजस्य है। संस्कृत का समालोचना सिद्धांत बृहद् और ऐश्वर्यशाली है। प्राचीन आचार्यों ने सूक्ष्म से सूक्ष्म विचार और वैज्ञानिक विश्लेषण में अपूर्व पांडित्य का प्रदर्शन किया है। अत्याधुनिक दृष्टि की खरी कसौटी में भी ये उद्भावनाएँ और मान्यताएँ टिकी रहीं। रस, ध्वनि, अलंकार संबंधी सिद्धांतों में अधिकांश किसी-न-किसी रूप में मान्य रहे। संस्कृत समालोचना सिद्धांत की मुख्यतः पाँच शाखाएँ हैं—रस, ध्वनि, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति जिनके प्रतिष्ठाता क्रम से भरत और विश्वनाथ, आनंदवर्धन और मम्मट, दंडी, भामह तथा कुंतक हैं। हिंदी में सिद्धांतसंबंधी इन सभी शाखाओं पर ग्रंथ या लेख इस काल में लिखे गए। कन्हैयालाल पोद्दार का 'अलंकार प्रकाश' और 'काव्य कल्पद्रुम', भगवानदीन का 'अलंकार मंजूषा' और अर्जुनदास केडिया का 'भारतीभूषण' प्रमुख हैं।

पाश्चात्य और समन्वयवादी समालोचना की दिशा में बहुत अधिक काम नहीं हो सका, पर उसका आरंभ हो गया। यों तो 'समालोचनादर्श' के नाम से जगन्नाथदास रत्नाकर ने पोप के 'एसेज ऑन क्रिटिसिज्म' का अनुवाद १८९७ ई० में ही कर दिया था, पर बीसवीं सदी के इन वर्षों में सामयिक पत्रों में लेखादि के सिवा यह कार्य ठोस रूप में प्रगति नहीं कर सका। महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्यामसुंदरदास और रामचंद्र शुक्ल ने महत्व के कुछ लेख अवश्य लिखे। श्यामसुंदरदास की बहुत ही लोकप्रिय पुस्तक 'साहित्यालोचन' जिसमें पूर्व और पश्चिम के सिद्धांतों का सामंजस्य पहली बार बड़े सुंदर ढंग से मिलता है, प्रकाशित तो १९२२ ई० में हुई, परंतु उसका बहुत सा काम इसी अवधि में किया गया था। सबसे बड़ी बात यह हुई कि रामचंद्र शुक्ल की परिपक्व वैज्ञानिक पद्धति का जिसका विकास बाद के वर्षों में हुआ, सूत्रपात साहित्य क्षेत्र में उनके लेखों से हुआ।

उपर्युक्त दो शाखाओं से कहीं अधिक और ठोस काम तुलनात्मक समालोचना के क्षेत्र में हुआ। हिंदी के इस क्षेत्र के अग्रणी हुए पद्मसिंह शर्मा। उनके चार पाँच लेख बहुत ही उल्लेखनीय हुए। पहला लेख बिहारी और फारसी कवि सादी की तुलनात्मक आलोचना पर था। यह १९०७ ई० में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ। दूसरा १९०९ ई० में भिन्नभाषाओं की कविता का बिंब-प्रतिबिंब-भाव; तीसरा १९११ ई० में भिन्न भाषाओं के समानार्थ 'पद्य' तथा चौथा संस्कृत और हिंदी कविता का का बिंब-प्रतिबिंब भाव। तुलनात्मक समालोचना की पहली श्रेष्ठ पुस्तक मिश्रबंधुओं का 'नवरत्न' है। यहीं से बिहारी की श्रेष्ठता के लिये एक विवाद सा उठ खड़ा हुआ। उस विवाद से और चाहे जो भी अच्छा बुरा परिणाम हुआ हो, तुलनात्मक समालोचना को गति मिली। पद्मसिंह शर्मा की 'बिहारी

सतसई', कृष्णविहारी मिश्र की 'देव और बिहारी', लाला भगवानदीन की 'बिहारी और देव' से यह धारा आगे बढ़ती रही।

वैज्ञानिक कोश

निबंधों के क्षेत्र में भी प्रयोगात्मक रचनाएँ देखने को मिलीं। इन सबका एक बहुत बड़ा लाभ हुआ कि गद्य उत्तरोत्तर प्रौढ़ता की ओर बढ़ता गया। उपयोगी साहित्य की रचना परिभाषिक शब्दावली के अभाव में बहुत कम हो सकी; जो थोड़ी बहुत हो सकी, वह नागरीप्रचारिणी सभा के उद्योग से। सभा ने वर्षों के परिश्रम से १६०८ ई० में एक 'वैज्ञानिक कोश' प्रकाशित किया जिसमें ज्योतिष, गणित, रसायन, पदार्थ विज्ञान, भूगोल और दर्शन के हिंदी शब्द प्रस्तुत किए गए। इससे उपयोगी साहित्यरचना का काम आगे बढ़ा। सामयिक पत्र-पत्रिकाओं से साहित्य और भाषा के विकास में पर्याप्त सहायता मिली, विशेषकर नागरीप्रचारिणी पत्रिका' और 'सरस्वती' से। यों मासिक पत्रों में इंदु, प्रभा, मर्यादा, माधुरी, साप्ताहिक में प्रताप तथा दैनिक में आज की सेवाएँ स्तुत्य रहीं।

अपेक्षित उन्नति के अवरोध

बीसवीं सदी के आरंभिक बीस वर्षों में भाषा साहित्य की जितनी उन्नति की अपेक्षा की जा सकती थी, अनुकूल परिस्थिति न होने के कारण उतनी उन्नति नहीं हुई। इसका कारण वे अवरोधक शक्तियाँ हैं, जो उस समय काम कर रही थीं। हिंदी का संरक्षण पहले जिन राज्यों और दरबारों में होता था, वे टूट गए। व्यापारिक सभ्यता के प्रसार से रोटी रोजी की चिंता और कर्मव्यस्तता से वह अवकाश और शांति नहीं रह गई थी, जो साहित्य शिल्प के विकास के लिये आवश्यक है। उर्दू का अड़ंगा था ही, अँगरेजी का उलटा प्रभाव अलग पड़ा। पश्चिम से जो एक प्रभाव का झोंका आया, उससे नव शिक्षितों के दृष्टिकोण में क्रांतिकारी परिवर्तन हो गया। स्कूल कालेज के युवकों में एक मानसिक अराजकता फैल गई। अँगरेजी उनपर ऐसी हावी हो गई कि अपनी भाषा और अपने साहित्य के लिये स्नेह और सहानुभूति तो दूर रही, उसकी उपेक्षा होने लगी। अपने गर्व गौरव की पहचान भी अँगरेजी के माध्यम के बिना संभव नहीं रही।

आरंभिक बीस वर्षों का विकास

ऐसे विरोध विग्रह के समय भी हिंदी में बहुमुखी विकास का सूत्रपात हुआ। डा० श्री कृष्णलाल के शब्दों में "...बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में हिंदी साहित्य का विकास प्रयोग (एक्सपेरिमेंट) से प्रारंभ होकर निश्चित सिद्धांतों की

ओर; प्राचीन संस्कृत साहित्य के प्रतिवर्तन (रिवाइवल) से पाश्चात्य साहित्य के अनुकरण और रूपांतर की ओर; मुक्तक और प्रबंध काव्यों से गीति काव्यों की ओर; इतिवृत्तात्मक और असमर्थ कविता से प्रभावशाली और भावपूर्ण कविता की ओर; वीर और प्रकृतिवर्णन के सहजोद्रेक भावों से प्रारंभ होकर चित्रभाषा शैली में कलापूर्ण रचनाओं की ओर; अलंकार, गुण और रस से ध्वनि और व्यंजना की ओर और साधारण प्रेम, वीरता और त्याग की भावना से मानव जीवन की उच्च वृत्तियों और भावनाओं की व्यंजना की ओर हुआ।

सहायक घटनाएँ : मानवीयता की भावना का प्रादुर्भाव

इस विकास को गति और शक्ति प्रदान करनेवाली कुछ घटनाएँ भी थीं जो उस काल में घटित हुईं। उनमें प्रमुख हैं—रूस जापान युद्ध (१९०४), बंग-विच्छेद से पैदा होनेवाला स्वदेशी आंदोलन (१९०५) और प्रथम विश्व महायुद्ध (१९१४-१८)। रूस जापान युद्ध में जापान की विजय होने से भारतीयों के मन में भी एक उमंग हुई। यह उमंग इसलिये स्वाभाविक थी कि एक पश्चिमी शक्ति पर एक पूर्वी राष्ट्र की विजय थी। फिर संसार की उन्नति की प्रतियोगिता में जापान की उन्नति और आश्चर्यजनक थी। इसका एक बहुत बड़ा मनोवैज्ञानिक असर हुआ। जापान की देशभक्ति, जापान की वीरता, जापान का औद्योगिक जीवन सबका परोक्ष रूप में हिंदी पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा। प्रथम विश्व युद्ध की महान् विभीषिका से भारत का प्रत्यक्ष संबंध न था, क्योंकि यूरोप के अन्य देशों की तरह उसमें भारत को सक्रिय भाग नहीं लेना पड़ा। लेकिन उससे विनाश की जो दानवी लीला अनुष्ठित हुई, मानवता का जो संहार हुआ, उसके दर्दभरे किस्से हमतक भी पहुँचते रहे और उस घोर अर्थसंकट का किसी रूप में हमें भी साझीदार बनना पड़ा, जो उस युद्ध के परिणाम स्वरूप सारी दुनियाँ पर आया। प्रथम विश्व युद्ध ने न केवल मनुष्य के आर्थिक जीवन पर प्रभाव डाला बल्कि पश्चिमी यूरोप की मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि को भी झकझोर दिया। भारतीय साहित्य पर उसकी स्पष्ट छाप नहीं पड़ी, किंतु मानवतावादी धारणा का प्रादुर्भाव हुआ। यह मानवतावाद पूर्वजों के नैतिक मानवतावाद की अपेक्षा उदार था, क्योंकि किन्हीं अंशों में यह धर्मनिरपेक्ष भी था। उससे अंतर्राष्ट्रीयता की भावना जगी। यह एक महत्वपूर्ण घटना थी। भारत को पहली बार यह समझने का सुयोग मिला कि वह भी विशाल विश्व का एक अविच्छिन्न अंग है। ऐसी किसी भी बात का जो संसार के किसी भी कोने में घटती हो, उस पर भी असर पड़ेगा। पश्चिमी समाज की जानकारी और संस्पर्श से धार्मिक संकीर्णता कुछ दूर हुई; जातीय और देश की सीमा से बाहर संसार को देखने समझने का अवसर मिला। अपने अतिरिक्त देश

ने अबतक अँगरेजी और अँगरेज को ही देखा था, इस युद्ध ने जर्मन, फ्रांसीसी, रूसी साहित्य और जनता से भी परिचित होने का अवसर दिया। इससे संस्कृति और जीवन की धारणा तथा दृष्टि को एक व्यापक क्षितिज मिला। राष्ट्रीय गुण एवं जीवनपद्धति की मान्यताएँ बदलने लगीं।

शताब्दी का आरंभ और साहित्य

शताब्दी के आरंभ में साहित्य की यही अवस्था, यही गतिविधि थी। यह बहुत गौरवमय उत्कर्ष का चित्र चरित्र तो नहीं है, किंतु जैसी सामाजिक स्थिति, जैसी परिस्थितियाँ थीं, उनको देखते हुए इस विकास को असंतोषजनक नहीं कहा जायगा। इस तरह नवीनता के लिये एक ठोस भूमिका तैयार हो गई। सब कुछ नए सिरे से ही करना पड़ा, वह भी अनेक बाधा और विरोधों के बीच। इसलिये यह कुछ कम नहीं। हमारी दृष्टि बदली, हम नई स्थापना के लिये अभिप्रेरित होकर अग्रसर हुए। इस शताब्दी के आरंभिक बीस वर्षों के साहित्य की यही साधारण रूपरेखा है। एक पीढ़ी समाप्त हो रही थी और दूसरी का उदय हो रहा था। नये के आगमन का पूर्वाभास और पुराने की विदाई की विलंबित छाया कभी कभी कुछ वर्षों का समय घेर लेती है, इस कारण हमें नए युग के आगमन और पुराने युग के अवसान की ठीक तिथि निर्धारित करने में कुछ कठिनाई भी हो जाती है। परंतु सन् १८-१६ ई० में समाप्त होनेवाला प्रथम महायुद्ध और सन् १६१६ ई० में भारतीय राजनीति में गांधी जी का प्रवेश, ये दो ऐसे स्मारकचिह्न हैं, जिनके आधार पर इन्हीं वर्षों को नए साहित्य के उन्मेष की प्रवर्तक तिथि मान लेने में किसी प्रकार की शंका नहीं होती।

नवोन्मेष का काल

आलोच्य काल—१६२० ४० ई० नए साहित्य के उन्मेष की दृष्टि से ऐतिहासिक महत्व का काल है। विषय, भाव और प्रवृत्ति तथा भाषा, शैली और रूप सभी दृष्टि से हिंदी में नवीनता की श्री और समृद्धि बढ़ी। रचनात्मक प्रयोग और प्रयत्नों की उत्तरोत्तर प्रगति हुई। साहित्याकाश में प्रतिभा के नए ज्योतिष्कों का उदय हुआ। उपन्यासों में चित्र चरित्र, घटना समस्या नई, कहानियों के पात्र और विषयवस्तु नई, कविता की शब्दयोजना, प्रतीक और उपमाविन्यास नया; नाटकों में दृष्टि और रचनातंत्र नया; देशी विदेशी विचारपद्धतियों की अवतारणा नई सभी दिशाओं में नवीनता। हिंदी साहित्य के इतिहास में ये बीस वर्ष वास्तव में बड़े महत्व के हैं। इसमें महत्व की कई बातों और घटनाओं का योग था, जिनमें एक था यूरोप और भारत की साहित्यिक परंपराओं का निकट संपर्क होना।

दोनों परंपराओं के निकट आने की स्थिति और परिस्थिति तो पहले ही पैदा हो गई थी, परतु दोनों आपस में ठीक ठीक मिल नहीं पाई थीं। मिलने की प्रवृत्ति और सुयोग होने के बावजूद दोनों के बीच संशयात्मक विरोध की दीवार खड़ी थी। अँगरेजी शिक्षा की उत्तरोत्तर वृद्धि, पत्र पत्रिकाएँ, पुस्तकें इस दूरी को क्रमशः दूर करती जा रही थीं। जो रही सही रुकावट भी थी, पहले विश्वयुद्ध की प्रतिक्रिया ने उसे भी समाप्त कर दिया। विभिन्न साहित्य के माध्यम से वे भाव विचार क्रमशः घुलने मिलने लगे और निकटता से दोनों परंपराओं के समन्वय का अवदान साहित्य में आने लगा।

पूर्व और पश्चिम का समन्वय

काव्य में यह युग छायावाद का था। छायावादी काल को दो महायुद्धों १९१४–१८ और १९३९–४५ के बीच का काव्य कहा जाता है। इस काव्य में भारतीय दर्शन और यूरोप के स्वच्छंदतावाद तथा प्रतीकवाद का अद्भुत एकीकरण मिलता है। समन्वय की यह अनुप्रेरणा हिंदी को रवींद्रनाथ की काव्य रचनाओं से मिली। किंतु पाश्चात्य आदर्शों के अनुकरण से भारतीयता का विशिष्ट स्वर इन प्रयासों में लुप्त नहीं हुआ। छायावाद के चार प्रमुख स्तंभ - प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी–की रचनाएँ इसके प्रमाण हैं। प्रसाद ने पश्चिमी ग्रहण की स्वीकृति के साथ भारतीय संस्कृति के सर्वोत्तम को स्पष्ट कर दिया है। कहते हैं, इस युग की ज्ञान-संबंधिनी अनुभूति में भारतीयों के हृदय पर पश्चिम की विवेचन शैली का व्यापक प्रयत्न क्रियात्मक रूप में दिखाई देने लगा, किंतु साथ ही साथ ऐसी विवेचनाओं में प्रतिक्रिया के रूप में भारतीयता की भी दुहाई सुनी जा रही है। प्राचीन की काव्यकृतियाँ स्पष्टतः प्राचीन भारतीय संस्कृति की पोषक हैं। संपूर्ण छायावादी सर्जना में, जहाँ यूरोपीय प्रभाव की स्पष्ट छाप है, भारतीय दार्शनिक भावभूमि भी अपनी आदर्श रेखाओं में उतनी ही उर्जस्वित है। पंत पर विवेकानंद, अरविंद और गांधी के साथ साथ औपनिषदिक तथ्यों का प्रभाव है। इसी प्रकार निराला पर वेदांत और वैष्णव दर्शन, महादेवी पर सूफी, बौद्ध तथा उपनिषद् के सिद्धांतों की गहरी छाया पड़ी है।

व्यक्तिवादी सौंदर्य चेतना

प्रथम विश्वयुद्ध का एक बहुत बड़ा दान है मानववाद। दो युद्धों के बीच की हिंदी कविता पर इस वाद का प्रभाव निर्विवाद है, किंतु उसकी भूमिका पाश्चात्य एवं अपनी पूर्वागत परंपरा से कुछ पृथक् है। यह पृथक्ता न केवल भाव विचार बल्कि रूप तक में है। विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस नए काव्य रूप

की जो प्रेरक या मूल दृष्टि है, वह वास्तव में सौंदर्यवादी है। सौंदर्यवादी दृष्टि भी यह नहीं जो प्राचीन यूनान और ग्रीस की थी। यूनान की सौंदर्य भावना के पीछे कुछ उनकी राष्ट्रीय मान्यताएँ थीं। छायावादी की सौंदर्य चेतना वह नहीं है। यह सौंदर्य चेतना व्यक्तिवादी प्रवृत्ति पर प्रतिष्ठित हुई है। किंतु व्यक्तिवादी की संकुचित प्रखरता कल्पना के योग से उन्नत हुई, उदात्त हुई है। इस विशेषता को कई विचारकों ने एक दोष माना है। कल्पना के इस आश्रय को पलायनवादी प्रवृत्ति की संज्ञा दी गई है। इसकी पुष्टि में यह कहा गया है कि व्यक्तिवादी की आशा आकांक्षाएँ जब वास्तविकता के ठोस धरातल से टकरा कर निरर्थक होती हैं तो वह कल्पना का सौंदर्य स्वर्ग गढ़ता है। यहां तक कि कार्य और मत की यह बेमेल और डाँवाडोल मनःस्थिति अंततः हम छायावाद के एक अन्यतम स्तंभ पंत में भी पाते हैं। वे कहते हैं—'दूसरे शब्दों में नवीन सामाजिक जीवन की वास्तविकता को ग्रहण कर सकने से पहले, हिंदी कविता, छायावाद के रूप में, ह्रास युग के वैयक्तिक अनुभवों, ऊर्ध्वमुखी विकास की प्रवृत्तियों, ऐहिक जीवन की आकांक्षाओं संबंधी स्वप्नों, निराशाओं और समवेदनाओं को अभिव्यक्ति करने लगी और व्यक्तिगत जीवन की कठिनाइयों से क्षुब्ध होकर, पलायन के रूप में, प्राकृतिक दर्शन के सिद्धांत के आधार पर, भीतर बाहर में, सुख दुख में, आशा निराशा और संयोग वियोग के दृश्यों में सामंजस्य स्थापित करने लगी। सापेक्ष की पराजय उसमें निरपेक्ष की जय के रूप में गौरवान्वित होने लगी।'[१]

किंतु छायावाद की आंतरिक विशिष्टता का यही सच्चा रूप नहीं है। वह रूप प्रसाद के शब्दों में—छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौंदर्य-मयता, प्रतीकविधान तथा उपचारवक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं[२]। उपर्युक्त विशेषताओं से काव्यशिल्प को निस्संदेह कलात्मकता मिली। संकेत और प्रतीकों के बाहुल्य से लाक्षणिकता और सौंदर्यमयता आई। व्यंजनात्मक शक्ति बढ़ी। प्रकृति से रागात्मक संबंध भी इस काव्य की एक आवश्यक दिशा है, वह संबंध तो जुड़ा किंतु जिस अंश तक तादात्म्य अपेक्षित था, व्यक्तिवादी आग्रह से वह संभव नहीं हुआ। इतना अवश्य हुआ कि सांस्कृतिक चेतना, राष्ट्रीय आकांक्षा और मानववादी प्रवृत्ति के योग से व्यक्तिवादिता उग्र अहं की रूखी और सँकरी सीमा पर पहुँचने से बच गई। इस योग का एक सुनिश्चित परिणाम यह हुआ कि जहाँ तक रूपविधान का सवाल

१. आधुनिक कवि भाग २।
२. काव्य, कला तथा अन्यान्य निबंध।

है, नई प्रवृत्ति को अनुकूल भावभूमि और शिल्प मिला और जहाँ तक काव्य की आत्मा का प्रश्न है, काव्य व्यक्तित्व में मिलेजुले स्वर, मिश्रित प्रवृत्ति की छाया पड़ी। सूक्ष्म अनुभूतियों का जो भाव जगत् प्रस्तुत हुआ, उसे रूप देने के लिए रूपकों उपमाओं की चित्रात्मकता अनिवार्य हो गई, सांकेतिकता के नाते लक्षणा और व्यंजना का आधार ग्रहण आवश्यक हो गया। फलस्वरूप प्राण से आवरण की प्रधानता सी दिखाई देने लगी। इसी लिये शुक्ल जी ने इसे काव्य अभिव्यंजना की शैली कहा है।

कलात्मक स्वतंत्रता

सन् १९२८ ई० में राजनीतिक स्वतंत्रता का संघर्ष आरंभ हुआ। काव्य के क्षेत्र में उसी के अनुरूप संघर्ष छिड़ा कलात्मक स्वतंत्रता का। साहित्यिक आदर्श की बँधीबँधाई भौतिक मर्यादा थी, जो रूढ़ियाँ थीं, उन्हें तोड़ फेंका गया। तोड़ फेंकने का कारण था। राजनीतिक स्वतंत्रता की आकांक्षा की मर्मवाणी थी नए जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा। उसी प्रकार कलात्मक स्वतंत्रता की आकांक्षा बनी अनुभूतियों का नया क्षितिज। ये अनुभूतियाँ स्थूलता से सूक्ष्मताभिमुखी थीं। उनको अपने अनुकूल धारक और वाहक भाषा की अपेक्षा हुई। सूक्ष्म अनुमानों को आकार और प्रेषणीयता देने के लिये भाषा में वही संपन्नता, वही सामर्थ्य अपेक्षित है। जीवन की उन अनुभूतियों की धड़कन को बाँधने के लिये ही काव्य को सूक्ष्म का साधक बनना पड़ा। स्थूलता में कलात्मकता की प्रतिष्ठा असंभव है और नीति और मर्यादा के भार से मुक्त हुए बिना वास्तविक जीवन को साहित्य में अंकित भी नहीं किया जा सकता। भारत का नवनिर्माण हो रहा था, मनुष्य में नई आत्मा का अविर्भाव हो रहा था। नए शिल्प की अवतारणा भी इसी लिये इतिहास की, युग की एक अनिवार्य माँग थी। किंतु प्राचीन संस्कार, जिसकी जड़ गहरी जमी थी, तत्काल ही नई आत्मा से झाड़ पोंछकर फेंके नहीं जा सकते थे। नवीनता पर उनका थोड़ा बहुत भार जाते जाते भी रहा। छायावाद में मानवीयता और दर्शन की जो प्रवृत्तियाँ मिलती हैं, निश्चित रूप से वह राष्ट्र और समाज की नैतिकता के ही कारण हैं।

सांकेतिक भाषा की उद्भावना

नवीनता के विद्रोही आग्रह से नैतिकता विरोधी भाव का प्रबल होना स्वाभाविक है। शैली, कीट्स, बायरन आदि अँगरेजी रोमांटिक कवियों में यह उग्र विद्रोह है—काव्य में भी, उनके जीवन में भी। उनकी भावनाएँ व्यक्तिपरकता से नितांत व्यक्तिगत की सीमा तक भी पहुँच गई हैं। उनको देखते हुए छायावादी कवि कहीं संयत और अनुशासित हैं। काव्य में प्रतीक योजना और सांकेतिकता की प्रधानता का यह भी कारण है। जो भी

हो, भाषा में इस प्रयोग से लयात्मकता और सांगीतिक तत्वों का समावेश हुआ, छंदयोजना की नवीनता ने नाद सौंदर्य को संजीवित किया और लाक्षणिकता से अंतर की सूक्ष्मतम अनुभूतियों को सजीवता देने की समर्थता आई। अतः साहित्य की आत्मा पर पाश्चात्य प्रभाव की वह स्पष्ट प्रबलता चाहे न हो, रूपविधान में उसका बहुत बड़ा ऋण है। उपन्यास, कहानी, नाटक, सबपर यूरोपीय रचना-पद्धति का व्यापक प्रभाव पड़ा। उपन्यासों में प्रेमचंद के आदर्श तो भारतीय हैं, किंतु निर्माण प्रणाली पश्चिमी है। लक्ष्मीनारायण मिश्र, कृपानाथ मिश्र के नाटकों पर शा और एब्सन की नाट्यपद्धति का गहरा प्रभाव है। यही नहीं, हिंदी आलोचना भी पाश्चात्य आदर्शों के अनुसरण से आगे बढ़ी।

राजनीति में गांधीजी का प्रवेश

साहित्य के लिये इस युग की दूसरी और संभवतः सबसे बड़ी घटना है, भारतीय राजनीति में महात्मा गांधी का प्रवेश। कांग्रेस की बागडोर गांधीजी के हाथों में आ जाने से युगजीवन के सभी क्षेत्रों में अभूतपूर्व क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। गांधी जी का सबसे बड़ा युगांतरकारी और महान् ऐतिहासिक कार्य है राजनीति से आध्यात्मिकता का संबंध स्थापित करना। देश की अंतरात्मा की चरमतम आकांक्षा स्वाधीनता की प्राप्ति की सारी अभियोजनाओं के साथ उन्होंने देश के सर्वांगीण विकास की व्यापक जागृति की पृष्ठभूमि तैयार की। उनके नेतृत्व में, उनकी विलक्षण प्रेरणा और अद्भुत व्यक्तित्व से अभूतपूर्व जागरण देश में आया। सारा देश एकप्राण बना। देश एक साथ अपनी सभी समस्याओं, सभी अभावों, सभी लक्ष्यों की पूर्ति की संमिलित प्रचेष्टाओं में अग्रसर हुआ। उनके अधिनायकत्व में कांग्रेस मात्र एक राजनीतिक स्वतंत्रता के लिये शासकों से लोहा लेनेवाली राष्ट्रीय संस्था ही नहीं रही, वह एक ऐसा व्यापक केंद्र बन गई जिसमें राष्ट्र की समस्त आशा, आकांक्षाएँ एकत्र होकर सक्रियता से सजीव हो उठीं। गाधी जी की जीवनव्यापी साधना का बहुविधि स्वरूप आश्चर्यजनक है। संक्षेप में उसकी व्यापकता के तीन तत्व देखे जा सकते हैं, जो युगनियामक रहे। एक तो यह कि सहज आस्था उत्पन्न करके उन्होने राष्ट्रीय जागरण को जन जीवन में व्यापक बनाया। दूसरा यह कि उन्होंने अधिकार के लिये लड़नेवाली केंद्रीय शक्ति कांग्रेस को राजनीतिक सीमा तक ही सीमित न रहने देकर उसे देश के आर्थिक और सामाजिक पहलुओं के लिये भी सचेतनता दी और तीसरी यह कि सत्याग्रह का अजेय और अनोखा अस्त्र प्रदान किया।

यथार्थ समन्वित आदर्शवाद

गांधी जी के जीवन और कार्य, व्यक्तित्व और विचारधारा का गहरा प्रभाव इस युग के समस्त साहित्य पर है। विशेषकर गांधी जी के उस आदर्शवाद का जो एक अनोखे ढंग से यथार्थवाद से समन्वित था। गांधी जी की यह एक विचित्र

विशिष्टता रही है कि उनका आदर्श अनुप्रेरित जीवन कभी यथार्थ विमुख नहीं रहा। कल्पना के आदर्श-स्वर्ग, स्वप्नों के निरवलंब सत्य और वास्तविकता की ठोस भूमि को उन्होंने व्यावहारिक सूत्र से संयोजित कर दिया। यथार्थ और आदर्श को एक दिशा में मोड़कर दोनों को अविच्छिन्न बनाया। गांधी जी के महान व्यक्तित्व से राजनीतिक चेतना की जो अभूतपूर्व लहर उठी, हमारे समग्र साहित्य पर उस सर्वतोमुखी सक्रियता की स्पष्ट छाप पड़ी। हमारे तत्कालीन साहित्य की वह मूल अनुप्रेरणा और राष्ट्रीय चेतना बनी। इसलिये इस साहित्य पर गांधी के जीवन दर्शन की विशिष्टताएँ विभिन्न रूपों में, प्रत्यक्ष या परोक्ष, प्रभाव डालती रहीं। उदाहरण के लिये कविता में सियारामशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, ठाकुर गोपालशरण सिंह, सोहनलाल द्विवेदी की रचना का उल्लेख किया जा सकता है। सियारामशरण गुप्त के गीतों पर तो असहयोग आंदोलन का सीधा प्रभाव है। त्रिपाठी जी के मिलन, पथिक, सुमन उसी प्रभाव की देन हैं। यहाँ तक कि कुछ कवियों की कविता राजनीतिक कविता ही हो गई। पंत प्रभृति में वह प्रभाव दूसरे रूप में प्रतिफलित हुआ। उपन्यास में प्रेमचंद जी का उदाहरण लिया जा सकता है, जिनके उपन्यासों में गांधी जी के यथार्थ आदर्श की समन्विति बड़े प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत हुई है। ग्रामीण जीवन के जादूगर प्रेमचंद के उपन्यासों में वस्तुविन्यास की प्रणाली यथार्थवादी सी लगती है, किंतु वास्तव में उनकी उपन्यास कला आदर्शप्रधान है। गांधी जी की तरह उन्होंने दो परस्पर विरोधी तत्वों का अपूर्व संमेलन किया है। उपन्यासों का वस्तुविधान, घटनाविकास समाज की गतिविधि की वास्तविकता के इतने निकट हैं, ऐसी प्रत्यक्ष भूमि पर प्रस्तुत हैं कि वे यथार्थवादी प्रतीत होते हैं, परंतु चरित्रों के विश्लेषण से यह सत्य स्पष्ट हो जाता है कि वे कलाकार वास्तव में आदर्शवादी हैं और उनकी कला आदर्शोन्मुख है। क्योंकि जो है, जो प्रत्यक्ष और सहज बोधगम्य है-मात्र वही यथार्थ नहीं है। यथार्थ की वास्तविक स्थिति के और भी पहलू हैं। वस्तु कोई भी अपने वर्तमान रूप में स्वयंपूर्ण या आत्मनिर्भर नहीं होती। जाने अनजाने नाना संबंध सूत्रों द्वारा, वह एक कड़ी द्वारा और भी वस्तुओं से जुड़ी रहती है। उसकी स्थिति का काल एक वर्तमान ही नहीं, भूत और भविष्य भी है। अतः जो है और जैसा है, उसी के चित्रण में कला की सार्थकता नहीं, न वह यथार्थ चित्रण है। अपनी सारी स्थितियों और अंतस्संबंधों के साथ वस्तु का रूपायन ही यथार्थ कहा जायगा।

साहित्यनिर्माण की वैज्ञानिक दृष्टि

यथार्थवादी दृष्टिकोण आज के विज्ञान युग की एक विशेष देन है। युग से साहित्यविचार को भी यह दृष्टि मिली, जो बुद्धि और तर्क के आधार पर ही

वस्तु के यथार्थ स्वरूप को स्वीकार करती है। कल्पना को पर मारने के लिये वहाँ अवकाश का विस्तृत आकाश नहीं है। इस नई दृष्टि ने साहित्य को विज्ञान की श्रेणी में बिठाने की कोशिश की है। इसके अनुसार साहित्य से कल्पना, भावना, आदर्श की अपेक्षा निरर्थक ही नहीं, भूल है। साहित्य का लक्ष्य अंततः सत्य की खोज या प्रतिष्ठा है, जो विज्ञान का है। इसलिये साहित्य का निर्माण वैज्ञानिक दृष्टि तथा पद्धति से ही होना चाहिए। साहित्य के निरीक्षण परीक्षण की इस पद्धति से यह प्रश्न विचारणीय हो गया कि साहित्यनिर्माण का अंतिम लक्ष्य आखिर क्या हो? क्या साहित्य की रचना इस सीमारेखा से सीमित है कि उससे मात्र अच्छे भाव विचारों की सृष्टि हो या रचना का उद्देश्य रचना हो, जिसमें अच्छा या बुरा जो भी प्रभाव चाहे हो। स्पष्ट है कि यदि वैज्ञानिक सत्य की प्रतिष्ठा से ही साहित्य होता तो विज्ञान के होते उसके अस्तित्व की आवश्यकता पर उपयोगिता क्या होती? निश्चय ही साहित्य में विज्ञान से कोई विशेषता है, जिसकी अनुपस्थिति या अभाव से लोग विज्ञान के अतिरिक्त साहित्य का आश्रय लेते हैं। इसलिये साहित्य का प्रकृत लक्ष्य निस्संदेह विज्ञान संमत यथार्थवादी दृष्टिकोण से परे है, जहाँ जीवन की उपयोगिता और हीनता के बदले उसका रचनात्मक पक्ष हो। वस्तुतः यथार्थवादी कलाकार उसी को कहेंगे जो जीवन की स्वस्थ विकास देनेवाली शक्तियों को उद्बुद्ध करे। यथार्थवाद जीवन का इतिवृत्त है। यथार्थ प्रकृति और विकृति दोनों चित्र के लिये स्वतंत्र है पर जीवन में विकृति अधिक प्रसारगामिनी है, परिणामतः यथार्थ की रेखाओं में वही बार बार व्यक्त होती है। यथार्थवाद की नई शैली के उद्भावकों के यहाँ भी विकृति का यह स्वरूप एक दिन स्पष्ट होकर उपस्थित हुआ, जब जीवन के सच्चे और स्वस्थ चित्रचरित्रों की साहित्य में कमी दिखाई देने लगी और तब वहाँ यथार्थवादियों के लिये यह भी कहा जाने लगा कि यथार्थवादियों ने हमें नया संसार देने की बात कही थी, लेकिन दिया उन्होंने हमें अस्पताल[1]।

समाजवादी और साम्यवादी दृष्टिकोण

सन् १९३०–३५ ई० के आसपास देश में विचार और राजनीति के क्षेत्र में एक नए दृष्टिकोण का उदय हुआ—समाजवादी और साम्यवादी दृष्टिकोण। इस काल तक राष्ट्रीय संग्राम एक ऐसी स्थिति के समीप आ पहुँचा था, जहाँ लक्ष्य-

१. दे प्रोमिस्ड टु गिव अस ए वर्ल्ड, इन्स्टेड दे गेव ए हॉसपिटल।

प्राप्ति की स्पष्ट आशा झाँकने लगी थी। फलस्वरूप स्वतंत्रता के मूल लक्ष्य के साथ राजनीतिक रंगमंच पर समानता संबंधी अनुषंगिक भी संमिलित हो गए। समाजवादी और साम्यवादी स्वर की उद्भावना के पीछे वर्गभावना और आर्थिक पक्ष था। अभी तक किसानों की संस्थिति विशेष ध्यान देने की रही थी अब उसके पास मजदूर के नए वर्ग को भी मान्यता मिल गई। इस प्रगतिशील तत्व का प्रादुर्भाव साम्यवाद की प्रतिष्ठा से हुआ। रूसी क्रांति सन् १७ ई० में ही हो चुकी थी, पर लगभग बीस साल की अवधि में उसने एक स्पष्ट रूप लिया। और तब साहित्य के यथार्थवादी सिद्धांत ने एक और तीखा मोड़ लिया। यथार्थवाद, प्रकृतिवाद के साहित्यिक सिद्धांतों का आविर्भाव फ्रांस में उन्नीसवीं सदी में ही हो चुका था। उसके आविर्भाव का मूल कारण था कल्पनाप्रवण स्वच्छंदतावादी साहित्यधारा का विरोध। समय की गति के साथ उसे मार्क्स और लेनिन के साहित्य और समाज संबंधी विचारों की नई उद्भावना मिल गई। मार्क्सवाद को वैज्ञानिक भौतिकवाद कहते हैं। उनकी राय में साहित्य का वास्तविक संबंध ऐतिहासिक विकास है। काव्य और साहित्य वर्गसंघर्ष के ऐतिहासिक विकास क्रम की ही देन हैं, अतएव उसमें विभिन्न युगों के प्रभुतासंपन्न वर्ग की भावना तथा प्रवृत्ति की संस्थिति अवश्यंभावी है। युगविशेष के साहित्य में तत्कालीन अधिकारी वर्ग की संस्कृति की छाप अवश्य होगी। कल्पना और आदर्श का जादू लाख चलता रहे, साहित्य को वर्गसंघर्ष की पीठिका से असंपृक्त रखना संभव ही नहीं और यह अपेक्षित भी नहीं। साहित्य का संबंध व्यावहारिक सत्य से है, केवल कल्पना और आदर्श से नहीं। अपनी परिस्थिति के अनुसार हिंदी साहित्य में भी इस नई दृष्टि और नई यथार्थवादी रचनाशैली का आगमन हुआ। यहाँ वर्गसंघर्ष की वह स्थिति नहीं थी, जो समाजवाद की प्रतिष्ठा के लिये साम्यवाद में आवश्यक मानी जाती है। देश का पूर्ण औद्योगीकरण यहाँ हुआ नहीं था। इसलिये विचारों की जो नई मनोभूमि तैयार हुई और उससे जिस प्रगतिशील आदोलन ने जन्म लिया उसकी आरंभिक भूमिका की दो प्रमुख दिशाएँ साहित्य में सामने आई—एक अंग्रेजों की शोषण नीति का विरोध और दूसरी किसानों मजदूरों की दयनीय स्थिति को सुधारने का आग्रह। तत्कालीन रचनाओं में भाव की दृष्टि से सामाजिक विषमता का स्वर ऊँचा जरूर हुआ है, पर देशप्रेम, राष्ट्रीय भावना का उद्बोधक भी है। रचनाप्रक्रिया में एक विशिष्टता अवश्य स्पष्ट दिखाई देती है। वह है आदर्श की अपेक्षा वस्तुनिष्ठा, यथार्थ को आग्रहशीलता। यथार्थोन्मुख प्रवृत्ति का उपयुक्त माध्यम यद्यपि गद्य है, किंतु काव्य नाटकों में भी यह प्रवृत्ति प्रतिबिंबित हुई। राजनीतिक और साहित्यिक दोनों क्षेत्रों में इस प्रगतिशील भावना के ग्रहण का स्पष्ट उदाहरण है—कांग्रेस में समाजवादी दल की स्थापना (१९३४) और साहित्य क्षेत्र में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना (१९३६)।

अंतश्चेतनावाद

यथार्थवादियों का एक दूसरा वर्ग भी प्रादुर्भूत हुआ। वह है अंतश्चेतनावादी। इसका सिद्धांत समाजवादी यथार्थवाद के बिल्कुल विपरीत है। यह यथार्थ सोलहों आने वैयक्तिक है, इसमें सामाजिक उपयोगिता के लिये स्थान ही नहीं। इस सिद्धांत के अनुसार कविता कल्पना और भावना का व्यापार ही नहीं, कविता कवि की आत्म चेतना का उद्गार है। बुद्धिवादी दृष्टिकोण से उत्पन्न व्यक्तिवादिता और स्वच्छंदता की यह उग्रतम परिणति है। बुद्धिवाद ने तार्किकता की प्रवृत्ति बढ़ाकर सामाजिक नैतिकता के बंधन ढीले कर दिए, धर्म और ईश्वर की आस्था मिटती गई और अहम् प्रबल होता गया। ऐकांतिक वैयक्तिकता ने साहित्य में दुरूहता उत्पन्न कर दी। वह दुरूहता अस्वाभाविक नहीं कही जा सकती हानिकर चाहे जितनी हो। नितांत व्यक्तिगत अनुभूतियों को रूप देने के लिये नवीन प्रतीक योजना आवश्यक हो जाती है। इस प्रतीकात्मक प्रवृत्ति को बल देने में नवीन मनोविज्ञान ने बड़ी सहायता दी। फ्रायड का स्वर ऊँचा हुआ। फ्रायड के मनोवैज्ञानिक सिद्धांत का इसपर गहरा प्रभाव है। युंग ने चित्त का जो विभाजन किया है, उसके अनुसार इसपर मनोविज्ञान का ही प्रभाव है। युंग के अनुसार चेतन, व्यक्तिगत और अचेतन तथा समष्टिगत अचेतन मन चित्त के ये तीन विभाग हैं। इनमें अचेतन मन की अवस्थाएँ ही प्रतीकों की वास और सक्रियता की मूल भूमि हैं। प्रतीकों का वास समष्टिगत अचेतन मन में ही होता है। इन अंतश्चेतनावादियों ने साहित्य को नितांत वैयक्तिक भावभूमि पर प्रतिष्ठित कर देने की चेष्टा की। उनके अंतर्मुखी प्रतीकात्मक उद्गारों ने अस्पष्टता की ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी कि काव्य सहृदयों की नहीं, मानस-शास्त्रियों की वस्तु हो गया। उनकी उपमा, उनके अलंकार मनोविज्ञान के विशेषज्ञों के ही समझने योग्य रहे। इस प्रकार साहित्य में आतरिक और बाह्य दो विदेशी चिंतनपद्धति प्रतिष्ठित होने लगी। मन से संबंध रखनेवाली बातों पर फ्रायड मनोविज्ञान और समाज से संबंध रखनेवाली बातों पर मार्क्स की विचारधारा प्रबल हो गई।

गद्यमयता

यथार्थवादी दृष्टिकोण से गद्यात्मकता बढ़ गई। बौद्धिक दृष्टि की प्रधानता ने कल्पना और भावुकता के लिए जगह नहीं रहने दी। पद्य तक चिंतनप्रधान होकर गद्य से प्रतीत होने लगे। युग की आत्मा की मानों स्थिति ठीक उलटी थी—गद्य रचनाओं में काव्य के सभी गुणों का आरोपण हुआ। लयात्मकता लाने की कोशिश की गई। उपन्यासों में महाकाव्य के तत्व का, गीतितत्व का संमिश्रण करके घटनाप्रधान और भावप्रधान उपन्यास लिखे गए। काव्य के अन्य अनेक रूपों

का विकास काव्योचित गुणों के आधार पर किया गया। किंतु ज्यों ज्यों जीवन स्थूल और प्रत्यक्ष समस्याओं के संमुख नत होने लगा, जीवन का दृष्टिकोण ही बुद्धिवादी बनता गया। जीवन की समस्याएँ दिनानुदिन विषम और जटिल होती गईं। राजनीतिक परिस्थिति भी कुछ ऐसी ही थी। स्वतंत्रताप्राप्ति की चेष्टाएँ जिस अनुपात में प्रबल होती गईं, अंग्रेजी की दमन नीति जोर पकड़ती गई। पिछले महायुद्ध ने नई समस्याओं की कठिनाइयाँ बढ़ा रखी थीं, दूसरे महायुद्ध के बादल मँडराने लगे, अंततः १६३६ ई० में वह प्रारंभ भी हो गया। जीवन और भी जटिल हो गया। मानवीय और सामाजिक समस्याएँ नया रूप लेकर समाधान के लिये खड़ी हो गईं। गरीबी, उपेक्षित नारी वर्ग, समाज और व्यक्ति, स्त्री पुरुष अनेक समस्याएँ साहित्य में अपनी अभिव्यक्ति ढूँढने लगीं। इन समस्याओं ने जीवन को तो कठोर कर ही दिया, अभिव्यक्ति के माध्यम में भी बुद्धि और चिंतन के तत्वों की प्रधानता कर दी। साहित्य की वे शैलियाँ, जिनमें शुद्ध साहित्यिक कल्पना का संयोग था, महत्वहीन हो गईं। भावना तथा अनुभूति की जगह विचार और बुद्धि ने ली। काव्य गद्यात्मक हो उठा।

भाषा की पात्रता

इन बाह्य परिस्थितियों के बीच इन बीस वर्षों की अवधि में हिंदी साहित्य का सर्वांगीण विकास हुआ। विषय की दृष्टि से साहित्य का क्षितिज विस्तृत हुआ और भाषा की दृष्टि से प्रौढ़ता आई। युग के समस्याबहुल जीवन को प्रभावपूर्ण और कलात्मक ढंग से अंकित तथा चित्रित करने की समर्थता और पात्रता हिंदी में आई। साहित्य के विभिन्न रूपों में आवश्यकतानुसार आंतरिक द्वंद्वात्मक सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूतियों तक की सफल अभिव्यक्ति सुगमता से होने लगी। गंभीर विचार और गूढ़ व्याख्याएँ प्रस्तुत की जाने लगीं। निगूढ़ भावनाओं की अभिव्यंजना भी सहज हुई। अभिप्राय यह कि समर्थ भाषा में जो आंतरिक शक्तिसंपन्नता अपेक्षित है, हिंदी में वह आई और इसलिये साहित्य के सभी अंगों का पुष्टिसाधन संभव हुआ। उपन्यास, कहानी, नाटक, निबंध, समालोचना के अतिरिक्त ज्ञान विज्ञान की सभी शाखाओं पर पुस्तकें लिखी गईं। सर्वथा नए विषयों के लिये पारिभाषिक शब्दावली के अभाव ने कठिनाई किन्हीं अंशों में अवश्य रही। इसलिये ज्ञान-विज्ञान की उस श्रेणी की पुस्तकें कम लिखी जा सकीं और जो लिखी भी गईं, उनमें भाषा का वह परिमार्जित और शक्तिसंपन्न रूप नहीं आ सका। ललित साहित्य की भाषा में उपयुक्त निखार है। विषय के अनुरूप सांस्कृतिक प्रांजल शैली भी विकसित हुई और व्यावहारिक विषयों के लिये सरल भाषा शैली का भी निर्माण हुआ। साहित्य को जनजीवन के अधिक से अधिक निकट लाने के लिये सबल और स्पष्ट शैली नितांत प्रयोजनीय है क्योंकि आज का जीवन बहुत व्यस्त और समस्यासंकुल है। अपनी ही समस्याएँ जूझने के लिये काफी हैं, इतना

अवकाश कहाँ कि साहित्य की दुरुह दुर्गमता में गोते लगाकर कोई आनंद का मोती चुने। इस प्रयोजनीयता ने भाषा के स्वरूप को सुगम एवम् सुबोध करने की प्रचेष्टा को प्रोत्साहित किया।

हिंदुस्तानी

भाषा की सरलता की प्रचेष्टाओं में गांधी जी के प्रभाव ने भी बहुत बड़ा काम किया। कांग्रेस की नीति से हिंदी उर्दू का सामंजस्य करके एक नई भाषा हिंदुस्तानी को जन्म दिया। उसके पीछे उद्देश्य था भाषा का स्तर सर्वसुलभ करना, किंतु इस मिलावट की नीति ने न केवल एक समस्या खड़ी की, बल्कि भाषा के स्वरूप को विशृंखल सा कर दिया। विभिन्न विद्वानों के प्रयोग से सँवरने के बदले भाषा अस्थिर हो गई। शैली वास्तव में भाषा का ऐश्वर्य व्यक्त करती है। सहज सरल की नीति निर्धारित हो जाने से भाषा के स्वाभाविक विकास की गति अवरुद्ध हुई अथवा एकरूपता भी न आ सकी। गद्य के अनेक रूप हो गए। शब्दों का बड़ा बेमेल और हास्यास्पद व्यवहार भी होने लगा। संगति और सामंजस्य नहीं रहा। कहीं कहीं अर्थभेद भी हो गया। इससे दो विचारणीय प्रश्न सामने आए। बहुविध बोलियों के इस विशाल देश में जनता की निश्चित भाषा का स्वरूप क्या हो और विषयों की दृष्टि से उसी में सब कुछ को अभिव्यक्त किया भी जा सकता है या नहीं? स्पष्ट है कि पारिभाषिक शब्दों के संबंध में ऐसी सहजता काम की नहीं होगी। नए विषय और तत्संबंधित नवनिर्मित शब्दों की जानकारी अलग से करनी ही पड़ेगी। इस श्रम से बचाकर जनता के लिये सभी विषय सुलभ कराने का कोई उपाय नहीं। फिर हर विषय न तो सबकी रुचि और प्रयोजन का होता है, न सब उसे जानने सीखने की बाध्यता का ही अनुभव करते हैं। विशिष्ट विषय एक वर्गविशेष से ही संबंध रखता है। उसके साथ खास शब्द की जानकारी उतनी के लिये ही जरूरी होती है। सबकी समझ के लिये चिंता करके सिरदर्द मोल लेना निरर्थक है, जैसे चिकित्सा शास्त्र, वन संबंधी शब्द या अभियंत्रण के शब्द। सबके लिये उनका ज्ञान आवश्यक नहीं। और अगर आवश्यक माना जाय तो उनके लिये अभ्यास और श्रम के लिये उनको तैयार रहना चाहिए। हिंदी ही नहीं, यह बात सभी भाषा में समान है। भाषा में इस दृष्टि से दुरूहता तो होती है, पर यह कोई दोष नहीं है। अर्जित ज्ञान की सीमा से जो बाहर होता है। वही अपरिचित और अनजान होता है। वही जब सामने आता है तो क्लिष्ट लगता है। क्लिष्ट वह होता नहीं है। ऐसे शब्दों को सर्वसाधारण के लिये सुलभ, सहज बनाने के आग्रह में ही भूल है। और जहाँ इस आग्रह पर बढ़ने की कोशिश की गई है, वहाँ एक अजीब खिचड़ी तैयार हुई है—जिसमें न सहजता है, न सौष्ठव है। वह स्वयं एक अलग समस्या बन जाती है।

प्रयोग की कृत्रिमता

इस प्रवृत्ति से दो विजातीय शब्दों में संधि भी हो जाती है और सामासिक पद भी बन जाते हैं, जो भाषा के रूप को बिगाड़ते हैं। कभी कभी सबको समझाने का आग्रह शब्दों में दुहरे तिहरे प्रयोग को भी विवश कर देता है। उन्नीसवीं सदी में उर्दू हिंदी के मेल के समर्थकों में इस कमजोरी की झलक मिलती रही है। वे एक साथ एकार्थक दो दो, तीन तीन, चार चार शब्दों तक का प्रयोग करते रहे हैं। जैसे प्रतिष्ठा या इज्जत, सिद्धांतों का दृढ़ या उसूलों का पक्का, सम्राट बादशाह शाहंशाह। हिंदुस्तानी के प्रयोग में भी यह गड़बड़ी बढ़ी। संभवतः यह कृत्रिमता प्रयासकालीन रही हो। आगे चलकर सीधी, स्पष्ट और अर्थपूर्ण समर्थ शैली का निखार हो जाय, निरंतर प्रयोग से वह निखार बहुत कुछ आया भी। संस्कृत, उर्दू, अंग्रेजी, बँगला आदि के प्रभावों से मुक्त हिंदी के स्वतंत्र व्यक्तित्व का विकास होने लगा। हिंदी उर्दू के मेल से एक भाषा के निर्माण की प्रवृत्ति ने साहित्यिक गद्य के प्रांजल रूपनिर्माण में कुछ सहायता भी की। एक सुलझी हुई शक्त शैली निर्माणक्रम में आई जिसमें सुस्पष्टता और सौष्ठव दोनों लक्षणों का आभास है।

संस्थाओं का योगदान

इस अवधि में हिंदी जिस सर्वतोमुखी विकास की ओर अग्रसर हुई, उसमें सबसे बड़ा योगदान संस्थाओं का है। संस्थाओं में भी सर्वापेक्षा प्रधान हैं नागरीप्रचारिणी सभा और अखिल भारतीय हिंदी साहित्य संमेलन। इनका इतिहास और कुछ नहीं, हिंदी के विकास का ही इतिहास है। हिंदी के सर्वांगीण विकास और व्यापक प्रचार प्रसार ही सभा तथा संमेलन का उद्देश्य और जीवनव्यापी साधना है। उनके विभिन्न अधिवेशनों में हिंदी के बहुव्यापी विकास के ही प्रयत्न किए जाते रहे हैं। नागरी वर्णमाला, लिंग भेद, टाइपराइटर में सुधार, हिंदी और नागरी को राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि के आसन पर आसीन कराने के प्रयत्न, गाँवों एवं अन्य प्रदेशों में हिंदी प्रचार की प्रचेष्टा, हिंदी में उपयोगी पुस्तकों की रचना, लेखकों के हितों की सुरक्षा आदि समस्याओं के लिये ये संस्थाएँ सजग रहीं। संग्रहालय कायम किया, जहां शोध की सुविधाएँ उपलब्ध हों। अहिंदी और हिंदी क्षेत्रों में हिंदी के प्रति रुझान बढ़ाने के लिये परीक्षाओं का प्रवर्तन किया, उत्तम रचनाओं के लिये विभिन्न पुरस्कारों की व्यवस्था चलाई। उपाधियाँ बाँटीं। संमेलन की तत्परता से हिंदी को बड़ा लाभ हुआ। हिंदुस्तानी अकादमी, विश्वविद्यालयों तथा हिंदी एवं अहिंदी प्रदेशों की साहित्य परिषदों की सेवाएँ भी बहुत महत्वपूर्ण रहीं। हिंदुस्तानी अकादमी की स्थापना सन् १९२७ ई० में हुई।

उत्तर प्रदेश के तत्कालीन गवर्नर विलियम मारस ने इस संस्था का उद्घाटन किया था। अकादमी ने हिंदी के लिये महत्व के अनेक काम किए। प्रतिष्ठित विद्वानों से शोध संबंधी व्याख्यान कराए, महत्वपूर्ण विषयों की पुस्तकें लिखवाईं, इनका अनुवाद और संपादन कराया। हिंदुस्तानी नाम की एक त्रैमासिक पत्रिका भी प्रकाशित की (१९३१) तथा ग्रंथों पर समय समय पर पुरस्कार देकर लेखकों को प्रोत्साहित किया।

पत्र पत्रिकाएँ

हिंदी के इस विकास में पत्र पत्रिकाओं का कुछ कम सहयोग नहीं रहा। सन् २० ई० के आसपास हिंदी पत्रों की दुनियाँ में एक नए युग का आरंभ हुआ और पत्रकारिता ने एक नया मोड़ लिया। इस अवधि की यह विशेषता रही कि राजनीतिक और साहित्यिक दोनों चेतनाएँ साथ साथ चलती रहीं। १९२१ ई० में राष्ट्रीय आंदोलन का अधिनायकत्व गांधी जी पर आ जाने से जनजागृति नगरों के वर्गविशेष तक ही सीमित न रही, वह गाँवों और कृषक श्रमिकों में भी फैली। आंदोलन की चेतना को विशाल जनसमूह में फैलाने की दृष्टि से पत्रों की प्रयोजनीयता बढ़ती गई। पत्र पत्रिकाएँ अधिक निकलने लगीं, उनके पाठक भी बढ़ने लगे। समाचार पत्रों के पढ़नेवालों की बढ़ती हुई संख्या का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि सन् ३६ ई० में उन पाठकों की संख्या लगभग ३,२४,८८० हो गई, जब कि सन् २२ ई० में कुल २,१५,१२४ ही थी। १९२८ ई० से तो मासिक पत्र लगभग सभी साहित्यप्रधान हो गए। साप्ताहिकों में आधी सामग्री साहित्यिक विषयों के लिये निश्चित स्थान रखने लगी। हिंदी भाषा और साहित्य के लिये अभिरुचि बढ़ने लगी। राष्ट्रीय आंदोलन के फलस्वरूप प्रथम बार हिंदी की राष्ट्रभाषा की योग्यता घोषित हुई। विश्वविद्यालयों में हिंदी का प्रवेश भी लगभग इसी समय हुआ। फलतः पत्रकारिता में साहित्यिकता का संयोग हुआ। अँगरेजी पत्रकारिता के अनुभव रखनेवाले संपादकों पर हिंदी पत्रों का भार आया। इस तरह हिंदी पत्रकार राष्ट्रीय आंदोलन की ही पहली पंक्ति में नहीं रहे, अपितु उन्होंने हिंदी साहित्य के सर्वांगीण विकास में भी पूरा हाथ बँटाया। इस अवधि में साहित्य क्षेत्र में आनेवाले साहित्यिक मासिकों में प्रमुख हैं—चाँद (१९२१), माधुरी (१९२३), मनोरमा (१९२४), सुधार (१९३०), विशालभारत (१९२५), त्यागभूमि (१९२८), हंस (१९३०), गंगा (१९३०), विश्वमित्र (१९३३), साहित्यसंदेश (१९३८), कमला (१९३९)। साप्ताहिकों में उल्लेखनीय हैं--कर्मवीर (१९२४), सैनिक (१९२४), हिंदूपंच (१९२६), जागरण (१९२६); स्वराज्य (१९३१), हरिजन सेवक (१९३२),

विश्वबंधु (१९३३), नवशक्ति (१९३४), योगी (१९३४), देशदूत (१९३८), संघर्ष (१९३८), और संगम (१९४०) । दैनिकों में—आज (१९२१), वर्तमान (१९२१), नवराष्ट्र (१९३१), भारत (१९३३), लोकमान्य (१९३०), विश्वमित्र (१९३७), आर्यावर्त (१९४०) आदि । इन पत्रों ने हिंदी के आंदोलनों को दृढ़ता, भाषा को प्रौढ़ता और साहित्यिक गतिविधि को बल दिया । युग और जीवन के अनुरूप जनमन का निर्माण भी होता गया ।

अन्य सहायक स्थितियाँ

उच्चतम कक्षाओं में हिंदी के अध्ययन अध्यापन की व्यवस्था भी इसी काल में हुई । कलकत्ता विश्वविद्यालय (१९२०–२१), काशी हिंदू विश्वविद्यालय (१९···), इलाहाबाद विश्वविद्यालय (१९२४) तथा पटना विश्वविद्यालय (१९३७) में ऊँची कक्षाओं में हिंदी का प्रवेश हुआ । इन सब सहायक स्थितियों से हिंदी निरंतर विकसित होती गई—रूप से भी अंतर्मन से भी । यह विकास भी उन्नत होता, यदि एक मानसिक दुविधा की स्थिति न उत्पन्न होती, किंतु वह स्थिति अवश्यंभावी ही थी । नई परिस्थितियों से सारी पुरानी व्यवस्था बिखरने लगी थी । सभ्यता और संस्कृति का व्यावहारिक रूप अनिश्चित होने लगा था । नए पुराने का द्वंद्व जोर पकड़ रहा था । भावना और बुद्धि, अध्यात्मवाद और भौतिकवाद, हस्तशिल्प और यंत्र की टक्कर में पूरब पश्चिम का संघर्ष और संबंध स्थापित हो रहा था । दो विपरीत दिशाओं में निश्चित आदर्श का पड़ाव अब भी मानो आकांक्षित हो रहा था, क्योंकि बद्धमूल संस्कार जाते जाते भी जा नहीं पा रहा था और नवीनता की भूमि तैयार हो रही थी । अतएव नवीनता के आग्रह में उमंग का उफनता ज्वार उठा, निश्चयता की गहराई नहीं अर्जित की जा सकी । अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व रूप नहीं ले सका, जो अभीष्ट है । यह स्वतंत्र व्यक्तित्व विदेशी अनुकरण से नहीं बन सकता । विश्वजनीनता निस्संदेह साहित्य का बहुत बड़ा गुण है, किंतु उसकी साधना और सिद्धि का सही माध्यम राष्ट्रीयता ही है । अपने विशिष्ट व्यक्तित्व को गँवाकर हम दोनों खो बैठेंगे—विश्वजनीनता भी और राष्ट्रीय व्यक्तित्व भी । यह एक निर्भ्रांत ऐतिहासिक सत्य है कि साहित्य में राष्ट्रीय तत्व की जितनी ही गहराई होगी, विश्वजनीनता की उसके सार्वभौम गुण की स्वीकृति उतनी ही सहज और निश्चित होगी ।

द्वितीय खंड

निबंध का उदय

लेखक

श्री हंसकुमार तिवारी

निबंध का उदय

निबंध साहित्य

निबंध एक नया वाङ्मय प्रकार एवं गद्य का अत्यंत ही शक्तिशाली रूप-विधान है। गद्य की प्रौढ़ता भाषा की व्यंजना शक्ति के विकास की द्योतक है। गद्य को इसी लिये कवियों की कसौटी कहा गया है।[1] गद्य जिस प्रकार कवियों की कसौटी है, उसी प्रकार निबंध कसौटी है गद्यकार की।[2] प्रौढ़ गद्य का प्रतीक होने के नाते निबंध का उदय तबतक संभव नहीं होता जब तक कि गद्य की ऐश्वर्यमयी शक्ति का पूर्ण विकास नहीं हो जाता। संसार की चाहे जिस किसी भी भाषा को मिसाल के तौर पर हम लें, उसके गद्य इतिहास के आरंभिक दिनों में निबंधरचना के दर्शन नहीं होते। साधारणतः सभी भाषाओं का यही इतिहास रहा है कि उनमें पद्यात्मक रचनाएँ पहले आईं, फिर गद्य के आविर्भाव के अनंतर कथा, कहानी, नाटक, उपन्यास आदि। निबंध सबके बाद, क्योंकि इसके लिये भाषा की जिस प्रौढ़ता की अपेक्षा होती है वह गद्य की आरंभिक अवस्था में दुर्लभ होती है।

हिंदी में निबंधों की परंपरा इसी लिये बहुत पुरानी नहीं है। यह एक बहुत ही आधुनिक गद्य प्रकार है। इसके इतिहास की सौ साल की भी कड़ी मुश्किल से जोड़ी जा सकती है। कहने को तो लोग यहाँ तक कहते हैं कि हिंदी में निबंधरचना का आरंभ भारतेंदु युग से भी सौ साल पहले हुआ। उनकी राय में सदासुख लाल की रचनाओं में प्राथमिक तत्व का आभास मिलता है और वे उनके 'सुरासुर निर्णय' शीर्षक रचना को उदाहरण के तौर पर पेश करते हैं। किंतु रूप और तत्व की दृष्टि से निबंध का आज जो स्वरूप है, उसके अनुसार इसके विकासक्रम का आदि बिंदु वह रचना है, यह निर्विवाद नहीं। सच तो यह है कि काव्य, नाटक, कथा, आख्यायिका आदि तो हिंदी को विरासत में संस्कृत से मिल गए, किंतु निबंध पूर्णतया हिंदी की स्वार्जित संपत्ति है। यह सर्वथा खड़ी बोली गद्य की देन है, साथ ही इसकी प्रेरणा पश्चिमी है। इस तत्य की

[1] गद्यं कवीनाम् निकषं वदंति।

[2] द एसे इज़ द सीवियर टेस्ट ऑफ द राइटर.

स्वीकृति में कई लोगों को हिचक हो सकती है और इसकी मूल प्रेरणा भारतीय है, यह प्रमाणित करने के लिये वे इसके उद्‌गम, अनुसंधान की कोशिश में आकाश पाताल एक कर सकते हैं, लेकिन हमें यह मानना होगा कि इसका ग्रहण भारतीय नहीं, बल्कि विदेशी साहित्य से हुआ है और इस दृष्टि से हिंदी का यह एक अपेक्षाकृत आधुनिक रूप है।

संस्कृत में निबंध शब्द का प्रयोग अवश्य होता रहा है किंतु उस अर्थ में नहीं, जिस अर्थ में आज होता है। संस्कृत वाङ्‌मय में निबंध का प्रयोग सूक्ष्म दार्शनिक विश्लेषण के अर्थ में किया जाता था। किसी भी मौलिक रचना को, वह चाहे गद्य में हो या पद्य में, संस्कृत साहित्य में निबंध या प्रबंध कहते थे।

निबंध का अर्थ है गठा हुआ, कसा हुआ, बँधा हुआ। 'निबध्नातीति निबंधः' शब्द कल्पद्रुम में निबंध की यह व्याख्या की गई है। जो बाँधता है, वही निबंध है। पुराने जमाने में हस्तलिखित पोथियों को सीकर रखा जाता था। सीने की उस क्रिया का नाम था निबंध। निबंध अर्थात् सीना या सँवार कर सीना। बाद में यह शब्द ऐसे ग्रंथों के लिये प्रयुक्त होने लगा जिनमें मतों अथवा व्याख्याओं का संग्रह हो। आप्टेकृत कोश में निबंध के बारह अर्थ दिए गए हैं: १—बाँधना, जोड़ना, २-लगाव, आसक्ति, ३-रचना, लिखना, ४-साहित्य टीका या कृति, ५-संग्रह, ६-संपत्ति का दान, पशुओं का यूथ या द्रव्य का अंश किसी की सहायता के लिये बाँध देना, ७-संयम, बाधा, रोक, ८-मूत्रावरोध, ९ शृंखला, १०-निश्चित धन, ११-उत्पत्ति और १२-कारण, हेतु। नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिंदी शब्दसागर' में निबंध का अर्थ इस प्रकार दिया गया है—बंधन, वह व्याख्या जिसमें अनेक मतों का संग्रह हो।

संस्कृत में प्रबंध शब्द का भी प्रयोग लगभग इसी अर्थ में होता था। अंतर इतना ही था कि क्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक व्यापक था। प्रबंध का आशय था-संबद्ध विचारों तथा विषयोंवाली व्यापक रचना। वह रचना जिसमें गंभीरता से किसी विषय के स्वरूप और महत्व का प्रतिपादन हो या जिसमें कई रूपों के विषयों के बारे में अनेक मतों का संग्रह हो। 'प्र' उपसर्ग विस्तार अथवा सर्वतोभाव का ही बोधक है। निबंध की तरह प्रबंध का भी प्रयोग किसी भी मौलिक रचना के लिये किया जाता था।[1] 'हिंदी शब्दसागर' में भी प्रबंध का अर्थ इसी के अनुरूप है—

[1] बह्वपि स्वेच्छया कामं प्रकीर्णमभिधीयते।
अनुज्झितार्थसंबंधः प्रबंधो दुरुदाहरः।—शिशुपालवध।

कई वस्तुओं या बातों का एक में गुंथन, एक दूसरे से वाक्यरचना का विस्तार, लेख या अनेक पद्यों से संबद्ध वाक्य।

निबंध, प्रबंध, लेख - ये सब आज अनिवार्यतः गद्यरचना के ही प्रकार हैं। प्रबंध काव्य, पद्य प्रबंधपद्य निबंध की आज भी साहित्य में चर्चा जरूर होती है, पर इनका प्रयोग गद्य रचना के लिये ही होता है। पहले ऐसा कोई बंधन नहीं था। इनका प्रयोग गद्य या पद्य दोनों ही तरह की रचनाओं के लिये होता था। बल्कि यह कहें कि उपर्युक्त शब्दों का प्रयोग प्राचीनकाल में मुख्यतया पद्य रचनाओं के लिये ही होता था, क्योंकि उस समय साहित्य के किसी भी अंग की रचना के लिये पद्य को ही अधिकतर अपनाया जाता रहा। कारण चाहे जो भी हो। भारतेंदु युग और यहाँ तक कि द्विवेदी युग के भी कुछ लेखक निबंध आदि शब्दों का आशय गद्यपद्य दोनों प्रकार की शैली में लिखी गई रचनाओं से लेते थे और वैसा ही प्रयोग करते थे। उदाहरण के लिये —

'यही समझकर राजा शिव प्रसाद सी० एस० आई० ने अपने गुटका के पहले और दूसरे खंड में भारतीय ग्रंथकारों के उत्तम गद्यपद्य लेखों का संग्रह किया था जिनको विद्यार्थी बड़े प्रेम और श्रद्धा से पढ़ते और उनसे मातृभाषा का विशेष ज्ञान प्राप्त करते थे.'[1]

या—

'उसमें (सरस्वती में) भिन्न भिन्न लेखकों के हिंदी पद्यमय अच्छे अच्छे निबंध छपते हैं'।[2]

ऐसा लगता है कि द्विवेदी युग के पूरे निखार में आने के पहले तक कुछ लेखक दोनों ही शैलियों की रचना के लिये इन शब्दों का व्यवहार करते थे। खड़ी बोली जब बहुत हद तक शक्तिसंपन्न हो गई और नई शिक्षा एवं पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित लोगों ने इसमें लिखना शुरू किया तब धीरे धीरे ये केवल गद्य रचना के लिये ही सीमित हो गए। हिंदी ही नहीं, अँगरेजी में भी कुछ लेखकों ने ऐसे शब्द का प्रयोग पद्य रचनाओं के लिये किया है। ऐलेक्जेंडर पोप की दो रचनाएँ उदाहरण स्वरूप ली जा सकती हैं। उनका 'एसे ऑन मैन' और 'एसे ऑन क्रिटिसिज्म' पद्य में ही हैं। जो भी हो, आज तो निबंध के लिये पद्य शैली की बात सोची ही नहीं जा सकती। उसकी जो निजी विशेषताएँ हैं, उनकी अभिव्यक्ति का साधन वह हो ही नहीं सकती।

शब्दार्थ की दृष्टि से निबंध, प्रबंध का अर्थ एक ही है—बँधा हुआ या कसा

[1] समालोचक १६०२

[2] समालोचक १६०२

हुआ। निबंध का नि उपसर्ग उसकी आकारगत लघुता और नैकट्य का संकेत करता है। प्रबंध का प्र विस्तार का। इसलिये स्वरूपगत अंतर होते हुए भी दोनों में रूपगत समानता है। प्राचीन निबंध और प्रबंध में धर्म, काव्य टीकाएँ आदि होती थीं, जिनमें उपयोगिता तो होती थी, पर सरसता और साहित्यिकता का अभाव होता था। आज भी प्रबंध से मतलब उस बड़ी रचना का लिया जाता है, जिसमें विषय की प्रधानता होती है और जिसमें गवेषणापूर्ण तथ्यों का संनिवेश होता है। स्वभावतया निबंध की अपेक्षित सरसता प्रबंध में न पहले थी, न अब है। विषय की प्रधानता हो और वह विषय गवेषणात्मक तथ्यों का हो, तो नीरसता स्वाभाविक है। अतएव रूप और विषय की दृष्टि से न केवल प्राचीन और आधुनिक निबंध में आकाश पाताल का अंतर है अपितु निबंध और प्रबंध में भी अंतर है। यह अंतर रूप और तत्व दोनों का है। प्रबंध में जहाँ बोधवृत्ति और बुद्धितत्व का स्थान है, वहाँ निबंध में रागवृत्ति और भावतत्व का। प्रबंध सिद्धांतों का निरूपण और तथ्यों का आलेखन है, निबंध भावात्मक प्रतिक्रियाओं का सौंदर्यमय चित्रण। निबंध वस्तुनिष्ठ नहीं होता आत्मनिष्ठ होता है इसलिये उसमें व्यक्तित्व का प्रकाश और आत्मीयता का आरोप आवश्यक है। प्रबंध चूं कि वस्तुनिष्ठ होता है, इसलिये उसमें लेखक की तटस्थता और आत्मनिरपेक्षता अपेक्षित है। निबंध में व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता अनिवार्य है। प्रबंध की अपनी अलग सत्ता है, स्वतंत्र क्षेत्र है।

निबंध का अर्थ आज एक विशिष्ट साहित्यविधान के रूप में रूढ़ हो गया है और यह अंगरेजी के 'एसे' (essay) शब्द का पर्याय बन गया है। 'एसे' शब्द की उत्पत्ति अंग्रेजी फ्रांसीसी शब्द 'एसेइस' (essais) के अनुकरण पर हुई, जिसका अर्थ प्रयास, प्रयत्न या परीक्षण है। फ्रांस के मिकेल मौंटेन ही इसके जन्मदाता माने जाते हैं। यह एक साहित्यप्रेमी न्यायाधीश थे। किसी सुदूर निर्जन स्थान में औरों के प्रभाव से सर्वथा अछूता रहकर उन्होंने बहुत से निबंध लिखे और सं० १८१० में 'एसेइस' नाम से उनका एक संग्रह निकला। 'एसेइस' का साहित्यिक अर्थ में सबसे पहले प्रयोग मौंटेन ने ही किया। अपने उन निबंधों के द्वारा उन्होंने साहित्य के एक सर्वथा नए अंग को जन्म दिया और शैली की दृष्टि से एक अभिनव रचनाप्रणाली का प्रवर्तन किया। रूप और तत्व की दृष्टि से साहित्य में एक नई दिशा का सूत्रपात हुआ। अपनी रचनाओं के बारे में उनका कहना है—अपने निबंधों में मैं स्वयं अपने को चित्रित करता हूँ—और—पुस्तक का मैं खुद ही विषय हूँ।[1] इस उक्ति में ही निबंध की भित्ति का

[1] इट इज माईसेल्फ आई पोर्ट्रे' या आई एम माईसेल्फ द सब्जेक्ट ऑफ द बुक।

निश्चित संकेत है कि उसमें निबंधकार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होनी चाहिए।

आलोच्य काल में हम साहित्य की जिस नई रचनाप्रणाली को निबंध की आख्या देते हैं, उसका सूत्रपात भारतेंदु युग में हुआ। सूत्रपात से हमारा अभिप्राय यह कदापि नहीं कि तत्कालीन रचनाओं में सब प्रकार से पूर्ण वास्तविक निबंधों के दर्शन हुए, बल्कि यह कि ऐसी लक्षणयुक्त रचनाओं का उदय हुआ जो विकास क्रम से आगे चलकर आधुनिक निबंधों का कारण हुईं। अथवा यों कहें कि तत्कालीन बहुत सी रचनाओं में निबंधों के कुछ कुछ लक्षण दिखाई दिए और उसी भित्ति पर भविष्य में साहित्य के इस नए अंग का महल खड़ा हुआ। सच्चे अर्थों में निबंध कहे जा सकनेवाले निबंध उस युग में नहीं मिलते। उनमें मौलिक विचार, भावगांभीर्य, शैलीशिल्प की विशेषता नहीं मिलती। न मिलने के कारण भी हैं। निबंधों का वह जन्मकाल ही था। भाषा में उसके अनुरूप शक्तिमत्ता न थी। उसके लिये भावप्रौढ़ता की विरासत न थी और वह गहरी साधना भी लोगों में न थी, जिसकी आवश्यकता इसके लिये पड़ती है। भाषा की दरिद्रता थी, भावों की अपरिपक्वता थी और साहित्य के सभी अंग या तो सूने पड़े थे या अपरिपुष्ट थे। अतएव साहित्य और समाज के जो हितैषी इस दिशा में आगे बढ़े उन्हें सव्यसाची की तरह काम करना पड़ा, अनेक उलझनों को एकसाथ सुलझाने की जिम्मेदारी लेनी पड़ी। भाषा को शक्ति और ऐश्वर्य देना था, नए नए भाव विचारों को अपनाना था, साहित्य के विभिन्न अंगों की अवतारणा करनी थी। इसलिये हम देखते हैं कि एक ही लेखक कभी उपन्यास, तो कभी नाटक, तो कभी कविता, कभी आलोचना लिखते। इन सबका इतना तो अच्छा परिणाम हुआ कि इस युग में अनेक नए नए साहित्यिक रूपों की सृष्टि हुई। इस सुविधा के कई कारण हुए। प्रेसों की स्थापना हुई, पत्र पत्रिकाओं के प्रकाशन हुए और अंग्रेजी शिक्षा का प्रवर्तन हुआ। निबंधरचना की अलक्षित प्रेरणा बनी अंग्रेजी शिक्षा। उस समय तक भारत की काफी शिष्ट जनता अंग्रेजी के संपन्न साहित्य के संपर्क में आ चुकी थी। अंग्रेजी निबंधसाहित्य के कोई ढाई सौ साल का वैभवशाली इतिहास सामने पड़ा था—बेकन, स्टील, एडीसन, स्माइल्स, गोल्डस्मिथ, हैजलिट आदि की ऐश्वर्यमयी रचना संपदा सामने बिखरी पड़ी थी। उस समृद्ध साहित्य की संनिधि में आने से वैयक्तिक भावों की सौंदर्यमूलक कलात्मक अभिव्यक्तिवाले गद्य के इस अभिनव साहित्यिक रूप की ओर बरबस लोगों का ध्यान गया और इस साहित्य-विधान-शैली को अपनाने की उन्हें स्वाभाविक प्रेरणा हुई। प्रेरणा को रूप देने के साधन भी सुलभ हुए। सामयिक पत्र-पत्रिकाओं ने उनके प्रचार प्रसार की सुविधा प्रदान की। भारतेंदु के समसामयिक कई समर्थ साहित्यकार स्वयं किसी न किसी पत्र के संपादक रहे। जैसे

बदरीनारायण चौधरी, तोताराम, अंबिकाप्रसाद व्यास, प्रतापनारायण मिश्र। अपने अपने पत्रों की सामग्रियों के लिये उन्होंने काफी रचनाएँ लिखीं, उन्हीं में से बहुतों में निबंध के कुछ लक्षणों का समावेश भी हुआ। वह हुआ कदाचित इसलिये कि एक तो उन्होंने अंग्रेजी रचनाओं को आदर्शरूप रखा, दूसरे पत्रों के जिन पाठकों के लिये नियमित लिखते रहने से उनके साथ उनकी जो निकटता स्थापित हो चुकी थी, उससे इन रचनाओं में थोड़ी बहुत व्यक्तिगत विशेषता की झलक आई। पाठकों से सामीप्य की भावना होने की एक सुविधा होती है कि लेखक विश्वास और सहजता के साथ स्वगत भाषण या बातचीत के तौर पर लिख सकता है। दोनों के बीच व्यवधान नहीं होता। इसलिये निबंध के कुछ गुणों का संनिवेश स्वयमेव तत्कालीन रचनाओं में हो गया। क्योंकि ऐसा प्रतीत नहीं होता कि निबंध की सबसे स्वतंत्र सत्ता की स्वभावतः उन्हें धारणा थी। वे लेख, प्रबंध, निबंध—इन साहित्यिक रूपों में कोई भेद शायद नहीं मानते थे। 'संगीतसार' नाम के एक निबंध से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारतेंदु जी लेख या प्रबंध में कोई अंतर नहीं समझते थे—

'भारत की सब विद्याओं के साथ यथाक्रम संगीत का भी लोप हो गया। यह गान शास्त्र हमारे यहाँ इतना आदरणीय है कि सामवेद के मंत्र तंत्र गाए जाते हैं। हमारे यहाँ वरंच यह कहावत प्रसिद्ध है—प्रथम नाद तब वेद। अब भारतवर्ष का संपूर्ण संगीत केवल कजली, ठुमरी पर आ रहा है। तथापि प्राचीन काल में यह शास्त्र कितना गंभीर था, यह हम इस लेख में दिखलावेंगे'।

'हमारे प्रबंध से पढ़नेवालों को एक ही रागिनी का नाम बारंबार कई रागों में देखकर आश्चर्य होगा। यह हमारा दोष नहीं, यह संगीतसार के प्रचार की न्यूनता से ग्रंथों में गड़बड़ हो गई है'।

यही नहीं, भारतेंदु द्वारा संपादित 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' में जो आदर्श वाक्य लिखा था, उसमें लेख शब्द का ही प्रयोग है -

'नवीन प्राचीन संस्कृत भाषा और अंग्रेजी में गद्यपद्यमय काव्य, प्राचीन वृत्त, राज्यसंबंधी विषय, नाटक, विद्या और कला पर लेख, लोकोक्ति, इतिहास, परिहास, गप्प और समालोचना संभूषिता'।[1]

बालकृष्ण भट्ट की धारणा भी लगभग ऐसी ही थी—

'रसिक पढ़नेवाले हास्यरस पर अधिक टूटते हैं। सच पूछो तो हास्य ही लेख का जीवन है। लेख पढ़ कुंदकली समान दाँत न मिल उठे तो वह लेख

[1] हरिश्चंद्र-चंद्रिका—जून सन् १८७४। संवत् १९३१

ही क्या—हमारे संस्कृत साहित्य में तो वक्रोक्ति ही काव्य का जीवन माना गया है।[1] या एक बंग महिला ने अपनी 'गृह' शीर्षक रचना की पाद टिप्पणी में जैसा लिखा है—यह प्रबंध 'प्रवासी' नामक बँगला मासिक पत्र के लेख का मर्मानुवाद है।[2]

प्रयोग की यह अव्यवस्था आज भी है। आज भी रचना, लेख, संदर्भ, प्रबंध ये शब्द सामान्यतया निबंध के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं किंतु समानार्थवाची जैसे प्रयुक्त होते हुए भी रूप और विषय में ये अलग हैं। अंग्रेजी में निबंध के लिये एसे (Essay), प्रबंध के लिये एपिक, थीसिस या ट्रीटाइज (Epic, Thesis या Treatise) और लेख के लिये आर्टिकल (Article) शब्द के व्यवहार होते हैं। हिंदी में दर्शन की गूढ़ गुत्थियों का समाधान देनेवाली रचनाओं से लेकर स्कूल कालेज तक के विद्यार्थी के लिये लिखे गए सब प्रकार के लेख निबंध ही कहे जाते हैं। जैसे निबंध, नवनिबंध, निबंध पारिजात, निबंधादर्श, साहित्यिक निबंधावली, पुरातत्व निबंधावली आदि। रचना शब्द बहुत ही व्यापक अर्थ रखता है और साधारण तौर से गद्य या पद्य में किसी भी तरह की रचना के लिये इसका प्रयोग होता है। इसके दो व्यावहारिक रूप हैं। एक, किसी प्रणाली की कृति की आख्या; दूसरा, शब्दों के शुद्ध प्रयोग, व्याकरण के नियमों के पालन के लिये विद्यार्थियों को जिसका अभ्यास कराया जाता है, वह रचना। अंग्रेजी में रचना को कंपोजीशन कहते हैं और इसका प्रयोग इन्हीं दो अर्थों में होता है। संस्कृत में इने प्रायः संग्रंथ और रचना कहा जाता है। हिंदी में भी यही दो रूप प्रचलित हैं। व्याकरणसंबंधी रचनाकोटि की पुस्तकें हिंदी में बहुत हैं—रचना चंद्रोदय, रचनाकला, हिंदीरचना बोध, रचनाचंद्रिका, माध्यमिक हिंदी रचना आदि।

लेख भी वास्तव में निबंध नहीं है। वह भी एक स्वतंत्र रचनाप्रवाह है। सामयिक पत्रपत्रिकाओं में किसी भी विषय के प्रतिपादन में विभिन्न लेखक के विचारों की जो रचनाएँ छपती हैं, सामान्य रीति से उनको लेख की संज्ञा दी जाती है।[3] विचार करके देखने से प्रतीत होता है कि लेख भी व्यापक शब्द है और निबंध, प्रबंध सबके लिये प्रयुक्त होता है। निबंध का आशय इससे भी स्पष्ट

[1] हिंदी प्रदीप—संवत् १९५७

[2] आनंदकादंबिनी—संवत् १९६१

[3] ए लिटरेरी कम्पोजीशन इन ए जरनल, न्यूजपेपर, इनसाइक्लोपीडिया एक्सेट्रा, ट्रीटिंग ऑव ए सब्जेक्ट डिस्टेन्टिली एंड इनडिपेंडेंटिली — कैम्ब्रिज पेटीव सेंचुरी

नहीं होता। हरिऔध जी ने संदर्भ शब्द का प्रयोग भी निबंध के ही अर्थ में किया है। अपनी रचनाओं के एक संग्रह का नाम उन्होने 'संदर्भ सर्वस्व' रखा है और भूमिका में संदर्भ की व्याख्या दी है—संबद्ध रचना। वास्तव में मूल अर्थ में ऐसी रचना प्रबंध है, जिसमें कोई संबद्ध कथा हो या किसी विषय का प्रतिपादन हो। प्रबंध का निबंध से आकार और प्रकार दोनों का अंतर है। कई लोग संक्षेप में यह भी कहते हैं कि सिद्धांतों के प्रतिपादन से आनेवाली दुरूहता और आकार की लंबाई से निबंध प्रबंध हो जाता है। किंतु वास्तव में बात ऐसी नहीं। दोनों की अपनी अपनी विशेषता है और अलग अलग सत्ता। फिर भी एक ऐसी उलझन दीखती है कि लेख निबंध प्रबंध सब एक दूसरे के पर्याय से प्रयुक्त हो रहे हैं—इनकी दूरी का स्पष्ट रूप निश्चित नहीं किया गया है। सचमुच ही यह आवश्यक है कि उसका भेदीकरण किया जाय। लेख, प्रबंध और निबंध की अपनी अपनी विशेषता के अनुरूप उनकी कोटि निर्धारित हो और निश्चित अर्थ में उनका प्रयोग हो। जहाँ तक निबंध के आधुनिक स्वरूप का प्रश्न है, अपनी विशेषता से वह पहचाना जा सकता है। व्यक्तित्व की योजना और कलात्मक अभिव्यक्ति – निबंध का यह आदर्श रूप है और इससे उसकी पहचान हो सकती है। लेकिन कलात्मक अभिव्यक्तिवाले विशुद्ध साहित्यिक निबंधों के बिलगाव के लिये उपभेदगत विशेषण जोड़ देने की परिपाटी चल पड़ी है। यथा, दार्शनिक निबंध, साहित्यिक निबंध, राजनीतिक निबंध, आलोचनात्मक निबंध। अत्याधुनिक निबंध का जो स्वतंत्र स्वरूप है, कभी कभी अंग्रेजी में भी उसे 'पर्सनल एसे' (व्यक्तिगत निबंध) कहकर दूसरी कोटि से अलग बताने की चेष्टा की जाती है, गो कि आज निबंध का अर्थ ही व्यक्तिगत निबंध हो गया है।

हिंदी में निबंधों की अवतारणा संस्कृत के आदर्शों पर न हो कर यद्यपि पाश्चात्य प्रभाव से हुई, तथापि हिंदी निबंधों ने संस्कृत से कुछ बातें ग्रहण की हैं। नाम तो संस्कृत का ही है। अति आधुनिक निबंध के दो गुणों का संकेत भी इस शब्द में है। निबंध का अर्थ है, कसा हुआ या गठा हुआ, अर्थात् आकार छोटा हो तथा सुगठित और सुव्यवस्थित योजना हो। निबंध के लिये ये दोनों गुण अनिवार्य माने जाते हैं। 'आक्सफोर्ड अंगरेजी कोश' में निबंध को संक्षिप्त आकार की रचना कहा गया है।[1] अंग्रेजी में निबंध के बारे में ऐसे विचार भी मिलते हैं, जिनके अनुसार व्यवस्था और गठन, तारतम्य और प्रौढ़ता आवश्यक नहीं है। जैसे डा० मूरे की परिभाषा —'जिसमें किसी भी विषय का पूर्णता से विचार नहीं

[1] द एसे इज ए कम्पोजीशन ऑव मॉडरेट लेंथ

किया गया हो, ऐसा किसी भी आकार का अपूर्ण लेखन।'[1] लेकिन निबंध के नवीनतम रूप के समीप की जितनी भी परिभाषाएँ हैं, वे आकार की संक्षिप्तता, गठन और तारतम्य का निर्देश देती हैं। जैसे— 'निबंध किसी विषयविशेष अथवा किसी विषय के अंश पर लिखी गई साधारण आकार की रचना है, जिसमें आरंभ में अपूर्णता की कल्पना रहती थी, किंतु अब उसका प्रयोग एक ऐसी रचना के लिये किया जाता है, जिसकी परिधि तो सीमित रहती है, पर प्रायः प्रौढ़ और परिमार्जित होती है।'[1] निबंध में विषय का महत्व चाहे न हो, विषयप्रतिपादन भी अनिर्बंध हो, दूसरी ओर जो स्वतंत्रता लेखक चाहे लें, लेकिन रचना सुनिबद्ध, स्थापत्यपूर्ण, संलग्न और एकात्मक होनी चाहिए, यही विद्वानों का मत है।

निबंध शब्द के प्रयोग में जो अव्यवस्था यहाँ देखी जाती है, लगभग वही अव्यवस्था यूरोप में भी रही है। वहां भी छोटी बड़ी, गूढ़, सरल सब प्रकार की रचनाएँ निबंध की ही कोटि में गिनी जाती रही हैं। बोसांके के 'फिलासफी आफ स्टेट' तक को एसे कहा जाता रहा है। अतः इसके गुण, लक्षण और विशेषताओं के अतिरिक्त स्वरूप को समझने का दूसरा सहज उपाय नहीं है। परिभाषाएँ परस्पर विरोधी हैं और आंशिक तथा एकांगी सत्य को ही सामने रखती हैं। निबंध के जन्मदाता मौंटेन ने इसे प्रयास कहा है। उनके निबंध अपनी बात को औरों तक पहुँचाने के प्रयास हैं। इससे दो बातों का संकेत मिलता है। एक तो यह कि निबंध आत्मनिवेदन है और चूंकि वह निवेदन अन्य आत्माओं के आगे होता है, इसलिये स्वाभाविक तौर पर निबंध में आत्मीयता अपेक्षित है। इसमें बुद्धिविवेक, चिंतन-विचार का वैसा संनिवेश और प्रतिपादन अभीष्ट नहीं, जितना हृदय का योग।

निबंध की परिभाषा में जो मतविभिन्नता मिलती है, वह इसलिये कि निबंध भी बनने के क्रम में था। उसके स्वरूप की स्थिरता नहीं थी। परिभाषा भी इसी लिये निश्चित नहीं थी, जो सर्वमान्य हो। यही कठिनाई आज भी है। इसकी ऐसी परिभाषा दे सकना मुश्किल है जो पूर्ण हो। अंग्रेजी में निबंध के जन्मदाता बेकन ने निबंध को 'विकीर्ण चिंतन' कहा है। अंग्रेजी में निबंध का प्रादुर्भाव प्रायः साढ़े तीन सौ साल पहले हुआ। किंतु उसके बाद कोई सौ साल तक निबंध की रचना रुकी रही। एज आफ रीजन' की समाप्ति के बाद वहाँ निबंधों की प्रगति हुई। गोल्डस्मिथ, ऐडीसन, स्टील, लैंब जैसे समर्थ साहित्यकार सामने आए। इस प्रगति के मुख्य कारण दो हुए। इस काल में समाचारपत्रों का विकास हुआ और साहित्य में आत्माविष्करण की भावना बढ़ गई। डा०

[1] ऑक्सफोर्ड अंग्रेजी कोश

बान्सन ने निबंध को मानसिक जगत् का ढीला ढाला बुद्धिविलास कहा, जिसमें न तो तारतम्य होता है, न नियमितता। वह अपरिपक्व विचार खंड होता है। इसके अनुसार निबंध निरर्थक प्रलाप के सिवा कुछ नहीं ठहरता। वास्तव में निबंध प्रौढ़ और परिमार्जित गद्य का वह स्वरूप है जो व्यक्तित्व की चेतना से संजीवित रहता है। इसी लिये विद्वानों ने परिभाषा की इस अपूर्णता को भरने की कोशिश की। प्रीस्टले, विलियम्स आदि ने निबंध के स्वरूप और महत्ता की दिशा के संकेत दिए।[1]

परिभाषाएँ सदा अधूरी होती हैं फिर भी परिभाषा गढ़ने की परिपाटी सी है। हिंदी में भी अनुरूप परिभाषाएँ निबंध की मिलती हैं। रामचंद्र शुक्ल ने निबंध के बारे में कहा है—'आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबंध उसी को कहना चाहिए, जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो।'[2] व्यक्ति भावना और बोध, हृदय और बुद्धि दोनों के समन्वय से बनता है। 'चिंतामणि' की भूमिका में शुक्ल जी ने लिखा है—इस पुस्तक में मेरी अंतर्यात्रा में पड़नेवाले कुछ प्रदेश हैं। यात्रा के लिये निकलती रही बुद्धि, पर हृदय को साथ लेकर।

निबंध के स्वरूप के सभी लक्षण समेटे जा सकें, ऐसी परिभाषा देने की चेष्टा की है गुलाबराय ने। वे कहते हैं—'निबंध उस गद्यरचना को कहते हैं, जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छंदता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और संबद्धता के साथ किया गया हो।'[3]

[1] सच्चा निबंध रहस्यालाप या प्रेम से किए हुए संलाप के समान होता है। और सही मानी में जो निबंधकार होते हैं पाठकों से उनकी हित वार्ता चतुराई से भरी तथा प्रभावोत्पादक होती है। निबंधकार एक एक शब्द अपने हृदय के अंतरतम में बोलता है। उसका लेखन अंतस्तल की आकुलता को व्यक्त करता है।—जे० बी० प्रीस्टले।

निबंध की संक्षिप्त परिभाषा यह है कि वह गद्यरचना का एक प्रकार है जो बहुत ही छोटा होता है। उसमें केवल वर्णन नहीं होते। कभी कभी अपनी बातों को सिद्ध करने के लिये निबंधकार प्रसंग की अवतारणा करते हैं, पर उनका मूल उद्देश्य कथा कहना नहीं होता है। निबंधलेखक का मुख्य कार्य सामाजिक, दार्शनिक, आलोचक या टिप्पणीकार जैसा होता है।—डब्लु ई. विलियम्स।

[2] हिंदी साहित्य का इतिहास : रामचंद्र शुक्ल।

[3] काव्य के रूप : गुलाबराय।

निबंध की परिभाषाएँ इस तरह अनेक मिलती हैं और बहुत अंशों में वे परस्पर विरोधी हैं और आंशिक सत्य को ही प्रकट करती हैं। फिर भी उन सबसे हम निबंध के बारे में कुछ निश्चित निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं और उन पर से निबंध का जो गुण, लक्षण और रूप ठहरता है मोटामोटी वह होता है—

१. निबंध व्यक्ति की चेतना का प्रतीक है, इसलिये उसका मूल आत्मप्रकाशन है। आत्मप्रकाशन के नाते आत्मीयता निबंध को अपेक्षित है।

२. निबंध का आकार संक्षिप्त या सीमित होता है। संक्षिप्त का तात्पर्य है सुव्यवस्थित, संयमित और सुसंगठित शिल्पविधान। गागर में सागर भरना। ठोस व्यंजना।

३. निबंध के न तो विषय सीमित होते हैं, न उसकी बंधीबँधाई एक शैली है। निबंधकार की दृष्टि जगत् और जीवन पर न तो दार्शनिक की दृष्टि होती है, न तो ऐतिहासिक, कवि, राजनीतिक या उपन्यासकार की; फिर भी निबंध में इन सारे ही गुणों के दर्शन होते हैं और इन सभी लक्षणों के बावजूद निबंध की अपनी एक स्वतंत्र सत्ता है।

संक्षेप में निबंध एक ऐसी सीमित गद्य रचना है, जिसमें कार्यकारण की शृंखला के साथ विचार निबद्ध होते हैं और उन विचारों में व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप होती है। निबंध के लिये ये दो बातें नितांत प्रयोजनीय हैं। ऐसा तो हो सकता है कि रचना में कहीं चिंतन प्रधान हो उठे, कहीं व्यक्तित्व। यही होता भी है। प्रत्येक स्थिति में ये दोनों बातें अवश्य विद्यमान रहती हैं। लेकिन व्यक्तित्व की प्रधानता ही निबंध के लिये अपेक्षित होती है। इसकी इस प्रकृति के अनुसार इसे समझने के लिये इसकी भी दो कोटि किन्हीं किन्हीं ने की है— तथ्यनिरूपक या वस्तुनिष्ठ निबंध और निजात्मक या कलात्मक निबंध। जिन निबंधों में चिंतन ही प्रधान हो उठता है, व्यक्तित्व परोक्ष में पड़ जाता है, उसकी प्रणाली वैज्ञानिक हो जाती है, उसकी प्रेषणीयता तर्क और विवेचना शक्ति पर आधारित हो जाती है।

तर्क और विवेचनावाली वैज्ञानिक प्रणाली वास्तव में बुद्धिवाद की देन है। साहित्य के क्षेत्र में बुद्धिवाद का आरंभ ईसा की उन्नीसवीं सदी के अंतिम दो दशक संवत् १९३७-१९५७ से होता है और बीसवीं सदी में तो वह पूर्णतः स्थापित हो गया है। अवश्य बुद्धिवाद का प्रवेश अहेतुक और आकस्मिक नहीं। उसका कारण रहा है। साहित्य के जिस काल में बुद्धिवाद को अनायास रचना के क्षेत्र में प्रवेश मिल गया, वह काल सामाजिक दृष्टि से सचमुच ही बड़ा

संघर्षमय रहा। कलम के जो धनी समाज के हितैषी थे और जो समझते थे कि समाज से साहित्य का घनिष्ठ संबंध है, समाज के प्रति साहित्य का एक सुनिश्चित कर्त्तव्य है, उन्होंने अपनी साहित्य सेवा से तत्कालीन सामाजिक समस्याओं के हल निकालने की यथासाध्य कोशिश की। उन्होंने उन समस्याओं के संघर्ष को साधन रूप में स्वीकार किया और उनके समाधान के, उनकी शांति के सुझाव पेश किए। फलतः यह प्रचेष्टा कभी कभी तो बुरी तरह उपदेशवाद के रूप में उभर कर आगे आई। भारतेंदुयुग में गद्य के सूत्रपात की जो रूपरेखा हमारे सामने है, उसमें इस बुद्धिवादी प्रेरणा और प्रयास के पर्याप्त स्पष्ट लक्षण हैं। तब की साहित्य-साधना में निर्माण की कामना के साथ वैचारिक क्राति की अनेक दिशाएँ सामने आई हैं। यही कारण है कि इस काल से ऐसी भावात्मक शैलियाँ साहित्य में धीरे धीरे गौण होने लगीं, जिनका संबंध विशेष रूप से हृदय से है। स्पष्टतया इतना तो दीखता ही है कि काव्य का स्रोत मंद और क्षीण पड़ गया। उपन्यास, कहानी और नाटक की श्रीवृद्धि अधिक होने लगी। नाटक भावात्मकता के लिये काव्य के ज्यादा करीब है, मगर उसका ग्रहण किया गया उसकी काव्यात्मकता को यथासंभव बाद देकर। गद्य की विशेषतः वही शैलियाँ अपनाई गईं जिनसे सामाजिक समस्याओं को लोगों के सामने लाने और उनके समाधान की चेष्टा को रूप देने में सुगमता हो; यथा—कहानी, उपन्यास, नाटक। तात्पर्य यह कि बुद्धि प्रधान होती गई, भाव गौण; मस्तिष्क उभरता आया हृदय दबता चला गया। संसार की सभी भाषाओं के साहित्य का लगभग यही हाल हुआ।

कई लोग साहित्य के व्यक्तिवैचित्र्यवाद को भी बुद्धिवाद की ही उपज मानते हैं। उनकी राय में श्रोता, पाठक या दर्शक की बुद्धि को प्रभावित करने के लिये व्यक्तिवैचित्र्यवाद अधिक उपयुक्त साधन है। जो लोग अपनी रचनाओं द्वारा अपना कोई संदेश औरों तक पहुँचाना चाहते थे, उन्होंने इस साधन को अपनाया। वे कहते हैं निबंध का प्रादुर्भाव गद्य के इसी युग में हुआ और इसी उद्देश्य से हुआ। साहित्य के अन्यान्य अंग विचारों के प्रेषण और प्रतिपादन के लिये उतने उपयुक्त न थे, जितना कि निबंध। यदि इसी सत्य को स्वीकार किया जाय, तो यह प्रश्न सामने आता है कि निबंध फिर सच्चे साहित्य की कोटि में किस प्रकार आ सकता है? बुद्धिप्रधान होने से हृदय का स्थान गौण हो जाता है और उसमें मन को रमाने की वह शक्ति नहीं आ सकती, जो सही मानी में साहित्य का सच्चा और सबसे बड़ा गुण है। इस प्रकार वह साहित्य की श्रेणी में न आकर गणित, दर्शन या विज्ञान की कोटि में जा पड़ता है। लेकिन बात ऐसी नहीं। निबंध कलात्मक अभिव्यक्ति है; सृष्टि है—रचनात्मक साहित्य। विचार और चिंतन के लिये उसमें प्रवेशनिषेध तो नहीं है, पर प्रधानतः कलाकार की आत्मीयता दूसरों के मर्म से अपना सीधा संबंध स्थापित करके मनोरंजन द्वारा विषय का प्रेषण

करती है। कलाकार उसमें स्वयं प्रकट होता है। जहाँतक निबंध के मूल स्वरूप का प्रश्न है, उसमें विषय से विषयी की प्रधानता होनी चाहिए, क्योंकि उसके पीछे निजी अनुभव की प्रेरणा काम करती है। उसमें उसका अपना मत, अपना दृष्टिकोण, अपनी अभिज्ञता रहती है। इसलिये और प्रकार की रचना में तटस्थता बरती जा सकती है, लेखक अपने व्यक्तित्व को ओझल रख सकता है पर निबंध में यह कदापि संभव नहीं। इसमें मैं को बोलना ही पड़ता है, व्यक्ति को उभरकर निखरना ही पड़ता है। अनेक विषय और रूपों का संमिश्रण होते हुए भी निबंध सबसे निराला एक रसायन है। इस रसायन में जो सुगंध ज्यादा उभरती है, जो स्वाद सबपर प्रधान हो उठता है, वह व्यक्तित्व है। व्यक्तित्व के समावेश से ही निबंध में अन्य तत्वों का स्वयं संनिवेश हो जाता है, जिनका संबंध हृदय से है, क्योंकि व्यक्तित्व में भावात्मक और बोधात्मक दोनों ही पक्ष होते हैं।

इस प्रकार साहित्यसृष्टि की परंपरा में निबंध का स्थान इस तरह का ठहरता है—
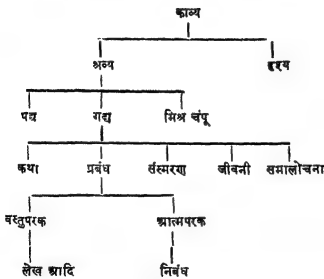
सृष्टिमात्र ही आत्मप्रकाशन की भावना से होता है। इसलिये साहित्य की जितनी भी विधाएँ हैं, व्यक्तित्व की छाप किन्हीं अंशों में सबपर होती है। किसी भी ग्रंथ का जीवन, उसकी मर्यादा, लेखक के व्यक्तित्व के प्रकाश पर निर्भर करती है। भाव, विषय, वस्तु, ये सब जाने पहचाने और एक हो सकते हैं, उनको मूल्य और महत्व देती है लेखक की उनपर अपनी अंतर्दृष्टि, अपने ढंग की अभिव्यक्ति, रूपरचना। रचना की जान यही निजता होती है। विषय का आधार एक होने पर भी सर्जनकारी प्रतिभाओं की सृष्टि दूसरे से सर्वथा भिन्न होती है। साहित्य-

सृष्टि की प्रक्रिया की यही विशेषता है। बाहर का जगत् अंतर्जगत् में प्रवेश करता है और रचनाकार की अपनी रुचि, अपनी दृष्टि, अपनी ग्रहणशक्ति के अनुसार फिर वह बाहरी दुनिया में प्रकाशित होता है। प्रक्रिया के इस क्रम में बाहरी जगत् की उन्हीं वस्तुओं में अपनी आध्यात्मिकता के साथ एक नया रंग, नया रूप, नया रस चढ़ जाता है। यही रचनाकार की निजता या उसका व्यक्तित्व कहाता है, इसी के कारण शैली की विभिन्नता आती है। यह निजता रचना के मूल्यांकन की मूल भित्ति ही हो जाती है। कोई चाहे भी तो चेष्टा से इस छूत को अलग नहीं कर सकता। कहीं ज्यादा, कहीं कम हो सकता है।

संसार के प्रथम निबंधकार मौंटेन ने कहा है—ये निबंध दूसरी आत्मा से आवेदन के प्रयास हैं।[१] यानी ये आत्मप्रकाशन के प्रयास हैं। इसका तात्पर्य है कि निबंध की नींव आत्मप्रकाशन की प्रवृत्ति पर पड़ती है और उसका जो अस्थि-पंजर खड़ा होता है, उसका जो मेरुदंड बनता है, वह लेखक के व्यक्तित्व पर। लेखक की मानसिक चेतना और भावात्मक सत्ता का लिखित रूप ही निबंध है। निबंध की इस प्रकृति का विचार करते हुए रामचंद्र शुक्ल ने अपना यह मत व्यक्त किया है—अपने अपने मानसिक संघटन के अनुसार किसी का मन किसी संबंधसूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। ये संबंधसूत्र एक दूसरे से नथे हुए पत्तों के भीतर की नसों के समान, चारों ओर एक जाल के रूप में फैले हैं। तत्वचिंतक या दार्शनिक केवल अपने व्यापक सिद्धांतों के प्रतिपादन के लिये उपयोगी कुछ संबंधसूत्रों को पकड़कर किसी ओर सीधा चलता है और बीच के ब्योरों में नहीं फँसता। पर निबंधलेखक अपने मन की प्रकृति के अनुसार स्वच्छंद गति से इधर उधर फूटी हुई सूत्रशाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थसंबंधी व्यक्तिगत विशेषता है।[२]

निबंध के मान की उच्चता व्यक्तित्व की उदारता पर निर्भर करती है। व्यक्तित्व जितना ही उदार होगा, निबंध उतना ही श्रेयस्कर होगा। व्यक्तित्व व्यष्टि की वेदी पर बैठनेवाला देवता है। सामाजिक समष्टिवाद के इस जमाने में वैयक्तिक आवेदन की कद्र नहीं हो सकती। वैयक्तिकता से सीमा के सँकरेपन का जो भाव टपकता है वास्तव में वह उस संकीर्णता का पृष्ठपोषक नहीं होता। निरे वाच्यार्थ से अलग भी उसका एक अर्थ और अभिप्राय है। वह है, एक विशिष्ट अभिव्यक्ति, अन्य अनेक से भिन्न एक विशेष व्यंजना। विशिष्ट अभिव्यंजना के

[१] दीज एसेज आर एन् एटेम्प्ट टु कम्युनिकेट ए सोल

[२] हिंदी साहित्य का इतिहास खंड निबंध।

माध्यम से व्यक्तित्व बहुतों में आत्मभाव की व्यापकता, अनेक में एक की व्याप्ति, समग्र मानवसत्ता में निजत्व के प्रसार कर प्रयास है। इस दृष्टि से निबंध को विचारस्वातंत्र्य, जनसत्ता और सामाजिक स्वच्छंदता का निदर्शन कहना चाहिए। जिस प्रकार व्यक्तित्व की आधारशिला वैयक्तिकता है, उसी प्रकार व्यक्ति का नियामक उसका परिवेश होता है, समाज होता है। जीवन का अर्थ केवल वह बाहरी प्रकाश ही तो नहीं जो कि ज्ञानगोचर है। जीवन को उसके परिवेश की पटभूमि के बिना नहीं पहचाना जा सकता। परिवेश यानी वातावरण, सारा बाहरी जगत्, समाज, परिवार, प्रकृति और इन सबके कारण होनेवाले बाहरी भीतरी संघर्ष। व्यक्ति हम उसी को कहेंगे जो इस परिवेश में बाहरी और आंतरिक अदृश्य जीवन के सामंजस्य में प्रकाशित है। ऐसे व्यक्ति का धातुगत अर्थ होगा, जो अपनी निजी विशेषताओं में व्यक्त हुआ हो। यह व्यक्ति अपने जैसा स्वयं ही होता है, इसकी अनुरूपता और कहीं ढूँढ़े नहीं मिलती। इसी को हम व्यक्तित्व कहते हैं। यह व्यक्तित्व विशेष विश्वास, विचार, मान्यता, जीवन-दर्शन पर बनता है। साहित्य में बहुजन हिताय की चर्चा के नाते ही व्यक्तित्व के बारे में गलत धारणा फैली है। आज लोग परस्मैपदी रचना को ही श्रेष्ठ और आत्मनेपदी को निकृष्ट कहने लगे हैं : यद्यपि आमतौर से कोई भी रचना उभयपदी ही होती है और उसका विषय व्यक्तिगत ही होता है। बल्कि देखा जाय तो साहित्य का व्यक्ति मनुष्य ही नहीं होता, संसार की जो कोई भी वस्तु साहित्य में रूप लेती है, वह व्यक्ति ही होती है, वह चाहे जीव जंतु हो, चाहे जंगल पहाड़ या चाहे दूसरी कोई अच्छी बुरी चीज।

व्यक्तित्वनिर्माण में सामाजिक परिवेश का बहुत बड़ा हाथ होता है। जिस समाज में जितना ही कम बंधन होगा, सामाजिक स्वाधीनता की जितनी ही सुविधाएँ होंगी, जितना ही स्वच्छंद और उन्मुक्त आनंद का वातावरण होगा, उसमें मानसिक धरातल के विकास का उतना ही व्यापक अवसर रहेगा, उतना ही सशक्त बनेगा व्यक्तित्व। आज के यंत्रयुग में जीवन भी यंत्रवत् बनता जा रहा है। फलस्वरूप जीवन को जीवंत बनाए रखनेवाली वैयक्तिकता की अकालमृत्यु हो रही है। वैयक्तिकता जीवन है, उसके बिना जिंदा रहना जीवित मृत्यु है। प्रसिद्ध मनीषी बर्टरेंड रसेल के अनुसार—आज का युग जरूरत से ज्यादा व्यवस्थित है, इसलिये वैयक्तिक प्रयत्न और उद्योग की गुंजाइश नहीं रह गई है। यही कारण है कि हम लोगों का युग पिछले युग से कम महत्त्वपूर्ण रह गया है, बहुत ही पिछड़ा हुआ है।[1]

[1] दि इनफिरिआरिटी ऑव अवर एज इन सच रिसपेक्ट इज एन इनइविटेबुल

व्यक्तित्व का मूलधार है अहम्। अहम् शब्द कुछ ऐसे अर्थ में रूढ़ हो गया है कि उसमें से अच्छी ध्वनि नहीं निकलती। लेकिन यह अहम् नितांत प्रयोजनीय ही नहीं, बहुत स्वाभाविक भी है। फ्रायड ने इसको जीवनी शक्ति का प्राण माना है। व्यक्ति की जिस निजस्वता का नाम व्यक्तित्व है, उसका जनक यही अहम् है। फ्रायड ने व्यक्तित्व के पीछे दो शक्तियों की अवस्थिति मानी है। एक इगो [अहम्] दूसरी इद [इदम्]। एक उसका आंतरिक पक्ष है, दूसरा बाहरी। अहम् से जिस एक संकीर्णता की बास आती है, वह न तो काम्य है, न तो सब समय वास्तव में उसमें वह होती है। विशेषतया जहाँ साहित्य की बात आती है, वहाँ तो यह संकीर्णता हर्गिज नहीं होती। सितार के बहुत से तारों की सामूहिक ध्वनि और इकतारे के एक तार के मूल सुर में कोई विषमता नहीं होती, क्योंकि एक तार वही निश्चित स्वर निकालता है, जिस स्वरसंगम पर अनेक तार जाना चाहते हैं। 'मैं' भी जब अपनी संकुचित परिधि में ही अपने को समेटे रहता हूँ, तो आत्मरक्षा और वंशरक्षा, इन्हीं दो बिंदुओं में उसके समग्र जीवन की साधना बँध जाती है। 'मैं हूँ' इतने से ही तो अपने अस्तित्व का बोध संभव नहीं है। मैं के अस्तित्व की सुदृढ़ सार्थकता वहीं है जहाँ अन्य अनेक के होने में वह अपनी उपलब्धि करता है। रवींद्रनाथ ने इसे अपने में अनंत का परिचय देना कहा है – जिस हद तक मनुष्य दूसरों के होने में ही अपने अस्तित्व को स्वीकार करता है, उसी हद तक वह अपने जीवन में अनंत का परिचय देता है। 'मैं हूँ' और 'और और लोग हैं,'— यह व्यवधान उसका मिट जाता है। औरों से ऐक्य-बोध का यह जो माहात्म्य है, यही आत्मा का ऐश्वर्य है—इसी मिलन की प्रेरणा से मनुष्य अपने आपको तरह तरह से प्रकाशित करता है।[1]

जिस निजस्वता की प्रेरणा से निबंध का जन्म होता है, वह प्रेरक अहम् सामान्य भावभूमि पर पहुँचकर ही व्यक्तित्व बनता है। सामाजिक पृष्ठभूमि पर पहुँचकर वैयक्तिक धारणा, मान्यता, विचार, विश्वास वैयक्तिक नहीं रह जाते, वे सामाजिक संपत्ति होकर व्यक्तित्व के विशिष्ट रूप का निर्माण करते हैं। यह निजस्वता आत्मप्रशंसा नहीं है, बल्कि उसके अपने भाव, चिंतन और अनुभवों पर आधारित उसका जीवनदर्शन होता है – वह जीवनदर्शन जो निश्व सहानुभूति के उद्बोधन,

रेजेल्ट ऑव द फैक्ट दैट सोसाइटी इज सेंट्रलाइज्ड एंड आर्गेनाइज्ड टु सच ए डिग्री दैट इंडिविजुअल इनिशिएटिव इज रिड्यूज्ड टु ए मिनिमम—द रॉल ऑव इंडिविजुअल

[1] साहित्य के पथ पर—रवींद्रनाथ

सामान्य आनंद के आवाहन में सहायक होता है। वस्तु को रूप देनेवाला रचनाकारी अंतःकरण सदा वस्तुमय बन जाता है। वस्तु का रूप असल में इतना ही नहीं, जितना प्रत्यक्ष गोचर होता है – उसका वह अंश भी बहुत बड़ा है जो कि आँखों से नहीं दीखता या इंद्रियगोचर नहीं। इसी अदृश्य अंश को प्रकट करके उसे पूर्णता देने के लिये योग या समाधि की स्थिति में आना पड़ता है। साहित्य में इस दशा का नाम तन्मयता, सत्वशुद्धि या चित्त की एकाग्रता है, जिससे अंतर्दृष्टि जन्म लेती है। तन्मयता की स्थिति अथवा समाधि की दशा में अभिव्यक्ति की, प्रकाश की संभावना नहीं होती। समाधि और स्वाभाविक दशा—इन दोनों के बीच के अवकाश में ही रचना होती है। यह अवकाश आत्मा के साथ औरों की एकता स्थापित करता है – विश्वात्मैक्य या सर्वात्मैक्य की प्रतिष्ठा कराता है। फलस्वरूप व्यक्तिनिष्ठ व्यंजना से आत्मभाव का लोप हो जाता है, सँकरा अहम् समग्र मानवसत्ता में परिव्याप्त हो जाता है और एक अनेक में फैल जाता है। इसे हम अहम् का संस्कार या उन्नयन कह सकते हैं, सीमित आत्मभाव का विसर्जन कह सकते हैं। इसलिये किसी रचना की खामी उसकी आत्मपरक व्यंजना नहीं हुआ करती, खामी रचनाकार के छोटे मन की या उसकी आत्मिक संकीर्णता की होती है। छोटे मन से महत् सृष्टि की उम्मीद भी नहीं की जा सकती। वस्तुरूप को सर्वजनसंवेद्य बनानेवाली अभिव्यंजना संकीर्ण व्यक्तिमूलक नहीं होती, क्योंकि वह विशेष को निर्विशेष या सामान्य बना सकती है। इसलिये एडिसन ने जब प्रथम निबंधकार मौंटेन के बारे में यह कहा कि संसार में उससे बड़ा दूसरा अहंवादी पैदा नहीं हुआ, तो सोचना पड़ता है कि यह उसकी स्तुति है या निंदा ?

इन विचारों के बाद निबंध का जो स्वरूप ठहरता है, उस हिसाब से उसकी परिभाषा मोटामोटी इस प्रकार दी जा सकती है—निबंध एक ऐसा व्यक्तिनिष्ठ **वाङ्मय प्रकार है, जो आकार में यथासंभव छोटा होता है और कार्यकारण की संगति तथा संबद्धता के साथ किसी विषय का स्वच्छंदतापूर्वक जीवंत और रोचक वर्णन करता है।**

निबंध में विषय का महत्व नहीं होता, न ही विषय के प्रतिपादन का महत्व होता है। विषय और उसका प्रतिपादन चाहे जो हो, जैसा हो, उसमें निबंधकार मनमानी स्वच्छंदता से काम ले सकता है, किंतु उसका आत्मचिंतनपरक, सुनिबद्ध और स्थापत्यपूर्ण होना आवश्यक है। आवश्यक है कि उसमें सहृदयता हो, रसदृष्टि हो, संभाषण की पटुता हो और रोचकता लानेवाली सरलता हो। ये सारे ही गुण वही हैं, जो रचनात्मक साहित्य या सृष्टि के होते हैं। निबंधकार की कला में बेन्सन ने निबंधकार के कर्त्तव्य के संबंध में जो कुछ बातें बताई हैं, अंततो-

गत्वा वे निबंध को रचनात्मक साहित्य की श्रेणी में रखने पर ही कही जा सकती हैं। जैसे, निबंधलेखक जीवन की समग्रता का अनुभव और आनंद ग्रहण करना चाहता है। वह जीवन का तटस्थ द्रष्टा है और निरर्थक स्वप्नलोक में स्वयं को गुमाना नहीं चाहता। वह हमारा सहप्रवासी है, सफर का साथी। उसकी मनोदशा चाहे जो हो, जीवन को देखने की उसकी दृष्टि चाहे पचासो प्रकार की हो, लेकिन एक बात वह हर्गिज नहीं कर सकता – वह है, जीवन का तिरस्कार। निबंधकार दूसरों के अनुभवों के प्रति अप्रीति नहीं व्यक्त कर सकता, क्योंकि सारी रसानुभूति का आधार ही यह है कि हम आत्मौपम्य भाव से भावन करें। सहृदयता के बिना किसी भी चीज के बारे में हमें सोचने का अधिकार नहीं है।

निबंध मूलतया एक सृष्टि है। वाक्य और भाषा का आधार होने के नाते इसे भी हम एक वाङ्मय विग्रह या वाङ्मयी मूर्ति कह सकते हैं। किसी भी प्रकार की सृष्टि की अपनी विशेषता इतनी ही होती है कि वह निर्माण होती है। वह कुछ कहती नहीं, बताती नहीं, केवल हमारे सामने एक रूप खड़ा कर देती है। सृष्टि की जो भी वस्तुएँ हमारे समाने हैं, उनकी कोई भाषा नहीं है, वे हमसे कुछ कहती नहीं, कोई संदेश भी नहीं देतीं। रूप की भाषा से वे हमारे हृदय में मूर्त हो जाती हैं। हम उन्हें देखते हैं और हमें उनका बोध हो जाता है। अपने स्वरूप की धारणा करा देने के अतिरिक्त उन्हें और कोई अपेक्षा नहीं होती। रूपसौंदर्य का उद्देश्य न तो सीख देना है, न किसी इच्छा की पूर्ति करना, न किसी सिद्धांत का अनुमोदन करना। उसका एक ही अर्थ, एक ही अभिप्राय है कि वह अपने रूप की सबको प्रतीति करा दे। प्रतीति से ही आत्मा का संबंध स्थापित होता है।

उपदेश या ज्ञानदान निबंध के ये उद्देश्य नहीं। वह मन का उन्मुक्त विचरण है। इस यात्रा में पथ के दोनों ओर अर्थपूर्ण, निरर्थक जो भी सामग्रियाँ सौंदर्यबोध और आनंदबोध के हाथ लग जाती हैं, वह सबका सच्चय करता है और नितांत आत्मीयता के साथ, एक मित्र की तरह उनका निवेदन करता है। इस शैली में आत्मपरकता और विषय घुलमिलकर ऐसे एकात्म हो जाते हैं कि उस एकीकृति से एक अभिनव आनद रसायन प्रस्तुत होता है। वह रसायन चित्त को अनुरंजित करता है, मन को मोहता है। उसमें बड़ी बातें आ ही नहीं सकतीं, ऐसा नहीं। बड़ी बातें भी जुड़ सकती हैं, लेकिन सहजता से। जिसे कहते हैं—हँसी-खेल में बुद्धिमत्ता की बातें यानी। 'विज्डम इन ए स्माइलिंग मूड'। साहित्य लिये कान्तासम्मिततया उपदेशयुजे' एक बात आई है। निबंध के लिये हम कह सकते हैं, एक मित्र की एक सुहृद् की आत्मीयता। मराठी में निबंध के जन्मदाता प्रो० ना० सी० फड़के ने इसका नाम दिया है गुजगोष्ठी अर्थात 'बतकही'—कनबात। यह कनबात श्रोता या वक्ता के बीच में किसी भी तरह का बंधन, व्यवधान,

आवरण सहन नहीं कर सकती है। इसमें एक से दूसरे हृदय का सीधा संबंध होता है। वैष्णव कवि ने राधा के मिलन क्षण का जैसा वर्णन किया है सारा शृंगार मानो मिलन का साधन हो। मिलन की घड़ी में उन्हें व्यवधान मान राधा ने सारे आभूषण, सारा शृंगार उतार फेंका। निबंध ऐसी ही एक सहज और छोटी पगडंडी है जो लेखक और पाठक के दोनों छोरों को जोड़ देती है। निबंधकार प्राध्यापक नहीं, प्रवचन देनेवाला नहीं, वह एक मित्र के समान मन से मन की कहता है।

एक आलोचक के अनुसार निबंध एक प्रकार का स्वगतभाषण है। स्वगत-भाषण में पाठक के ध्यान को वश में रखना नितांत कठिन होता है।[1] रुचि की दृष्टि से निबंध में यह शक्तिहीनता कदापि नहीं होती। वह एक निरावृत हृदय का परिचय है और जो बात निश्छल हृदय से सीधे बाहर निकलती है, वह सीधे हृदय में प्रवेश पाती है। निबंध में सामर्थ्य के वे सभी तत्व होते हैं, जो पाठकों को अपने साथ बहा ले जा सकते हैं। गद्य की पूर्ण प्राणवत्ता तो निबंध ही में पाई जाती है। किसी भी साहित्य के गद्यविकास का चरम मापदंड उसका निबंध साहित्य होता है, क्योंकि इसका प्रादुर्भाव किसी साहित्य में तभी होता है, जब उसमें सशक्त अंजना के सभी ऐश्वर्य मौजूद होते हैं। वही भाषा के ऐश्वर्य का लेखा है। कार्लाइल ने कहा था—किसी भी साहित्य की गहराई का अनुमान उसके निबंधों से लगाया जा सकता है। हम भी निबंध को गद्य की कसौटी कहते हैं।

निबंध के लिये भारतीय और पाश्चात्य दृष्टि में समानता अवश्य नहीं रही है। पश्चिम में निबंध को कविता जैसा ही मनस्तृप्ति और हृदय को अनुरंजित करने का ही प्रधान साधन माना गया है। इसलिये स्वभावतया निबंध के लिये जटिल विधान को उन्होंने प्रश्रय नहीं दिया है। अँगरेजी और अमरीकी साहित्य में निबंध ललित, मनोरंजक और स्वतंत्र साहित्यरूप के नाते विकसित हुआ है। अँगरेजी में एसे का अभिधेयार्थ है – काम्य विषय को प्रस्तुत करने का प्रयास। विषय की विवेचना और उसके प्रतिपादन से वहाँ निबंध का संबंध नहीं माना जाता। अवश्य ऐसी मान्यता वहाँ प्रस्तुत निबंधों के स्वरूप को देखकर ही हुई। लार्ड बेकन तक ने, जो अँगरेजी के पहले निबंधकार हैं, निबंध को निक्षिप्त प्रणिधान कहा है[2]।

[1] हिंदी साहित्य — डा० भोलनाथ।

[2] दि वर्ड एसे इज लेट, बट द थिंग इज एंसिएन्ट। फार सकसेज इपिसलेस टू ल्यूसिलेस, इफ वन मेक देम वेल, आर बट एसेज, दैट इज डिसपर्संड् मेडिटेशन।

—एसे पुस्तक का समर्पण।

आज वहाँ जैसे निबंधों की चाल चल पड़ी है, उसकी गिनती लोग हल्के साहित्य में करते हैं। अवश्य सभी पश्चिमी देशों में ऐसा ही नहीं हुआ है। फ्रांस में, जहाँ से निबंध की शुरुआत हुई, यह अधिकतर साहित्य कला की समीक्षा में ही सीमित रहा – मोंटेन के निबंध इसके अपवाद जरूर हैं। उनके निबंध तो ऐसे हैं मानों किसी बगीचे में टहलते हुए फूल चुने गए हैं। जर्मनी, इटली आदि देशों में भी यह साहित्यसमीक्षा के रूप में ही विकसित हुआ। इन देशों में ज्यादातर आलोचनात्मक निबंध लिखे गए। भारतीय पंडितों की दृष्टि निबंध में विशेषतया गंभीर विचारों की कड़ी जोड़ने की रही है। यहाँ निबंध मनोरंजक होने के बजाय अभ्यास एवं मनन की वस्तु रहा है। यहाँ हम उन्हें हल्के साहित्य के रूप में स्वीकार नहीं कर सके। यही कारण है कि आज निबंध कहने से जिस कोटि की रचना समझी जाती है, हमारे यहाँ वैसी रचनाओं का बहुत बड़ा अभाव है। निबंध साहित्य का परंपरागत इतिहास तैयार करने की जरूरत पड़े तो दार्शनिक, साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक, आलोचनात्मक निबंधों की शरण जाने के अलावा चारा नहीं रह जाता। आज के अर्थवाले निबंध तो कल के हैं और ये बहुत ही कम लिखे गए।

लिंड ने निबंध को बकवास (नानसेन्स) कहा है लेकिन सुंदर बकवास (ऐलिगेटेड पीस ऑव नानसेन्स)। जानसन ने कहा है मस्तिष्क की ढीली उद्भावना। इसका यह तात्पर्य नहीं कि यह निरी निरर्थक और बेकार चीज है, बल्कि यह कि इसमें शास्त्रीय जटिलता के बजाय सहज रसमयता हो जहाँ सुगमता से पैठ हो सके। इस कोटि के आदर्श निबंधों पर गौर करें तो हम पाएँगे कि इनमें किसी विषय के प्रतिपादन का उतना महत्व नहीं है, किसी विषय की चर्चा करते हुए मन की उमंग की लहरों से रचनाकार अनेक विषय, अनेक व्यक्ति और अनेक वस्तु की अभिव्यक्ति ले आते हैं किंतु इनमें एक सूत्रबद्धता होती है और शिल्प होता है। पाठक इस प्रवाह में बहता है। मराठी में तो निबंध का नाम ही ललित निबंध पड़ गया है। ललित अर्थात् विदग्ध, रसप्रवण—शास्त्रीय नहीं। मतलब यह कि निबंध रस साहित्य की श्रेणी में है, जिसका धर्म है मानसिक उल्लास और उत्तेजना उत्पन्न करने की योग्यता रखना। यह योग्यता रचनात्मक साहित्य की ही होती है। इस दृष्टि से निबंध कुछ अंशों में गीति कविता के समकक्ष पड़ता है। इसका लक्ष्य भाव की रस दशा में पहुँचना है। संक्षेप में यहाँ भावों की प्रक्रिया को समझ लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

भाव जो वस्तु, है, वह हमारी मानस क्रिया का परिणाम है। किसी चिंतन किसी धारणा को भी हम भाव कह सकते हैं। भाव के सहज धर्म दो हैं। या तो वह हमारे मन में उदित होकर [illegible] जाए या आधारित होगा

है या बाह्य जगत् के संपर्क में आकर हमारे मन में ही उदित होता है। किंतु साहित्य में हम जिस भाव का अर्थ लेते हैं, वह भाव ठीक ठीक यही नहीं है। चाहे तो उसे हम रसप्रवृत्ति कह सकते हैं चाहे तो आनंद की आकांक्षा। इस भाव के भी दो स्वभाव होते हैं। या तो वह एकबारगी अंतर्मुखी होता है और भाव ही उसकी शेष सिद्धि या शरण होता है और या वह बहिर्मुखी होता है। जो बहिर्मुखी होता है, वह वस्तुगत अस्तित्व की कामना से अभिप्रेत होता है, जीवन और जगत् का आश्रयकामी होता है। सृष्टि की प्रेरणा इसी भाव से उद्भूत होती है। इसी प्रेरणा से प्रतिभा वाङ्मयी रचना में तत्पर होती है और रूप की सृष्टि करती है।[1]

निबंध चूंकि एक व्यक्तिनिष्ठ वाङ्मय प्रकार है, इसलिये उसका भी जन्म स्वाभाविक आनंद की आकांक्षा या रसप्रवृत्ति से होता है। रसप्रवृत्ति की दो दिशाएँ हैं—आनंद देना और पाना। शिल्प की वेदी पर जो भी निवेदन किया जाता है, उसके पीछे दो कामनाएँ होती हैं—बहुतों में अपनी व्याप्ति और बहुत दिनों तक स्थायित्व। निबंध में भी निबंधकार की ये दोनों कामनाएँ निहित हैं और दूसरों के आनंद की आकांक्षा की परितृप्ति के साथ ही उन कामनाओं की परिपूर्ति होती है।

निबंध के अंतरंग और बहिरंग स्वरूप की चर्चा से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह साहित्य का एक स्वतंत्र रूप है। आकार प्रकार, तत्व सभी दृष्टियों से इसकी अपनी विशेषताएँ हैं, अपना अलग अस्तित्व है। साहित्य की दूसरी जो विधाएँ हैं, उनमें से बहुतों से बहुत बातों में इसकी समानता भी है, बहुत बातों में असमानता भी। कई बार तो निबंध से साहित्य के किसी अंग की इतनी निकटता लगती है कि दूरी की सूक्ष्मता का पता पाना मुश्किल हो जाता है। फिर भी अलग अलग विशेषता के कारण इन दोनों अंगों को एक नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिये कथा को लीजिए। कथा के दो रूप हैं – उपन्यास और कहानी। दोनों का व्यक्तित्व भिन्न है। उपन्यास का कोई अध्याय आकार में स्वल्प और आदि अंत की दृष्टि से अपने में पूर्ण हो सकता है। पूर्ण होते हुए भी चूंकि उसमें कहानी की शैली की भिन्नता और कलात्मक पूर्णता नहीं होती, इसलिये उसको हम कहानी नहीं कहेंगे। ठीक इसी प्रकार किसी पुस्तक के अंशविशेष में किन्हीं अंशों में निबंध के लक्षण पाए भी जायँ तो उन्हें निबंध की आख्या नहीं दी जा सकती। गोकि निबंध के संबंध में लिखते हुए हिंदी के कुछ विद्वानों ने यही किया है—कभी कभी कोई विद्वान् अपनी बड़ी पुस्तक के किसी अध्याय के कुछ उन वाक्यों को, जो इस अध्याय का पिछले अध्यायों से संबंध प्रकट करते हैं, निकालकर उसे ऐसे निबंध

[1] कला—हंसकुमार तिवारी.

का रूप दे देता है। कभी कभी पुस्तकों की प्रस्तावनाएँ एवं भूमिकाएँ भी ऐसे निबंध का रूप पा जाती हैं।[1] यही नहीं, विद्वान् लेखक ने भाषणों तक को निबंध मान लिया है। कहते हैं—इस प्रकार के निबंधों का स्वरूप भाषणों से थोड़ा सा मिलता है। यदि भाषणों के आरंभ और अंत के अंश और बीच बीच के वे अंश जहाँ व्याख्यानदाता श्रोताओं से प्रत्यक्षतः व्यक्तिगत संबंध स्थापित करके अपने भाषण को आगे बढ़ा रहा हो, हटा दें, तो प्रायः भाषण इस रूप के निबंध हो हो जायँगे।[2]

निबंध के व्यक्तित्व के निर्माण में जिन विशेष तत्वों का अनिवार्य प्रयोजन है, किसी रचना में वे सारे ही तत्व निहित हों, तभी उसे निबंध कहेंगे। ऐसा न होता तो साहित्य के इतने अंगों के होते आखिर एक स्वतंत्र प्रकार की आवश्यकता भी क्या थी ? जिन तंतुओं से निबंध का ताना बाना बनता है, जो बात जिस युक्ति, ढंग और कौशल से निबंध प्रकाश में ला सकता है, निश्चय ही साहित्य के अन्य अंगों से अभिव्यक्ति की वह दिशा पूरी नहीं होती। हिंदी में निबंध का सूत्रपात ही इसी कारण हुआ। अँगरेजी साहित्य के संपर्क में आकर लोगों को गद्य के एक ऐसे प्रकार का परिचय मिला जो शक्तिमत्ता में आकर्षक था, जिस माध्यम से पाठकों से निकटता स्थापित कर मुक्तकंठ से अपनी बात कही जा सकती थी। कविता, नाटक या उपन्यास का आधार ग्रहण करने में यह सुविधा नहीं थी। इसी अभाव से साहित्य के इस स्वतंत्र अंग को अपनाया गया। इसकी पुष्टि के दो सबल प्रमाण हैं। किसी भी भाषा के साहित्य में निबंध का उदय बहुत बाद में हुआ और किसी भी निबंधकार ने अपनी प्रौढ़ावस्था में निबंध लेखन का श्रीगणेश किया। क्योंकि निबंध के लिये अभिज्ञता और अनुभव की पूँजी के साथ साथ व्यंजना शक्ति की प्रौढ़ता और प्रांजलता भी आवश्यक है : अभिज्ञता और अर्जित अनुभव की प्रौढ़ता के ऐश्वर्य में निबंधकार को जीवन के साधारण धरातल से कुछ ऊपर उठकर कहना पड़ता है। संक्षेप में साहित्य के अन्य रूपों की समता विषमता की तुलना करते हुए हम निबंध की स्वतंत्र सत्ता, उसकी निजी विशेषता को समझें।

कथा या आख्यायिका और निबंध में कई बातों में समता है, इसलिये बहुत बार निबंध आख्यायिका के बहुत समीप का गद्यप्रकार प्रतीत होता है। मौंटेन ने निबंध के बारे में स्पष्ट कहा है – यह विचारों, उद्धरणों और कथाओं का

[1] हिंदी साहित्य—डा० भोलानाथ, पृ० २८८
[2] ,, ,, ,,

संमिश्रण है। निबंधों का मूल उद्देश्य कथा कहना अवश्य नहीं होता, पर प्रसंगों की अवतारणा करनी पड़ती है, कथाकार के समान पात्रों की सृष्टि भी कभी कभी आवश्यक हो जाती है। कहानी का आकार भी संक्षिप्त और सीमित होता है। कहानी में हेतु या परिपुष्ट करने के लिये शैली की तीव्रता और उसे केंद्रीभूत करने की आवश्यकता पड़ती है। कथा के समान घटना, वातावरण, चरित्र, उद्देश्य आदि की अन्विति आपेक्षित न होने पर भी निबंध में एकता (युनिटी), यथाक्रमता (कन्टीन्यूड आर्डर) और युक्तियुक्त क्रम (लाजिकल सीक्वेन्सेज) के लिये भी प्रवाहमयी चुभती हुई शैली का होना जरूरी है। कहानी जीवन की किसी एक ही घटना को लेकर चलती है और परिणाम के लिये आनुषंगिक बातों का समावेश करती है। निबंध में वह नपीतुली सुनियोजित रूपरेखा चाहे न हो, किंतु आदि से अंत तक पाठकों को ले चलने का जादू रहता है। कहानी में लेखक इतनी छूट ले सकता है कि निजी तौर पर विवरण उपस्थित करे। ऐसी स्थिति में कथा में निबंध के तत्व अजाने ही आ जाते हैं। ऐसी और भी कई बातें हैं, जिनसे दोनों के नितात नैकट्य की धारणा होती है। किंतु यथार्थतः दोनों में अंतर है। कथा से जो तुष्टि लोगों को होती है, वह संपूर्णतया भावात्मक होती है, जब कि निबंध से वैचारिक। कथा वस्तुनिष्ठ होती है, उसमें कथाकार अपने से, अपनी कृति से तटस्थ रहता है, उसका आत्मभाव कहीं आता भी है तो पात्रों में, वर्णन में नहीं। निबंध आत्मनिष्ठ ही होता है, उससे व्यक्तित्व को किसी भी प्रकार से, अलग नहीं किया जा सकता। हवा में जैसे सुगंध की सत्ता स्पष्ट मालूम पड़ती है वैसे ही निबंधकार के स्व से निबंध सुवासित रहता है।

निबंध और आख्यायिका—इन्हीं दोनों के मिलेजुले तत्वों से शब्दचित्र बनता है। अँगरेजी में इसको स्केच कहते हैं—चित्रकला में मात्र रेखाओं से किसी का जो चित्र बनता है, स्केच उसका नाम है। शाब्दिक रेखाओं से चरित्रविशेष के रूपायन को साहित्य में इसी लिये स्केच कहते हैं। स्केच में साधारणतया किसी प्राणी के चरित्र का चित्र होता है। अब निर्जीव वस्तुओं के भी सजीव जैसे शब्द-चित्र लिखे जाने लगे हैं। काव्य में आत्मीयता के आरोप से जीवंतता की अनुभूति छायावाद युग की एक विशेषता रही है। शब्दचित्रों के क्षेत्र में भी विषय-ग्रहण की वह उदारता अपनाई गई। आकार में छोटा से छोटा होना शब्दचित्रों की विशेषता है। उसमें जहाँ अनुभूति, विचार और भावतत्व की प्रधानता हो जाती है, वहीं वह निबंध के निकटतर आ जाता है। शब्दचित्र में व्यक्तित्व की भी झलक पाई जाती है। वह झलक दो रूपों में मिलती है—स्वतः लेखक का व्यक्तित्व और इस व्यक्ति या वस्तु का व्यक्तित्व ही ज्यादा उभरना चाहिए। लेकिन अनपेक्षित रूप से कभी कभी चरित्र के बजाय चरित्रकार

ही प्रधान और प्रबल हो उठता है। एक बात में शब्दचित्र और निबंध में नितांत निकटता है। वह है आत्मीयता। आत्मीयता के बिना रेखा रंग हो या भाषा, किसी की तस्वीर नहीं उतारी जा सकती। चरित्रकार और छविकार की सफलता बहुत कुछ इसी आत्मीयता पर निर्भर करती है। औपन्यासिकों के लिये अपने पात्रों के साथ यही आत्मीयता प्रयोजनीय होती है। बालजक के संबंध में ऐसा कहा जाता है कि एक दिन राह में अपने एक मित्र को देखकर वह तपाक से बोल उठा—भई, वह मर गया। और वह फफक उठा। मित्र ने समझा, कलाकार का कोई सगा संबंधी शायद गुजर गया। बाद में पता चला बालजक का मतलब उसके नए उपन्यास के नायक से था। शब्दकार की यही आत्मीयता चित्र के पात्र के साथ होती है। इसलिये आत्मीयता इसका एक साधन भर है, अंतिम लक्ष्य नहीं। निबंध और शब्दचित्र, दोनों में एक प्रेरक आवेग होता है लेकिन दोनों की गतिविधि में इतना अंतर होता है कि शब्दकार का आवेग अपने पात्रों में नियोजित होता है, निबंधकार का अपने पाठकों पर। यों शब्दचित्र भी विचारात्मक हो सकता है, पर भावात्मक होना ही उसके स्वरूप की निजस्वता है। ऐसी कई बातों में समानता होने पर भी निबंध शब्दचित्र से भिन्न है, क्योंकि निबंध का क्षेत्र बड़ा विस्तृत और व्यापक है। उसके विषय असीमित हैं। शब्दचित्र में आनंद अर्थ का आता है, निबंध के अर्थ नाद की लहरों से आनंद देते हैं।

सभी भाषाओं में निबंध के विकास में पत्रपत्रिकाओं का बहुत बड़ा हाथ रहा है। हिंदी निबंध का जो स्वरूप आज निखरकर हमारे सामने है, उसकी पूर्वपीठिका भारतेंदु युग में तैयार हुई थी। साहित्य के इस अंग की स्थापना में भारतेंदु ने स्वयं बड़ा उद्योग किया और जो थोड़ा बहुत रूप इसको दे सकना संभव हुआ, वह इसी लिये कि पत्रपत्रिकाओं का साधन सुगम हो सका। भारतेंदु की रचनाएँ 'कविवचनसुधा', 'हरिश्चंद्र चंद्रिका', 'बालबोधिनी' आदि पत्रिकाओं में निकला करती थीं। उन रचनाओं में कई शैलियों के दर्शन होते हैं। बालकृष्ण भट्ट की रचनाएँ तत्कालीन श्रेष्ठ साहित्यिक पत्र 'हिंदी प्रदीप' में प्रकाशित हुई। विनोदपूर्ण शैली के लिये लोकप्रिय प्रतापनारायण मिश्र स्वयं 'ब्राह्मण' पत्र के संपादक थे। बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन की व्यक्तिगत विलक्षणतावाली शैली उस समय अनूठी थी। गद्यरचना को वे एक कला और कलम की कारीगरी कहते थे। उनके लेख, प्रबंध, निबंध सब 'आनंद कादंबिनी' और 'नागरी नीरद' पत्रों में निकले। सरल और मुहाविरेदार भाषा के पृष्ठपोषक अंबिका प्रसाद व्यास की रचनाएँ 'वैष्णव पत्रिका' तथा 'पीयूष प्रवाह' में प्रकाशित हुई।

अँगरेजी साहित्य में भी बेकन आदि एकाध निबंधकार के बाद निबंध-रचना के ज्वार में भाटा पड़ गया था। अँगरेजी में उस समय पद्य युग था। निबंध के उपयुक्त भाषा प्रौढ़ नहीं हो पाई थी। इसलिये लगभग सौ साल तक निबंध की प्रगति बड़ी मंद रही। जब पत्रपत्रिकाओं का प्रकाशन बढ़ा, निबंध-लेखन की प्रवृत्ति को गति और प्रश्रय मिला। नई नई शैली का प्रवर्त्तन भी आरंभ हो गया। क्षेत्र और भावभूमि में परिवर्तन हुए।[1] उन्नीसवीं सदी में अँगरेजी निबंधों की आशातीत उन्नति हुई। हंट, हेजलिट, गिफर्ड, लैंब, मेकाले जैसे निबंधकारों की साधना से साहित्य समृद्ध हुआ। इस विकास की प्रेरणा और साधन स्वरूप रहीं—क्वार्टरली रिव्यू, ब्लैक वुड रिव्यू आदि पत्रपत्रिकाएँ।

इस दृष्टि से स्वरूप और विषयवस्तु को देखते हुए पत्रकारिता और निबंध बहुत पास पास के लगते हैं। विषय की स्वच्छंदता दोनों को है—कोई सीमारेखा नहीं। राजनीति, धर्म, अध्यात्म, संस्कृति जो भी विषय चाहे हो। यथार्थवादी या आदर्शवादी जैसा भी चाहे दृष्टिकोण हो। लेकिन इतने पर भी दोनों बहुत दूर दूर के हैं। पत्रकारिता एक कौशल है और निबंध रचनात्मक साहित्य। रस-प्रवृत्ति की पोषक रचनाएँ भी पत्रकारिता में हो सकती हैं, परंतु यही पत्रकारिता का लक्ष्य नहीं। जहाँ निबंध को व्यंजनात्मक तथा प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति का सहारा लेना पड़ता है, वहाँ पत्रकार का काम शाब्दिक अभिव्यक्ति से चल जाता है। क्योंकि पत्रकारिता का महत्व सामयिक होता है। मनस्वी रस्किन ने साहित्य की दो श्रेणियाँ बताई हैं – एक सामयिक, दूसरी सार्वजनीन। सामयिक साहित्य का लक्ष्य तात्कालिक प्रयोजन की सिद्धि है। इसलिये सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि आशु समस्याओं पर प्रकाश डालना और उनका समाधान ढूँढ़ना ही उसका उद्देश्य होता है। निश्चित है कि ऐसे समसामयिक आदर्श और तात्कालिक आवश्यकताएँ टिकाऊ नहीं होतीं, लिहाजा सामयिक साहित्य में स्थायित्व की भी संभावना नहीं होती, न ही उसका यह लक्ष्य होता है। निबंध का लक्ष्य ठीक इसका उलटा होता है। इसके अतिरिक्त आकार तथा रूपयोजना में निबंध की जो सीमाएँ हैं, पत्रकारिता में स्वरूप और सीमा की वह मर्यादा नहीं होती।

पत्र अपने को व्यक्त करने का सशक्त और सुगमत साधन है। इसलिये स्वभावतया यह प्रश्न उठ सकता है कि व्यक्तित्व और निजीपन ही जब पत्र और निबंध, दोनों की विशेषता है तब इन दोनों में तात्त्विक भेद कौन सा है। पत्र के

[1] पुराने और नए निबंधों में सबसे बड़ा अंतर शिल्प का ही नहीं है, जितना कि मनोभूमि और विचारदर्शन का है।—जे० डब्ल्यू० मेरिअट।

माध्यम से भी निबंध लिखे जाते हैं और पत्र में भी अपनी अनुभूतियाँ, विचार और भाव अभिव्यक्त किए जाते हैं। साहित्य में पत्र के अनेक प्रकार पाए जाते हैं। जैसे जवाहरलाल का 'पिता के पत्र पुत्री के नाम' रवींद्रनाथ की 'रूस की चिट्ठी', पत्रात्मक उपन्यास, कहानियाँ आदि आदि। किंतु पत्र और पत्रसाहित्य, दोनों की कोटियाँ अलग हैं। साहित्य पदवाच्य होने के लिये पत्रों में कुछ विशेष तत्वों का समन्वय आवश्यक होता है। पत्र नितांत ही निजी और घरेलू होता है। उसमें व्यक्ति का आवरणहीन, उन्मुक्त, स्वतंत्र और निश्छल हृदय व्यक्त होता है, किंतु किसी एक व्यक्ति के लिये। उसका उद्देश्य किसी एक व्यक्ति के भाव और भावना, विचार और अनुभूति को किसी दूसरे व्यक्ति तक पहुँचाना मात्र होता है। पत्र-लेखक अपनी बात एक से कहता है, निबंधकार लेखक अनेक से, असंख्य से। निबंधकार अपने पाठकों के इतना पास नहीं होता जितना पत्रलेखक। पत्र दो व्यक्तियों के संबंधसाधन की कड़ी है, निबंध व्यक्तियों अथवा समाज के बीच का संबंधसाधन। निबंध में व्यक्ति की वैयक्तिकता व्यक्तित्व बनकर फूटती है, पत्र में व्यक्ति निरा व्यक्ति ही रह जाता है। उसे सामान्य भावभूमि की उदारता और व्यापकता का स्पर्श नहीं मिल सकता। निबंध अपेक्षाकृत अधिक सामाजिक होता है, इसलिये उसे अनेक मर्यादाओं के किनारों के बीच अपनी दौड़ रखनी पड़ती है। विषय को देखते हुए निबंध की सीमाएँ बहुत व्यापक हैं, पत्र की सीमित। पत्र में भाव-विचार, विवरण, वर्णन, सभी कुछ हो सकते हैं, किंतु उसका सर्वोपरि तत्व घरेलूपन और दो की आपसी बातचीत है। उसमें व्यक्तिनिष्ठता नहीं बल्कि निजी समस्याएँ ही ज्यादा स्थान और महत्व पाती हैं। प्रशस्ति, संबोधन, स्थान, तिथि, लिखनेवाले के हस्ताक्षर आदि को अलग कर देने से ही कोई पत्र निबंध की आख्या के उपयुक्त नहीं हो सकता। साहित्य के स्वरूप और उसकी मर्यादा को ध्यान में रखते हुए जो पत्र लिखे जाते हैं वे निबंध हो सकते हैं, लेकिन ऐसे में वे पत्र नहीं रह जायँगे। यात्रा संबंधी विचार विवेचन के पत्र हमारे यहाँ लिखे गए हैं। उनमें अपने हित मित्र का संबोधन एक बहाना भर है। वास्तव में वे सबके लिये लिखे गए हैं। ऐसे पत्रों की आत्मीयता घरेलू न होकर सामान्य और सार्वभौम होती है, क्योंकि इसमें पत्र का परिमार्जित और सामाजिक रूप होता है। समाचार पत्रों में भी संपादकों के नाम ऐसे पत्र प्रकाशित किए जाते हैं जिनका उद्देश्य अपने विचारों का प्रसारण, संपादकों के अतिरिक्त ही होता है।

कई लोग यह कहते हैं कि पद्य में जो स्थान गीति कविता का है, गद्य में वही स्थान निबंध का है। सचमुच दोनों में कुछ ऐसी समानताएँ हैं कि गीति कविता निबंध की निकटतम साहित्यशैली सी लगती है। संक्षिप्तता, आत्मप्रकाशन और एकसूत्रता—स्वरूपविधान की ये जो तीन मुख्य शर्तें हैं, ये दोनों में पाई जाती हैं। भावनाओं, आकांक्षाओं, कल्पनाओं की सरस और अकृत्रिम अभि-

क्योंकि गीत है विचार, चिंतन, कल्पना, आकांक्षा का क्रमबद्ध प्रकाश निबंध। भावों की तीव्रता और गहराई के लिये भावघन अनुभूति की सघनता अनिवार्य है। गीतों में कम से कम में ज्यादा से ज्यादा कहा जाता है। निबंध भी आकार की स्वल्पता में अधिक से अधिक जितना ही कह सके, उतना ही उसमें प्रभावोत्पादकता आती है, उतनी ही उसकी सफलता और श्रेष्ठता है। इसे समास में व्यास कहते हैं।[1] गीत में एकसूत्रता जरूरी है, जिससे अन्विति का प्रभाव (इफैक्ट ऑव टोटेलिटी) आता है। निबंधकार स्वच्छंदता का उपभोग इच्छानुरूप जितना ही क्यों न करे, सुनियोजित क्रमबद्धता का निबंध में होना परमावश्यक है। गीत में एक भावना और अनुभूति का आवेश होता है, निबंध में एक विषय का संबद्ध वर्णन। ऐसी ही समानताओं को देखते हुए कुछ लोग भावात्मक लघु निबंधों को गद्य में लिखे गए गीत कहते हैं। वास्तव में भाव कविता की लयात्मकता, संगीतात्मकता आदि कुछ जो अपनी विशेषताएँ हैं, उन्हें यदि निकाल दिया जाय, और भावों के उच्छ्वास को गद्य के रूप में लिखा जाय तो वह बहुत अंशों में निबंध के निकटतर हो जाय। किंतु निबंध गीति कविता से केवल इसी लिये भिन्न नहीं होता, क्योंकि वह पद्यबद्ध और यह गद्यबद्ध होता है। इन दोनों में बहुत बड़ा तात्त्विक अंतर भी है। कवि का प्रयोजन जीवन की विराटता, सूक्ष्मता या सुंदरता होता है। निबंधकार जीवन की समग्रता के अनुभव और आनंद का आकांक्षी होता है। वह स्वप्नलोक में विचरण करने का अभिलाषी नहीं बल्कि जीवन का तटस्थ द्रष्टा होता है। कवि की अभिव्यंजना कल्पना की भावभूमि पर होती है, निबंधकार यथार्थवादी स्तर पर बातें करता है। गीत का शृंगार भावोच्छ्वास है, उसमें गीतकार का हृदय ही बोलता है, गीत में चूँकि बोध और हृदय पक्ष दोनों समन्वित होते हैं, इसलिये निबंधकार का हृदय और मस्तिष्क दोनों जागरूक रहते हैं। अतः गीत में केवल रागतत्व की प्रधानता रहती है, निबंध में रागतत्व और बोधतत्व दोनों का संमिश्रण रहता है। गीति कविता के कुछ सुनिश्चित विषय हैं—विरह, मिलन, हर्ष, विषाद, विनय, उपालंभ। रस की भी सीमा है शृंगार, शांत, करुण आदि। रसनिष्पत्ति की उसकी पद्धति भी प्रायः बँधी बँधाई है। विलक्षणता उसमें नहीं होती। लेकिन निबंध में वैचित्र्य और वैविध्य का ऐश्वर्य होता है। उसके विषय और शैलियों की सीमा नहीं। सुकुमारता गीतों का स्वभाव है, सशक्तता निबंधों का। गीतों में कवि का चित्र

[1] शुद्ध विचारात्मक निबंध का चरम उत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है जहाँ एक एक पैराग्राफ में विचार दबाकर कसे गये हों और एक एक वाक्य किसी संबंध विचार खंड को लिये हो। हिंदी साहित्य का इतिहास—रामचंद्र शुक्ल

कितना ही कुंठित; कितना ही निरावरण क्यों न हो, पाठकों के उतना समीप पहुँचकर वह अपनी बात नहीं कर सकता, जितना निबंधकार। क्षेत्र की दृष्टि से तो निबंध के अधिकार की कोई सीमा ही नहीं। वह जहाँ कहीं भी विचरण कर सकता है—कोई रोक नहीं। तुच्छ से तुच्छ और महान् से महान् विषय निबंध में अंगीकृत हो सकते हैं. गीत को भावात्मक होने के अतिरिक्त दूसरी शरण नहीं। कल्पना के तीव्रगामी पंख होते हुए भी गीत विहग को नीड़ होता है। निबंध सदाविहारी यायावर जैसा है, चिरप्रवासी, सर्वत्रगामी, स्वच्छंद।

हमारे यहाँ साहित्य के कई विचारकों ने गद्यगीतों को निबंध ही माना है। बल्कि गद्यकाव्य को ही वे निबंधों का चरम विकास मानते हैं। 'कवित्वमय निबंधों का अंतिम विकास गीत काव्यों के समानातर गीतिमय निबंधों में हुआ, जिसका दूसरा नाम गद्यगीत है। इसमें गीतिकाव्यों की कला का पूरा अनुकरण मिलता है। चित्र-चित्रण, नादध्वनि और लय तीनो के संमेलन से गद्य में भी काव्य का आनंद आ जाता है। × × × हिंदी में निबंधों का चरम विकास गद्यगीतों में ही मिलता है। काव्य और कला के देश भारतवर्ष में अँगरेजी साहित्य के निबंधों की भाँति हास्य, व्यंग्य तथा व्यक्तिगत विशेषताओं से पूर्ण निबंधों का विकास नहीं हुआ, वरन् काव्य के भाव, विचार, कला और आदर्श से युक्त गद्यगीतों का विकास हुआ'।[1]

अथवा—

'इन भावात्मक निबंधों का, जिन्हें प्रायः गद्य गीत की संज्ञा दी जाती है, एक महत्वपूर्ण स्थान है। प्रकृति का सहारा लिया जाता है। भावप्रधान भाषा रखी जाती है। लेखक तटस्थ होकर एक दर्शक-दिग्दर्शक की भाँति सब कुछ कहता चलता है। इन निबंधों में विचारों की सुंदरता और सूझ की उत्कृष्टता प्रशंसनीय और विचारोत्तेजक होती है। इनके लेखकों की कल्पना बड़ी ही उर्वर होती है। शैली चित्रात्मकता लिए हुए होती है।'[2]

और इस प्रकार गद्य गीतकारों को हिंदी में निबंधकारों की ही श्रेणी में रखा गया है। बहुत से गद्य गीतों में लक्षण और गुणों की समानता से निबंध की योग्यता शायद हो भी लेकिन गद्य गीत निबंध नहीं हैं। गद्य कविता (प्राज पोएट्री) नाम ही स्वविरोधी है, फिर भी सब साहित्य में इसका एक स्थान हो गया है। बीसवीं सदी के आरंभ में अँगरेजी के कुछ यशस्वी कवियों ने इसे भाववाहन के

[1] आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास—डा० श्रीकृष्ण लाल।

[2] आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास।

उपयुक्त मानकर अपनाया था। अपनाने का मूल कारण यह था कि उनका व्यक्तिगत आदर्श सामाजिक या अन्यान्य आदर्शों से मिलता नहीं था। नवीन छंद प्रवर्तन का एक आग्रह भी था। इस तरह संसार के सभी साहित्य में यह अर्धनारीश्वर काव्य-रूप प्रवेश पा गया। रवींद्र जैसे समर्थ कवि ने भी जीवन में इस तरह का प्रयोग किया, किंतु उनका कहना है कि 'इसमें कैद कविता प्राणहीन होती है।'[1] एक अँगरेज आलोचक ने अनागत भविष्य पर इसकी सार्थकता की कल्पना करते हुए ऐसी ही बात कही है।[2] जो भी हो, निबंध से गद्य कविता का अंतर बहुत बड़ा है। फिर अभी तो उसकी सही सही रूप रेखा भी तैयार नहीं हो सकी है, प्रयोगात्मक प्रयास ही चल रहे हैं। उसमें आवेग की गहराई, स्वच्छंदप्रवाही भावोन्मत्तता की रसमयता नहीं होती। सबसे बड़ी कमी उसमें यह दिखाई पड़ती है कि अपने चित्रात्मक सौंदर्य से चेतना को छूकर मन को मुग्ध करने की योग्यता उसमें नहीं आ पाई है। एक ही बात में दोनों की थोड़ी बहुत समता है कि गद्य गीत में भी आत्म प्रतिच्छवि की प्रधानता है। इसका जन्म ही ऐसी सामाजिक परिस्थिति में हुआ। आर्थिक और नैतिक दुर्दशा की घड़ी में, जब समाज जीवन वैयक्तिक वेदना के धुएँ से आच्छन्न हो उठा था, ऐसे लेखकों ने जीवनप्रवाह के टूटे हुए कगारे पर बैठकर इसी शैली के माध्यम से आत्मभाव की परछाईं देखने की कोशिश की थी।

निबंध और प्रबंध में भी, आज भी बहुत से लोग सामान्यतया कोई तात्विक भेद नहीं मानते, नामांतर या पर्याय मानते हैं। निबंध को प्रबंध का पर्याय मानकर ही श्यामसुंदर दास ने लिखा है—प्राचीन संस्कृत परंपरा के अनुसार निबंध केवल बौद्धिक अभिव्यक्ति का साधन बनाया गया। भारत का सूक्ष्म दार्शनिक विश्लेषण और क्रमबद्ध वैज्ञानिक अभिव्यक्ति जगत् प्रसिद्ध है। इसी दार्शनिक विश्लेषण के लिये निबंध का प्रयोग किया गया, अतः उसकी शैली पूर्णरूप से वस्तुप्रधान और कहीं-कहीं जटिल तथा सूत्रबद्ध हो गई।[3]

आज के अर्थ में पिछले दिनों निबंध का प्रयोग अवश्य नहीं मिलता। किंतु तब भी निबंध और प्रबंध शब्द थे तथा पास पास के होते हुए भी दोनों में एक सूक्ष्म पार्थक्य था। जिस ग्रंथ में एक ही विषय की अनेक व्याख्याओं का संग्रह होता था उसे निबंध कहते थे और जिस ग्रंथ में कई विषयों के संबंध में अनेक मतों का संग्रह रहता था उसे प्रबंध। शब्दार्थ की दृष्टि से करीब करीब एक ही

[1] छंद—रवींद्रनाथ।

[2] अनलेस दी इयर कैन डीटेक्ट दैट व्हाट इज बीइंग स्पोकेन इज डिफिनेटली नाट प्रोज, इट इज पेडेन्टिक नॉनसेंस फार दी वर्स लीब्रे स्कूल टू प्रीटेंड दैट सच राइटिंग हैज एनी एडवान्टेज ओवर प्लेन प्रोज.

[3] साहित्यालोचन।

अर्थ होने के बावजूद प्रबंध का क्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक व्यापक था। आज तो इन दोनों के बीच भेद की इतनी लंबी रेखा खिंच गई है कि दोनों के बिलगाव में आयास की आवश्यकता ही नहीं। विषय, विधान, गुण सब भिन्न। प्रबंध आज एक ऐसी रचना है जिसमें प्रतिपाद्य विषय का उसके स्वरूप, उसके मूल्य, महत्व, उसकी उपयोगिता के साथ विवेचन किया जाता है। शास्त्रीयता, सिद्धांत की स्थापना आदि उसके विशेष गुण हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि प्रबंध में प्रधानता होती है वस्तुनिष्ठता की। विषय तो वास्तव में पुराने ही होते हैं, जाने पहचाने, उनको जीवंत और नवीन बनाती है शैली। साहित्य में इसी लिये शैली का इतना महत्व है। जिसे हम रचना की मौलिकता कहते हैं, वास्तव में वह शैली की ही देन होती है। वस्तु की प्रधानता के नाते प्रबंध को हम तन्मय या वस्तुनिष्ठ कहेंगे और व्यक्तित्व की मुख्यता के नाते निबंध को मन्मय या व्यक्तिनिष्ठ। प्रबंध में संयतता और निष्ठा की सीमाएँ हैं—वह आदि, मध्य और अंत समन्वित चिंतन-प्रधान सृष्टि है। जिस विषय का उसमें विवेचन या प्रतिपादन होता है, उसे छोड़कर अवांतर प्रसंगों में जाने की उसे निबंध के समान छूट नहीं रहती। जैसे, भेड़ों का जिक्र आए तो भेड़ चरानेवालों की चर्चा अछूती रहेगी। दृष्टांत, प्रमाण, स्थापना आदि अंगी विषय ही उसका पुष्टिसाधन करते हैं। लेखक का व्यक्तित्व इसमें भी झलक सकता है, किंतु उस व्यक्तित्व में पाठकों के साथ प्रबंधकार की बुद्धि का योग हो सकता है, हृदय का संयोग कदापि नहीं। उसमें आत्मीयता स्थापित करने की जगह या तो प्रबंधकार अपने ज्ञान की पूँजी, पांडित्य या अपनी अद्भुत चिंतन प्रखरता से हमें अभिभूत करता है। बंधुभाव से समान श्रेणी में बैठकर वह पाठकों से संलाप नहीं करता। गुरुदेव की तरह ज्ञान वितरण करता है। ऐसी रचना में लेखक में प्रतिभाजनित मौलिक पूँजी न भी हो तो हर्ज नहीं, शास्त्र-संग्रह से ही काम चल सकता है। सर्वोपरि बात यह कि इसमें लेखक परोक्ष में रह जाता है, उभर कर सामने आती है उसकी ज्ञानगरिमा, दृष्टि की सूक्ष्मता और विवेचन प्रणाली। हार्दिकता उसमें नहीं आती, जो निबंध का स्वभाव है। सेंट्सबरी ने इसी लिये निबंध को गद्य कलाकृति (वर्क आफ प्रोज आर्ट) कहा है-इसमें व्यक्ति-चिंतन के स्थान पर व्यक्तिहृदय प्रधान होता है। वैयक्तिकता का आशय भी यही है—लेखक की शैली और उसकी हृदयगत प्रवृत्ति की झलक। प्रबंध में वस्तु और चिंतन प्रधान है निबंध में व्यक्ति और भाव। संक्षेप में कहें तो कहेंगे—

लेखक जब कल्पना और बुद्धिवृत्ति के सहारे किसी विषय वस्तु पर आत्मसचेतन होकर स्वल्पाकार के विशिष्ट साहित्य रूप की सृष्टि करता है तो वह निबंध कहलाता है।

अंतरंग पार्थक्य के अतिरिक्त आकार की भी शर्त है। दोनों के अंतर को विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इस तरह स्पष्ट किया है—प्रबंध विस्तार से लिखा जाने-

वाला लेख है जिसमें प्रतिपाद्य विषय प्रधान होता है, व्यक्तित्व की योजना नाम-मात्र को होती है। निबंध अपेक्षाकृत छोटी रचना होती है। इसमें व्यक्तित्व अपनी झलक देता चलता है। प्रबंध में वैसी कसावट नहीं होती, जैसी निबंध में। निबंध में बंध निगूढ़ होता है, भाषा ऐसी कसी होती है कि शब्दों का परिवर्तन संभाव्य नहीं जान पड़ता।[1]

निबंध जीवन की समस्या की सूक्ष्म आलोचना या पेचीदे प्रश्नों की मीमांसा नहीं उपस्थित करता अर्थात् विषय की गंभीरता में निश्छल और निविड हृदय रस के संयोग से एक शांत और सुंदर भावमंडल की अवतारणा करता है। उसमें आत्मा का स्पर्श मिलता है। प्रबंध यदि आत्मप्रचार है तो निबंध आत्मनिवेदन। इस लिये प्रबंध में लेखक पाठक में एक दूरी होती है— निबंध में दोनों शब्द अर्थ की तरह अभिन्नात्मा होते हैं। प्रबंध में पांडित्य का जो प्रखर प्रकाश होता है, उस पर श्रद्धा होती है-निबंध की अनुभूति स्निग्धता को हम स्नेह करते हैं। निबंध की मीठी जोत में चमत्कृत करने का विस्मय विस्तार नहीं होता, उस आलोक में हम एक हृदय से परिचित होते हैं और उस माध्यम से अपने आपको पहचानते हैं। प्रबंध प्रबंधकार को पाठकों में प्रतिष्ठित करता है, निबंध निबंधकार को उनसे घुला मिला देता है। प्रसाद गुण और रमणीयता ये दो गुण निबंध के प्राण हैं। फलस्वरूप ये गीतों की तरह मीठे, सहज, सरल और आह्लाददायी होते हैं, मन उनमें रमता है। संक्षेप में निबंध आत्मप्रकाशन है—प्रबंध संचित ज्ञान का प्रकाशन।

परिभाषा, स्वरूपविवेचन आदि से निबंध की मर्यादा, उसकी सीमा की एक रूपरेखा समझ में आती है। ए० सी० बेंसन ने बहुत ठीक ही कहा है कि निबंधकार जगत् और जीवन को न तो इतिहासकार की भाँति देखता है, न दार्शनिक की, न कवि की, न उपन्यासकार की, फिर भी निबंधकार में इन सबका गुण होता है।[2] अर्थात् आसमान के सितारे से लेकर माटी के दिए तक निबंध की सामग्री हो सकते हैं। इसी तरह साहित्य के और और जो रूपविधान हैं, निबंध में थोड़ी बहुत सबकी झलक होती है।[3] और सब कुछ के बावजूद

[1] वाङ्मय विमर्श

[2] दि एसेइस्ट, देन, इन हिज पर्टीकुलर फैशन, इज एन इंटरप्रेटर आफ लाइफ, ए क्रीटिक आफ लाइफ,ही डज नाट सी लाइफ ऐज हिस्टोरियन, आर ऐज दि फिलास्फर, आर ऐज दि पोयट आर ऐज दि नावेलीस्ट, एन्ड येट,ही हैज दी टच आफ आल दोज। —दी आर्ट आफ दि ऐसेइस्ट।

[3] समटाइम्स इट इज नीयर्ली ए सरमन, समटाइम्स इट इज नीयर्ली ए शार्ट स्टोरी. इट मे बी ए फ्रैगमेंट आर ऑटोबॉयग्राफी आर ए पीस आफ नॉनसेंस. इट मे

साहित्य के अंगों में उसका एक अलग ही अस्तित्व होता है। यह साहित्य का स्वतंत्र रूपविधान ही नहीं, बड़ा महत्वपूर्ण अंग भी है। निबंध की चर्चा में डाक्टर जानसन की उक्ति जरूर लाई जाती है कि यह मन का मुक्त संचरण (लूज सेली आव द माइंड) है। इसमें यथाक्रमता और शृंखला नहीं होती। इसी परिभाषा पर से बहुतों ने निबंध को निहायत अटपटी, हल्की फुलकी, बेसिर पैर की, बेकार और न जाने क्या क्या समझा। क्रेवल ने तो यहाँ तक कह डाला कि निबंधलेखन कला का सर्वप्रिय साधन है। निबंधलेखन उसी के अनुरूप पड़ता है जिसमें न प्रतिभा होती है और न ज्ञानसंग्रह की वृत्ति और यह भाता भी उसी पाठक को है जो विविधता तथा हल्की रचना में रस लेते हैं।

वस्तुस्थिति किंतु ऐसी नहीं है। निबंध विचारों, भावनाओं तथा मानसिक प्रतिक्रियाओं का बहुत ही सँजोया एवं सँवारा हुआ रूप है। इसमें भाषा की पूर्ण शक्ति के चरम विकास के दर्शन होते हैं। स्वल्प परिसर में अधिक से अधिक कहना गागर में सागर भरने की कला है, अथच रूपसज्जा भी सरल ही होती है। ऐसी स्थिति में प्राणों में पैठ और प्रभाव डालना एक कठिन कसौटी है। अनुभूति की तीक्ष्णता और शैली के पैनेपन के बिना यह संभव नहीं। मौलिक विचार, ठोस शैली और अलंब्य युक्ति के बिना निबंध में जीवन ही नहीं आता। डा० जानसन की दी हुई परिभाषा से निबंध के स्वरूप के सस्तेपन का एक भ्रम सा फैला और कई बातों की गलत धारणाएँ बनीं। जैसे (वान्ट आव फिनिश) को अपूर्ण लेखन समझा गया, (लूज शैली) को असंयत और असंबद्ध विचार, शैली की शिथिलता आदि।

निबंधकार नितांत आत्मनिष्ठ, निश्छल और कल्पनाशील होता है। निर्दिष्ट विषय का सीमाबंधन उसे रुचिकर और सह्य नहीं होता। वह एक से दूसरे दूसरे विषय को अपने मन की उमंग से दौड़ता चला जाता है। हो सकता है उसने किसी सरोवर की सांध्य शोभा से लिखने का श्रीगणेश किया, उसकी घुमंतू प्रवृत्ति क्रम से झील सागर और इस प्रकार आकाश पाताल को नाप आई। अपने विषय से स्वच्छंद आत्मकौतुक निबंध का प्राण है। उसके इस मुक्त संचरण को

बी सटारिकल बीचूपरेटिव आर सेंटीम्यूचुअल. इट में डील विथ एनी सबजेक्ट फ्राम दी ड्रेंड आफ जजमेंट टू ए पेपर आफ सीजर्स।—राबर्ट लीन्ड।

[1] दी सेन्ट्रल फैक्ट आफ दि ट्रू एसे, इनडीड, इज दी डाइरेक्ट प्ले आफ आथर्स माइंड एंड करेक्टर अपान दि मैटर आफ हिज डिसकस।—एन आउटलाइनआफ लिटरेचर—हडसन।

असंतुलित, असंबद्ध, शृंखलाविहीन कहने की यौक्तिक उपयुक्तता की परख होनी चाहिए। निबंध में उड़ानों की अनेक सीढ़ियाँ, प्रसंगों के अनेक स्तर, विचारों के अनेक खंड हो सकते हैं। किंतु शोभा उसकी समग्रता की होती है। एक माला में, बहुत से, बहुत प्रकार के, बहुत रंग के फूल पिरोए जाते हैं। पिरोने की कुशलता उस वैविध्य में एकरूपता के सौंदर्य की सृष्टि करती है। जैसे हमारी देह। यह देह न तो अंगविशेष की सुषमा से व्यक्त है, न उसकी समष्टि से। एँड़ी से चोटी तक उसकी जो एकरूपता है, उसमें संगीत का जो संगीतमय सौष्ठव है, प्राणों की चेतना की जो श्वास लावण्यमय योजना है, स्वस्थता की जो एक दीप्तिमयी कांति है, इन सबको युक्त करके जो एकरूप प्रकाशित है, वही देह है। इस देह में केवल दैहिक लावण्य या भावमय सत्ता का ही प्रकाश नहीं, आत्मिक चेतना की भी ज्योति है। इतनी विभिन्नताओं का एक एकीभूत सौसम्य! सितार के अनेक तारों के अनेक सुरों की एक संमिलित ऐक्यतान, शतदल की अनेक पँखड़ियों में विकसित एक सौंदर्य की रमणीयता।[1] निबंध में भी समता विषमता, विरोध सामंजस्य, रूप अरूप, अदृश्य प्रत्यक्ष, खंडता असंलग्नता के बहुविध वैचित्र्य का एक ऐक्य सुर है, पूर्ण छवि है। आत्म चेतना के दीप्त धागे में अवांतरता के एक एक कुसुम इस तरह से गुँथे होते हैं कि उसकी समग्रता में अपूर्णता रह ही नहीं सकती निबंध के एक एक उड़ते असंलग्न विचार, भाव, चिंतन और आवेग एकसूत्रता में आबद्ध होकर, आपस में अन्वित होकर एक ऐसे प्रभाव की सृष्टि करते हैं जिसमें संपूर्णता होती है। देखने में निबंध के विषय गौण, विच्छिन्न अव्यवस्थित और क्रमरहित लग सकते हैं, परंतु परिणाम में उनकी एकसूत्रता की अन्विति होती है, इसलिये उसका प्रभाव पूर्णता का होता है।[2]

वैचित्र्य में एकरूपता, विच्छिन्नता की एकतन्त्रता विश्व का यह प्राकृतिक विधान है। समस्त विश्व अपनी विभिन्नताओं में भी एकसूत्र में आबद्ध होता है। साहित्य हो या दर्शन, सब अपने अपने ढंग से इसी सूत्रबद्धता के अनुरूप जीवन का रूप या जीवन की व्याख्या करता है। प्रणाली और पद्धति का अंतर जरूर पड़ता है—उसकी गति, उसकी विधि स्वतंत्र होती है। उसके मन की प्रवृत्ति भी अलग होती है। जैसे इन्हीं संबंध सूत्रों का एक दार्शनिक बौद्धिक विश्लेषण करेगा, एक निबंधकार मन और बुद्धि के मेल से उनके मर्म का उद्घाटन करेगा, मर्मस्पर्शी बनाकर प्रकाशित करेगा। निबंधकार की मानसिक सत्ता से उसकी बुद्धि और

[1] कला पृष्ठ—१२।

[2] दि ब्यूटीफुल कनटेम्प्लेटेड इन इट्स होलनेस दैट इज इन काइंड एंड नाट इन डिग्री, इज दैट इन हिच दि मेनी स्टिल सीम ऐज मेनी, बी कम्स वन।

हृदय दोनों ही संयुक्त रहते हैं। परिणाम में अन्विति अर्थात् 'इफेक्ट आफ टोटेलिटी' रहती है। निबंध के तत्वविचार में इसी को एकसूत्रता (यूनिटी) कहते हैं जो उसका एक अनिवार्य अंग है। इसी के दो और पूरक अंग हैं—यथाक्रमता (कन्टीन्यूड आर्डर) तथा युक्तिक्रम (लाजिकल सीक्वेंस)। तत्व विचार की दृष्टि से निबंध के और दो प्रमुख तत्व हैं उसकी संक्षिप्तता और उसका आत्म-सचेतन होना।

संक्षिप्तता निबंध के आकारगत स्वरूप का ही परिचय नहीं, उसके सशक्त प्राण और सबल संगठन की भी द्योतक है। देखन में छोटे लगैं, घाव करैं गंभीर। बेकन ने कहा है, 'जस्ट दी वर्ड' अर्थात् उपयुक्ततम, उचिततम शब्दों का प्रयोग, जिसकी जगह दूसरा बैठाने से काम ही न चले। आकार का व्यतिक्रम हो सकता है। लाक का 'एसे आन दी ह्यूमन अन्डरस्टैंडिंग' और मिल का 'लिबर्टी' लंबे निबंध हैं। मगर लंबाई इनके लिये भार नहीं हुई है, उससे रचना का सौंदर्य कहीं क्षुण्ण नहीं हो पाया है। इनकी रोचकता से लंबाई खीझ या ऊब नहीं लाती। तेज चाल-वाली गाड़ी हो तो दो स्टेशनों के बीच की दूरी को अखरने नहीं देती। इसे छोड़ा नहीं कि दूसरे पर हाजिर। कहीं से किसी शब्द को बदलने या हटाने की गुंजाइश नहीं। सीमासंकोच से पृष्ठ और पंक्तियों की गज इंच से नाप का अभिप्राय नहीं। अभिप्राय है कम से कम शब्दों के प्रयोग द्वारा ज्यादा से ज्यादा अर्थपूर्ण कह सकना। वह मर्यादा निबंध के प्रभावशाली बनने में है। आभूषण से जिस शृंगार का मतलब है, वह सदा जगर मगर ही नहीं होता, और हो भी तो हर समय वह चमक कीमती ही नहीं होती। सादगी भी शृंगार है। उपयुक्तता की परख होना असली कसौटी है। कब कहाँ कैसे शब्द उपयुक्त होंगे इसकी तौल कुशल प्रयोग है। निबंध में भाषा के उत्कर्ष का ऐश्वर्य अपेक्षित है। यह उत्कर्ष भाषा की ध्वन्यात्मकता उसकी व्यंजना शक्ति पर निर्भर करता है, जिससे व्यंग्य वक्रोक्ति आदि विशिष्टताएँ आती हैं। कृत्रिम सजावट भाषा का निरर्थक बोझ होती है और वह मन की अकृत्रिमता को भी रास्ता नहीं देती। यह सब प्रकार के साहित्य के लिये एक समान सत्य है, परंतु निबंध के लिए विशेष रूप से। अरसिक के आगे कवित्व-निवेदन जैसा एक दुःखमय अभिशाप है, कृत्रिमता वैसे ही निबंध और निबंधकार के लिये। उसमें एक अकपट हृदय का सहज निर्मल प्रकाश होना चाहिए। दिल की किसी गाँठ, भाव के किसी आवरण, दाव पेच की उसमें गुंजाइश नहीं। वहाँ एक हृदय दूसरे को अपना निरावरण परिचय देता है। आदि निबंधकार मौंटेन ने अपने संग्रह के शुरू में ही यह कहा है कि 'पाठको, इस पुस्तक के पछे विचार अच्छा है। यदि मेरी यह नीयत होती कि मैं दुनियाँ भर के संदेश और आशीर्वचन पहले से ही बटोर लूं या खरीद लूं तो मैं खुद को और भी अजीबोगरीब ढंग से

बजाता या बहुत गुरु गंभीर बनकर, लंबी शक्ल लिए आपके सामने कवायद करता हुआ निकलता। मेरी इच्छा है कि मुझे सच्चे, सीधे, सहज सामान्य रूप में ही जाना जाय उसमें कोई लाग लपेट, दिखावा, बनावा, छल, छंद या नकलीपन न हो, क्योंकि मैं अपनी ही तस्वीर जो बनाना चाहता हूँ।'

कोई भी पुस्तक प्राणों के स्पर्श के अभाव में कौड़ी काम की नहीं होती। निबंध के लिये तो यही पहली शर्त और यही एकमात्र कसौटी है। रचना अगर रचनाकार को साफ सामने नहीं ला खड़ा करती तो वह रचना कुछ भी हो सकती है, निबंध नहीं। क्योंकि निबंध में व्यक्तित्व का प्रकाश पहली बात है। वाल्ट ह्विटमेन ने अपनी पुस्तक के लिये कहा है—'साथी यह कोई किताब नहीं। जो इसको छूता है, वह एक आदमी को छूता है।'[1] निबंध में व्यक्ति का यह स्पर्श अनिवार्य रूप से होना चाहिए। उसमें व्यक्तित्व अगर जीवत होकर सामने खड़ा नहीं हो जाता, तो समझना चाहिए कि उसकी सफलता में कसर है।

युग की प्रकृति और जीवन के परिवेश की देन है संक्षेप एवं सहजता की अभिरुचि। श्रम और समयसापेक्ष साधन के जैसे दान शिल्प के क्षेत्र में संसार को पिछले दिनों मिलते रहे, आज मानों उसका अवसर न रहा। अजंता और एलोरा की गुफाओं के चित्रशिल्प, बोरोबुदर और दक्षिण के मंदिरों का स्थापत्य, बुद्ध और देवी देवताओं की मूर्त्तियों का भास्कर्य, शास्त्रीय संगीत साधना, महाकाव्य रचना—ये सारे मानो असार्थक परिश्रम के साधन होते चले गए। जीवन के प्रत्येक पहलू पर वैज्ञानिकता का रंग चढ़ता गया, जीवन कर्मसंकुल, जटिल और व्यस्ततर होता गया। अन्न वस्त्र की चिंता में एड़ी चोटी का पसीना एक करनेवालों को साहित्य कला के लिये एकाग्र चिंतन का भी अवकाश न रहा, रचना का भी नहीं। जीवन में समय की कमी और प्रतियोगिता की गतिक्षिप्रता ने ही प्रत्येक क्षेत्र में सहजता तथा संक्षिप्तता की अभिरुचि को स्वभाव बना दिया। फलस्वरूप महाकाव्य की जगह अजस्र अस्फुट कविताओं का उदय हुआ, उपन्यास से कहानी की रुचि बलवती हुई, पंचांकी नाटकों के स्थान पर एकांकियों का बाजार भाव बढ़ा। ओड सानेट (चतुर्दशपदी) में बिखर कर प्रवाहित हुए। विराटता की पूजा का अवकाश न रहा, बहुलता की उपासना रह गई। ठीक इसी स्वाभाविक कारण से ही प्रबंध की अपेक्षा निबंध का प्रचलन बढ़ा। संगीत की सारी शास्त्रीय साधना ठुमरी और सुगम संगीत पर उतर आई।

[1] कामरेड, दिस इज नो बुक, हू टच्स दिस, टच्स ए मैन।

यह अंतर आकृतिगत ही नहीं, प्रकृतिगत भी है। महाकवि की ओजस्वी प्रतिभा की सारी महानता लिये हुए भी रवींद्रनाथ ने किसी महाकाव्य की रचना नहीं की। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि 'मैंने महाकाव्य रचने की सोची, पर मेरी वह कल्पना असंख्य गीतों में बिखर गई।' हमारे विचार में युग ने आत्मपरायणता का जो भाव दृष्टि को दिया, वही इसका कारणरूप है। अभिव्यक्ति के मूलतया दो रूप होते हैं—नाटकीय और गीतात्मक। एक में रचनात्मक दृष्टि निरपेक्ष होती है, दूसरी में आपेक्षिक। एक की देन है, नाटक महाकाव्य आदि अर्थात् ऐसी रचनाएँ जिनमें वस्तु प्रधान और व्यक्ति गौण होता है। दूसरी की प्रेरणा गीतादि आत्मपरायण रचनाएँ होती हैं। एक ओर जीवन की बढ़ती हुई जटिलताओं ने सुयोग नहीं रहने दिया, दूसरी ओर आत्मपरायण भाव ने रचना की प्रकृति बदल दी। जीवन की जटिलता जैसी रचनाकार के लिये रही, वैसी ही पाठकों के लिये। बड़ी और लंबी रचनाओं में डूबकर आनंद आहरण का अवकाश किसे रहा! पढ़नेवाले न मिलें तो लिखा किसके लिये जाय? अँगरेजी के प्रथम निबंधकार लार्ड बेकन फ्रांसिस ने एसे लिखने के कारण में स्पष्टतया इसी बात का उल्लेख किया है कि प्रबंध लिखने के लिये लेखक को अवकाश चाहिए, पढ़ने के लिये पाठक को फुर्सत होनी चाहिए, इसलिये वह अनुकूल नहीं, अतः मैंने संक्षिप्त निबंधों का चुनाव किया।[1]

भाषा पहले बनती है, व्याकरण के नियम उसके बाद। मौलिक रचना का रूप पहले प्रकट होता है, उसी के अनुरूप उसके स्वरूप के शास्त्रीय रूप और मान, विवेचन और पद्धति बाद में निर्धारित किए जाते हैं। निबंधों के आविर्भाव के बाद ही उसकी आकृतिप्रकृति के विधि निषेध प्रस्तुत हुए और अन्य अनेक आवश्यक लक्षणों के साथ यह माना गया कि आकार की लघुता निबंध का एक प्रधान गुण है। किसी भी साहित्यिक कृति का मान तौलने का न तो कोई निश्चित बटखरा संभव है, न आकार नापने का अंतिम गज। यह सदा ही एक सामान्य नियम भर होता है। विकल्प और व्यतिक्रम से हो सकता है। सुना जाता है, यूरोप में कहीं डाकुओं का कोई एक दल था। उनके पास एक मेज

[1] टू राइट जस्ट ट्रीटिज, रीक्वायर्थ लिजर इन द राइटर, एंड लिजर इन द रीडर, एंड देयरफोर आर नाट सो फिट, नाइदर इन रीगार्ड आफ योर हाइनेस प्रिंसली अफेयर्स, नार इन रीगार्ड आफ माई कन्टीन्यूअल सर्विस, ह्विच इज द काज दैट हैथ मेड मी चूज टू राइट सरटेन ब्रीफ नोट्स सेट डाउन रैदर सिग्नीफिकेंटली दैन क्यूरियसली ह्विच आई हैव काल्ड एसे। —बेकन टू प्रिंस हेनरी

थी। लूट में जब वे किसी को पकड़ कर लाते, तो उसे उसी मेज पर सुला देते। मेज से उसके शरीर का जितना अंश बढ़ जाता उसे वे काट डालते। यदि घट जाता, तो यमयातना करके खींचतानकर उतना बढ़ाने की कोशिश करते। दोनों ही उपायों के अवलंबन से बेचारे कैदी के प्राणपखेरू उड़ जाते। पाँव के लिये जूता नहीं, जूते के लिये पाँव, यह कुछ ऐसी ही हठ पद्धति हुई। बटखरे के हिसाब से साहित्य के किसी भी रूप की ऐसी खींचतान की जाय तो उसकी आत्मा नहीं रह जाती। वास्तव में मुख्य बात है प्राण, रूप के जिस आकार में वह अपने को उपयुक्त रूप से प्रकट कर सके।

निबंध आकार में यथासंभव छोटा होता है, उसके रूप पर से ही पद्धति का यह सामान्य नियम निर्णीत हुआ है। आकार का संयम न होने से उसमें अपेक्षित कसाव का आ सकना संभव भी नहीं। प्रभावोत्पादकता के लिये एक तो निबंधकार को यों ही तलवार की धार पर चलना पड़ता है, फिर यदि आकार के मामले में संयत न रहे, तो प्रभाव और आकर्षण को केंद्रीभूत नहीं किया जा सकता। उसकी व्यक्तिगत विशेषता को कई लोग स्वगत भाषण का समीपी समझते हैं और इसलिये उन्हें इसकी भी आशंका होती है कि निबंध में रुचि बनाए रखने की एवं प्रभाव डालने की योग्यता नहीं आ सकती।[1] लेकिन ठीक इसके विपरीत हम यह पाते हैं कि जब गद्यशैली की विवेचना का अवसर आता है तब उत्कृष्ट नमूनों के उद्धरण निबंधों से ही चुनकर उपस्थित किए जाते हैं। यानी यही समझा जाता है कि शैली और सौष्ठव में उसी के संदर्भ ठोस हैं। यह सुष्ठुता वास्तव में आकार की संक्षिप्तता से ही आती है। मराठी में निबंध 'लघु निबंध' के रूप में ही रूढ़ हो चुका है। गो कि निबंध के आगे ऐसा उपसर्ग लगाने की आवश्यकता नहीं। हम जिसे कहानी कहते हैं, उसका आशय अँगरेजी की शार्ट स्टोरी से ही है। कहानी को छोटी कहानी कहने की फिर कोई जरूरत भी नहीं रह जाती। उसके नाम में ही उसके आकारगत रूप का परिचय संलग्न है।[2] प्रकारांतर से यह

[1] निबंध एक प्रकार का स्वगत भाषण है। स्वगत भाषण में पाठक के ध्यान को वश में रखना नितांत कठिन होता है। एक निबंधकार के पास ऐसे साधन बहुत ही न्यून होते हैं जिनके द्वारा वह पाठक के मन को अपनी अपनी रचना में बाँधे रखे। कहने के लिये उसके पास कहानी नहीं होती, जिसके द्वारा पाठक के मन में उत्सुकता बनाए रखे, गाने के लिये उसके पास स्वर, ताल तथा लय नहीं होते, जिनके द्वारा वह पाठक को मंत्र मुग्ध बनाए रखे।—साहित्य मीमांसा—डा० सूर्यकांत।

[2] ऑक्सफोर्ड और चैंबर्स डिक्शनरियों में निबंध का छोटा होना निर्देशित है। जैसे किसी विषय पर एक साहित्यिक रचना [साधारणतः गद्य में और छोटी—ऑक्सफोर्ड कन्साइज डिक्सनरी। प्रबंध से अपेक्षाकृत एक छोटी रचना—चैंबर्स ट्वेंटिएथ सेंचुरी डिक्शनरी।]

सर्वमान्य सिद्धांत हो गया है कि निबंध एक सीमित आकार की अपेक्षाकृत कम लंबी रचना है। यह अपेक्षाकृत कम लंबाई कितनी हो, इस सीमित आकार की निश्चित सीमा क्या हो, इसका कोई निर्विवाद विधान नहीं, और न हो सकता है। इस पर विभिन्न विचार होने का कारण भी है कि एक ही नाप के निबंध नहीं मिलते। छोटा से छोटा भी निबंध है और कुछ बड़ा भी है। विषय विभिन्नता के अतिरिक्त यह निबंधकार की योग्यता, समर्थता और शक्ति पर निर्भर है। कहानी पर कुछ लेखकों ने आकार सीमा के बारे में अपने अभिमत व्यक्त किए हैं गोकि वे खास कोई अर्थ नहीं रखते। किसी ने कहा है कि कहानी वह जो एक साँस में लिखी और पढ़ी जाय। किसी ने १० से १५ मिनट तक के अंदर पढ़ी जा सकनेवाली कहानी को कहानी कहा है। अवश्य गिने गुथे पन्नों या घंटा मिनट में उसका आकार निश्चित नहीं किया जा सकता। बात वास्तव में ऐसी है कि निबंध की आकृतिगत लघुता उसकी प्रकृति की अनुरूपता के लिये आवश्यक भी है। निबंध को चुस्त दुरुस्त और सुलिखित होना चाहिए। लंबी रचना में उस कसावट की अपेक्षा नहीं की जा सकती कि शुरु से अंत तक एक सी रसघनता हो, रुचि को समान खुराक देनेवाला एक सा आकर्षण हो। जान मुरे ने लघुता के साथ निबंध के लिये एक और बात बताई है—वान्ट आफ फिनिश, यानी अंत की अपेक्षा। बहुतों की दृष्टि में यह लेखन की अपूर्णता के नाते निबंध की त्रुटि गिनी गई। परंतु इसका असली अभिप्राय है प्रतीक्षित अंत का न होना—पाठक सोच भी न पाया और निबंध समाप्त। 'वान्ट आफ फिनिश' निबंध की उस दिशा का संकेत है जो रुचि की संलग्नता का बोधक है। रचना किसी को भार न हो। निबंध में क्या लिखा जाय, इससे बड़ी चिंता इस बात की होनी चाहिए कि क्या नहीं लिखा जाय। हडसन ने अच्छे निबंध के बारे में एक मार्के की बात बताई है—मुड नाट अटेंप्ट टू मच, यानी बहुत अधिक कहने का आग्रह न हो। इस आग्रह से उद्देश्य की विफलता की संभावना है। 'बहुत अधिक न कहना' अनेकार्थगर्भित है। छोटा हो, शैली की सुचारुता हो आदि। विषय और भाषा की जटिलता भी रुचिविरूपता का कारण है। जटिल शब्दयोजना का एक नमूना वियोगी हरि की एक रचना के इस संदर्भ में देखिए—

"प्यारे, तू नित्य ही मेरे द्वार पर सघन घन तमाच्छन्न कृष्ण वसन लसित निशि समय सुजन मन मोहिनी रसिक रस रोहिणी वेणु बजाता है, माधवी, मल्लिका, मकरंद लोलुप मिलिंद गुंजार समुल्लसित नव रस पूरित सुप्रभ प्रतिभा मुदित कवि हृदय द्वारा स्वच्छंद आनंदकंद संदेश भेजता है, और कभी कभी विरहदग्ध उर निस्सरित प्रेमाश्रुवर्षण का संयोगगत प्रगाढ़ालिंगन रोमघर्षण में अपनी सुप्रीतिमय झलक दिखा जाता है।[1]

किसी भी रचना के लिये शैली बहुत बड़ी चीज है, फिर निबंध की तो सबसे बड़ी परख यही है। शैली का संबंध रचना के बाह्यांग से है, लेकिन बड़ा ही महत्वपूर्ण संबंध है। इसे रचना का कला पक्ष कहते हैं। इसका गुण है प्रेषणीयता। कोई भी रचना अरण्यरोदन नहीं होती। चिड़ियों की तरह हम स्वभावतया निरर्थक और निरुद्देश्य गाते हैं, यह कहने से साहित्य का काम नहीं चल सकता। साहित्य के प्रकाश का एक लक्ष्य है और वह लक्ष्य पाठक या श्रोता-समाज है। जहाँ प्रकाश का प्रश्न आता है, वहीं उसका लक्ष्य स्पष्ट है कि उसके सामने और लोग हैं। अपने दुःख को अपने ही लिये अनुभव करने में बार बेजार रोने की जरूरत नहीं होती, इसकी जरूरत पड़ती है, दुःख की अपनी उस अनुभूति को औरों में प्रतिष्ठित करने के लिये। साहित्यकार की निजी अनुभूति अन्य अनेक में व्याप्त हो यही साहित्य की सार्थकता है। और इसी लिये जिस कुशलता से साहित्य मे इस शक्ति का संनिवेश होता है उस शैली का बहुत बड़ा मूल्य निर्विवाद है। रचना की अंतरात्मा की महत्ता जितनी भी क्यों न हो, शक्त और सुंदर काया के विना न तो वह असंख्य आँखों को अपनी ओर खींच सकती है और न उन्हें अपने में रमाकर आत्मदर्शन करा सकती है. साहित्य अपने इसी रूप को लेकर उपस्थित होता है और तब अपनी आत्मा के प्रकाश से किसी को चमत्कृत और मोहित कर सकता है। साहित्य के इस बाह्यांग का आधार शब्दमय भाषा जरूर है लेकिन मात्र भाषा ही शैली का सर्वस्व नहीं। भाषा के ऐश्वर्य के साथ प्रकाश की शक्ति की भी अपेक्षा है। क्योंकि मात्र कथन प्रणाली ही शैली नहीं है। जैसा कि ए० बेनेट ने कहा है—स्टाइल इज ए फार्म आफ वर्ड्स, या जैसा कि वामन ने कहा है—'विशिष्टा पदरचना रीतिः' यानी काव्य के विशिष्ट अवयवों का संस्थान ही शैली है। शैली कहने से एक साथ ही कई विशेषताओं का स्वतः बोध होता है। विषयविन्यास, शब्दचयन, चित्रात्मकता सबका सुष्ठु नियोजन। कहा जाता है—स्टाइल इज द मैन, मतलब कि शैली का विशिष्ट व्यक्तित्व का परिचायक होना जरूरी है। संसार में प्रत्येक व्यक्ति एक अलग सृष्टि है। जाति विचार से मनुष्यमात्र एक है, किंतु व्यक्ति के नाते हर आदमी दूसरे से अलग है, उसकी कोई अपनी विशेषता है। इसी लिये यह सत्य है कि व्यक्ति जहाँ सबके साथ संमिलित है वहाँ उसका कोई व्यक्तित्व नहीं और जहाँ वह सबसे अलग अपने तईं खड़ा है वहीं उसकी स्वकीयता है। साहित्य की दुनियाँ में विषयग्रहण में विशिष्टता ढूँढ़े नहीं मिलती। लेखक के मानस व्यक्तित्व की परिचायक उसकी शैली ही होती है। व्यवहारिक जगत् और साहित्य जगत् दोनों ही जगत् में मनुष्य की अपनी अपनी शैली होती है। इसी शैली से वह दूसरों को अपनी ओर खींच सकता है, उसपर प्रभाव डाल सकता है। साहित्य में यह शैली न तो केवल शब्दयोजना, न वस्तुनियोजन, न प्रकाशभंगी पर

बनती है, बल्कि वह इन तीनों विशिष्टताओं का त्रिवेणी संगम है। भाषानियोजन पर ही शैली गठित होती है, किंतु प्रभावात्मकता के लिये उसकी शक्ति, रीति, गुण, अलंकार—सब पर दृष्टि रखनी पड़ती है। शब्दों की नियोजना की निपुणता चेष्टा से ही नहीं आती बल्कि बहुत बार यह लेखक की प्रतिभा पर निर्भर करती है। शैली का मूल उद्देश्य पाठकों में विषयानुरूप भाव का संचार करना है। विषय को आत्मसात् करके उसे अर्थपूर्ण शब्दरूप देने का प्रयोजन होता है। अधिकांश में रचनाकार को स्वयं भी यह पता नहीं होता कि कैसे और कौन कौन से शब्द उसके वक्तव्य के उपयुक्त तथा समर्थ वाहन होंगे। रचना करते समय स्वयमेव वैसे शब्द उनकी कलम की नोक पर आ जाते हैं। उन शब्दों में अन्य जो विशेषताएँ होती हैं, वे तो होती ही है, पर सबसे बड़ी विशिष्टता उनमें यह होती है कि उनमें लेखक की आतरिकता का स्पर्श होता है—उनमें उसकी व्यक्तिसत्ता का स्पंदन होता है। लेकिन कई लोग इस व्यक्तिदृष्टि अर्थात् वैयक्तिक ढंग को श्रेष्ठ रचना के लिये अनुकूल नहीं मानते क्योंकि वह आत्मतृप्ति के भावातिरेक से नितांत आत्मविलासी हो सकता है, जो पाठकों में भावसंचार के लिये समर्थ नहीं भी हो सकता है। लेकिन हम ऊपर कह आए हैं कि शैली न तो मात्र शब्दयोजना है, न वस्तुनियोजन, न व्यक्तित्वप्रकाश; वह प्रकाश और कुछ है जिसमें इन सारी बातों का एक अटूट संमेलन होता है। ब्रोनेल बी० बरोज ने इसे मैनर कहा है और इस मैनर में चिंतन, अनुभूति तथा प्रकाश तीनों शामिल हैं।[1] विषयवस्तु भाव और कल्पना को रूप देती है, व्यक्तित्व प्रतिष्ठित करता है लेखक की मानससत्ता को और कौशल या कलाकुशलता भावकल्पना को वाच्यातीत रूप दान करती है। शैली की ये त्रिविध धाराएँ हैं और इनमें से प्रत्येक धारा का उद्देश्य प्रकाश है। निबंध के अपने रूप और लेखक की निजता के हिसाब से इसका न्यूनाधिक्य हो सकता है। पर निबंधगत व्यक्तितत्व और शैलीगत व्यक्तित्व में खास कोई फर्क नहीं। भाषा शैली में व्यक्त होकर निबंध का वह तत्व शैली के व्यक्तित्व का ही रूप धारण कर लेता है, क्योंकि जिस व्यक्तित्व की छाप निबंध पर पड़ती है, वही छाप निबंधकार की शैली पर भी निश्चित रूपेण होती है। इस प्रकार शैली साहित्य का बाहरी अंग तो है लेकिन उसके अंतरंग से उसका लगाव बड़ा महत्वपूर्ण है। आंगिक और आत्मिक तत्वों की विविधता देखते हुए निबंधों का वर्गीकरण या प्रकारभेद किया गया है। वास्तव में इस प्रकार के वर्गीकरण

[1] द आइडिया आफ स्टाइल इज इसेंसियली एंड फर्मेंटेवुल मैनर, द होल मैनर, इन हिच आइडिआज आर कनसीव्ड एंड मार्ड इन टू द वर्ल्ड एस रीटेन वर्ड्स, मैनर आफ थिंकिंग, मैनर आफ फीलिंग एंड मैनर आफ एक्सप्रेसन।

का कोई वैज्ञानिक मूल्य नहीं फिर भी हम ऐसी चेष्टा करते हैं। क्योंकि यह हमारा एक संस्कार है। हम किसी भी वस्तु को दूसरों के आगे पीछे, श्रेणी, वर्ग, कोटि या क्रम में रखे बिना देख नहीं सकते। इसका एक वैज्ञानिक कारण है कि बाहरी दुनिया पर हमारी अपनी दृष्टि निरपेक्ष नहीं, आपेक्षिक होती है। किसी चीज को देखने में तीन बातें शामिल होती हैं—एक तो स्वयं वस्तु, दूसरी उस वस्तु का वातावरण और तीसरी हमारा अपना मन। मन के अपने कुछ संस्कार होते हैं—इन संस्कारों को कैंट ने मस्तिष्क की श्रेणियाँ कहा है। इन संस्कारों की कुछ ऐसी प्रभुता है कि हम उनके रंगों से परे किसी चीज को देख ही नहीं सकते। फल यह होता है कि वस्तु की अपनी जो वास्तविक सत्ता होती है, हम उसी से वंचित रह जाते हैं। और जब साक्षात् वास्तविक सत्ता को देख सकना संभव नहीं होता तो हम वस्तु को श्रेणी या कोटि में रखकर देखते हैं। बर्गसां ने रस के साथ भी मनुष्य की इसी प्रावृत्तिक विवशता का उल्लेख किया है। वस्तु-विशेष को जिस प्रकार हम चिपके हुए लेबिल से देखते पहचानते हैं, उसी प्रकार रस की प्रतीति भी हमें उसे श्रेणीविशेष में ही रखकर होती है। क्रोचे ने कला के विभाजन से संबंध रखनेवाली पुस्तकों को इसी लिये जला देने की राय दी है।[1]

सच तो यह है कि निबंध एक ऐसी साहित्यिक विधा है जिसका श्रेणी-विभाजन एक दुष्कर कार्य तो है ही, सर्वथा निरर्थक भी है। व्यक्ति व्यक्ति के हिसाब से इसके आंतरिक और बाह्य गठन में तत्वों की, ढंग की इतनी और इतनी सूक्ष्म विविधता देखी जाती है कि सैकड़ों प्रकार बताने के बाद भी प्रकारों की सीमा में वह विविधता बँध नहीं पाती और इस प्रकार जो भी, जितने भी भेद बताए गए हैं या बताए जाते हैं अपूर्ण और भ्रामक होते हैं। जिस विषयवस्तु को भी आधारभूत बनाकर, जिस भी शैली में रचना रूप लेती है, उसमें एक साथ इतनी विशेषताओं का परिपाक होकर उनका प्रकाश होता है कि योग्यता का कोई भी बटखरा यह बताने में कभी समर्थ नहीं हो सकता कि इसमें यह तत्व इतना छटाक और वह तत्व इतना छटाक है। अतः इस तरह के प्रयास निरे निरर्थक ही होते हैं, फिर भी आश्चर्य है कि ऐसे प्रयासों का अंत नहीं है। शैलियों में निबंध की अनेक शैलियों का विचार किया गया—व्यास, समास, प्रसाद, प्रलाप, व्यंग्य, आवेग। इसी प्रकार प्रकार में भावात्मक, विचारात्मक, विवरणात्मक, कथात्मक, व्यंग्यात्मक, उपदेशा-

[1] आल द बुक्स डीलिंग विथ क्लासीफिकेशन एंड सिस्टम आफ दि आर्ट्‌स कुड बी बर्न विदाउट एनी लास ह्वाटेवर.

त्मक, आख्यात्मक, व्याख्यात्मक, आलोचनात्मक, अनालोचनात्मक, गवेषणात्मक, आदि जाने कितने भेद उपभेद बनाए गए आत्मक जोड़कर। ये सब न तो निर्विवाद ही हैं न सही स्वरूप का परिचय दे सकने की क्षमता ही रखते हैं। मनुष्य का अपना अस्तित्व जैसे कल्पना, तर्क, भावना, विचार आदि अनेक तत्वों से बनता है, अथच किसी वैज्ञानिक प्रक्रिया से उसका बिलगाव करना या पाव तोले माष का हिसाब बताना संभव नहीं, ठीक इसी तरह उस निबंध का जो कि एक अन्विति है, खंड खंड चीरकर बताना संभव नहीं। हिंदी में विभाजन की प्रणाली जोरों से चल पड़ी है और बहुत से लोग अपनी मौलिक सूझ बताने तथा लकीर की फकीरी का दोषी न होने के ख्याल से कुछ न कुछ नया जोड़ने की कोशिश जरूर करते हैं। नतीजा यह निकला है कि विषय को सुगम बनाने के बजाय ये चेष्टाएँ ही उलझने ही बढ़ाती गई हैं। उदाहरण के तौर पर गुलाब राय का विभाजन देखिए और एक एक आत्मक की व्याख्या भी देखिए। निबंध को उन्होंने चार वर्गों में बाँटा है— वर्णनात्मक, विवरणात्मक विचारात्मक और भावात्मक। आगे कहते हैं, वर्णनात्मक निबंधों का संबंध देश से है, विवरणात्मक का काल से, विचारात्मक का तर्क से और भावात्मक का हृदय से।[1] स्पष्ट है कि यह टिप्पणी बड़ी अधूरी, असंगत और उलझानेवाली है। कोटिविभाजन के एक नहीं ऐसे अनेक उदाहरण पड़े हैं जिनमें सूझ बूझ के निदर्शन न होकर परंपरापालन की प्रवृत्ति या नेग निभाने का रिवाज है। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही कहा है—'जनतंत्र का जमाना है, छापे की मशीनों की भरमार है। कह सकने की योग्यता रखनेवाले हर भले मानस को किसी न किसी विषय पर कुछ न कुछ कहना है। हर छापे मशीन को अपना पेट भरने के लिये कुछ न कुछ छापना है। सो राज्य भर के विषयों पर निबंध लिखे जा रहे हैं। कहाँ तक कोई उसका लेखा जोखा मिलाए। सभी विचार किसी न किसी निबंध शैली में लिखे जाते हैं।'[2] वास्तव में शैली के हिसाब से श्रेणी का बटवारा किया जाय तो निबंध के प्रकार की गिनती नहीं हो सकती। प्रत्येक लिखनेवाले की मानससत्ता अलग, उसके प्रकाश की पद्धति अलग। कहाँ तक अलग अलग नामकरण किया जाय?

यहाँ एक बात और भी विचारणीय है कि निबंध का एक निश्चित रूप स्वीकृत हो चुका है। वह यह कि वह व्यक्ति या व्यक्तित्वप्रधान गद्य रचना है।

[1] काव्य के रूप

[2] हिंदी निबंध और निबंधकार की भूमिका।

किंतु वर्गविभाजन में भ्रम से इस मान्यता के बाद भी लीक पीटी जाती है। यथा, व्यक्ति को मुख्य मानकर निबंधों को व्यक्तिप्रधान या विषयप्रधान दो प्रकारों में बाँटा गया है। व्यक्तिप्रधान, वैयक्तिक निबंध में निबंधकार निज को रखता है। वह सबल आग्रह से निजी वेदनाविकलता, हर्ष विषाद, भावअभाव को उपस्थित करता है। अँगरेजी में चार्ल्स लैंब के निबंध इसी वर्ग के श्रेष्ठ नमूने हैं। विषय-प्रधान में अपने को अलग रखकर शेष जगत् की बात कही जाती है।[1] इस मंतव्य से ऐसा ही प्रतीत होता है कि व्यक्तित्व के स्वरूप की सही धारणा नहीं है। फिर यह मंतव्य स्वविरोधी है। एक ही साथ इसमें परस्पर विरोधी बातें कही गई हैं। जहाँ निबंध के लिये यह स्थापना है कि उसमें व्यक्ति की मुख्यता होती है, वहाँ विषय की प्रधानता का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है ? विषय और शैली चाहे जो हो, जैसी हो, निबंध में व्यक्तित्व की शर्त पहली है। जिसमें व्यक्ति ओझल हो जाय और विषय ही प्रधान हो उठे वह रचना और चाहे जो हो, निबंध नहीं हो सकती। रचना की भले ही दो कोटियाँ हो सकती हैं--निजात्मक (सबजेक्टिव) और परात्मक (आबजेक्टिव)। निजात्मक कोटि में गीतिकविता, गद्य, गीत, निबंध आदि आएँगे और परात्मक कोटि में काव्य, नाटक, प्रबंध आदि।

यही नहीं, इस अरसे में निबंध के रूपतत्व विचार, शैली समीक्षा, हिंदी में उसकी परंपरा, हिंदी में गद्यविकास की गतिविधि, इन विषयों पर एकाधिक पुस्तकें निकल चुकी हैं। प्रायः सबमें आत्मनिष्ठता को निबंध की आत्मा माना गया है। लेकिन उन्हीं पुस्तकों में निबंध की रूपरेखा पर जो विचार व्यक्त किए गए हैं, उनमें निबंध की इस विशिष्टता को ध्यान में नहीं रखा गया है। जो रचना निबंध-पद-वाच्य नहीं, उसको भी निबंधकोटि में रखा गया है और एक ही विचारक्रम में परस्पर विरोधी बातें कही गई हैं। हिंदी गद्य की प्रवृत्तियों में एक ही विषय और शैलीसीमा की बिना पर एक ओर यह कहा गया है कि स्वयं द्विवेदी जी ने विभिन्न गद्यशैलियों को जन्म दिया, लेकिन एकाध रचना को छोड़कर उनकी शेष गद्य-रचनाएँ निबंध की कोटि में नहीं आतीं। दूसरी ओर रामचंद्र शुक्ल के लिये यह कहा गया कि उनके मनोविकार संबंधी और व्यावहारिक आलोचनावाले निबंधों में यह प्रवृत्ति सामान्य रूप से पाई जाती है। उनके निबंधों की असली विशेषता यही है कि जो व्यक्तिप्रधान नहीं, विषय प्रधान निबंधों की विशेषता है।

इस निष्कर्ष में दो बातें विचार करने की हैं—यदि आत्मनिष्ठता ही निबंध की चरम कसौटी है तो विषयनिष्ठ रचना निबंध कैसे हो सकती है और किसी एक

[1] हिंदी निबंधकार—जयनाथ नलिन।

की विषयप्रधान रचना अगर उत्तम निबंध हो सकती है, तो दूसरे की क्यों न होगी ?

हिंदी में निबंधों का जो श्रेणीविभाजन हुआ है, उसको देखने पर सामान्यतः उसके पाँच भेद सामने आते हैं—विचारात्मक, भावात्मक, आत्मव्यंजक, वर्णनात्मक और कथात्मक। यह विभाजन मूलतया रचनापद्धति पर आधारित है। रचनापद्धति लेखक की अपनी शिक्षादीक्षा, अपने संस्कार, अपने परिवेश यानी उसके व्यक्तित्व के अनुरूप होती है। किंतु शैली के अनुसार श्रेणीभेद करने में स्वरूप की मूल्यस्थापना की बात का ध्यान में होना आवश्यक है। निबंध निजात्मक कोटि की रचना अर्थात् व्यक्तिप्रधान है। व्यक्ति का निर्माण उसके मन और मस्तिष्क में होता है। मन की प्रधानता भावमयता लाती है, मस्तिष्क की मुख्यता विचारप्रवणता। अतः सही निबंध के प्रकारभेद करना ही चाहें तो वह ज्यादा से ज्यादा दो हो सकता है—विचारात्मक और भावात्मक। बाकी भेद किसी न किसी रूप में इन्हीं दो में आ जाते हैं। आत्मव्यंजक, हमारी समझ में कोई अलग भेद नहीं है। यह तो अँग्रेजी के पर्सनल एसे के अनुरूप एक और भेद गढ़ दिया गया है। विचारात्मक और भावात्मक—वास्तव में इन्हीं दो रूपों में निबंध की स्वकीयता को देखा जा सकता है। आचार्य शुक्ल भी निबंधों के इन्हीं दो प्रकारों को मानते हैं और अपने विचार से विचारात्मक निबंध को ही श्रेष्ठ समझते हैं। लेकिन शुद्ध विचार का यह अर्थ कदापि नहीं कि उसमें हृदय का कहीं योग ही न हो। मानव जीवन का शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र हो, जिसमें बुद्धि और हृदय यानी भाव और विचार का उपयोग न होता हो। साहित्य में भी दोनों का संबंध अन्योन्याश्रित है। यों साहित्य में हृदय की प्रधानता मानी गई है, किंतु उसका अर्थ बुद्धि का निर्वासन नहीं है। निबंधों में विचार और भाव दोनों होते हैं। भावहीन विचार नहीं होता, क्योंकि तब वह जटिल, नीरस और प्रभावशून्य होगा। विचारहीन भाव नहीं होता, नहीं तो वह हृदय बावला होगा और उसकी वाणी प्रलाप होगी। यह अवश्य होता है कि किसी में विचार ही प्रधान होता है, किसी में भाव और इसी लक्षण के अनुसार हमने विचारात्मक और भावात्मक निबंधों के ये दो रूप कहे हैं। गोकि इस विभाजन की बहुत बड़ी न तो सार्थकता है न प्रयोजन। आत्मव्यंजना के नाम पर निबंधों की एक स्वतंत्र कोटि कर दी गई है, आत्मव्यंजक। इसे कई लोग वैयक्तिक निबंध कहते हैं। विचार से वैयक्तिकता और व्यक्तित्व (इनडिविडुएलिटी और परसनालिटी) में अंतर अवश्य है। एक का संबंध स्वयं से है, दूसरे का स्व से। स्वयं अपने अतिरिक्त और की अपेक्षा नहीं रखता, किंतु स्व में दूसरों की स्थिति की अपेक्षा होती है। इस सूक्ष्म पार्थक्य का विचार की दृष्टि से बड़ा महत्व हो सकता है, पर परिणामतः एक में दूसरे का समाहार हो जाता है। अतः निबंध के व्यक्ति के लिये जो मान्यता ऊपर विश्लेषित

हो चुकी है, उसकी पुनरावृत्ति का प्रयोजन नहीं। भावात्मक और विचारात्मक-निबंधों की इन दो रचनापद्धतियों से अन्य कुछ रचनाओं की इतनी निकटता हो जाती है कि बहुत बार भ्रम सा हो जाता है। भावात्मक निबंधों के कान्यत्व से बहुत लोगों ने गद्यकाव्य को ही माना है और विचारात्मक निबंध में ही आलोचना को भी गिना है। हिंदी में साहित्यविचार संबंधी ऐसी अनेक रचनाओं को आलोचनात्मक निबंध कहते हैं। रामचंद्र शुक्ल, श्यामसुंदरदास, गुलाबराय की साहित्यिक रचनाएँ और यहाँ तक कि पुरातात्विक गवेषणासंबंधी लेख भी निबंध में ही गिना दिए जाते हैं।

सच तो यह है कि निबंधों के बारे में अभी भी निर्भ्रांत धारणा का अभाव है। सच्चे अर्थ में निबंध कही जानेवाली रचनाएँ हिंदी में हैं भी बहुत थोड़ी ही। इसलिये निबंधों पर विचार करते हुए यह दुविधा होने लगती है और अंततः उनका अभाव देख लेख प्रबंध आदि को भी इसी कोटि में रख लिया जाता है। आधुनिक अँगरेजी साहित्य में जिस श्रेणी के आत्मपरक और सरस निबंधों की आशातीत प्रचुरता है, हिंदी में वैसी रचनाएँ कितनी हैं? शुक्लजी ने इस कमी को महसूस करते हुए लिखा था-विश्वविद्यालयों के उच्च शिक्षाक्रम के भीतर हिंदी साहित्य का समावेश हो जाने से उत्कृष्ट कोटि के निबंधों की-'ऐसे निबंधों की जिनकी असाधारण शैली या गहन विचारधारा पाठकों को मानसिक श्रमसाध्य नूतन उपलब्धि के रूप में जान पड़े, जितनी आवश्यकता है, उतने ही कम वे हमारे सामने आ रहे हैं।'[1] इस दैन्य के ठोस कारण भी हैं। हिंदीवाले देश और परिवेश के अनुकूल साधारण तौर पर भावप्रवण हैं, अध्यात्मवादी हैं। जीवन को भावगंभीरता के आवरण में देखने की प्रवृत्ति हमारी जातिगत दार्शनिकता की देन है। जीवन को रस की सहज सरल दृष्टि से देखने में मन मानो तत्पर ही नहीं होता। इसलिये आनंद वेदना को सरल हास्योज्ज्वल दर्पणबिंबित देखने की एक स्वाभाविक अक्षमता हमारे जातीय जीवन की विशेषता सी रही है। यही कारण है कि वैसे निबंध अपने यहाँ नहीं लिखे जा रहे हैं जैसे कि चार्ल्स लैंब, अल्फा ऑफ दि प्लॉ या जेरोम के जेरोम ने लिखे। लैंब को प्रिंस आव दि एसेइस्ट्स कहते हैं। उसके निबंध सचमुच ही एक अंतरंग मित्र के संलाप हैं।

अपने यहाँ इस तरह के निबंधों की कमी का एक दूसरा भी कारण है। हमारा पाठक समुदाय भी दार्शनिकों के देश का है। रचना में आदर्श की मर्यादा और महिमा ढूँढ़ने की उसकी भी एक वैसी ही स्वाभाविक प्रवृत्ति है। दोष

[1] हिंदी साहित्य का इतिहास।

दुर्बलता को भी आश्रय देकर रसमय बनानेवाली ऐसी रम्य रचनाओं से लेखक के प्रति उनमें अनास्था भी जग सकती है। यहाँ की मिट्टी में गहरी दृष्टि की खास उपज होने के नाते, एक विशेष आबहवा और मनोभाव के वातावरण के नाते इस कोटि की रचना के लिये जिस विशेष अंतर्दृष्टि का प्रयोजन है, वह न तो लेखकों में विकसित हो सकी, न पाठक समाज में पनप सकी। इंगलैंड को छोड़कर यूरोप के दूसरे देशों में निबंध की दिशा जैसे साहित्यकला समीक्षा रही, लगभग वैसे ही हिंदी में आत्मपरक रम्य रचनाओं की ओर लेखकों का ध्यान और साधना केंद्रित न हो सकी। वे आलोचना समीक्षा, विचारदर्शन की दिशा में झुके। ऐसे सूत्रपात के युग से वर्तमान परिणति तक यानी लार्ड बेकन (सं० १६५४) से बीसवीं सदी तक अँगरेजी निबंधों में हम एक विकासक्रम पाते हैं। वह दार्शनिक नैतिक उपदेशात्मकता से अब विशुद्ध बतकही पर आ पहुँचा है। अब के अँगरेजी निबंधकारों में तीन बातों की विशेषता देखने को मिलती है–विचारों की नवीनता, नूतन अनुभूतिक्षमता तथा नई विन्यास शैली। इन विशेषताओं ने लेखकों की अंतर्दृष्टि को सत्य की समग्रता के समीपतर कर दिया है। साहित्य की सामग्री और उसके क्षेत्र में ग्रहण वर्जन का जो विधि-निषेध था, वह अब नहीं रहा। आलुस हक्सले ने कहा भी है–'आज साहित्य सत्य की समग्रता के लिये ज्यादा से ज्यादा जागरूक हो उठा है।' हिंदी में निबंधों का जब से आरंभ हुआ तब से आज तक यहाँ भी भावविचार और विन्यास की दिशा में बेशक बड़े बड़े परिवर्तन हो गए लेकिन एक तो परिवर्तन की यह गति बड़ी मंद रही, और बड़ी ही क्षीण रही परिमाण की दृष्टि से निबंध की साधना। जिसे हम निबंध मानते हैं, वैसे निबंध वस्तुतः बहुत ही कम लिखे गए और निबंधों के विचार में इसी लिये यह कमजोरी देखने को मिलती है कि अधिकांश ऐसी रचनाओं को इस कोटि में लाकर निरख परख करते हैं उदाहरण पेश करते हैं, जो वास्तव में निबंध नहीं हैं।

हिंदी में निबंधों की नींव भारतेंदु युग में पड़ी। साथ ही हम यह भी स्वीकार करेंगे कि शैली और विषय आदि की दृष्टि से उस आदि युग में ही जिस हद तक निबंध रचना की छटा छिटकी विकासक्रम में उस गति और परंपरा का आगे निर्वाह न हो सका। अँगरेजी शिक्षा के संपर्क में आकर उस युग के साहित्यकारों ने अँगरेजी साहित्य में गद्य का एक ऐसा अभिनव विधान देखा, जो हिंदी में नहीं था। उस गद्य विधान की यह विशेषता उन्हें अनुकूल प्रतीत हुई कि उसके द्वारा अपनी बात सीधे दूसरों तक पहुँचाई जा सकती है एवं उसमें प्रभावोत्पादकता है। चूँकि भारतेंदु युग के पहले साहित्य की दुनियाँ में काव्य-साधना की ही प्रधानता रही, इसलिये इन साहित्यिकों की दृष्टि विशेषकर गद्य

की ओर थी। इस गद्यप्रकार की कई खूबियों ने उन्हें आकर्षित किया और लोगों ने इस पद्धति को अपनाया। सौभाग्य से इस इच्छा को रूप देने के लिये और साहित्य के इस नए प्रकार की प्रतिष्ठा के लिये पत्रपत्रिकाओं के उपयुक्त साधन भी उपलब्ध हो गए। पत्रिकाएँ भी उस युग में ऐसी मिलीं जिनकी मूल प्रेरणा साहित्यिक थी। कारण और सुविधा के कारण उस युग में निबंधों के निर्माण का श्रीगणेश हुआ। स्वतंत्र रूप से भी साहित्यिक लेख लिखे गए और पत्र-पत्रिकाओं के संपादकीय या अग्रलेख के रूप में भी। यह अवश्य है कि उनमें से अधिकांश रचनाएँ सामाजिक प्रभाव से उद्भूत हुईं और उसमें पत्रकारिता के त्वरित लेखन की छाया ही अधिक है। किंतु यह कुछ अस्वाभाविक नहीं और दूसरी बात यह कि उसके पीछे प्रेरणा साहित्यिक थी। अँगरेजी में, जिनके निबंधों को हम आदर्श रूप लेते हैं—ऐसा ही कुछ क्रम रहा। पहला ही निबंध अपना चरम आधुनिक रूप लिए नहीं प्रकट हुआ। बेकन की प्रतिभा से इस गद्यविधान की झलक दिखाई पड़ी, लेकिन चूँकि वह पद्य युग था, इसलिये उसका विकास संभव न हुआ। समाचारपत्रों के प्रकाशन के साथ साथ गोल्डस्मिथ, ऑडीसन, स्टील, हैजलिट आदि ने निबंधों की जिस परंपरा को बढ़ाया, उसमें हमें वह खामी साफ दीख पड़ती है जो अखबारों के लिखने में हो सकती है। सामाजिक प्रेरणा के उदाहरण भी अँगरेजी में दुर्लभ नहीं हैं। डेफो ने अपने निबंधों के लिये राजनीति को ही विषय बनाया था। जोजेफ ऑडीसन और रिचर्ड स्टील ने 'टैटलर' तथा 'स्पेक्टेटर' के माध्यम से समाजसुधार के लिये ही लिखा, इसी लिये लोगों ने उन्हें नीतिवादी कहा। इतना मानना ही पड़ेगा कि ऑडीसन और स्टील ने विषय तो सामाजिक लिए लेकिन निबंध से उनका उद्देश्य साहित्यिक साधना का ही था। उसी आसपास से अँगरेजी निबंधों में व्यक्तित्व की स्थापना का प्रयास शुरू हुआ। ऑडीसन की ही 'सर रोजर दि कौवरली' में यह चेष्टा रूपायित हुई।

इन बातों से हमारा अभिप्राय यह कदापि नहीं कि भारतेंदुयुग के निबंध कला के चरम उदाहरण हैं, बल्कि यह कि पहली उठान में वैसे प्रयासों में निबंध के लक्षणों की प्राथमिकता की झाँकी मिली। उनकी प्रेरणा समाज-सुधार से आई जरूर थी, किंतु उनका उद्देश्य साहित्यिक ही था। निबंधकला का विकास जरूर नहीं हो सका। संभव भी नहीं था। भारतेंदुयुग एक प्रकार से आंदोलनों का युग था। क्या धर्म, क्या समाज, क्या राजनीति और क्या साहित्य, सभी क्षेत्रों में आंदोलनों की धूम। राजनीति के क्षेत्र में परतंत्रता और समाज तथा धर्म के क्षेत्र में रुढ़ि की दासता। सर्जनात्मक प्रतिभा को कठोर कुठारघात की कर्मठता अपनानी पड़ी। कठोर व्यंग्यात्मक शैली इसी लिये इस युग की विशेषता

रही। साहित्य के क्षेत्र में भी अनेक समस्याएँ थीं। उसके बहुविध अंगों की स्थापना, विषयों की अनेकरूपता का ग्रहण और सर्वोपरि साहित्य का प्रचार प्रसार। इन कारणों से साहित्य के अंगविशेष की एकनिष्ठ आराधना संभव नहीं थी। एक ही लेखक को रचना की दृष्टि से अनेकरूपता अपनानी पड़ती थी। इन सारी बातों को ध्यान में रखकर देखने से स्पष्ट मालूम होता है कि उस युग को जो सफलता निबंधरचना में मिली वह नाटक, कविता या अन्य विषयों में नहीं मिली।

भाषा का रूप स्थिर नहीं था और अभिव्यक्ति के उत्कर्ष की पर्याप्त क्षमता उनमें नहीं थी। भारतेंदु के पहले दो समर्थ लेखक हिंदी के हुए—राजा शिव प्रसाद सितारे हिंद और राजा लक्ष्मण सिंह। राजा साहब नागरी लिपि और रोजमर्रा की बोलचाल वाली भाषा के हिमायती थे। उनका प्रयत्न ऐसी भाषा गढ़ने का था कि किसी दलवाले को एतराज न हो। फलस्वरूप उन्होंने जिस भाषा को अपनाया, उसके अधिकांश शब्द, वाक्यविन्यास, भाव को व्यक्त करने के ढंग, सब कुछ उर्दू के ढाँचे के थे। यथा—'इसमें अरबी, फारसी, संस्कृत और अब कहना चाहिये अंग्रेजी के भी शब्द कंधा भिड़ाकर यानी दोश बदोश चमक दमक और रौनक पावें, न इस बेतर्तीबी से कि जैसा अब गड़बड़ मच रहा है, बल्कि एक सल्तनत के मानिंद कि जिसकी हदें कायम हो गई हों और जिसका इंतजाम मुंतजिम की अक्लमंदी की गवाही देता है।'

राजा लक्ष्मण सिंह शैली के इस स्वरूप के प्रत्यक्ष विरोधी और खड़ी बोली के स्वतंत्र अस्तित्व के पोषक थे। उन्होंने अपनी रचनाओं में भरसक अरबी, फारसी के शब्दों का प्रयोग नहीं होने दिया और यह सिद्ध करने की कोशिश की कि उर्दू की शरण गहे बिना भी हिंदी में सुंदर गद्य की रचना हो सकती है। और वस्तुतः उन्होंने बहुत ही पुष्ट और सुव्यवस्थित हिंदी गद्य का नमूना सामने रखा जैसा कि पहले किसी दूसरे ने नहीं लिखा था। इसी लिये तत्कालीन गद्य साहित्य में उनका स्थान सर्वोपरि है। भारतेंदु को सामने ये दो रास्ते मिले। उन्होंने इन दोनों के बीच के रास्ते को अपनाया। न उर्दू तत्समप्रधान रचनाप्रणाली को प्रश्रय दिया, न संस्कृततत्समप्रधान। इन दोनों के सामंजस्य से उन्होंने शैली के एक ऐसे रूप को स्थिर करने की चेष्टा की, जो सबके लिये ग्राह्य और मान्य हो सके। उन्होंने शैली का संस्कार किया, भाषा का परिमार्जन और परिष्कार करके रचनापद्धति को यथासाध्य व्यवस्थित किया। फिर भी उपयुक्त शब्दों की न्यूनता और व्यंजना शक्ति की दुर्बलता से प्रत्येक विषय के अनुरूप अभिव्यक्ति न हो सकी। उस युग में अनेक ऐसी रचनाएँ हुई जिनमें निबंध के कुछ तत्व

और लक्षण की झलक मिलती है। किंतु अंततोगत्वा वे पूर्णतया निबंध के स्वरूप को सामने नहीं रखते। उनमें से अधिकांश को तो लेख ही कहना अधिक उपयुक्त होगा। उनमें विषयविस्तार किन्हीं अंशों में है, आत्मीयता का भी आभास मिलता है, व्यंग्य और हास्य का चुटीलापन भी है। स्वप्नों के बहाने व्यंग्य-रूपक, उपालंभ, स्तोत्र आदि जहाँ तहाँ समाविष्ट हैं, लेकिन उनमें से सब निबंध नहीं हैं। अतः तत्कालीन लेखक जितने शैलीकार हैं, उतने निबंधकार नहीं। उस युग में जिनकी रचनाओं में प्रारंभिक निबंधों का थोड़ा बहुत आभास स्पष्टतया मिलता है, वे हैं स्वयं भारतेंदु, बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र। निबंध का आभास यानी आत्मपरकता। यों उस युग में अधिकतर सामाजिक विषयों पर ही ज्यादा रचनाएँ हुईं। ऐसी रचनाएँ विचारात्मक तो हैं, भावात्मकता का भी जहाँ तहाँ पुट है। इन दोनों गुणों के कारण उनमें साहित्यिकता भी है। किंतु उपर्युक्त तीनों लेखकों में आत्मपरक निबंधों की योग्यता और सामर्थ्य के दर्शन होते हैं। इनमें भी प्रतापनारायण मिश्र का स्थान सर्वोपरि है। इनके निबंध को इस कोटि के निबंधों का प्रतिनिधि कह सकते हैं। निबंध की दो प्रधान विशेषताएँ—विषय की तुच्छता और विषय की अपेक्षा निबंधकार के व्यक्तित्व की प्रधानता इनमें मिलती हैं। जिसे हम हल्का साहित्य कहते हैं, इनकी कई रचनाएँ आसानी से इस कोटि में आती हैं। हल्का साहित्य का अर्थ महत्व-हीनता नहीं, बल्कि विषय के प्रतिपादन की सहज सरल और मनोरंजक शैली तथा जिसमें जटिलता न हो, यह है।

भारतेंदु में गद्य की अनेक शैलियों के प्रति सजग जागरुकता हम पाते हैं, उन्हीं में से कुछ रचनाएँ ऐसी भी हैं जिनमें हम निबंध के गुण और लक्षणों की झाँकी पाते हैं। 'कंकड़ स्तोत्र' और 'ईश्वर बड़ा विलक्षण है' ये दो रचनाएँ इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। इनमें विषय के प्रतिपादन और महत्ता पर उतनी सचेष्टता नहीं है, जितनी व्यक्तित्व के विस्तार की। बल्कि विषय का मामूली होना भी बहुत बार आत्माभिव्यंजना के लिये उपयुक्त अवसर देता है। कंकड़ नाचीज सी चीज है किंतु उसी पर लेखक लिखने को अभिप्रेरित होता है और उस सामान्य कंकड़ को वह धरती से आसमान पर पहुँचा देता है। जैसे—'कंकड़देव को प्रणाम है। देव नहीं महादेव क्योंकि काशी के कंकड़ शिवशंकर के समान हैं। हे लीलाकारिन ! आप केशी, शकट, वृषभ, खरादि के नाशक हो। इससे मानों पूर्वार्द्ध की कथा हो अतएव व्यासों की जीविका हो। आप वानप्रस्थ हो क्योंकि जंगलों में लुढ़कते हो, ब्रह्मचारी हो क्योंकि बटु हो। गृहस्थ हो चूनार रूप से, संन्यासी हो क्योंकि घुट्टमघुट्ट हो। आप अंग्रेजी राज में भी गणेश चतुर्थी की रात को स्वच्छंद रूप से नियम और

शांति का अस्तित्व बहा देते हो अतएव हे अंग्रेजी राज्य में नवाबी स्थापक! तुमको नमस्कार है।'

बालकृष्ण भट्ट वस्तुतः भारतेंदु युग के विचारप्रधान रचनाकारों के प्रतिनिधि हैं। जितनी रचनाएँ इन्होंने की है, विचारात्मक ही संख्या में ज्यादा हैं। उन रचनाओं की विशेषता यही है कि उनमें विषयों का चुनाव तक विचारात्मक है, शैली तक विवेचनात्मक है। लेकिन यह नहीं कि ये विचार परंपरागत अंधी नकल या शास्त्रों के रटे बोलों की प्रतिध्वनि ही हों। उनमें निजी दृष्टिकोण और स्वतंत्रचिंतन की गहरी छाप है। साथ ही उसमें कुछ रचनाएँ ऐसी हैं जिनमें थोड़े में ज्यादा कहने की क्षमता पाई जाती है और व्यक्तित्व का उभार मिलता है। जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने ठीक ही लिखा है कि 'इस समय के प्रायः सभी लेखकों में एक बात सामान्य रूप में पाई जाती है। वह यह कि सभी की शैलियों में उनके व्यक्तित्व की छाप मिलती है। पं० प्रतापनारायण मिश्र और भट्ट जी में यह बात विशेष रूप से थी। उनके शीर्षकों और भाषा की भावभंगी से ही स्पष्ट हो जाता है कि यह उन्हीं की लेखनी है।'[१]

'बातचीत', 'जी', कल्पना शक्ति', 'द', 'नाक' आदि रचनाओं में निबंध की निजी विशेषताओं की झलक मिलती है। इसमें आत्मव्यंजकता है, मनोरजकता है, अक्षर, शब्द और मुहावरों से चमत्कार पैदा करने की पटुता है। जैसे—

'योरप के लोगों में बात करने का हुनर है। 'आर्ट ऑव कनवरसेशन' यहा तक बढ़ा है कि स्पीच और लेख दोनों इसे नहीं पाते। इसकी पूर्ण शोभा काव्यकला प्रवीण विद्वन्मंडली में है। ऐसे चतुराई के प्रसंग छेड़े जाते हैं कि जिन्हें सुन कान को अत्यंत सुख मिलता है। सुहृद गोष्ठी इसी का नाम है। सुहृद गोष्ठी की बातचीत की यह तरीफ है कि बात करनेवालों की लियाकत अथवा पंडिताई का अभिमान या कपट कहीं एक बात में प्रकट न हो, वरन् क्रम रसाभास पैदा करनेवाले सभों को बरकते हुए चतुर,सयाने अपनी बात को अक्रम रखते हैं। वह हमारे शुष्क पंडितों की बातचीत में, जिसे शास्त्रार्थ कहते हैं, कभी आवेगा ही नहीं।'

'वही हमारी साधारण बातचीत का ऐसा घरेलू ढंग है कि उसमें न करतलध्वनि का कोई मौका है, न लोगों के कहकहे उड़ाने की कोई बात उसमें रहती है। हम तुम दो आदमी प्रेमपूर्वक संलाप कर रहे हैं। कोई चुटीली बात आ गई हँस पड़े तो मुस्कुराहट से ओठों का केवल फरक उठना ही इस हँसी की

[१] हिंदी गद्य शैली का विकास।

अंतिम सीमा है। स्पीच का उद्देश्य अपने सुननेवाले के मन में जोश और उत्साह पैदा कर देना है। घरेलू बातचीत मन रमाने का ढंग है। इसमें स्पीच की वह सब संजीदगी बेकदर हो धक्के खाती फिरती है।' —बातचीत

उपर्युक्त उद्धरण में हम एक यह भी विशेषता देख रहे हैं कि सुहृद-गोष्ठी, संलाप, घरेलू बातचीत, मन रमाने का ढंग है—आदि बातों से निबंध की निजता की धारणा का परिचय मिलता है। यों भट्ट जी के ऐसे दूसरे कई लघु निबंध हैं, जिनमें बड़ी जिंदादिली है। भाषा में प्रवाह है, मुहावरों का अच्छा निर्वाह हुआ है। उदाहरण के लिये 'कल्पना शक्ति' का कुछ अंश देखें—

'यावत् मिथ्या और दरोग की किबलेगाह, इस कल्पना पिशाचिनी का कहीं ओर छोर किसी ने पाया है। अनुमान करते करते हैरान गौतम से मुनि गौतम हो गए। कणाद किनका खा खाकर तिनका बीनने लगे पर मन की मनभावनी कन्या कल्पना का पार न पाया। कपिल बेचारे पचीस तत्वों की कल्पना करते करते 'कपिल' अर्थात् पीले पड़ गये। व्यास ने इन तीनो महादार्शनिकों की दुर्गति देख मन में सोचा कौन इस भूतनी की पीछे दौड़ता फिरे, यह संपूर्ण विश्व जिसे हम प्रत्यक्ष देख सुन सकते हैं सब कल्पना ही कल्पना, मिथ्या, नाशवान् और क्षणभंगुर है, अतएव हेय है।'

भट्ट जी की इस कोटि की रचनाओं की विशेषता है सीमित आकार, नपे तुले शब्द, अर्थविस्तार से परहेज और व्यक्तिगत ढंग। भूमिका नाममात्र की। तुरत अपने विषय पर उतर आना तथा मनोरंजन के साथ पाठक से आत्मीयता स्थापित कर लेना। आकर्षक शीर्षकों का चुनाव; जैसे—नाक निगोड़ी भी बुरी बला है, भकुआ कौन कौन है, मनुष्य की बाहरी आकृति मन की प्रकृति है, आदि। यों भट्ट जी का सारा जीवन संस्कृत साहित्य के अध्ययन मनन में बीता, लेकिन उनकी रचनाओं में यह बात हम पाते हैं कि वे विदेशी साहित्य से भाव, विषय या शब्दों को अपनाने में हिचकते न थे। द्विवेदी युग में शायद यही एक ऐसे लेखक थे जिन्होंने अँगरेजी शब्दों का धड़ल्ले से उपयोग किया। बहुत बार तो अँगरेजी के शब्द ये कोष्ठकों में रखते थे और उनमें हिंदी पर्यायवाची को बाहर और कभी कभी भाव को समझने की सुगमता के खयाल से यों ही रख देते थे। कैरेक्टर, नैशनैल्टी, फीलिंग, फिलासफी आदि शब्दों का इसी तरह से व्यवहार उन्होंने किया है। कभी कभी तो शीर्षक तक अँगरेजी का उठाकर रख दिया है।

स्वरूप की दृष्टि से तत्कालीन लेखकों में प्रतापनारायण मिश्र की कुछ रचनाओं में निबंध के लक्षण और तत्व अपेक्षाकृत अधिक निखरे हैं। भारतेंदु युग

में निबंधों के सही मानी में यही प्रतिनिधि हैं। 'उनके विषय में बात कुछ आगे बढ़कर भी कही जा सकती है। वह यह कि वे भारतेंदु युग के ही नहीं वरन् हिंदी साहित्य के आत्मव्यंजक निबंधकारों के प्रतिनिधि हैं। साहित्य के प्रत्येक युग की अपनी अपनी विशिष्ट देन होती है। भारतेंदु युग ने हिंदी साहित्य को अनेक विशिष्ट देन से सुशोभित किया, उनमें से आत्मव्यंजक निबंध भी एक है। इस युग के पश्चात् इस ढंग के निबंधों के लिखने की चाल ही बंद हो गई। अँगरेजी के वैयक्तिक निबंधों की ठीक नकल पर वर्तमान युग में कुछ निबंध लिखे गए अवश्य, परंतु उनमें दूसरे साहित्य से नकल करने की धुन के कारण अपनापन न आ सका। भारतेंदु युग के आत्मव्यंजक निबंधों में पूरा अपनापन है।'[1]

मिश्र जी की शैली और विषय दोनों में सहजता है। साथ ही उनमें उनका व्यक्ति बिखरा मिलता है। विषय बड़े सामान्य और शैली सरल। गंभीर विषयों पर उन्होंने लिखा ही नहीं, ऐसी बात नहीं। किंतु उनके कहने का ढंग कुछ इस तरह का है कि लगता है, लेखक सामने बैठकर बातें कर रहा है। अपनी सहृदयता से रस और रोचकता लाने में वे सफल थे। रचनाओं में साहित्यिक सौंदर्य है, मानवीकरण की प्रवृत्ति है। कुछ शीर्षक, जैसे खुशामद, भौं, तिल, धोखा, आप, होली, घूरे क लत्ता बिना कनातन के डोल बाँधे आदि। हास्य की सजीवता–धन्य हो, जय हो, क्या कहने आदि परिहासभरे शब्दों के प्रयोग से नैकट्य और घरेलू वातावरण बनाने में ये कुशल थे।

'ऐसी ऐसी बातें सोचने से गोस्वामी तुलसीदास जी का 'गो गोचर जहँ लगि मन जाई, सो सब माया जानेहु भाई' और श्री सूरदास जी का 'माया मोहिनी मनहरण' कहना प्रत्यक्ष तथा सत्य जान पड़ता है। फिर हम क्यों नहीं जानते कि धोखे को लोग बुरा क्यों कहते हैं? धोखा खानेवाले मूर्ख और धोखा देनेवाला ठग क्यों कहलाता है। जब सब कुछ धोखा ही धोखा है और धोखे से अलग रहना ईश्वर की सामर्थ्य से भी दूर है तथा धोखे ही के कारण संसार का चर्खा पिन्न पिन्न चला जाता है, नहीं तो ढिचर ढिचर होने लगे, वरन् रही न जाय, फिर इस शब्द का स्मरण या श्रवण करते ही आपकी नाक भौं क्यों सुकुड़ जाती है! इसके उत्तर में हम तो यही कहेंगे कि साधारणतः जो धोखा खाता है वह अपना कुछ न कुछ गँवा बैठता है और जो धोखा देता है उसकी एक न एक दिन कलई खुले बिना नहीं रहती है और हानि सहना वा प्रतिष्ठा खोना दोनों में हो ही जाया करती है।'—धोखा।

[1] भारतेंदुयुगीन निबंध—शिवनाथ।

इस रचना में चुलबुलापन फिर भी कम है। विषय प्रतिपादन की दृष्टि से इनकी ऐसी रचनाएँ भी हैं जिनमें चमत्कार पैदा करने की प्रवृत्ति है। जैसे, आप शीर्षक रचना की कुछ पंक्तियाँ—'अब तो आप समझ गये होंगे कि आप कहाँ के हैं, कौन हैं, कैसे हैं, यदि इतने बड़े बात के बतंगड़ में भी न समझे हों तो इस छोटे से कथन में हम क्या समझा सकेंगे कि आप संस्कृत के आप्त शब्द का हिंदी रूपांतर है और माननीय अर्थ के सूचनार्थ उन लोगों (अथवा एक ही व्यक्ति) के प्रति प्रयोग में लाया जाता है जो सामने विद्यमान हों चाहे बातें करते हों चाहे बात करनेवालों के द्वारा पूछे बताए जा रहे हों अथवा दो वा अधिक जनों में जिनकी चर्चा हो रही हो।' या उनकी 'बात' शीर्षक रचना का एक अंश देखिए—'डाकखाने या तारघर के सहारे से बात की बात में चाहें जहां की बात हो, जान सकते हैं। इसके अतिरिक्त बात बनती है, बात बिगड़ती है, बात आ पड़ती है, बात जमती है, बात उखड़ती है, बात खुलती है, बात छिपती है, बात चलती है, बात अड़ती है......।'

निबंधों की रसघनता के नाते हम जिस शक्ति की अपेक्षा करते हैं, आरम्भिक काल की इन रचनाओं में वह नहीं है। मुहावरा और अनुप्रास का एक निरर्थक मोह स्वाभाविक प्रवाह का बाधक है। मिश्र जी की रचना में बेशुमार मुहावरों की छटा तो है ही, कभी कभी शीर्षक तक मुहावरे में हैं। जैसे—'किस पर्व में किसकी बन आती है, मरे का मारै शाहमदार। लेकिन कम अधिक यह मोह उस युग के सभी जाने माने लेखकों में रहा है। साधारण सी बात में चमत्कार पैदा करने के इस आग्रह ने भाषा को दुरूह और अव्यावहारिक बनाया। सबसे बड़ी क्षति यह हुई कि भावबोधन की सहज शक्ति का ह्रास होता गया। बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने अपने पत्र में बड़हर की रानी के कोर्ट ऑफ़ वार्ड्स छूटने का समाचार जिस भाषा में छपाया था, उसका नमूना देखिए—

'दिव्य देवी श्री महारानी बड़हर लाख झंझट झेल और चिरकाल पर्यंत बड़े उद्योग और मेल से दुःख के दिन सकेल अचल कोर्ट का पहाड़ ढकेल फिर गद्दी पर बैठ गईं। ईश्वर का भी कैसा खेल है कि कभी तो मनुष्य पर दुःख की रेल पेल और कभी उसपर सुख की कुलेल है।'

निबंध की संज्ञा पाने लायक जो भी रचनाएँ भारतेंदु युग में मिलती हैं उनमें तीन विशेषताएँ हैं—सजीवता, रोचकता और आत्मीयता। असल में भारतेंदु युग के साहित्यिकों का दायित्व अनेकमुखी था। राष्ट्रीय जागरण का वह जन्मकाल था। राष्ट्र, समाज और साहित्य, एक ही साथ इस त्रिवेणी की तरफ से कर्त्तव्य के

तकाजे थे। प्राचीनता की केंचुल छोड़े जो अनेकरूप नवीनता झाँक रही थी, उसके अभिनंदन की तैयारी थी। गुलामी, रूढ़िवादिता के खिलाफ जनसमुदाय के प्राणों में चिनगारी जगानी थी, नव निर्माण के मार्ग की अवरोधक शक्तियों से लोहा लेना था। किंतु इसके लिये वाणी के जिस शस्त्र का संबल विरासत में मिला था, उसमें उपयुक्तता नहीं थी, तेज और ताकत नहीं थी; भाषा में वह ओज, वह शक्ति, वह संपन्नता नहीं थी कि वह राष्ट्रीय जागृति का समर्थ वाहन बन सके। अपने अंग उपांगों से साहित्य पुष्ट नहीं था। निर्माण के इस गुरुतर उत्तरदायित्व के अतिरिक्त एक और समस्या थी साहित्य से सर्वसाधारण का संबंध जोड़ने की। जनता साहित्य से उदासीन थी। उन्हें नवीन भावादर्शों की पात्रता के अनुकूल सचेत करने की आवश्यकता थी, ताकि वह घटना और ज्ञान के उन आवेगों से परिचित हों, जो हमारे राष्ट्रीय जीवन को प्रभावित कर रही थीं। इस प्रकार तत्कालीन लेखकों पर चौमुखी जिम्मेदारी पड़ी। इसी लिये भारतेंदु और उनकी पीढ़ी के अधिकांश लेखकों को केवल लिखकर ही छुट्टी नहीं मिली, सामाजिक एवं राजनीतिक चेतना की जागृति एवं साहित्यिक, अभिरुचि पैदा करने के लिये स्वयं पत्र पत्रिकाओं का प्रकाशन करना पड़ा, संपादन करना पड़ा, लिखना पड़ा। इस नई चेतना और सर्वसाधारण में संबंध स्थापित करने का सबसे सहज, सुगम और सशक्त माध्यम निबंध ही था। यह पत्रकारिता के बहुत समीप ही नहीं पड़ता था बल्कि इसी के सहारे पत्रकारिता भी निखरी। जनसाधारण से संपर्क कायम करने एवं उसे प्रभावित करने की उसमें स्वाभाविक शक्ति थी। इसी लिये साहित्य के अन्य रूपों की अपेक्षा उस युग में निबंध ज्यादा लिखे भी गए और अपेक्षाकृत अच्छे भी उतरे। गुरुगंभीर चिंतन और पांडित्य से बोझिल नहीं होने के कारण उन निबंधों में सामाजिक चेतना को उद्बुद्ध करने और पाठकों को अपनी ओर खींचकर रमाने की योग्यता थी। भाषा में अपेक्षित प्रौढ़ता अवश्य नहीं थी, न प्रारंभिक अवस्था में उस वांछित उत्कर्ष की अपेक्षा ही की जा सकती है, फिर भी वास्तविक निबंध की जहाँ तहाँ जो थोड़ी बहुत झलक मिल जाती थी, आगे चलकर वह भी धीरे धीरे दुर्लभ होती गई। निबंध का चित्ताकर्षक, मनोरंजक, विनोदपूर्ण और स्वच्छंद जो उत्स उस युग में फूटा था, वह आगे संभावित कूलप्लावी प्रवाह न बन सका। आत्मीयता, सरलता, हार्दिकता और जिंदादिली की वह छाप ही निबंधों पर से मिटती चली गई जो भारतेंदु युग में पड़ी थी। निबंधों में हृदय से मस्तिष्क प्रबल होता गया, वह मित्र की हितवार्ता न होकर ज्ञानगरिमा से विस्मित करनेवाला पांडित्य प्रदर्शन हो गया, उसमें हमारी रागात्मिका वृत्ति की खूराक नहीं रह गई, जानकारी और उपदेशात्मकता लद गई। परिणामस्वरूप वह सहज सजीवता जाती रही और निबंध गंभीर और बोझिल होकर और ही रूप ग्रहण करते गए। ज्ञान संवर्धन तथा रुचिपरिष्कार के उपयोगितावाद ने कला-

त्मक ललित निबंधों की प्रगति को अवरुद्ध कर दिया। लक्ष्य और साधन की भिन्नता ने निबंधों का वह रंग रूप ही न रहने दिया। देशप्रेम और जनजीवन की भारतेंदुयुगीन परंपरा लोप पाती चली गई। जनता के निकट संपर्क के विषय छूटते गए, वर्न कि मानसिक खूराक जुगानेवाली वह चिंतनशैली और विचार-पद्धति ही चीण पड़ने लगी।

हिंदी साहित्य की दूसरी उठान बीसवीं सदी के आरंभ से शुरू होती है। सन् १६०० (सं० १६५७) को इसी लिये साहित्य के इतिहास में एक समय-विशेष कहना पड़ेगा। इस साल एक ही साथ तीन बड़ी महत्वपूर्ण घटनाएँ घटीं—न्यायालयों में हिंदी का प्रवेश, हस्तलिखित पुस्तकों की खोज के लिये काशी नागरी प्रचारिणी सभा को सरकारी सहायता और इलाहाबाद से 'सरस्वती' पत्रिका का प्रकाशन। 'सरस्वती' से महावीरप्रसाद द्विवेदी का नाम जुड़ जाना तो और भी शुभ हुआ। द्विवेदी जी ने गद्य के सुस्थिर रूप और भाषा की व्याकरणसंमत शुद्धता के लिये अथक परिश्रम किया। साहित्य की समृद्धि के लिये अछूते विषयों में लेखनप्रचेष्टा और लेखकनिर्माण का उन्होंने स्तुत्य प्रयास किया। संक्षेप में उन्होंने विषयानुरूप शैली के विकास की सक्रिय चेष्टा की। उस समय तक राजनीतिक चेतना क्रियात्मक बन गई थी। इसी लिये न केवल साहित्य की समृद्धि के लिये ज्ञान संचय भर की आवश्यकता थी, बल्कि देश में जो राजनैतिक और सामाजिक उथलपुथल चल रही थी, उसके लिये भाषा को सशक्त माध्यम बनाना था। अँगरेजी सल्तनत की बुनियाद जम जाने से राजभाषा से लोगों की घनिष्ठता बढ़ी, उसके माध्यम से ज्ञानविज्ञान की नित्य नई अभिज्ञता बढ़ने लगी। उस उपलब्ध ज्ञानराशि को अपने साहित्य में लाने की अनिवार्यता बढ़ गई। द्विवेदी जी साहित्य को ज्ञान राशि का संचित कोश कहते भी थे। स्वभावतया भाषा की गति पर इसका प्रभाव दो प्रकार का पड़ा-भाषा में एकरूपता आने लगी और लेखनविधि अपेक्षाकृत गंभीर हो चली। निबंधलेखन का संबंध पत्रकारिता से जुड़ गया और उसमें आलोचना के तत्वों का समावेश होने लगा। तत्कालीन रचनाओं में स्वरूप की विविधता के दर्शन होते हैं, विषय का अभूतपूर्व विस्तार मिलता है, किंतु यथार्थ निबंध की झाँकी इस युग में शायद ही मिलती है। पत्रकारिता की अनेकमुखी चेष्टा होने के कारण किसी लेखक ने जमकर किसी एक ढंग से या तो लिखा नहीं या जो लिखा, समय और परिस्थिति ने उसमें यथार्थ निबंधों के लक्षण न आ सके। आचार्य शुक्ल लिखते हैं—'बहुत से लेखकों का यह हाल रहा कि कभी अखबारनवीसी करते, कभी उपन्यास लिखते, कभी नाटक में दखल देते, कभी कविता की आलोचना करते और कभी इतिहास और पुरातत्व की बातें लेकर सामने आते। ऐसी अवस्था में भाषा की पूर्ण शक्ति प्रदर्शित करनेवाले गूढ़ गंभीर लेखक कहाँ से तैयार होते ?'

इस युग के आरंभ में ही निबंध की दो अनूदित पुस्तकें प्रकाशित हुईं। एक 'बेकन विचार रत्नावली' और दूसरी मराठी लेखक चिपलूणकर की 'निबंध मालादर्श'। पहली का अनुवाद तो स्वयं द्विवेदी जी ने ही किया था। अपनी अपनी भाषा में उपर्युक्त दोनों ही लेखक निबंध के अगुआ रहे। बेकन तो अँगरेजी साहित्य में निबंध के जन्मदाता ही थे। सूत्रमयता और संक्षिप्तता उनके निबंधों की विशेषता मानी जाती है। उन निबंधों में बुद्धिमत्ता, व्यवहार-कुशलता तथा शैली की भव्यता की छाप है। चिपलूणकर मराठी के आदि निबंधकार तो नहीं हैं, लेकिन मराठी में प्रकृत निबंध का आरंभ उन्हीं से होता है। मराठी साहित्य के इतिहासकार गोडबोले ने उन्हें एक साथ ही हिंदी के भारतेंदु हरिश्चंद्र और श्रद्धाराम फुल्लोरी कहा है। बाहर से निबंधों की ऐसी दो पुस्तकें आने पर भी निबंधरचना की दिशा में कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं हो सकी। बल्कि पिछले युग में इसकी जो कड़ी शुरू हुई थी, वह भी ठीक से आगे न बढ़ाई जा सकी। प्रथम उत्थान के लेखकोंवाला वह जोश, वह जिंदादिली मर गई, वह उत्साह और तत्परता न रही, इसी लिये वह मनोरंजक सजीवता भी नष्ट हो गई। साहित्य की सृजनात्मक प्रेरणा भाषाशुद्धि और परिभाषा-निर्माण की ओर मुड़ गई।

'स्वयं द्विवेदी जी ने दो दो, तीन तीन पृष्ठ की शताधिक रचनाएँ लिखी हैं, पर वे सबकी सब या तो लेख हैं या टिप्पणियाँ। 'दंडदेव का आत्मनिवेदन' आदि कुछ गिनी चुनी रचनाएँ हैं जिनमें रोचकता, स्वतंत्र भावना और आत्मीयता का स्पर्श है, लेकिन नाममात्र का। जो व्यक्तिपरकता निबंध की आत्मा है—वह द्विवेदी जी की रचनाओं में कहीं नहीं मिलती है। वास्तव में द्विवेदी जी के लिखने का उद्देश्य ही और था। 'पाश्चात्य निबंधकारों की भाँति द्विवेदी जी का व्यक्तित्व उनके निबंधों में विशेष स्फुट नहीं हो सका है। पश्चिम के व्यक्तित्व-प्रधान निबंध का लेखक स्वयं ही अपने निबंधों का केंद्र रहा है। द्विवेदी जी की अवस्था इसके ठीक विपरीत है। अनुमोदन का अंत, अभिनंदन मेले और संमेलन के भाषण, संपादक की विदाई आदि कतिपय आत्मनिवेदनात्मक निबंधों को छोड़कर अपने किसी भी निबंध में द्विवेदी जी ने अपने को निबंध का केंद्र नहीं माना है। पाठक ही उनके निबंधों का केंद्र रहा है। उन्होंने प्रत्येक वस्तु को उसी के लाभालाभ की दृष्टि से देखा है। ऐसी दशा में द्विवेदी जी के निबंधों का व्यक्ति-वैचित्र्य से विशेष विशिष्ट न होना सर्वथा अनिवार्य था।'[1]

[1] महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग—डॉ० उदयभानु सिंह।

द्विवेदी जी में मूलतया सामाजिक आलोचक, साहित्य के विचार पक्ष के समीक्षक और भाषा के संस्कारक इस त्रिमूर्ति के दर्शन होते हैं। उन्होंने व्यंग्यात्मक, आलोचनात्मक और विचारात्मक शैली के इन तीनों विधानों को प्रस्तुत किया। सामाजिक संस्कार की सामयिक बातों पर उनकी टिप्पणियों में व्यंग्य और रस होता था। जैसे 'म्युनिसिपैलिटी के कारनामें'—

'इस म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन (जिसे अब कुछ लोग कुर्सीमैन भी कहने लगे हैं) श्रीमान् बूचा शाह हैं। बाप दादे की कमाई का लाखों रुपया आपके घर भरा है। पढ़े लिखे आप राम का नाम ही हैं। चेयरमैन आप सिर्फ इसी लिये हुए हैं कि अपनी कारगुजारी गवर्नमेंट को दिखाकर आप रायबहादुर बन जाँय और खुशामदियों से आठ पहर चौसठ घड़ी घिरे रहें। म्युनिसिपैलिटी का काम चाहे चले चाहे न चले आपकी बला से। इसके एक मेंबर हैं बाबू बख्शिश राय। आप के साले साहब ने फी रुपये तीन चार पसेरी का भूसा (म्यूनिसि-पैलिटी को) देने का ठीका लिया है। आपका पिछला बिल १० हजार रुपये का था। पर कूड़ा गाड़ी के बैलों और भैंसों के बदन पर सिवा हड्डी के मांस नजर नहीं आता।'

ठीक ऐसी ही दृष्टि—आलोचक दृष्टि—उनकी साहित्य विषयक रचनाओं में है। आजकल के छायावादी कवि और उनकी कविता का यह अंश देखिए—

'छायावादियों की रचना तो कभी कभी समझ में भी नहीं आती। ये बहुधा बड़े ही विलक्षण छंदों का भी प्रयोग करते हैं। कोई चौपदे लिखते हैं, कोई छःपदे। कोई ग्यारह पदे तो कोई तेरहपदे। किसी की चार सतरें गज गज भर लंबी तो दो सतरें दो ही अंगुल की। फिर ये लोग बेतुकी पद्यावली भी लिखने की बहुधा कृपा करते हैं। इस दशा में इनकी रचना एक अजीब गोरखधंधा हो जाती है। न ये शास्त्र की आज्ञा के कायल, न ये पूर्ववर्ती कवियों की प्रणाली के अनुवर्ती नए समालोचकों के परामर्श की परवाह करनेवाले। इनका मंत्र है, हम चुनी दीगरे नेस्त। इस हमदानी को दूर करने का क्या इलाज हो सकता है, कुछ समझ में नहीं आता।'

शैलियों की दृष्टि से रचना के जितने रूप जाने माने जाते हैं प्रायः सबके नमूने द्विवेदी जी की रचना से मिल सकते हैं। मनोविकार संबंधी जिन रचनाओं की नींव भारतेंदु युग में बालकृष्ण भट्ट द्वारा डाली गई और जिनका उत्कर्ष आगे चलकर रामचंद्र शुक्ल की रचनाओं द्वारा हुआ, वैसी रचना भी द्विवेदी जी की है। लोभ और क्रोध जैसे विषय पर भी लिखकर मानों उन्होंने दो युग के बीच का सेतुबंध तैयार किया है। जैसे—

'जब क्रोधरूपी आँधी आती है तब दूसरे की बात सुनाई नहीं पड़ती। इसलिये ऐसी आँधी के समय बाहर से सहायता मिलना असंभव है। यदि कुछ सहायता मिल सकती है तो भीतर से ही मिल सकती है। अतएव मनुष्य को उचित है कि वह पहले ही से विवेक, विचार और चिंतन को अपने हृदय में इकट्ठा कर रक्खे। जिससे क्रोधरूपी आँधी के समय वह उससे सहायता ले सके। जब कोई नगर किसी बलवान शत्रु से घेर लिया जाता है तब उस नगर में बाहर से कोई वस्तु नहीं आ सकती। जो कुछ भीतर होता है, वही काम आता है। क्रोधांध होने पर भी बाहर से कोई वस्तु काम नहीं आती, इसलिये हृदय के भीतर सुविचार और चिंतन की आवश्यकता है।'

सच तो यह है कि चाहे जिस कारण से भी हो, द्विवेदी जी की निबंध-कारिता का स्वतंत्र रूप से विकास न हो सका। उनकी छोटी छोटी रचनाएँ संख्या में लगभग ढाई सौ हैं मगर सब टिप्पणी जैसी हैं। उनका आरंभ तथ्य-कथन से होता है और आदि से उपसंहार तक संग्राहक वृत्ति का परिचय मिलता है। शुक्ल जी ने इसी लिये ऐसी रचनाओं को 'बातों का संग्रह' कहा है। आलोचना, पत्रकारिता और भाषासुधार की तत्कालीन समस्याओं के समाधान में निबंधकार द्विवेदी के दर्शन नहीं होते। उनकी रचना का मूल उद्देश्य सामयिक प्रश्नों का हल ही प्रतीत होता है, इसलिये शुद्ध कलात्मकता को वैसा महत्व नहीं मिला। युग की आवश्यकताओं की ओर उन्मुख रहने के कारण से ही शायद व्यक्तित्व अनुप्राणित निबंध द्विवेदी जी ने नहीं लिखे।

निबंधों के लिये यह उदासीनता न केवल स्वयं द्विवेदी जी तक सीमित रही, बल्कि सारा का सारा युग—१९००-१९२० (सं० १९५७-७७) वैसा ही रहा। शुक्ल जी ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि इस द्वितीय उत्थानकाल में एकदम पांच सात विशिष्ट लेखकों के भी नाम नहीं बताए जा सकते।[1] इन बीस वर्षों की साहित्यसाधना से हिंदी साहित्य का असीम उपकार हुआ, इसमें संदेह नहीं, लेकिन निबंधरचना की पुरानी परंपरा को न गति मिली, न बल मिला। 'इस समय ललित निबंधों का एक प्रकार से अभाव सा रहा। साहित्य में उपयोगितावाद को ही अधिक महत्व दिया गया। अतएव कलात्मक निबंधों की रचना की ओर लेखकों का ध्यान अधिक न जा सका। परंतु जो कुछ भी कलात्मक साहित्य आज हमें प्राप्त हो रहा है, उसका बीजवपन द्विवेदी जी के समय में ही हो चुका था, दूसरे, इस युग के निबंधों में एक तरह से सजीवता का अभाव है। उपदेशात्मक

[1] हिंदी साहित्य का इतिहास—पृ० ४९२।

वृत्ति को यहाँ तक अपनाया गया कि निबंधों में नीरसता आ गई है और पाठकों का जी ऊबने सा लगता है। भारतेंदु युग में निबंधों में आत्मीयता तथा पाठक के हृदय को मस्तिष्क की अपेक्षा अधिक प्रभावित करने की जो प्रवृत्ति परिलक्षित होती है, वह भी इस युग के निबंधों में देखने को अधिक नहीं मिलती। इसका मुख्य कारण है लक्ष्य तथा साधन में भिन्नता। भारतेंदु युग का लेखक पाठक की रागात्मिका वृत्ति को उत्तेजित तथा हृदय को प्रभावित कर अपने साथ चलने को विवश करता है, परंतु द्विवेदीकालीन लेखक पाठक के मस्तिष्क को अपनी ज्ञान-गरिमा से प्रभावित कर उपदेशक के रूप में आकर, समान विचारधारा में प्रवाहित कर अपने साथ ले जाना चाहता है। द्विवेदीयुगीन निबंधकार का प्रमुख उद्देश्य पाठक के ज्ञानविस्तार तथा रुचिपरिष्कार की ओर रहा है'।[1]

हम देख चुके कि द्विवेदी जी की रचनाओं में संग्राहक वृत्ति तथा सूचना-संपन्नता ही विशेष रूप से मिलती है जो मुख्यतया पत्रकारिता के गुण हैं। निबंध की आंतरिक शक्तियाँ उनमें नहीं हैं। न वह पर्यवेक्षण, न वैसा विश्लेषण। न रोचकता, न रंजकता। उनकी रचनाओं को ऐसा लेख या टिप्पणियाँ कह सकते हैं जो शैली की दृष्टि से सुबोध हैं और पढ़नेवालों को विविध विषयों की जानकारी देती हैं। मात्र मनोरंजन या चमत्कारप्रदर्शन उनकी रचना का उद्देश्य भी नहीं प्रतीत होता, उनमें ज्ञानवृद्धि और रुचि के संस्कार की चेष्टा है। कम या अधिक यही चेष्टा इस युग के लगभग सभी लेखकों में दिखाई पड़ती है। गिनती में भी बहुत अधिक लेखक इस युग में नहीं मिले और जो हुए, उनमें भी मुश्किल से तीन या चार ही ऐसे मिलते हैं, जिनकी कुछ रचनाओं में निबंध होने की पात्रता थोड़ी बहुत है। जैसे—बालमुकुंद गुप्त, माधवप्रसाद मिश्र, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, सदार पूर्णसिंह, आदि। इनमें से बालमुकुंद गुप्त तो भारतेंदु युग की गोष्ठी के ही साहित्यस्रष्टा हैं, पर चूँकि उनकी साहित्यसाधना इस युग तक चली आई और वृत्ति एवं शैली की दृष्टि से इस युग के ज्यादा समीप है, इसी लिये उन्हें हम इसी अवधि में रखते हैं। ठीक इसी प्रकार रामचंद्र शुक्ल, गुलाबराय आदि का उदय द्विवेदी युग में होने के बावजूद उन्हें हमने बाद के युग में रखा है। इतना तो हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा कि निबंधों के आदियुग (भारतेंदु युग) और आधुनिक युग की योजक कड़ी के रूप में द्विवेदी युग की साधना का मूल्यांकन और ऐतिहासिक विकासक्रम का विचार आवश्यक हो जाता है, नहीं तो इस युग में प्रकृत निबंध के बहुत थोड़े ही नमूने देखने को मिलते हैं और उल्लेख योग्य

[1] द्विवेदीयुगीन निबंध—गंगाबख्श एम. ए.

समर्थ निबंधकार भी बहुत थोड़े ही हैं। शैलीकार के नाते शैली के विकासक्रम की दृष्टि से इनकी चर्चा बेशक बहुत महत्वपूर्ण है और अंततः हमें भी तत्कालीन साहित्यसाधना के विचार से उन चेष्टाओं और तत्वों को जानना जरूरी है जिनसे भावी निबंधसाहित्य के रूप को स्थिरता और समृद्धि मिली, उसके विकास को वेग और बल मिला।

भारतेंदु और द्विवेदी–इन दो युगों के योजकबिंदु हैं बालमुकुंद गुप्त। फलस्वरूप उनके कृतित्व में दोनों युगों की विशेषताएँ परिस्फुट हैं। एक युग का प्राण, दूसरे युग का शरीर। भारतेंदु युग के नवजागरण के अभिनंदन का आवेगमय उल्लास, राष्ट्रप्रेम का ज्वार, नवनिर्माण की बेचैन कामना और द्विवेदी युग की विकसित भाषा, अभिव्यक्ति की प्रांजलता। भाषा बड़ी ही सरस, सशक्त और निखरी हुई। बात यह थी कि उन्होंने उर्दू के समाचारपत्र का संपादन किया था, उसके बाद हिंदी के 'बंगवासी' और 'भारत मित्र' का संपादन किया। इसलिये चलती भाषा लिखने का उन्हें बहुत अच्छा अभ्यास हो गया था। छोटे छोटे वाक्यों में भावों को रवानी के साथ प्रकट करने में वे सिद्धहस्त हो गए थे। मौजी और विनोदी स्वभाव होने से व्यंग्य की विलक्षणता उनकी कृतियों में खूब है। दिल्लगी और विनोद दोनों से काम लेते थे। इन कारणों से इनकी कुछेक रचनाओं में निबंध के तत्वों का सफलता से समावेश हुआ। 'शिवशंभु का चिट्ठा' और 'चिट्ठे और खत' में चुहलबाजी, छेड़छाड़, इनकी जिंदादिली के निदर्शन हैं। जैसे—

'नारंगी के रस में जाफरानी बसंती बूटी छानकर शिवशंभु शर्मा खटिया पर पड़े मौजों का आनंद ले रहे थे। खयाली घोड़े की बागें ढीली कर दी थीं। वह मनमानी जकन्दें भर रहा था। हाथ पाँवों को भी स्वाधीनता दी गई थी। वे खटिया के तूल अरज की सीमा का उल्लंघन करके इधर उधर निकल गए थे। कुछ इसी प्रकार शर्माजी का शरीर खटिया पर था और खयाल दूसरी दुनिया में। अचानक एक सुरीली गाने की आवाज ने चौंका दिया। कनरसिया शिवशंभु खटिया पर उठ बैठे। कान लगाकर सुनने लगे। कान में वह मधुर गीत बार बार अमृत ढालने लगा।'

इन्हीं के बिलकुल समसामयिक गोविंदनारायण मिश्र की शैली इनके बिलकुल विपरीत थी। भाषा का अनावश्यक आडंबर इतना बढ़ गया है, इतनी लंबी लंबी समासांत पदावली है कि कहने की बात उसी के बोझ से दबकर दम तोड़ देती है। व्यावहारिकता से कोई संबंध नहीं। पाठकों की जिज्ञासा उस वाक्यस्थल में उलझ सर मारती रह जाती है, पल्ले कुछ नहीं पड़ता। नमूने के तौर पर साहित्य की वह परिभाषा समझने की कोशिश कीजिए जो मिश्र जी ने बताई है—

'मुक्ताहारी नीर-क्षीर-विचार-सुचतुर-कवि-कोविद-राज-हिय-सिंहासन-निवासिनी, मंदहासिनी, त्रिलोकप्रकाशिनी सरस्वती माता के अति दुलारे प्राणों से प्यारे पुत्रों की अनुपम, अनोखी, अतुल बलवाली, परम प्रभाववाली, सुजन मनमोहिनी नवरसभरी सरस, सुखद विचित्र वचनरचना का नाम ही साहित्य ।'

यही नहीं, उनकी अक्सर रचनाएँ भाषा की दृष्टि से इसी नमूने की हैं। और तो और, हिंदी साहित्यसंमेलन के दूसरे अधिवेशन के सभापति पद से उन्होंने जो भाषण दिया, वह भाषण आद्योपांत ऐसा ही उलझा हुआ, जटिल और भाररूप है। एक पंक्ति इतनी लंबी और इतनी अंतःपंक्तियों का संमेलन है कि अंत तक पाठक पहुँचते हैं तो वहीं भूल जाते हैं कि पीछे क्या पढ़ गए और इस तरह कुछ भी तत्त्व निकालना टेढ़ी खीर हो जाता है। जैसे, उस भाषण की केवल एक पंक्ति देखिए—

'जिस सुजन समाज में सहस्रों का समागम बन जाता जहां पठित कोविद, क्रूर, सुरसिक, अरसिक, सब श्रेणी के मनुष्यमात्र का समावेश है, जहां जिस समय सुकवि, सुपंडितों के मस्तिष्क सोते से अदृश्य प्रवाहमय प्रज्वलित प्रतिभा स्रोत से समुत्पन्न कल्पनाकलित अभिनव भाव माधुरी भरी छलकती अति मधुर रसीली स्रोतस्वती उस हंसवाहिनी हिंदी सरस्वती की कवि की सुवर्ण विन्यास समुत्सुक सरस रसनारूपी सुचमत्कारी उत्स (झरने) से कलरव कल कलित अति सुललित, प्रबल प्रवाह सा उमड़ा चला आता, मर्मज्ञ रसिकों को श्रवणपुट रंध्र की राह मन तक पहुँच सुधा से सरस अनुपम काव्य रस चखाता है, उस समय उपस्थित श्रोता मात्र यद्यपि छंद बंद से स्वच्छंद समुच्चारित शब्द लहरी प्रवाह पुंज का सम भाव से श्रवण करते हैं परंतु उसका चमत्कार आनंद रसास्वादन सबको स्वभाव से नहीं होता।'

एक ही समय की दो शैलियों में रूपगत आकाश पाताल की विषमता-छत्तीस का रूप। 'एक ने अपने प्रखर पांडित्य का आभास अपनी समासांत पदावली और संस्कृत की प्रकांड तत्समता में झलकाया, दूसरे ने साधारण चलते उर्दू के शब्दों को संस्कृत के व्यावहारिक तत्सम तथा तद्भव शब्दों के साथ मिलाकर अपनी उर्दूदानी की गजब बहार दिखाई। एक ने अपने वाक्यविस्तार का प्रकांड तांडव दिखाकर मस्तिष्क को मथ डाला, दूसरे ने चुभते हुए छोटे छोटे वाक्यों में अजब रोशनी घुमाई। एक ने अपने द्रविड़ प्राणायामी विधान से लोगों को त्रस्त कर दिया, दूसरे ने अपनी रचनाप्रणाली द्वारा अखबारी दुनियाँ में वह मुहावरेदानी दिखलाई कि पढ़नेवालों के उमड़ते हुए दिलों में तूफानी गुदगुदी पैदा हो गई। इसका कारण केवल एक था, वह यह कि एक तो कादंबरी को आदर्श मानकर अपने को संसार से परे रखकर केवल एक शब्दमय जगत्

की रचना करना चाहता था और दूसरा वास्तविक संसार के हृदय से हृदय मिलाकर व्यावहारिता का आभास देना चाहता था।'

इस युग में हिंदी निबंध के क्षेत्र में यद्यपि बहुत कम किंतु उल्लेखनीय काम किया, ऐसे दो लेखक हैं –माधवप्रसाद मिश्र और सरदार पूर्णसिंह। इनके नाम अधिक प्रसिद्ध अवश्य नहीं हैं, पर द्विवेदी युग में ये निबंधों के प्रतिनिधि स्वरूप हैं। मिश्र जी वास्तव में एक समर्थ लेखक थे और उन्होंने जो कुछ भी लिखा है, उनमें उनका अपना व्यक्तित्व है। भाषा में चमत्कार, अभिव्यक्ति की समर्थता, ओज और प्रवाह है। काशी से निकलनेवाले 'सुदर्शन' पत्र का उन्होंने संपादन किया था। उन्होंने जर्मन पंडित वेबर[1] की और महावीरप्रसाद द्विवेदी[2] की तीखी आलोचना की। ऐसे क्षोभमय आवेश में लिखते हुए मिश्र जी की भाषा में ओज ही नहीं, अनोखे नाटकत्व का भी समावेश हो जाता। भावावेश में इनकी भाषा में गहरी आंतरिकता आई है। इनकी रचनाओं का एक संग्रह इंडियन प्रेस से निकला है—माधव मिश्र निबंधमाला। रचनाएँ आठ खंडों में विभाजित हैं—जीवनचरित्र, पुरातत्व, पर्व या त्योहार, साहित्य, राजनीति, स्थानवर्णन और भ्रमण वृत्तांत, धर्मचर्चा और आंदोलन तथा कहानियाँ।

नाम चाहे निबंधमाला हो पर इसमें की संगृहीत रचनाएँ सबकी सब निबंध नहीं हैं, या तो प्रबंध हैं, लेख हैं या और कुछ हैं। पर्व त्योहार या भ्रमण वृत्तांत खंड में जो रचनाएँ शामिल हैं उनमें से कुछ में निबंधकार माधव मिश्र के दर्शन किन्हीं अंशों में होते हैं। भारतेंदु युग में पर्व त्योहारों पर लिखने की जो परिपाटी शुरू हुई थी, ये निबंध उसी कड़ी में हैं और उस कड़ी की लगभग यहीं इति भी हो जाती है। इनकी इस कोटि की रचनाओं में आकर्षण है, हार्दिकता है और वैयक्तिकता है। रचना का अंत कुछ इस ढंग से हो जाता है कि लगता है अपूर्ण रह गई 'यानी वाट आफ फिनिश'। धृति और क्षमा जैसे विषय पर भी इन्होंने लिखा है। 'परीक्षा' की कुछेक पंक्तियाँ देखिए—

'वह बड़भागी धन्य है, जिसका कभी इस तीन अक्षर के शब्द से काम न पड़े। अपना भरम लिये मुंदी मुट्ठी भलमंसी के साथ जीवन के दिन पूरे कर दे। परीक्षा वह चीज है, जिसके नाम से देवता और ऋषि मुनि भी काँप उठे हैं। हमारे जैसे साधारण मनुष्यों की सामर्थ्य ही कितनी है जो इसके सामने पैर जमा सकें।'

[1] वेबर का भ्रम

[2] काव्यालोचना

निबंध कहने को सरदार पूर्णसिंह की कुल चार ही पाँच रचनाएँ हैं—सच्ची वीरता, मजदूरी और प्रेम, ब्रह्म क्रांति, आचरण की सभ्यता आदि—परंतु इन्हीं से उनकी उद्भावना शक्ति, शैली की दक्षता और प्रतिभा का पूरा परिचय मिलता है। 'भावात्मक निबंध लिखनेवालों में सरदार पूर्णसिंह का का स्थान सबसे महत्वपूर्ण है, पर सरदार जी हिंदी को छोड़कर अंग्रेजी की ओर झुक गए और उनके केवल पाँच निबंध ही हिंदी को प्राप्त हो सके।'[1] सचमुच द्विवेदी युग को जो निबंधों की दृष्टि से विशेष उन्नत न रहा, पूर्णसिंह की रचनाओं से निबंध के क्षेत्र में एक नया रूप मिला। पश्चिमी सिद्धांतों के अनुसार निबंध का जो स्वरूप है, टेकनिक के नाते उसका रूप पूर्णसिंह की रचनाओं के सिवाय इतना शुद्ध और यथार्थ द्विवेदी युग के किसी दूसरे लेखक में नहीं पाया जाता। उनमें आत्मीयता और व्यक्तित्व को हम निखार में पाते हैं। विषय के लिहाज से जो शैली विचारात्मक होनी चाहिए; अनुभूति की सप्राणता, स्वाधीन चिंतन और हार्दिकता के प्राबल्य से वह भी भावात्मक बन गई है। बीच-बीच में व्यंग्य के पुट से वह और भी आकर्षक हो गई है। जैसे—'परंतु अँगरेजी भाषा का व्याख्यान, चाहे वह कार्लाइल ही का लिखा हुआ क्यों न हो, बनारस के पंडितों के लिये रामरौला ही है। इसी तरह न्याय और व्याकरण की बारीकियों के विषय में पंडितों के द्वारा की गई चर्चाएँ और शास्त्रार्थ संस्कृतज्ञानहीन पुरुषों के लिये स्टीम इंजिन के फप् फप् शब्द से अधिक अर्थ नहीं रखते।' शिष्ट व्यंग्यों के ऐसे अनेक उदाहरण उनकी रचनाओं में यत्र तत्र बिखरे पड़े हैं। फलस्वरूप भाव विचार मिलकर ऐसे एकाकार हो गए हैं, हृदय और मस्तिष्क का ऐसा सुष्ठु सामंजस्य बन पड़ा है कि रचनाओं में हृदय रमता है। 'हल चलानेवाले अपने शरीर का हवन किया करते हैं, खेत उनकी हवनशाला है। उनके हवनकुंड की ज्वाला की किरणें चावल के लंबे और सफेद दानों के रूप में निकलती हैं। गेहूँ के लाल लाल दाने इस अग्नि की चिनगारियों की डलियाँ सी हैं। मैं जब कभी अनार केफूल और फल देखता हूँ तब मुझे बाग के माली का रुधिर याद आ जाता है। किसान मुझे अन्न में, फूल में आहुति हुआ सा दिखाई पड़ता है।'—मजदूरी और प्रेम।

सरदार पूर्णसिंह की तरह कुछ ही निबंधों के कारण चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने भी हिंदी निबंध के विकास क्रम के इतिहास में अपने को सुप्रतिष्ठित कर लिया। 'कछुआ धरम' और 'मारसि मोहि कुठाऊ' इनके इन दो निबंधों का बारबार

[1] हिंदी साहित्य—श्यामसुंदर दास।

उल्लेख किया जाता है। निःसंदेह इनकी शैली बड़ी ठोस, प्रौढ़, परिमार्जित और साहित्यिक है। इनमें व्यक्तित्व की छाप है, अर्थगर्भित वक्रता है, हास्य और व्यंग्य का गहरा पुट है। भाषा शैली में वैयक्तिकता की स्पष्ट छाप है। जैसे 'मारेसि मोहि कुठाऊँ' का यह अवतरण—

'बकौल शेक्सपियर के जो मेरा धन छीनता है, वह कूड़ा चुराता है, पर जो मेरा नाम चुराता है वह सितम ढाता है। आर्य समाज ने वह मर्मस्थल पर मार की है कि कुछ कहा नहीं जाता। हमारी ऐसी चोटी पकड़ी है कि सिर नीचा कर दिया, औरों ने तो गांठ का कुछ न कुछ दिया इन्होंने अच्छे अच्छे शब्द छीन लिए। इसी से कहते हैं मारसि मोहि कुठाऊँ। अच्छे-अच्छे पद तो यों सफाई से लिए हैं कि इस पुरानी जमी हुई दूकान का दिवाला निकल गया। लेने के देने पड़ गये !!!'

चलतापन, प्रवाह और नाटकीयता रहने से भाषा इनकी बड़ी जोरदार हो गई है। कहने का ढंग भी निराला है, उसमें विनोद से भरा कटु व्यंग्य है जिसमें विषय विवेचन में बोझिलता के बजाय एक चमत्कारपूर्ण वक्रता आ जाती है। विषय की रोचकता को बढ़ाने के लिये उर्दू या अँगरेजी के भी शब्दों का उपयोग ये धड़ल्ले से कर देते थे। अँगरेजी के ऐसे शब्द आमफहम ही हों, यह बात नहीं, व्यवहार में कम आनेवाले शब्दों को भी ये समेट लिया करते थे, जैसे ड्रैमेटिक, मनोपोली, एज्युकेड आदि। 'कड़ुआ धरम' के इस संदर्भ में उनकी शैली की सारी विशिष्टताएँ स्पष्ट हो जाती हैं।

'पर ईरान के अंगूरों और गुलों का मूंजवत् पहाड़ की सोमलता को चस्का लगा हुआ था। लेने जाते तो पुराने गंधर्व मारने दौड़ते। हाँ, उनमें से कोई कोई उस समय का चिलकौआ नकद नारायण लेकर बदले में सोमलता बेचने को राजी हो जाते थे। उस समय का सिक्का गौएँ थीं। जैसे आजकल लाखपती, करोड़पती कहलाते हैं, वैसे तब शतगु, सहस्रगु कहलाते थे। ये दमड़ीमल के पोते करोड़ीचंद अपने, नवग्वा, दशग्वा पितरों से शरमाते न थे। आदर से उन्हें याद करते थे। आजकल के मेवा बेचनेवाले पेशावरियों की तरह कोई कोई सरहदी सोम बेचनेवाले यहां पर भी आते थे। कोई आर्य सीमांत पर भी जाकर ले आया करते थे। मोल ठहराने में बड़ी हुज्जत होती थी। जैसी कि तरकारियों का भाव करने में कुंजड़ियों से हुआ करती है। ये कहते कि गौ की एक कला में सोम बेंच दो। वह कहता वाह, सोम राजा का दाम इससे कहीं बढ़कर है। इधर वे गौ के गुण बखानते। जैसे बुड्ढे चौबे जी ने अपने कंधे पर चढ़ी बालवधू के लिये कहा था कि 'या ही में बेटा वा ही में बेटी' वैसे ये भी कहते कि इस गौ से दूध होता है, मक्खन होता है, दही होता है, यह होता है, वह होता है। पर काबुली काहे को मानता।

उसके पास सोम की मनोपली थी और इनको बिना लिए वह सरता नहीं। अंत में गौ का एक पाद अर्ध होते होते दाम तै हो जाते। भूरी आँखोंवाली एक बरस की बछिया में सोम राजा खरीद लिए जाते। गाड़ी में रखकर शान से लाए जाते।'

निबंधकारों में इस युग के कुछ और भी समर्थ गद्य लेखकों के नाम लिए जाते हैं। यथा, पद्मसिंह शर्मा, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, श्यामसुंदर दास, अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध आदि। इनकी गद्य लेखन क्षमता और हिंदी गद्य साहित्य को देन—इन दो विशेषताओं से तो किसी को इनकार हो नहीं सकता, परंतु निबंध के क्षेत्र में इनका विशेष कृतित्व नहीं है। पद्मसिंह शर्मा हिंदी में तुलनात्मक समालोचना के जन्मदाता हैं। ये साहित्य के पारखी और कृति समालोचक रहे हैं। इनकी चुस्त और चुभती शैली की दिनों तक नकल होती रही। 'पद्मपराग और प्रबंधमंजरी' नाम के दोनों संग्रहों में इनकी जो रचनाएँ हैं वे वास्तव में निबंध नहीं हैं। शर्मा जी वस्तुतः आलोचक थे निबंधकार नहीं। इसी प्रकार चतुर्वेदी जी की जो थोड़ी सी रचनाएँ हैं उनमें हास्य है विनोद है, मनोरंजकता है पर निबंधता नहीं है। 'निबंध निचय' और 'गद्य माला' नाम के इनके दो संग्रह हैं जिनमें अधिकांश उनके भाषणों का संग्रह ही है। उन संगृहीत रचनाओं में 'म', 'बड़प्पन', 'अनुप्रास का अन्वेषण,' पिक्चरपूजा' आदि कुछ के शीर्षक ऐसे हैं जो निबंध का आभास देते हैं। किंतु उनमें न तो व्यक्तित्व की वह झलक है, न भावोत्तेजन की वह शक्ति। 'व की बहार' आदि में भाषा चातुरी है। श्यामसुंदर दास प्रधानतः आलोचक और व्यवस्थापक हैं। उनकी रचनाएँ साहित्यिक सिद्धांत और समीक्षा संबंधी हैं। श्यामसुंदर दास की साधना और प्रेरणा से हिंदी का भंडार समृद्ध हुआ है। हरिऔध जी ने भी दो एक पुस्तकों की भूमिका तथा सामयिक पत्रों में कुछ लेख के अतिरिक्त निबंध नहीं लिखे।

ऊपर किए गए संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ललित निबंधों की परंपरा को द्विवेदी युग से वैसा अवदान नहीं मिल सका। भारतेंदु युग के बाद विषयप्रधान विचारात्मक निबंधों की धारा जितनी पुष्ट हुई, उतनी रचना विषयक नियमानुवर्तिता छोड़कर नए ढंग से काम या अधिक स्वच्छंदता-पूर्वक रोचक शैली में लिखे गए निबंधों की नहीं। द्विवेदी युग का नैतिक आग्रह भी इसमें कम बाधक नहीं हुआ। उस युग में भी गुलेरी जी और पूर्णसिंह जैसे लेखक हुए, जिनमें वह मानसिक स्वच्छंदता मिलती है जो निबंध के लिये आवश्यक है, पर वे लोग भी इस नए मार्ग पर अधिक आगे नहीं बढ़ पाए।[1] नहीं बढ़ पाने

[1] हिंदी गद्य की प्रवृत्तियाँ

का प्रमुख कारण हुई युग की आबहवा। उस युग की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थिति ही कुछ ऐसी थी कि लेखकों का मानसिक धरातल निर्बंध निबंधों के लिये उपयुक्त प्रेरणा की खूराक नहीं उत्पन्न कर सका। राजनीतिक वातावरण बिल्कुल बदल गया था और देश की मुक्ति की भावना प्रबल से प्रबलतर होती आ रही थी। सन् १९०७ (सं० १९६४) में कांग्रेस ने केवल प्रस्ताव पास करने के बजाय, उन प्रस्तावों के अनुसार कार्य करने की ठानी। इस बीच यानी दस पंद्रह साल की अवधि में देश की राजनैतिक गतिविधि में बड़ी उथल पुथल हुई। सन् १९०८ (सं० १९६५) में राष्ट्रीय दल को कुचल डालने के प्रयासों ने जोर पकड़ा। लोकमान्य तिलक को छः साल की कड़ी कैद की सजा मिली। १९०९ (सं० १९६६) का सेडीशस मीटिंग्स ऐक्ट, १९१० (सं० १९६७) का प्रेस ऐक्ट आदि से सर्वसाधारण के मन में विदेशी शासकों के प्रति घृणा और विक्षोभ के भाव भर गए। ऐसी और भी अनेक महत्वपूर्ण घटनाएँ घटीं। १९०५ (सं० १९६२) की बंगभंग योजना और राष्ट्र की धमनियों में जोश और जागृति की लहर फूँकने वाले बंदेमातरम् पर रोक। १९११ सं० १९६०) का दिल्ली दरबार और बंगभंग योजना का रद्द होना। १९१४ (सं० १९७१ में लोकमान्य तिलक की कारामुक्ति आदि आदि। अँगरेजी के संपर्क में आने से अपनी सामाजिक रूढ़िदासता की नींव पहले से ही डगमगा गई थी। परिणामस्वरूप सामाजिक सुधार की जो चेतना भावना पहले से चली आ रही थी, वह प्रवृत्ति और बलवत्तर हुई साथ ही उससे जुड़ गई स्वराज्य पाने की प्रबल आकांक्षा। विदेशी शासन और व्यापार से आर्थिक शोषण का मार्मिक क्षोभ भी विचारों के आकाश में घुमड़ उठा। इन सब कारणों से तत्कालीन लेखकों का समय और श्रम देश की तात्कालीन आवश्यकताओं पर ही अधिक केंद्रित हुआ। इन बीस वर्षों की अवधि की साहित्यसाधना का यदि लेखा लिया जाय तो हम देखेंगे कि ज्यादा से ज्यादा रचनाएँ इन्हीं परिस्थितियों से उद्भूत हुई हैं और अंततोगत्वा वे हमारी राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक विषमता के अभाव और क्षोभ की प्रेरणा से प्रसूत हैं। देश की वर्तमान दुरवस्थाओं के प्रति क्षोभ राष्ट्रीय चेतना की जागृति आर्थिक विषमता से असंतोष, सारी रचनाएँ लगभग इसी मानसिक अवस्था की परिपोषक हैं। सरस्वती, मर्यादा, इंदु, लक्ष्मी, आदि पत्र पत्रिकाओं में अधिकांश लेख इन्हीं भाव विचारों से संबंधित हुआ करते थे। अतीत गौरव की ओर दृष्टिपात, देश-गुण-गान, समाज के सर्वांगीण उत्कर्ष पर मनोनिवेश, कृषि, कला कौशल और उद्योग धंधों के लिये आकर्षण, आस्था और आह्वान अधिकांश रचनाओं की मर्मवाणी यही हुआ करती थी। स्पष्ट है कि ये परिणाम प्रयोजनप्रेरित हैं, इनमें निर्बंध निबंध की विशेषताओं के विकास की संभावना भी नहीं। इनमें विषय का वैचित्र्य है, विचारों की वैज्ञानिकता है, शैली की शास्त्रीयता है, अतः अर्जित ज्ञान की पुनरावृत्ति और उपदे-

आत्मकता भी इनके लिये स्वाभाविक ही है। चर्वितचर्वण में वह संजीदगी, वह नवीन उपलब्धि आ भी नहीं सकती जो कि अंतःप्रयास की देन होती है।

इतना अवश्य स्वीकार करना होगा कि अगले युग में निबंधों के निखरे रूप के जो भी थोड़े बहुत निदर्शन मिलते हैं, उनके लिये ठोस पृष्ठभूमि, भाषा का सशक्त आधार और शैली की प्रांजलता नींव इसी युग में पड़ी। समय के अनुसार जीवन और समाज की समस्याएँ भी बदलीं और समस्याओं के साथ साथ उनपर दृष्टिकोण भी व्यापक, विशद और सर्वांगीण हुआ। यह तो फिर भी नहीं कहा जा सकता कि अगले बीस वर्षों में निबंधों का बड़ा विकास हुआ। आधुनिक युग में कुछ बड़े ही सुंदर और प्रकृत निबंध पाठकों की दुनिया में आए, किंतु निबंध—साहित्यिक, ललित या निबंध—की परंपरा का यथोचित विकास न हुआ। आचार्य शुक्ल ने बीसवीं सदी के दूसरे दशक तक प्रकृत निबंधों की कमी का रोना रोया था[1] और इसके सोलह साल बाद अर्थात् सन् १९३५ (सं० १९९२) में भी उन्हें निबंधों के लिये वही रोना रोना पड़ा कि—'ऐसे प्रकृत निबंध जिनमें विचार-प्रवाह के बीच लेखक के व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य और उनके हृदय के भावों की अच्छी झलक हो हिंदी में कम देखने में आ रहे हैं।'[2] यही शिकायत हिंदी के दूसरे दूसरे हितकामियों ने भी की है। हिंदी में अबतक निबंधों का युग नहीं आया है। समालोचनात्मक निबंधों के अतिरिक्त हिंदी के अन्य सभी निबंध साधारण कोटि के हैं। बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र के निबंध हिंदी की बाल्यावस्था के हैं। उनमें विनोद आदि चाहे जो कुछ हो, वे साहित्य की स्थायी संपत्ति नहीं हो सकते। × × × सारांश यह कि निबंधों की ओर अभी विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। हिंदी साहित्य के इस अंग की पुष्टि की ओर सुलेखकों का ध्यान जाना चाहिए।[3]

वास्तव में आज भी हिंदी में निबंधों की यही स्थिति है। पाश्चात्य आदर्शों के अनुसार निबंध को रूप, परिभाषा और शैली की दृष्टि से जिस कोटि की रचना माना गया है, हिंदी में आज भी उस कोटि की रचना का नितांत अभाव है। इसके सौ साल के इतिहास में उल्लेखयोग्य रचनाएँ बहुत थोड़ी ही मिलती हैं। जब जब और जिन जिन लेखकों ने भी हिंदी निबंध पर विचार किया है सबने विविध विषय और विविध श्रेणी की रचनाओं को निबंध के

[1] इंदौर में दिया गया भाषण
[2] चिंतामणि।
[3] हिंदी साहित्य—श्यामसुंदर दास, १९५४ का संस्करण।

अंतर्गत मानकर किया है। संभवतः इसके अतिरिक्त गत्यंतर नहीं। लेख, रचना, आलोचना, समालोचना, सबकी गिनती निबंध में ही कर ली गई है। सामाजिक राजनैतिक, धार्मिक, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, अर्थनैतिक सब विषयों एवं यात्रा, इतिहास, स्केच, संस्मरण, गद्यगीत सभी शैलियों की रचनाएँ निबंधविचार में ही शामिल कर ली गई हैं। जैसे 'द्विवेदीजी के निबंधों की भाँति उस युग के निबंध भी चार रूपों में प्रस्तुत किए गए। पहला रूप पत्रिकाओं के लिये लिखित लेखों का था। ×× दूसरा रूप ग्रंथों की भूमिकाओं का था। ×× तीसरा रूप भाषणों का था। द्विवेदी युग में दिए गए हिंदी साहित्य संमेलन के सभापतियों के महत्वपूर्ण भाषण इसी रूप के अंतर्गत हैं। इस युग के निबंधों का चौथा रूप पुस्तकों या पुस्तकों के आकार में दिखाई पड़ता है। उदाहरणार्थ द्विवेदी जी का नाट्यशास्त्र या जयशंकर प्रसाद का चंद्रगुप्त मौर्य।'[1] भोलानाथ राय ने अनेक कोटि की रचनाओं में निबंध के विकासक्रम का स्वरूप निर्धारित किया है।[2] पत्र पत्रिकाओं के लेख, पुस्तकों के अध्याय, भाषण, पत्र, पुस्तकों की भूमिकाएँ और प्रस्तावनाएँ, संस्मरण, पैम्फलेट या ट्रैक्ट, पुस्तक, गद्यगीत आदि आदि। पत्र, डायरी, रिपोर्ताज, संस्मरण, स्केच, गद्यगीत आदि निबंध की निकटतम अवस्था तक पहुँच तो सकते हैं, पर उनकी स्वतंत्र कोटि है—वे निबंध नहीं हैं। भाषण भूमिका तो निबंध हो ही नहीं सकते। न केवल इसलिये कि ऐसी रचनाओं में विषयपरकता होती है बल्कि इसलिये कि इनमें मूलतया निबंधता ही नहीं। यों विषय कोई भी हो, रचना निबंध हो सकती है, शर्त इतनी है कि उसमें व्यक्तित्व की वह छाप हो, जो निबंध के लिये अपेक्षित है। ए० जी० गार्डनर ने ठीक ही कहा है कि 'कोई भी खूँटी चल सकती है मुख्य बात उसपर टोप लटकाने की है।'

हिंदी निबंध विचार में मुख्यतया यही बात ध्यान में नहीं रखी जाती और इसलिये निबंध के उदाहरणों में सब तरह की रचनाएँ उपस्थित कर दी जाती हैं। हमारी समझ से इसके दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि प्रकृत निबंध के स्वरूप की धारणा ही निर्भ्रांत नहीं है। दूसरा यह कि उल्लेखयोग्य निबंधों का नितांत अभाव है। इसमें भी दूसरा ही कारण हमें ज्यादा प्रबल और सत्य प्रतीत होता है, क्योंकि रूप और परिभाषाविचार में लोग लगभग उसी पाश्चात्य विचार से सहमत हैं और मानते हैं कि निबंध हिंदी में नई चीज है एवं इसका उद्भव पाश्चात्य प्रेरणा से हुआ है। किंतु चूँकि हिंदी

[1] महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग—पृष्ठ १२८।
[2] हिंदी साहित्य—१९२६-१९४७।

निबंध परंपरा की रूपरेखा तैयार करने में उदाहरण के लिये पर्याप्त सामग्रियाँ नहीं मिलतीं, इसलिये अन्य कोटि की रचनाओं को भी इसी वर्ग में संमिलित कर लिया जाता है। कुछ लेखकों ने अभावजन्य इस प्रकृति को स्वीकार किया है। 'आज साहित्य में इस प्रकार की रचनाएँ भी प्रायः निबंध के नाम से अभिहित की जाती हैं। इन्हें निबंध की कोटि में रखा जाय अथवा नहीं ? यह तो सत्य है कि ऐसी रचनाएँ आदर्श निबंध की तुला पर नहीं तुल सकतीं। यदि इन्हें भी निबंध की कोटि में प्रतिष्ठित कर दिया जाय तो निश्चय ही निबंध का अपना सच्चा रूप रंग कुछ फीका प्रतीत होगा। ऐसी स्थिति में इनके लिये एक अलग कोटि का निर्धारण ही श्रेयस्कर जान पड़ता है। प्रश्न यह है कि इनकी कौन सी कोटि हो और इन्हें नाम कौन सा दिया जाय। कोटि की दृष्टि से इन्हें हम निबंध से नीची कोटि में ही रखेंगे अर्थात् द्वितीय कोटि में, निबंध प्रथम कोटि की रचना होगी। अब, इन्हें नाम क्या दिया जाय, प्रश्न यह है। ये सभी कठिनाइयाँ दूर हो जायँ, यदि इस प्रकार की रचना के लिये लेख शब्द का ग्रहण कर लिया जाय, क्योंकि कोई दूसरा प्रशस्त मार्ग नहीं दृष्टिगोचर होता। × × तो निबंध के समान ही विस्तार में छोटी, अभीष्ट विषय के प्रतिपादन से युक्त तथा विषय के प्रतिपादन में ग्रंथन कौशल से परिपूर्ण रचना को हम लेख शब्द द्वारा अभिहित करें तो कोई हानि नहीं। इस प्रकार की रचना द्वितीय कोटि की मानी जायगी क्योंकि आदर्श निबंध के अन्य-तत्व इसमें संभवतः न मिल सकेंगे। निबंध की व्यापकता के लिये ऐसा करना आवश्यक प्रतीत होता है। यदि ऐसा न किया जायगा तो हिंदी साहित्य में निबंध की संख्या अँगुलियों पर गिनने योग्य ही होगी।'[1]

निबंध विचार में संभवतः इसी लिये ऐसा किया गया है। किंतु प्रश्न यह है कि ऐसा करना कहाँ तक युक्तियुक्त है। कई लोगों ने तो लेख आदि को भी निबंध मान लेना उचित समझा है। उनके अनुसार पाश्चात्य आदर्श हिंदी निबंध की कसौटी नहीं हो सकते। 'हिंदी निबंधों के स्वरूप और विकास को समझने के लिये वर्तमान युग की पश्चिमी परिभाषाएँ उधार लेने से काम नहीं चल सकता। हिंदी में निबंध का न तो उतना विस्तृत इतिहास ही है और न उसका आरंभ बेकन से ही हुआ है। निबंध की यह पश्चिमी कसौटी कि वह व्यक्तित्व की मनोरंजक एवं कलात्मक अभिव्यक्ति है, हिंदी के लिये प्राप्त नहीं हो सकती। यहाँ तो सीमित गद्यरचना में व्यक्त की गई सुसंबद्ध विचारपरंपरा को ही निबंध मानना अधिक समीचीन जँचता है।'[2] इस कथन में भी यही प्रचेष्टा परिलक्षित होती है

[1] भारतेंदुयुगीन निबंध

[2] द्विवेदी और उनका युग।

कि चूँकि उस दृष्टि से संख्या में अधिक निबंध उपलब्ध नहीं होते, इसी लिये उसके क्षेत्र का कुछ विस्तार कर दिया जाय। इस प्रचेष्टा से विचार के लिये निश्चय ही सामग्रियों का अभाव नहीं रह जाता, किंतु निबंधों की कमी की पूर्ति नहीं होती। सच तो यह है कि हिंदी में वैसी गति से निबंधों का विकास हुआ भी नहीं, जैसी गति से अँगरेजी साहित्य में हुआ। उत्तर-द्विवेदी-युग में अपेक्षाकृत अधिक समर्थ निबंधकार एवं शुद्ध निबंध के दर्शन अवश्य होते हैं, लेकिन यदि युग का प्रवृत्तिगत विचार करें, तो कहना पड़ेगा कि प्रवृत्ति प्रधानतया आलोचनात्मक रही। यूरोप के अन्य अनेक देशों की भाँति हिंदी की सृजनात्मक शक्तियाँ मुख्य रूप से समालोचना और समीक्षा के क्षेत्र में ही नियोजित रहीं। आलोचना समालोचना का सूत्रपात बहुत पहले हो तो चुका था, परंतु भाषा की सीमित शक्ति के कारण न तो उसकी प्रणाली परिष्कृत थी, न विचारों में वैसा वैज्ञानिक सुलझाव ही था। इसी लिये शक्तिमत्ता के अभाव में यह क्षेत्र खाली सा पड़ा था। कृतिकारों की प्रतिभा इस अभाव की पूर्ति में नियोजित हुई और फलस्वरूप प्रौढ़ भाषा की सभी संभव शैलियों—विचारात्मक, भावात्मक, इतिवृत्तात्मक, व्यंग्यात्मक—की उद्भावना हुई। भाषा में पात्रता और योग्यता आने के कारण निबंधों के विकास की भी वैसी पृष्ठभूमि तैयार हुई। अगले युग में इसी लिये निबंधों की संख्यागुरुता चाहे न हो, उनके वैविध्य का वैभव, स्वरूप की शुद्धता और प्राणवत्ता की स्पष्ट झलक मिलती है। विषय की अनुरूपता का ग्रहण, भाषा की सरलता में प्रभावोत्पादकता और जीवनमयता, रंग और रूप का वैचित्र्य ये विशेषताएँ स्वभावतया आ जाती हैं। द्विवेदी जी के बाद ही वास्तव में प्रकृत निबंधों का एक नया, सबलतर और समृद्ध युग आरंभ होता है।

आलोच्यकाल—१९२०-४० (संवत् १९७७-९६) जिस प्रकार गद्य के सर्वांगीण विकास का स्वर्ण युग है, उसी प्रकार यह हिंदी निबंधों के विकास का महत्वपूर्ण समय है। गद्य के अन्य अंग, उपांगों की तरह निबंध भी इस युग में स्वस्थ, सबल और संपन्न हुआ। पिछले युग की जो आंतरिक और बाहरी स्थूलता थी, वह जाती रही और निबंध सूक्ष्म एवं अंतर्मुखी हो गया। विवरण का अनावश्यक आडंबर हटता गया और रूप तथा आत्मा उसकी प्रौढ़ता की ओर बढ़ती गई। दृष्टिकोण की व्यापकता से विषय की विशदता, सुलझे विचारों से शैली की सहजता का स्वयं समावेश हुआ। संक्षिप्तता में ही मार्मिक शक्ति तीक्ष्णता सन्निविष्ट हुई। इसके पीछे समय की गति का भी हाथ रहा है। निबंधों के इस नए मोड़ की अंतःप्रेरणा को गांधीवाद की शालीनता से वेग मिला। पहले महायुद्ध की समाप्ति के बाद भारत की अंतश्चेतना को आत्मनिर्भरता के एक नए आलोक का स्पर्श मिला। सन् १९२० (सं० १९७७) में अँगरेजी साम्राज्यवाद

के विरोध में गांधीजी ने सत्याग्रह का शंख फूँका। सन् १९२१–२२ (सं० १९७८–७९) में गांधी इरविन समझौते की विफलता राष्ट्रीय जीवन में नए संकल्प की सप्राणता का संचार कर गई। ऐसी अन्य अनेक घटनाएँ राष्ट्र के अंतर्जीवन में करवट बदल गईं जिनका भाव विचार पर एक अजेय और अलक्षित नियंत्रण रहा। कालपुरुष की इस गति से साहित्य का अंतःप्रवाह भी अछूता न रहा। इस युग ने जीवन की समग्रता को देखने की एक नई दृष्टि दी। इस प्रांजल दृष्टि ने साहित्य के विषय का क्षेत्र ही बहुत विस्तृत नहीं कर दिया, वरन् मर्म की नई दिशा और द्वार का भी उद्घाटन किया। भाषा में पात्रता आ रही थी, उसमें सब प्रकार के भावों का उपयुक्त वाहन बनने की योग्यता जुट रही थी, उपयुक्त और नए नए विषयों का संभार भी मिल गया। इसी लिये इस युग में भाव विचार, विषय, शैली के वैचित्र्य का एक ऐसा अनोखा वैभव आया कि हिंदी भारती का भंडार गौरवमय हो उठा।

इस युग के निबंधकारों में अग्रणी हैं आचार्य रामचंद्र शुक्ल। व्यक्तित्व विधायिनी विविधताओं के साथ साथ स्वच्छ चिंतन, प्रौढ़ भाषाशैली और अभिरुचि-संपन्नता सबसे पहले इन्हीं की रचनाओं में प्रत्यक्ष हुई। यह अवश्य है कि इन्होंने समीक्षात्मक और व्यावहारिक आलोचनाएँ ही ज्यादा लिखीं और उस क्षेत्र में नई उद्भावना के नाते हिंदी के निर्माताओं में उनका स्थान अनन्य है। शैली की दृष्टि से उनकी संपूर्ण रचनाओं पर विचार करें तो इस सत्य की अनायास ही प्रतीति होगी कि उनमें हिंदी की पूर्ववर्ती सारी उद्भावित शैलियों का समाहार है और बाद की विविध शैलियाँ किसी न किसी रूप से उनसे प्रभावित हुई हैं। द्विवेदी युग की शास्त्रीय शैली को और भी सप्राण, शक्तिशाली बनाकर शुक्लजी ने गद्यरचना की दिशा में भविष्य की बड़ी संभावनाएँ भर दीं। भावाभिव्यंजना की उपयुक्तता के लिये अर्थगर्भ सशक्त पदावली के संग्रह में उन्होंने बड़ी पटुता दिखाई और इसी उदार संग्राहक वृत्ति के कारण सुस्थिर, गंभीर, प्रभावपूर्ण एवं प्रौढ़ गद्य शैली का स्वरूप निखर सका। उनके शब्दविधान में संस्कृत के शुद्ध तत्सम शब्द, अँगरेजी के अनूदित शब्द और उर्दू के शब्द ऐसे घुले मिले प्रयुक्त हुए हैं कि अभिव्यक्ति को बल और गति मिली है। जब जैसा अवसर, तब तैसी भाषा के प्रयोग की उनकी कुशलता और आदर्श अनुकरणीय है। इस प्रकार हिंदी आलोचना के क्षेत्र में शुक्ल जी का व्यक्तित्व अप्रतिम है। उन्होंने स्वयं बहुत कुछ लिखकर हिंदी भारती के भंडार को समृद्ध किया है। उनका कृतित्व केवल इतना ही नहीं, बल्कि आलोचना को नया मान, नया दिशा संकेत देकर आगे का पथ परिष्कृत करते हुए प्रेरणा का संचार किया है।

हिंदी आलोचना के प्रतिष्ठाता और उन्नायकों में शुक्ल जी का अपना स्वतंत्र

और महत्वपूर्ण स्थान है। सामान्यतया उनकी रचनाएँ विचार और समीक्षा संबंधी हैं। इस कोटि की रचनाओं को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—साहित्य सिद्धांत और व्यावहारिक आलोचना। दोनों ही श्रेणी की रचनाओं में लकीर की फकीरी के बजाय उनके स्वतंत्र चिंतन की छाप है। अपनी प्रवृत्ति, अपनी पद्धति और अपनी उद्भावना स्थापना है। आज अवश्य हिंदी समीक्षा उस सीमा रेखा को पारकर आगे निकल गई है। जिस मान और क्षेत्र तक उनकी समीक्षा साधना केंद्रित थी, वह भूमि बहुत विस्तृत हो गई है। नए युग की सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना का सही और संपूर्ण प्रतिबिंब उस कृतित्व दर्पण में नहीं समा सकता। इसी लिये आज ऐसी भी प्रतीति जिज्ञासुओं और विवेचकों को होने लगी है कि समाज शास्त्र, संस्कृति और मनोविज्ञान की मीमांसा उन्होंने नहीं की है। प्रवृत्ति विषयक उनकी धारणा भारतीय धार्मिक धारणा की अपेक्षा पाश्चात्य अधिक है। उनका काव्य विवेचन भी प्रबंध कथानक और जीवन सौंदर्य के व्यक्त रूपों के संग्रह करने के कारण सर्वांगीण और तटस्थ नहीं कहा जा सकता। नवीन युग की सामाजिक और सांस्कृतिक जटिलताओं का विवेचन और उनसे होकर बहनेवाली काव्य धारा का आकलन हम शुक्ल जी में नहीं पाते। यह स्वाभाविक ही है क्योंकि शुक्ल जी जिस युग के प्रतिनिधि हैं, हम उसको पार कर चुके हैं। वे हमारी साहित्य समीक्षा के बालारुण हैं। किंतु दिन अब चढ़ चुका है और नए प्रकाश और नई उष्मा का अनुभव हिंदी साहित्य समीक्षा कर चुकी है।'[1]

शुक्ल जी को हमने आधुनिक युग के निबंधकारों का अग्रणी कहा है। इससे हमारा यह तात्पर्य न समझें कि हम उनकी इन समीक्षात्मक रचनाओं को निबंध कहते हैं। कुशल निबंधकार शुक्ल के दर्शन तो उनके मनोविकार संबंधी रचनाओं में होते हैं। संख्या में ऐसी रचनाएँ यद्यपि बहुत थोड़ी है पर वही उन्हें एक श्रेष्ठ निबंधकार की श्रेणी में सहज ही प्रतिष्ठित कर देती है। हिंदी के लिये वे रचनाएँ वस्तुतः गर्व और गौरव की वस्तु हैं। वे निबंध हैं—भाव या मनोविकार, उत्साह, श्रद्धा और भक्ति, करुणा, लज्जा और ग्लानि, घृणा ईर्ष्या, भय, क्रोध। मूलतया इन निबंधों में भी विचार प्रधानता ही है जो शुक्ल जी की प्रवृत्ति की निजस्वता है, परंतु सहृदय हृदय का सुष्ठु संयोग भी है। इसी लिये उनमें न तो साहित्यिकता की कमी खटकती है, न सरसता की। निबंध के स्वरूप संबंधी विचार और मान्यताएँ शुक्ल जी की अपनी भी रही हैं। और उस मान्यता में उन्होंने विचार को मुख्यतया दी है। यथा, उनके विचार से उत्तम निबंध वह है जिसमें नए नए

[1] हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी—नंददुलारे वाजपेयी

विचारों की उद्‌भावना या अभिव्यक्ति हुई हो और वे विचार एक दूसरे से गुँथे हुए हों जिनके पढ़ने से पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचारपद्धति पर दौड़े। वे यह मानते हैं कि निबंध पढ़ने के पश्चात् यह आवश्यक है कि उसकी गहन विचारधारा पाठकों को मानसिक श्रमसाध्य नूतन उपलब्धि के रूप में जान पड़े। निबंधों में विचार संबंधी शुक्ल जी के इस विचार का जो सारांश है, वह यह है कि निबंधों में विचारों का बंधान और कसावट जरूरी है। इस बंधान और कसावट की मुख्यतया दो विशेषताएँ होती हैं—भाषा और अर्थ की सशक्तता अर्थात् निबंध में भाषा का जीवंत चमत्कार तथा विचारों की सुगठित शृंखला हो। लेकिन विचारों की शृंखला से उनका यह आशय कदापि नहीं रहा है कि वह केवल मस्तिष्क का व्यायाम हो। साहित्य के इतिहास के निबंध प्रकरण में उन्होंने इस बात को साफ समझाया है कि निबंध रचना के लिये विचार के साथ भाव का, बुद्धि के साथ हृदय का संयोग आवश्यक है। शुक्ल जी यद्यपि विचारप्रौढ़ निबंध को ही श्रेष्ठ मानते हैं तथापि भाव योग की अनिवार्यता से उन्हें इनकार नहीं, न अपनी रचनाओं में से उसे वह निर्वासित ही कर सके हैं। 'चिंतामणि' की भूमिका में उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि 'इस पुस्तक में मेरी अंतर्यात्रा में पड़नेवाले कुछ प्रदेश हैं। यात्रा के लिये निकलती रही है बुद्धि पर हृदय को साथ लेकर', और सचमुच ही निबंधों की यह नियमानुकूलता उनके उन निबंधों में है। भावात्मक कोमलता का समावेश उनमें सर्वत्र है।

कई लोग इन निबंधों के प्रस्तुत किए जाने को हिंदी साहित्य में एक नवीन घटना मानते हैं।[१] इसमें संदेह नहीं कि ये निबंध बड़े ही उच्च कोटि के हैं और इनसे हिंदी निबंध साहित्य की श्री समृद्धि हुई है। परंतु यही प्रचेष्टा पहली और एकमात्र नहीं। मनोविकारों पर लिखने का सूत्रपात भारतेंदु युग में हो चुका था। उदाहरण स्वरूप बालकृष्ण भट्ट के 'आत्मनिर्भरता', प्रतापनारायण मिश्र के 'मनोयोग' माधवप्रसाद मिश्र के 'धृति और क्षमा' शीर्षक निबंधों के नाम लिए जा सकते हैं। ये सभी निबंध मानसिक शक्ति या मनोभावों से संबंध रखते हैं। हिंदी में निबंधों के वे आरंभिक दिन थे। विचार की वैसी परिपक्वता, भाषा की वैसी प्रौढ़ता, समर्थता उन दिनों नहीं थी। इसी लिये शुक्ल जी के इन निबंधों के आगे वे सामान्य हैं। शुक्ल जी निबंध कसाव, विचारोत्तेजन और तीव्र अंतर्दृष्टि, सभी दृष्टियों से अप्रतिम हैं। मनोभावों में उन्होंने रूप लक्षण, उत्पत्ति और विकास—सर्वांगीण दृष्टि डाली है। लेकिन वह दृष्टि मनोवैज्ञानिक न होकर व्यावहारिक है, विज्ञानी

[१] आचार्य रामचंद्र शुक्ल—श्री शिवनाथ

न होकर मानवी है। भाव के धागे में विचारों के मोती की लड़ी पिरोई गई है, इसलिये अनुभूतिशीलता का कहीं अभाव नहीं है, शास्त्रीय या वैज्ञानिक रूक्षता तथा दुरूहता नहीं है। सर्वत्र एक साहित्यिक सरसता है। जैसे लोभ और प्रीति निबंध के दो एक स्थल देखें—

'जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है, जो यह भी नहीं सुनते कि चातक कहाँ चिल्लाता है, जो आँख भर यह भी नहीं देखते कि आम प्रणय सौरभ मंजरियों से कैसे लदे हुए हैं, जो यह भी नहीं झाँकते कि किसानों के झोपड़ों के भीतर क्या हो रहा है, वे यदि दस बने ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी का परता बताकर देशप्रेम का दावा करें, तो उनसे पूछना चाहिए कि भाइयों, बिना परिचय का यह प्रेम कैसा ? जिनके सुख दुःख के तुम कभी साथी न हुए, उन्हें तुम सुखी देखना चाहते हो, यह समझते नहीं बनता। उनसे कोसों दूर बैठे बैठे, पड़े पड़े या खड़े खड़े तुम विलायती बोली में अर्थशास्त्र की दुहाई दिया करो, पर प्रेम का नाम उसके साथ न घसीटो। प्रेम हिसाब किताब की बात नहीं है, हिसाब किताब करनेवाले भाड़े पर भी मिल सकते हैं, पर प्रेम करनेवाले नहीं। हिसाब किताब से देश की दशा का ज्ञान मात्र हो सकता है।'

'लक्ष्य की एकता से समाज में एक दूसरे की आँखों में खटकनेवाले लोभ की वृद्धि हुई। जब एक ही को चाहनेवाले बहुत से हो गए, तब एक की चाह को दूसरे कहाँ तक पसंद करते। लक्ष्मी की मूर्ति धातुमयी हो गई, उपासक सब पत्थर के हो गए। धीरे धीरे यह दशा आई कि जो बातें पारस्परिक प्रेम दृष्टि से, धर्म की दृष्टि से की जाती थीं वे भी रुपए पैसे की दृष्टि से होने लगीं। आजकल तो बहुत सी बातें धातु के ठीकरों पर ठहरा दी गई हैं। पैसे से राजसंमान की प्राप्ति, विद्या की प्राप्ति और न्याय की प्राप्ति होती है। जिनके पास कुछ रुपया है, बड़े बड़े विद्यालयों में अपने लड़के को भेज सकते हैं, न्यायालयों में फीस देकर अपने मुकदमें दाखिल कर सकते हैं और महँगे वकील बैरिस्टर करके बढ़िया खासा निर्णय करा सकते हैं, अत्यंत भीरु और कायर होकर बहादुर कहला सकते हैं, राज धर्म, आचार्य धर्म, वीर धर्म, सब पर सोने का पानी फिर गया, सब टका धर्म हो गए। धन की पैठ मनुष्य के सब कार्यक्षेत्रों में करा देने से, उसके प्रभाव को इतना विस्तृत कर देने से ब्राह्मण धर्म और क्षात्रधर्म का लोप हो गया, केवल वणिग् धर्म रह गया।"

उपर्युक्त उद्धरणों में हम भाषा की चुस्ती और सहज प्रवाह, विचारों की संघटित परंपरा, व्यंग्य आदि का स्वाभाविक समावेश पाते हैं। निश्चय ही यह शब्द-विधान शुक्ल जी की उन रचनाओं से भिन्न है जो समीक्षा संबंधी हैं। इसमें

विचारों की अटूट श्रृंखला रहते हुए भी सजीव रोचकता है, क्योंकि अनुभवशीलता है। लेकिन स्वाभाविकतया यहाँ एक प्रश्न उठता है। विचारों की ऐसी सुसंबद्ध अभिव्यक्ति से रचना विषयप्रधान हो उठती है, अतः ऐसी रचना को निबंध की संज्ञा भी दी जा सकती है या नहीं ? निबंध की विशिष्टता व्यक्तिप्रधानता की है। पाश्चात्य आदर्शों को स्वीकारते हुए स्वयं शुक्ल जी ने निबंध को व्यक्तिप्रधान माना है और, 'चिंतामणि' के जिसमें ये निबंध संगृहीत हैं, निवेदन में कहा है- इस बात का निर्णय मैं विज्ञ पाठकों पर ही छोड़ता हूँ कि ये निबंध विषयप्रधान हैं या व्यक्तिप्रधान। जहाँ तक विचारों की सुगठित अभिव्यक्ति का प्रश्न है, निबंध का स्वरूपगत विषयप्रधान हो जाना स्वाभाविक हो जाता है। किंतु विचारों में व्यक्तित्व की उभार क्या हो ही नहीं सकती ? शैली के विचार से निबंध के अनेक प्रकार निर्धारित किए गए पर अंततोगत्वा निबंध के दो ही रूप में सभी प्रकारों का समाहार हो जाता है। विचारात्मक और भावात्मक का विचार कर देखें तो यह भी सत्य लगता है कि सिर्फ विचार या सिर्फ भाव वाली रचना होती नहीं। यह वर्गीकरण केवल उस प्रधानता के अनुसार है—अर्थात् विचार के साथ भाव और भाव के साथ विचार संश्लिष्ट होते हैं। किसी में विचार प्रबल होते हैं, किसी में भाव और जिसमें जिसकी प्रधानता होती है, वह रचना उसी श्रेणी में रखी जाती है। विषय और व्यक्ति की प्रधानता भी लगभग यही और ऐसी ही होती है—दोनों में विरोध नहीं होता। विषय का प्रतिपादन यदि निजस्वता की छाप छोड़ता है तो वह वैयक्तिक वैशिष्ट्य से परे नहीं हो सकता। दूसरे, शुक्ल जी सामान्यतया विषय और व्यक्तित्व, दोनों को समान स्थान देने के पक्ष में थे। फिर भी वैयक्तिकता की निर्बाध गति के जो परिणाम होते हैं, इनके निबंधों में वह है ही नहीं, ऐसी बात नहीं। वैयक्तिकता का एक प्रधान लक्षण है विषयांतर, एक से अबाध दूसरे प्रसंग में पहुँच जाना या प्रथम पुरुष एक बचन से आत्माभिव्यक्ति करना शुक्ल जी के निबंधों में इसके भी परिपोषक स्थल दुर्लभ नहीं हैं। श्रद्धा एवं भक्ति निबंध में प्रसंगवश संगीत, चित्रकला और कारीगरी की चर्चा आ गई है। एक स्थान पर वे ज्ञानेंद्रिय के अनुभवों पर विचार करते हुए प्रथम पुरुष में नितांत निजी बात भी कह गए हैं—'रात्रि में विशेषतः वर्षा की रात्रि में झींगुरों और झिल्लियों के झंकारमिश्रित सीत्कार का बँधा तार सुनकर मैं यही समझता था कि रात बोल रही है।' विचारों की स्पष्टता और सरसता के लिये ऐतिहासिक, पौराणिक या अन्य प्रकार के अनेक कथाप्रसंगों की अवतरणा में हमें एक बात यह देखने को मिलती है कि वे कथाएँ बड़ी प्रचलित और लोकप्रिय होती हैं, जिससे विषय स्पष्ट हो सके, दुरुह न बन जायँ। यहाँ तक कि यदा कदा उन्हें वैज्ञानिक तत्वों का भी उल्लेख करना पड़ा है तो ऐसे ही तत्वों का किया है जो सर्वजन बोध्य है। जैसे—सामाजिक महत्व के लिये आवश्यक है कि या तो आकर्षित हो या आकर्षित करे।

जैसे इस आकर्षण विधान के बिना अणुओं द्वारा व्यक्त पिंडों का आविर्भाव नहीं हो सकता, वैसे ही मानव जीवन की विशद अभिव्यक्ति भी नहीं हो सकती।

मीठे व्यंग्य और छेड़छाड़ की सजीवता भी सर्वत्र है। एक निबंध में प्रसंगवश वे कहते हैं—'मैं अपने एक लखनवी दोस्त के साथ साँची का स्तूप देखने गया। यह स्तूप एक बहुत सुंदर छोटी सी पहाड़ी पर है। नीचे एक छोटा सा जंगल है, जिसमें महुए के पेड़ भी बहुत से हैं। संयोग से उन दिनों पुरातत्व विभाग का कैंप पड़ा हुआ था। रात हो जाने से हमलोग उस दिन स्तूप नहीं देख सके। सबेरे देखने का विचार करके नीचे उतर रहे थे। वसंत का समय था। महुए चारों ओर टपक रहे थे। मेरे मुँह से निकला—महुओं की कैसी मीठी महक आ रही है। इस लखनवी महाशय ने मुझे रोककर कहा—यहाँ महुए सहुए का नाम न लीजिए, लोग देहाती समझेंगे। मैं चुप हो गया। समझ गया कि महुए का नाम जानने से बाबूपन में बड़ा भारी बट्टा लगता है।' व्यंग्य विनोद के ऐसे छींटे उनकी सब प्रकार की रचनाओं में मिलते हैं। अवसर या प्रसंग आने से शुक्ल जी कभी चूकते नहीं पाए गए। क्या व्यक्तिगत जीवन में और क्या रचना में।

शुक्ल जी की आदर्श निष्ठा, लोकमंगल की भावना इस कोटि के निबंधों में भी है। आदर्शों का पृष्ठपोषण निबंधों के सहज स्वरूप को बोझिल बनाता है। इन शुद्ध निबंधों में भी उसकी छूत लगी है और इसीलिये कुछ विचारक इन्हें विशुद्ध आत्म निबंध कबूल करने में हिचकते हैं। 'रामचंद्र शुक्ल के पास भाषा शैली विचारों की सुसूत्रता, खंडन मंडनात्मक वाद विवादपूर्ण विषय प्रतिपादन आदि गुण होते हुए भी उनके निबंध शुद्ध आत्म निबंधों की कोटि में नहीं आ पाते इसका कारण उनका कसा हुआ मर्यादावादी दृष्टिकोण था। एक कुशल निबंध लेखक के लिये यह आवश्यक है कि वह मर्यादा को कुछ तोड़े भी, कुछ उन्मुक्त उड़ान ले सके। परंतु मैथ्यु आर्नल्ड की भाँति शुक्ल जी अपने निबंधों में अपनी शुद्धिवादिता के आग्रह से बराबर चिपटे रहे और परिणाम स्पष्ट है कि उनके निबंधों में वह काव्यात्मकता नहीं आ पाई, वह सहज विश्रब्धालाप वहाँ लक्षित नहीं होता।'[1] फिर भी उनसे भावात्मकता को वैसी आँच नहीं आई है। शैली की गंभीरता को भी भावुकता रोचक बना देती है। व्यंग्य विनोद से जीवंतता और उदार भावना से मार्मिकता का समावेश हो जाता है। जैसे, प्रसंगवश देशप्रेम की चर्चा में कैसी हृदयस्पर्शिता आ गई है—'रसखान तो किसी की

[1] हिंदी निबंध—प्रभाकर माचवे।

लकुटी अरु कामरिया पर तीनों पुरों का राजसिंहासन तक त्यागने को तैयार थे, पर वे प्रेम की दुहाई देनेवालों में से कितने अपने थके माँदे भाई के फटे पुराने कपड़ों और धूलभरे पैरों पर रीझकर या कम से कम न खीझकर, बिना मन मैला किए कमरे की फर्श भी मैली होने देंगे ? मोटे आदमियों ! तुम जरा सा दुबले हो जाते, अपने अंदेशे से ही सही, तो न जानें कितनी ठठरियों पर मांस चढ़ जाता।'

विषय के अनुरूप उपयुक्त भाषाशैली को अपनाने की अनोखी कुशलता शुक्ल जी की अपनी विशेषता है और इस प्रणाली ने भावी प्रेरणा को संजीवित किया है। शास्त्रीय पद्धति की रचनाओं में सांगोपांग विवेचन के लिये परिष्कृत पदावली अपनाई गई है और निबंधों में मुहावरेदार चलती भाषा। भावों की स्पष्टता के लिये मनोविकार संबंधी निबंधों में तुलनात्मक शैली का ग्रहण किया गया है। भाषा सरल है। इनमें तद्भव शब्दों की प्रधानता है और मुहावरों का सुंदर प्रयोग है। इनमें प्रवाह और जिंदादिली है।

गुलाब राय ने कुछ बड़े ही अच्छे निबंध लिखे। इनकी साहित्यसाधना की दो दिशाएँ रही हैं। समालोचना और निबंध। काव्य के रूप, हिंदी काव्य-विमर्श, सिद्धांत और अध्ययन—ये इनकी साहित्यसमीक्षा संबंधी पुस्तकें हैं। इनमें संग्राहक वृत्ति अधिक है, स्वतंत्र चिंतन और विचार नहीं के बराबर। इनकी साहित्यसेवा द्विवेदी युग से आरंभ होकर आजतक चल रही है, परंतु पद्धति और दृष्टिकोण वही पुराना है, उसपर नए युग के बाहरी भीतरी आंदोलनों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। एक ही गति से चलनेवाली गद्यशैली, न चढ़ाव, न उतार। हाँ, शैली सुबोध जरूर होती है। इसी लिये आलोचक गुलाबराय उतने सफल नहीं हैं, जितने निबंधकार। निबंधों में उनकी प्रतिभा अपेक्षाकृत अधिक कृतित्व दिखा सकी है। इनके कई निबंधसंग्रह हैं—फिर निराश क्यों, मेरी असफलताएँ, मन की बात। कुछ निबंधों में विचार ज्यादा उभरा है, कुछ में भाव। फिर निराशा क्यों, कुरूपता, कर्तव्य संबंधी रोग, चिकित्सा और निदान, समाज और कर्तव्यपालन आदि पहले संग्रह के निबंध हैं। लेकिन जहाँ तहाँ संदर्भशीलता और नीत्युपदेश का पुट है और विवेचन पद्धति में मनोवैज्ञानिक दृष्टि की झलक मिलती है। इससे निबंध के सहज सौंदर्यप्रवाह को आघात लगता है। निबंध के लिये जिस कसाव की महत्ता सर्वोपरि है, वह इनमें नहीं है। इतना ही है कि स्वाभाविक आत्मीयता का आभास अवश्य मिलता है। जैसे, सेवाधर्म का एक संदर्भ देखिए—

'सेवाधर्म द्वारा जितना उपकार उपकृत पुरुष का होता है, उससे अधिक उपकार उपकारी का होता है। कर्तव्यपालन और आलस्यत्याग की बड़ी भारी

प्रसन्नता होती है। इस प्रसन्नता के अतिरिक्त मनुष्य में सहृदयता के कोमल भावों की वृद्धि होती है। दया और क्षमाभाव उपकारी और उपकृत दोनों को पवित्र करता है। उदार मनुष्य अपनी आत्मा को विस्तृत रूप में देखने लगता है। जिन लोगों की सेवा की जाती है, वे आत्मीय से हो जाते हैं। उदार मनुष्य सच्चा वीर बन जाता है। स्वार्थी मनुष्य कायर होता है। सेवा त्याग का मार्ग है। जो मनुष्य त्याग नहीं कर सकता, वह वीर नहीं। इसी लिये साहित्य के ग्रंथों में वीररस के वर्णन में दयावीर और धर्मवीर को भी स्थान दिया गया है। सेवा से विनय भाव बढ़ता है और विनय ही मनुष्यता है।'

छोटे छोटे वाक्य। सरल शब्दावली। लेकिन जैसे कोई शक्ति नहीं, गति नहीं। 'मेरी असफलताएँ' में संगृहीत निबंधों में बल्कि निबंधत्व बहुत अंशों में है। उनमें आत्मपरकता है, जीवनसंबंधी घटनाओं के चित्र हैं। शिष्ट, संयत और सूक्ष्म परिहास का पुट है। ऐसे कई निबंध उनके अच्छे व्यक्ति निबंध की कोटि में रखे जा सकते हैं। ऐसे निबंधों के शीर्षक भी उपयुक्त हैं—खट्टे अंगूर, आप बीती, मेरी दैनिकी का एक पृष्ठ, मेरा मकान, एक स्केच। सब में आत्मव्यंजना है। व्यंग्य और परिहास की जिंदादिली है, भाषा में संजीदगी है। जैसे—

"खैर आजकल उसका (भैंस का) दूध कम हो जाने पर भी और अपने मित्रों को छाछ भी न पिला सकने की विवशता की झुंझल होते हुए भी (सुरराज इंद्र की तरह मुझे भी मठा दुर्लभ हो जाता है - तक्रं शक्रस्य दुर्लभम्) उसके लिये भूस लाना अनिवार्य हो जाता है। कहाँ साधारणीकरण और अभिव्यंजनावाद की चर्चा और कहाँ भुस का भाव। भुस खरीदकर मुझे भी गधे के पीछे ऐसे ही चलना पड़ता है, जैसे बहुत से लोग अकल के पीछे लाठी लेकर चलते हैं। कभी कभी गधे के साथ कदम मिलाए रखना कठिन हो जाता है, लेकिन मुझे गधे के पीछे चलने में उतना ही आनंद आता है जितना कि पलायनवादी को जीवन से भागने में। बहुत से लोग तो जीवन से छुट्टी पाने के लिये कला का अनुसरण करते हैं, किंतु मैं कला से छुट्टी पाने के लिये जीवन का अनुसरण करता हूँ, कभी नाव लढ़ी पर, कभी लढ़ी पर नाव।"[1]

शिवपूजन सहाय भाषा के जादूगर माने जाते हैं। उनकी मस्ती और जिंदादिली, उनके विशद साहित्यानुभव और विशाल एवं पैनी दृष्टि के प्रसाद हिंदी की निधि हैं। मतवाला, आज, गंगा, हिमालय आदि अनेक पत्र पत्रिकाओं के संपादन काल में उन्होंने बड़े ही मार्के के बहुत से निबंध लिखे। काशी के 'आज' में

[1] मेरी दैनिकी का एक पृष्ठ।

शिव नाम से उन्होंने लगातार कुछ निबंध लिखे थे, उनका एक संग्रह 'कुछ' नाम से अलग प्रकाशित हुआ था। निबंधों में शिवजी की कुछ निजी विशेषताएँ हैं। वे हैं कि विषय के महत्व को वे महत्व नहीं देते, कोई भी विषय, कुछ भी विषय उनकी रोचक रचनाप्रणाली से महत्वशाली हो उठता है। परिहास और व्यंग्य के छींटों से अपूर्व रंजकता का समावेश करने में वे कुशल हैं। भाषा में मुहावरों की मीनाकारी और लोकोक्तियों के पुट से अनोखा चमत्कार पैदा कर देते हैं। उसमें (भाषा में) माधुर्य एवं ओज का अपूर्व संमेलन स्थापित दिखाई पड़ता है। प्रांतीयता का प्रभाव इनकी भाषा शैली में तनिक भी न मिलेगा। इनकी सामान्य शैली परिष्कृत, सतर्क तथा परिमार्जित है। उनमें विषयानुकूल भाषा के उपयोग करने की अच्छी कुशलता है। यही कारण है कि इनकी रचनाओं में चमत्कार, आकर्षण और प्रभाव रहता है। संख्या में शिवजी के निबंध बहुत अधिक अवश्य नहीं हैं, पर जो भी थोड़े से हैं, उनमें उनकी निजता है, आत्मव्यंजना है, भाषा का सुंदर शिल्प विधान है।

इनकी भाषा शैली के दो रूप हैं—दीर्घ समासांत पदावली वाली सानुप्रासिक भाषा और चलती हुई बामुहावरा। दोनों में ही विशुद्धता का विचार है। सानुप्रासिक भाषा का इन्हें मोह सा रहा है और बहुत बार वैसी भाषा प्रयासलब्ध, कृत्रिम तथा ऊब लानेवाली बन गई है। जैसे, 'सौंदर्य गरिमामय मुखारविंद, मल्लिका-वल्लरी वितानों, अलि अवलि केलिलीला, मंजुल मंजरिकलित तरुवर की शाखाओं पर शान से तानकर तीर मानेवाली काली कलूटी कोयल, पल्लवावगुंठन में मुँह छिपाए बैठी हुई इस अनुरूपा सुंदरी को देख रही थी। शीतल सुरभित समीर विलुलित अलकावली तीर डोल डोलकर रस घोल जाता था। चंचल पवन अंचल पर लोट लोट कर अपनी विकलता बताता था। धीरे धीरे कुंचित कुंतल-राशि, नितंबावरोहण करती हुई, आपाद लटक रही थी। यद्यपि निराभरण शरीर पर केवल एक वस्त्र ही शेष था, तथापि वह शैवाल जल जटित सुंदर सरोजिनी सी सोहती और मनमोहती थी।' किंतु हर जगह ऐसी अनुप्रासयुक्त भाषा अनुपयुक्त ही लगती हो, ऐसा नहीं। शिवपूजन सहाय की इस अलंकारपूर्ण शैली में उस युग की प्रवृत्ति छिपी हुई है। उनके स्वाभाविक और विषयानुकूल उपयुक्त प्रयोग के भी उदाहरण विरल नहीं हैं। साथ ही यह सिफत है कि ये चुस्त भाषा के भी वैसे ही कुशल और धनी हैं। कम से कम इनकी भावावेश की शैली में बड़ा ही प्रवाह और प्रभाव है। भाषा की विशदता और शक्ति का अपूर्व परिचय वैसे स्थलों में मिलता है। जैसे—

'जिस मेवाड़ की मान मर्यादा बनाने के लिये, हमारी माताओं ने, अपनी गोद के लालों लाल लुटा दिए हैं, उसी मेवाड़ की गौरवान्वित गद्दी को सनाथ करनेवाला राणा हमीर और राणा सांगा तथा हिंदू-कुल-सूर्य प्रताप का वंशधर क्या

राज्यनाश के भय से जंगलों में भटकते फिरने की शंका से शरण में आई हुई एक अबला को आत्मघात करने का अवसर देगा ? यदि ऐसा होगा, तो उसी दिन वीररक्ताभिषिक्त मेवाड़भूमि रसातल में पैठ जायगी, सूर्य चक्कर खाकर डूब जायगा, भूमंडल भी तूफान से घिरे हुए जहाज की तरह डगमगा उठेगा, तारे एक से एक टकराकर चूर्ण हो जायँगे, समुद्र अपनी मर्यादा छोड़कर भूलोक को डुबो देगा, चाँद से चिनगारियाँ बरसने लगेंगी और अरावली का हृदय भीषण ज्वालामुखी के प्रस्फोट से एकाएक फट पड़ेगा '

तृतीय खंड

पत्रपत्रिकाओं का विकास : आलोचना का उदय

लेखक

डा० माहेश्वरी सिंह 'महेश', एम० ए०,

पी० एच० डी० (लंदन)

प्राचीन भारत में समाचारपत्र

प्राचीन भारत में समाचारपत्र जैसी कोई चीज नहीं थी। कभी कभी ऐसी राजकीय घोषणाएँ होती थीं जिनको डुग्गी पीटकर जनता तक पहुँचा दिया जाता था। ऐसी भी राजकीय घोषणाएँ होती थीं जिनको शिलाखंडों, स्तंभों अथवा मंदिरों पर उत्कीर्ण करवा दिया जाता था। अशोक के शिलालेख इसी कोटि की घोषणाएँ हैं। मुगल काल में एक किस्म के समाचार पत्रों की चर्चा है। पानीपत के युद्ध में बाबरशाह अपने खेमें बैठकर अखबार पढ़ते थे। शाहजहाँ ने आगरे के मुहर्रम के दरबार में कहा था कि - 'अखबार में यह पढ़कर कि इलाहाबाद की हिंदू प्रजा में विद्रोह के लक्षण देख पड़ते हैं।' सम्राट औरंगजेब की मृत्यु औरंगाबाद में हुई थी, उनकी बीमारी की खबर और ब्यौरा फारसी के 'पैगामें हिंद' नामक अखबार में निकलता था। किंतु इन अखबारों का संबंध साधारण जनता से नहीं था। ये समाचारपत्र हस्तलिखित होते थे और इनको निकालनेवाले 'वाकयानवीस' कहलाते थे। इनका भी प्रकाशन नियमित रूप से नहीं होता था। वस्तुतः ये विविध दरबारों के वाकयातों को इकट्ठा करके कभी कभी हस्तलिखित रूप में निकाले जाते थे। महत्वपूर्ण जिलों में 'वाकयानवीस' रखे भी जाते थे जो विशेष घटनाओं के समाचार संगृहीत कर हस्तलिखित पत्र निकालनेवालों के पास भेजते थे। सवारों, कारवाँओं और हरकारों द्वारा समाचार भेजे जाते थे। समाचारों में राजदरबारों, दरबारियों तथा उन्हीं से संबंधित घटनाओं का संग्रह रहा करता था। इन समाचारों से दरबारों और दरबारियों की गतिविधि का पता लगता था। कभी कभी तो इन हस्तलिखित समाचारों के आधार पर ही राजकीय निर्णय तक होते थे। सरकारी घोषणाओं पर भी इन हस्तलिखित समाचारपत्रों का प्रभाव पड़ता था।

मुगलों के अंतिम दिनों में भी इन हस्तलिखित समाचारपत्रों का प्रचलन था। बहादुरशाह के काल में हस्तलिखित 'सिराज उल अखबार' प्रसिद्ध था। दरबारों के प्रभावशाली अमीर उमरा भी हस्तलिखित अखबार निकालते थे। इनको 'अखबारनवीस' कहते थे। अवध के नवाबों के यहाँ ऐसे सैकड़ों 'अखबारनवीस' थे। किंतु न तो ये छपते थे, न इनका प्रकाशन नियमित था और जो चाहे इन्हें खरीद भी नहीं सकता था। इसलिये ठीक अर्थों में इनको समाचारपत्र कहना उपयुक्त नहीं है।

प्रेस और समाचार

समाचारपत्र और प्रेस का अनिवार्य संबंध होता है। बिना प्रेस के समाचारपत्र चल ही नहीं सकते। भारतवर्ष में सब से पहले प्रेस की स्थापना ईसाई मिशनरियों ने की। उन्हें अपने धर्मप्रचार के लिये किताबें छापनी थीं। अतः सबसे पहला प्रेस गोआ में सन् १५५० ई० में और दूसरा उसी वर्ष तमिलनाद में स्थापित हुआ। तीसरा प्रेस सन् १६०२ ई० में विपिनकोटा, मालाबार में खुला। इन सभी की विशेषता यह थी कि स्थानीय लिपियों के टाइप तैयार किए। सन् १७१२ ई० में तनजोर जिले के तिनकोवर स्थान में डेनमार्क के मिशनरियों ने भी प्रेस खोला। १७७९ ई० में कलकत्ते में अँगरेजों का एक सरकारी प्रेस भी स्थापित था। किंतु इनमें से किसी भी प्रेस में समाचार पत्र नहीं छपता था।

शिक्षा की व्यवस्था

ईसाई धर्मप्रचारक मिशनरियों ने जिस प्रकार अपने धर्मप्रचार के लिये प्रेस खोले, उसी प्रकार उन्होंने शिक्षाप्रचार का भी कार्य किया। उन्होंने सीरामपुर में कालेज खोला। कलकत्ता में डफ कालेज, हेयर स्कूल, बिशप कालेज आदि शिक्षण संस्थाएँ मिशनरियों ने ही खोलीं। ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथ में जब बंगाल का शासन आ गया, तब जनता के आपसी झगड़ों का फैसला करने की जिम्मेवारी भी उसी पर आ गई। इसके लिये हिंदू धर्मशास्त्र और मुसलिम शरह की जानकारी आवश्यक थी। अतः वारेन हेस्टिंग्ज ने १७८० ई० में मुसलिम शिक्षा के लिये मदरसा कायम किया। बनारस पर अधिकार कर लेने के बाद वारेन हेस्टिंग्ज ने ही वहाँ संस्कृत शिक्षा की व्यवस्था के लिये क्विंस कालेज की स्थापना की, जिसमें हिंदू धर्मशास्त्रों के सभी अंगों की शिक्षा की व्यवस्था थी। १८२४ ई० में सरकार ने कलकत्ते में संस्कृत कालेज की स्थापना की। शिक्षाप्रचार के साथ बंगाल में गौडीय समाज, आत्मीय सभा, धर्मसमाज और ब्रह्मसमाज आदि सामाजिक संस्थाओं की स्थापना हुई। समाजसुधार के आंदोलन आरंभ हो गए। कलकत्ते के हिंदू समाज में समाजसुधारक और परंपरावादी, दो दल हो गए। ईसाइयों में अपने धर्मप्रचार की प्रवृत्ति पहले ही थी, इस लिये प्रेस की स्थापना भी हो चुकी थी। अब इन आंदोलनों ने समाचारपत्रों की भूमि भी बना दी।

समाचारपत्र का आरंभ

भारतवर्ष में सबसे पहला समाचारपत्र जनवरी १७८० ई० में अँगरेजों द्वारा, अँगरेजी भाषा में और उनकी अपनी आर्थिक प्रतिद्वंद्विता के कारण निकला।

इस संबंध में संपादकाचार्य पं० अंबिकाप्रसाद वाजपेयी ने लिखा है—'उस समय कंपनी के सिवा भारत के व्यापार से मालामाल होने के लिये बहुत से अँगरेज स्वतंत्र रूप से व्यापार करने बंगाल में आए थे। इन्होंने देखा कि कंपनी के कर्मचारी उसकी आड़ में अपना स्वतंत्र व्यापार चलाते हैं और अन्य लोगों के व्यापार में बाधा डालते हैं। इस बाधा का निवारण करने के दो उपाय थे—एक इस देश के लोगों में शिक्षा का प्रचार करके लोकमत जाग्रत करना और दूसरा सब स्वतंत्र अँगरेज व्यापारियों का ऐसा संगठन करना, जिससे अन्याय यदि पूर्ण रूप से बंद न हो जाय, तो कम तो अवश्य ही हो जाय। पहला उपाय समयसाध्य था, इसलिये दूसरे उपाय की ओर ही ध्यान दिया गया। इस दिशा में पहला काम बिलियम बोल्ट नाम के व्यापारी ने 'भारतीय विषयों पर विचार' नामक ग्रंथ लिख कर किया। दूसरा उपाय जेम्स आगस्ट हिकी ने 'बेंगाल गेजेट आव कैलकेटा जेनरल एडवाइजर' नामक पत्र प्रकाशित करके किया। हिकी ने पत्रप्रकाशन के पहले यह सोच लिया था कि उसके इस कार्य का परिणाम क्या होनेवाला है, इसलिये उसने पहले ही अंक में लिखा—'मुझे अपने मन और आत्मा के लिये स्वतंत्रता मोल लेने को अपने शरीर को दास बनाने में प्रसन्नता होती है।' पत्र के नाम के नीचे छपा था—'राजनीतिक और व्यापारिक साप्ताहिक खुला तो सब पार्टियों के लिये है, पर प्रभावित किसी से नहीं है।'[1] हिकी का यह 'बेंगाल गेजेट' वारेन हेस्टिंग्ज की नीति का विरोधी था। उन दिनों समाचारपत्रसंबंधी कोई नियम नहीं था, अतः मौका पाकर वारेन हेस्टिंग्ज ने हिकी के इस पत्र का गला घोट दिया। इसके साथ ही समाचारपत्रों के नियंत्रण के लिये कड़े नियम बनाए।

सन् १७८० से '९० ई० तक कलकत्ता से हिकी के 'बेंगाल गेजेट' के अतिरिक्त और भी चार पत्र निकले—'इंडिया गेजेट' (१७८०), 'कैलकटा गेजेट' (१७८४), 'बेंगाल जनरल' (१७८५) और 'इंडियन वर्ल्ड' (?)। इसी के आसपास 'ओरियंटल मैगजीन' नामक मासिक पत्र भी प्रकाशित हुआ। इसी अवधि में मद्रास से 'मद्रास क्रानिकल' (१७८५), 'बंबई हेरल्ड' (१७८६) आदि सब मिलाकर लगभग पंद्रह पत्र प्रकाशित हुए। किंतु सभी अँगरेजी में निकले और सभी पर अँगरेजों का नियंत्रण था।

देशी भाषा के पत्र और विचारसंघर्ष

जिस प्रकार मिशनरियों ने धर्मप्रचार के लिए स्कूल कालेज खोले, छापाखानों की स्थापना की, उसी प्रकार उन्होंने देशी भाषा में समाचारपत्र भी

[1] समाचारपत्रों का इतिहास, पृ० २८

निकाला। सिरामपुर के बेपटिस्ट मिशनवालों ने सन् १८१७ ई० में 'दिग्दर्शन' नामक मासिक पत्र प्रकाशित किया। इसका संपादन भी कोई अँगरेज सज्जन करते थे। इसके कुछ ही दिनों बाद बंगला भाषा में दो पत्र निकले कलकत्ता से 'बेंगाल गजेट' इसका हिकी के गजट से कोई संबंध नहीं था, और सिरामपुर से समाचार दर्पण'। इस समय राजा राममोहन राय शिक्षित, उदार और प्रगतिशील विचार के बंगालियों के नेता थे। वे अँगरेजी, फारसी, संस्कृत और बँगला के प्रकांड विद्वान् थे। ईसाई धर्म के आक्रमण का उन्होंने विरोध किया। इसी संघर्ष के प्रवाह में पहले तो बँगला में 'संवाद कौमुदी' (१८२०) तथा बाद में अँगरेजी और बंगला में 'ब्राह्मेनिकल मैगेजीन' का प्रकाशन हुआ। आगे चलकर अपने विचारों के प्रचार के लिये राजा साहब ने फारसी भाषा में 'मीरात-उल-अखबार' भी निकाला। विचारों के तीव्र संघर्ष के कारण कलकत्ते में दो दल हो गए। एक उदार विचारवाले प्रगतिशील सुधारकों का दल था, जो समाज और राजशासन दोनों में सुधार चाहता था। इस दल के नेता राजा राममोहनराय थे। इस दल के विचारों का प्रचार 'संवाद कौमुदी', कैलकटा जनरल' और 'मीरात-उल-अखबार' द्वारा होता था। दूसरा दल कट्टर, रूढ़िवादी, सुधारविरोधी और सरकारी रीतिनीति के समर्थकों का था। इसके विचारों का प्रचार 'समाचार चंद्रिका', 'जानबुल' और 'एशियाटिक जरनल' द्वारा होता था। धीरे धीरे उदार नीतिवाले समाचारपत्रों का प्रभाव बढ़ने लगा। भारत में कंपनी सरकार और इंगलैंड में कंपनी के डायरेक्टरों में घबराहट पैदा हो गई। समाचारपत्रों के नियंत्रण का उपाय सोचा जाने लगा। ४ अप्रैल १८२३ ई० को ऐडम ने सुप्रीम कोर्ट के सामने समाचारपत्रों के नियंत्रण के प्रस्ताव रखे। उन सबपर विचार होने के बाद गवर्नर जेनरल ने रेग्युलेशन जारी किए। इनके अनुसार सरकारी अनुमति के बिना पुस्तकों, कागजों का छापना और प्रेस का उपयोग करना निषिद्ध ठहराया गया। बिना लाइसेंस के चलनेवाले प्रेसों को जब्त कर लेने और उन्हें सरकार की मर्जी के मुताबिक बेच देने का भी नियम बना। लाइसेंस के लिये सरकार के पास दरखास्त देना और उन्हें स्वीकार अथवा अस्वीकार करना सरकार पर छोड़ा गया। यह ऐसा काला कानून था कि राजा राममोहनराय जैसे संतुलित विचार के व्यक्ति ने इसके प्रतिवाद का नेतृत्व किया। उन्होंने ५०० व्यक्तियों के हस्ताक्षर के साथ सुप्रीम कोर्ट को प्रतिवाद पत्र भेजा। किंतु परिणाम कुछ न निकला। सबसे पहला वार राजा साहब के 'मीरात-उल-अखबार' पर ही हुआ। राजा साहब ने प्रतिवाद में अखबार बद कर दिया। दूसरा वार 'कैलकटा जनरल' पर हुआ। उसके सह संपादक सेंडर्स ऑरनाट निर्वासित कर दिए गए। कुल मिलाकर यह प्रगतिशील सुधारक दल पर आक्रमण था।

प्रथम उत्थान

हिंदी समाचारपत्रों का आरंभ

सरकार ने उदार विचार के सुधारक समाचारपत्रों को बन्द तो किया किंतु उन्होंने जिन विचारों का प्रचार जनता में किया था उसके प्रभाव को न रोका जा सका। राजा राममोहन राय ने सती प्रथा के विरुद्ध सामाजिक आंदोलन छेड़ दिया था। यह बड़ा नैतिक और उदार आंदोलन था। सरकार पर उसका प्रभाव पड़ा और सरकार ने एक कानून बनाकर सतीदाह की प्रथा पर रोक लगा दी। इससे नए विचारों के प्रसार को बल मिला। इस समय लार्ड एमहर्स्ट भारत के गवर्नर जनरल थे। उसके वैयक्तिक व्यवहार के कारण प्रेस को थोड़ी स्वतंत्रता मिली। बंगाल, मद्रास और बंबई में नए नए पत्र निकले। देशी पत्रकारिता की दृष्टि से यह काल बड़े महत्व का था। हिंदी का पहला पत्र 'उदंत मार्तण्ड' ३० मई १८२६ ई० को निकला। इसके प्रथम पृष्ठ पर लिखा था—

उदंत मार्तण्ड

अर्थात्

दिवाकान्तकान्ति विना ध्वान्तान्तं न चाप्नोति तद्वज्जगत्यत्रलोकः।
समाचारसेवामृते ज्ञप्तमाप्तुं न शक्नोति तमाकरोमीति यत्नः॥

१ अंक ज्येष्ठ वदि ६ संवत् १८८३। ३० मे १८२६ साल भौम।

इसके प्रथम अंक के अंत में यह श्लोक है—

युगुलकिशोरः कथयति धीरः सविनयमेतत् सुकुलजवंशः।
उदिते दिनकृत सति मार्तण्डे तद्वत् विलसति लोक उदन्ते॥

पत्र के सबसे अंत में छपा है—

'यंक उदन्त-मार्तण्ड कोल्हूटोला के अमड़ातल्ला की गलि के ३७ अंक की हवेली के मार्तण्ड छापा में हर सप्तवारे मंगल को छापा होता है जिनको इंने का काम पड़े वे उस छापाघर में अपना नाम भेजने हि से उनके समिप भेजा जायगा उसका मोल महिने में दो रुपया जिन्होंने सहि किई है जो उनके पास न पहुँचे (तो) उस छापाखाने में कहला भेजने हि से तुर्त उनके पास भेजा जायगा।'

भारतीय नवजागरण का आरंभ कलकत्ते से ही हुआ। कलकत्ते में जीविकार्जन के लिये हिंदी भाषाभाषी भी रहते थे। उन्हीं में कानपुर निवासी पं० युगलकिशोर शुक्ल भी थे। ये कलकत्ते की सदर दीवानी अदालत में प्रोसिडिंग रीडर थे; किंतु बाद में वहीं वकालत करने लगे। १६ फरवरी १८२६ ई० को

सरकार ने उन्हें 'उदंत मार्तंड' नामक पत्र निकालने का अधिकार पत्र दिया था। इस प्रकार 'उदंत मार्तंड' हिंदी का सर्वप्रथम समाचारपत्र है और इसको निकालने का श्रेय पं० युगलकिशोर शुक्ल को है। उदंत मार्तंड' की अल्पकालीन सफलता और लोकप्रियता के कारण अन्य व्यक्तियों को भी हिंदी में पत्र निकालने की प्रेरणा मिली। कंपनी सरकार द्वारा लगाए गए कुछ प्रतिबंधों के रहते हुए भी लोग अपने भावों और विचारों को प्रकट करने के इतने अच्छे और उपयोगी साधन को बनाए रखना चाहते थे। उनका उत्साह मंद न पड़ा और अनेक स्थानों से हिंदी में समाचारपत्र निकले। इनका क्रमबद्ध इतिहास तो नहीं मिलता, किंतु एक रूपरेखा मिलती है। इसी का संक्षिप्त विवरण यहाँ देने का प्रयत्न किया जायगा।

राजा राममोहन राय ने अंगरेजी 'हिंदू हेरल्ड' को देशी रूप भी दिया। बँगला, हिंदी और फारसी का मिलाजुला यह पत्र 'बंगदूत' कहलाया। 'बंगदूत' साप्ताहिक के प्रथम वर्ष के संपादक नीलरतन हालदार थे। यह रविवार को निकलता था। इसका पहला अंक १० मई १८२९ ई० को निकला था। 'बंगदूत' के हिंदी अंश के ऊपर निम्नलिखित पद छपता था —

'दूतनि की यह रीति बहुत थोड़े में भाखें।
लोगनि को बहु लाभ होय याहि ते लाखें॥
बंगाला को दूत पूत यहि वायु को जानो।
होय विदित सब देश क्लेश को लेश न मानो'॥

इस पत्र की विशेषता इसी के शब्दों में इस प्रकार थी —

'भारत खंड को ठकुरई और राजनीति और वनज बेपार और विद्याभ्यास के प्रकार और सब देश के समाचार और देशांतरीय की विद्या और सुघड़ता के प्रसंगनी के शास्त्रार्थयुक्त यह समाचार पत्र बंगला और काम पड़े तो फारसी और हिंदी भाषा में प्रति सतवारे छपेगा जिसकर के बहुत भाँति के प्रयोजन के मूल सजीव होने की संभावना है। अधिक करके इस देश की अरधौती इस देश और पछाहीं बैपारी का उपकार विचार नगर कलकत्ते की बड़ी बाजार के आवते जानों की अरधौती बाजार भाव बंगले ओ देवनागर अक्षरों में छपेगी जिस उपलक्ष से बेपारी लोग अपने गौं के जनों का भाव समय पर जान सूचित हो लेने बचने का जांच विचार कर अपने अपने धंधे की घटी से बच बढ़ी के भागी हुआ करें और इस समाचार के साथ अंगरेजी भाषे और एक में (?) समाचार उपर लिखे ब्यौरों के साथ छपेगा।'

'बंगदूत' अल्पायु निकला। बारहवीं संख्या के बाद ही यह बंद हो गया।

१८४५ ई० में 'बनारस अखबार' का प्रकाशन हुआ। हिंदी प्रदेश से निकलनेवाला यह पहला हिंदी पत्र माना जायगा। 'बनारस अखबार' हिंदी पत्र होने पर भी भाषा की दृष्टि से उर्दू का ही समझा जाना चाहिए। उसमें प्रकाशित होनेवाले लेख देवनागरी लिपि में छपते थे अवश्य, किंतु इसकी भाषा उर्दू रहती थी। ऐसा मालूम पड़ता है कि इस तरह का प्रयत्न और प्रयोग जान बूझकर किए जा रहे थे। इन सबका उत्तरदायित्व अखबार के मालिक शिवप्रसाद सितारेहिंद पर था, जो हिंदुस्तानी नाम की नई भाषा चलाने के पक्षपाती थे तथा जिनकी निज की भाषा हिंदी से अधिक उर्दू होती थी। यद्यपि बनारस अखबार के मुख्य पृष्ठ पर जो उद्देश्यमूलक पंक्तियाँ छपती थीं, उनसे इस तरह की किसी बात का पता नहीं चलता। वे पंक्तियाँ यों हैं—

> सुबनारस अखबार यह शिवप्रसाद आधार।
> बुधि बिवेक जन निपुन को चितहित बारंबार॥
> गिरजापति नगरी जहाँ गंग अमल जलधार।
> नेत शुभाशुभ मुकुर को, लखो विचार विचार॥

किंतु पत्र के अंदर प्रयुक्त भाषा ऐसी नहीं है। उदाहरण—

'यहाँ जो पाठशाला कई साल से जनाब कप्तान कीट साहब बहादुर के इहतिमाम और धर्मात्माओं के मदद से बनता है उसका हाल कई दफा जाहिर हो चुका है। अब यह मकान एक आलीशान बन्ने का निशान तैय्यार हर चेहार तरफ से हो गया बल्कि इसके नकशे का बयान पहिले से मुन्दर्ज है, सो परमेश्वर के दया से साहब बहादुर ने बड़ी तदेही मुस्तैदी से बहुत बेहतर और माकूल बनवाया है। देखकर लोग उस पाठशाला के किते के मकानों की खूबियां अकसर बयान करते हैं और उसके बनने से खर्च का तजवीज करते हैं कि जमा से ज्यादा लगा होगा और हर तरह से लायक तारीफ के है सो वह सब दानाई साहब ममदूह की है। खर्च से दूना लगावट में यह मालूम होता है।'

१८५० ई० में बनारस से बँगला भाषाभाषी तारामोहन मैत्र ने 'सुधाकर' का प्रकाशन किया। इसकी भाषा बनारस अखबार से कहीं अच्छी होती थी। यह हिंदी और बँगला दोनों में प्रकाशित होता था। ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय तक हिंदी गद्य उस अवस्था को प्राप्त नहीं हो सका था जिसकी अपेक्षा पत्रकारिता के लिये थी। हिंदी पत्रकारिता के विकास में जो रुकावट थी उसका एक कारण यह भी रहा होगा।

१८४६ ई० में कलकत्ते से 'इंडियन सन' प्रकाशित हुआ। यह 'बंगाल हेरल्ड' और 'बंगदूत' की तरह पाँच पाँच भाषाओं में प्रकाशित होता था। इसमें

दस पृष्ठ और प्रत्येक पृष्ठ पर पाँच कालम रहते थे। पहला हिंदी, दूसरा फारसी, तीसरा अँगरेजी, चौथा बँगला और पाँचवाँ उर्दू का। इसका हिंदी नाम 'मार्त्तंड' था। इससे प्रतीत होता है कि उस समय अपने विचारों को विविध भाषा में व्यक्त करने की भावना थी।

तासी ने १८४६ ई० में प्रकाशित एक और पत्र की चर्चा की है। इसका नाम 'ज्ञानदीपक' था। पत्र का अधिक विवरण नहीं मिलता।

१८४८ ई० में प्रेमनारायण ने मालवा' अखबार हिंदी, उर्दू में निकाला। आठ पृष्ठों के इस साप्ताहिक पत्र की एकाध प्रति आज भी कहीं कहीं सुरक्षित है। तासी ने भूल से इसका संपादक धर्मनारायण को लिखा।

१८४९ ई० में कलकत्ते से किसी बंगाली सज्जन ने बँगला हिंदी में 'जगदीपक भास्कर' का प्रकाशन किया। किंतु इसका विवरण नहीं मिलता।

१८५२ ई० में आगरे से 'बुद्धिप्रकाश' निकला। इसके संपादक लाला सदासुखलाल थे। कुछ लोगों का ख्याल है कि वे प्रसिद्ध हिंदी लेखक सदासुखलाल ही हैं। किंतु यह भ्रम नामसाम्य के कारण है। तासी के कथनानुसार इसके लेख और समाचार विविध विषयों के और रोचक होते थे। भाषा समयानुकूल अच्छी थी।

१८५२ ई० में ही भरतपुर दरबार की ओर से एक उर्दू हिंदी पत्र 'मजहरुल सरूर' निकाला गया था। यह एक उर्दू प्रधान मासिक पत्र था। इससे अधिक और विवरण प्राप्त नहीं है।

१८५३ ई० में मुंशी लक्ष्मणदास ने ग्वालियर से ग्वालियर गजट' निकाला। पहले यह उर्दू हिंदी में साथ-साथ छपता था। बाद में अलग अलग छपने लगा। अलग छपने में हिंदी भाषा में सुधार लक्षित हुआ।

१८५३ ई० में प्रकाशित 'प्रजाहितैषी' के जन्मदाता अभिज्ञान शाकुंतल के प्रसिद्ध अनुवादक राजा लक्ष्मण सिंह थे। राजा साहब के योग्य हाथों से पत्र की भाषा में न केवल सुधार और अपनापन देखा गया, प्रत्युत उसमें प्रगति और उन्नति की सूचना मिली।

१८५४ ई० में श्यामसुंदर सेन नामक एक बंगाली सज्जन ने 'समाचार सुधावर्षण' नामक हिंदी और बँगला दैनिक कलकत्ते से प्रकाशित करना प्रारंभ किया। यह हिंदी और बँगला दो भाषाओं में प्रकाशित होता था और इसका संपादन बँगला भाषाभाषी सज्जन करते थे। यह कभी छः पृष्ठ का तो कभी आठ पृष्ठ का रहता था। इसमें अधिकांश हिंदी रहती थी। हिंदी का अंश पहले रहता था। संपादकीय टिप्पणियाँ, लेख तथा महत्वपूर्ण समाचार हिंदी में ही रहते थे।

१८५५ ई० में आगरे से 'सर्वहितकारक' प्रकाशित हुआ। इसके प्रकाशक थे शिवनारायण। यह उर्दू, हिंदी में छपता था, किंतु जैसा कि पत्र के नाम से ज्ञात होता है इसमें हिंदी की प्रधानता रही होगी।

१८५७ ई० का स्वातंत्र्य आंदोलन संनिकट आ रहा था। आंदोलन के ठीक पहले दोनों तरह के पत्र अँगरेजों के अँगरेजी और भारतीयों के अँगरेजी तथा देशी—एक दूसरे के बहुत पास थे। किंतु जब दोनों के स्वार्थ टकराए तब आंदोलन हुए आंदोलन ने दोनों की बोली ही बदल दी। जहाँ भारतीयों के पत्र सरकार के विरुद्ध बोलने और आदोलनकारियों से सहानुभूति दिखाने लगे, वहाँ अँगरेजों के पत्र सरकार से मिलकर सरकारी दमन नीति का समर्थन करने लगे।

१८५७ ई० में स्वातंत्र्य आंदोलन के नेता अजीमुल्ला खां ने दिल्ली से 'पयामे आजादी' का प्रकाशन किया। पहले यह पत्र हिंदी उर्दू में निकलता था। किंतु शीघ्र ही हिंदी में निकलने लगा। इसका एक मराठी संस्करण झाँसी से निकालने का विचार था। आंदोलन की विफलता के कारण पत्र का बंद हो जाना स्वाभाविक ही था। इसी पत्र में भारत का प्रसिद्ध १८५७ ई० का राष्ट्रगीत छपा था। वह गीत इस प्रकार है—

हम हैं इसके मालिक, हिंदुस्तान हमारा।
पाक वतन है कौम का, जन्नत से भी प्यारा
ये है हमारी मिल्कियत, हिंदुस्तान हमारा
इसकी सहामियत से, रौशन है जग सारा,
कितना कदीम, कितना नईम, सब दुनियां से न्यारा,
करती हैं जरखेज जिसे, गंगोजमन की धारा।
ऊपर बर्फीली पर्वत, पहरेदार हमारा,
नीचे साहिल पर बजता, सागर का नक्कारा;
इसकी खानें उगल रहीं, सोना, हीरा, पारा,
इसकी शानों शौकत का दुनियां में जयनारा।
आया फिरंगी दूर से ऐसा मंतर मारा,
लूटा दोनों हाथों से प्यारा वतन हमारा
आज शहीदों ने तुमको अहले वतन ललकारा
तोड़ो गुलामी की जंजीरें, बरसाओ अंगारा।
हिंदू, मुसलमां, सिख हमारा भाई भाई प्यारा,
ये है आजादी का झंडा, इसे सलाम हमारा।

१८५९ ई० में मनसुखराम ने अहमदाबाद से 'धर्मप्रकाश' का संपादन और प्रकाशन किया। यह धर्मसभा का मुख्य पत्र था। इसका प्रकाशन विभिन्न

स्थानों से समय समय पर होता रहा। पहले यह केवल हिंदी में निकलता था, बाद में उर्दू और संस्कृत में भी प्रकाशित किया गया।

१८६१ में हिंदी प्रदेश से कई पत्र निकले। इनमें आगरे से गणेशीलाल के संपादकत्व में 'सूरजप्रकाश' और शिवनारायण के संपादकत्व में 'सर्वोपकारक' तथा अजमेर से सोहनलाल के संपादकत्व में 'जगलाभचिंतन' और इटावे से जवाहरलाल के संपादकत्व में 'प्रजाहित' प्रसिद्ध हैं। इन सब पत्रों के उर्दू संस्करण भी निकलते थे। ऐसा मालूम पड़ता है कि हिंदी की माँग बढ़ रही थी और उस माँग को ध्यान में रखकर ही उर्दू हिंदी को अलग अलग किया जा रहा था।

१८६१ ई० में आगरे से ही एक और हिंदी का पत्र प्रकाशित हुआ। इसका नाम 'ज्ञानदीपक' या 'ज्ञानप्रकाश' था।

१८६३ ई० में आगरा नगर के पास से मिशनरियों ने 'लोकहित' का प्रकाशन किया। पत्र शुद्ध हिंदी में निकलता था। १८६४ ई० में आगरे से 'भारतखंडामृत' नामक पत्र का प्रकाशन लल्लूलाल जी के समकालीन पंडित बंशीधर ने किया। इसका उर्दू संस्करण 'आबेहयात' नाम से निकलता था।

१८६४ ई० में जोधपुर दरबार से हिंदी अँगरेजी में 'जोधपुर गवर्नमेंट गजट' निकला। यह साप्ताहिक पत्र था।

१८६५ ई० में बरेली में गुलाबशंकर के संपादकत्व में 'तत्वबोधिनी पत्रिका' प्रकाशित हुई। यह भी विशुद्ध हिंदी पत्रिका थी।

१८६६ ई० में लाहौर से नवीनचंद्र राय ने 'ज्ञानप्रदायिनी पत्रिका' का प्रकाशन किया। इसके संपादक एक काश्मीरी पंडित मुकुंदराम थे। प्रारंभ में यह पत्रिका हिंदी उर्दू दोनों में छपती थी। किंतु आगे चलकर केवल हिंदी में छपने लगी।

१८६६ ई० में 'मारवाड़ गजट' का प्रकाशन हुआ। यह पत्र धीरे धीरे उन्नति करता गया और एक ऐसा समय आया जब कि सुसंपादित पत्र समझा जाने लगा। १८६६ ई० में ही बंबई से 'शक्तिदीपक' नामक पत्र निकला। संभवतः यह मिशनरियों का पत्र था और हिंदी में निकलता था।

१८६७ ई० में और इसके बाद के समय में हिंदी पत्रकारिता ने बड़ी उन्नति की। जम्मू काश्मीर से 'वृत्तांतविलास' आगरे से 'सर्वजनोपकारक' और रतलाम से 'रतनप्रकाश' प्रकाश में आए। जम्मू काश्मीर से एक और पत्र हिंदी उर्दू में निकला जिसका नाम 'विद्याविलास' था।

द्वितीय उत्थान

हिंदीभाषी प्रदेशों में नवजागरण के अग्रदूत भारतेंदु हरिश्चंद्र थे। उन्होंने अपनी प्रेरणा और अपने द्रव्य से अनेक पत्रों का प्रकाशन और संपादन किया। उनकी प्रेरणा से हिंदी प्रदेशों में लगभग पचीस पत्र प्रकाशित हुए। यही कारण है कि उनके अल्प जीवनकाल में ही लेखकों और संपादकों का एक मंडल तैयार हो गया, जिसे भारतेंदु मंडल के नाम से जाना जाता है। इसमें पं० प्रतापनारायण मिश्र, उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', ठाकुर जगमोहनसिंह और पं० बालकृष्ण भट्ट प्रमुख थे। इस मंडल के लेखकों द्वारा ही हिंदी गद्यशैली के विकास का आरंभ हुआ। स्वयं भारतेंदु के गद्य में दो शैलियों का विकास लक्षित होता है—एक भावावेश शैली और दूसरी तथ्यनिरूपण शैली। पं० प्रतापनारायण मिश्र की शैली में व्यंग्य और विनोद की प्रधानता है। 'प्रेमघन' की शैली अनुप्रास-पूर्ण और अलंकृत है। इसमें गद्यकाव्य के सूक्ष्म तत्व निहित हैं। पं० बालकृष्ण भट्ट की शैली में यथातथ्य निरूपण के साथ ही तीखापन है। ठाकुर जगमोहनसिंह की शैली अलंकृत और प्रसादपूर्ण है। इस काल के लेखकों में भाषा की परख, विचारों के प्रति निष्ठा और जिंदादिली है। संपादकों का जीवन त्याग और संघर्षमय है। आगे चलकर देश में जो जागृति पैदा हुई उसका आरंभ इसी काल में हुआ।

१८६८ ई० में भारतेंदु हरिश्चंद्र ने काशी से 'कविवचन सुधा' का प्रकाशन किया। इसमें कवितओं का संग्रह रहता था। पहले यह मासिक पत्रिका थी, बाद में पाक्षिक हुई। फिर साप्ताहिक तथा हिंदी अंग्रेजी दोनों में प्रचलित हुई। भारतेंदु ने इस पत्रिका द्वारा भाषा को खूब सुधारा और सँवारा। १८७५-८५ ई० के बीच इसमें राजनीति और समाज नीति पर स्वतंत्र लेख भी निकलने लगे। अधिकतर लेख स्वयं 'भारतेंदु' के ही रहते थे। इससे उनपर सरकार की कोप-दृष्टि का होना स्वाभाविक ही था। इसलिये इस पत्रिका के कारण भारतेंदु को अनेक कष्ट उठाने पड़े। सरकार के कोप के कारण उनकी अवस्था दिन दिन बिगड़ती गई। 'कविवचन सुधा' का सिद्धांत वाक्य था—

> खल गगन सों सज्जन दुखी मति होंहि, हरिपद मति रहै।
> अपधर्म छूटै, स्वत्व निज भारत गहै, कर दुख बहै॥
> बुध तजहिं मत्सर नारि नर सम होंहि, जग आनंद रहै।
> तजि ग्राम कविता, सुकविजन की अमृत बानी सब कहै॥

कविवचन सुधा में मूल्यादि के नियम भी पद्य ही में छापे जाते थे। नियम वाले पद्य इस प्रकार हैं—

शद् मुद्रा पहिले दिए बरस बिताए सात।
साथ चंद्रिका के लिये दस मैं दोउ मिलि जात॥
बरन गए बारह लगत दो के दो महसूल।
अलग चंद्रिका सात, शद् वचन सुधा समतूल॥
दो आना एक पत्र को टका पोस्टेज साथ।
सारथ आना आठ दै लहर चंद्रिका हाथ॥
प्रति पंगनि आना जुगुल जो कोउ नोटिस देइ।
जो बिशेष जानन चहै पूछि सबै कुछ लेइ॥

उस समय जब कि राष्ट्रीयता नामक भाव का ठीक से उन्मेष भी नहीं हुआ था भारतेंदु ने कविवचन सुधा द्वारा भारतीयों में क्रांतिमूलक भावों का उद्रेक किया। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र न केवल हिंदी राष्ट्रीयता के जनक थे, प्रत्युत वे हिंदी पत्रकारिता के भी पुरोहित थे। सच तो यह है कि हिंदी पत्रकारिता के क्षेत्र में उनका वही स्थान है जो बँगला पत्रकारिता में राजा राममोहन राय का। भारतेंदु को अपनी इस विचार स्वतंत्रता के कारण जिन कष्टों को झेलना पड़ा; उसकी लंबी कहानी है।

१८६८ ई० में प्रयोग से 'वृत्तांत दपर्ण' निकला। इनके संपादक सदासुखलाल थे। ये कौन सदासुखलाल थे, यह कहना कठिन है। किंतु पत्र विविध-विषय विभूषित अपने ढंग का अकेला था। १८७० ई० में अनेक पत्रों के प्रकाशन हुए। इस वर्ष कानपुर से 'हिंदूप्रकाश' और प्रयाग से प्रयागदूत'। जोधपुर से 'मुहब्बे मारवाड़' (हिंदी,, उर्दू में) और ललितपुर से 'बुंदेलखंड अखबार' (हिंदी, उर्दू में)। मेरठ के 'म्यूर गजट' (पहले उर्दू में और बाद में हिंदी में) और सहारनपुर से 'साडर्स गजट' (हिंदी में) तथा बंबई से 'मनोविहार' (हिंदी, मराठी, गुजराती, संस्कृत में) का प्रकाशन हुआ। इन सभी पत्रों से जहाँ एक ओर हिंदी पत्रकारिता के विकास की सूचना मिलती है, वहीं यह भी मालूम पड़ता है कि किस प्रकार हिंदी भाषा का प्रसार हो रहा था और उसकी लोकप्रियता में वृद्धि हो रही थी।

१८७२ ई० में बाबू कार्तिकप्रसाद ने कलकत्ते से 'हिंदी दीप्ति प्रकाश' निकाला। १८५० ई० के बाद जब कि 'सामदंड मार्तण्ड' बंद हुआ था, यह पहला पत्र कलकत्ते से निकला। यह पत्र भी अल्पायु ही रहा। इस वर्ष कई और पत्र निकले।

सन् १८७२ ई० में पं० केशवराम भट्ट तथा पं० मदनमोहन भट्ट के उद्योग से 'बिहार बंधु' नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन आरंभ हुआ। पं० अंबिका-

प्रसाद वाजपेयी के कथनानुसार आरंभ में इसका प्रकाशन कलकत्ता से हुआ था। भट्टबंधु मूलतः बिहार के बिहारशरीफ के रहनेवाले थे। इसलिये १८७४ ई० में यह पत्र पटना चला गया। तबसे 'बिहारबंधु' का प्रकाशन पटना से ही होने लगा। इसका संपादन पं० दामोदर शास्त्री सप्रे करते थे। कुछ दिनों तक इसके संपादक मुंशी हसन अली भी थे। बिहारबंधु बिहार का पहला हिंदी पत्र है। बिहार में हिंदीप्रचार का बहुत बड़ा श्रेय इसी को है। यह लगातार १९०५ ई० तक चलने के बाद बंद हो गया। इनमें 'प्रेमपत्र' नामक एक पाक्षिक पत्र भी था, जो आगरा से प्रकाशित हुआ था और जिसे रायबहादुर शालग्राम निकालते थे। इसी पत्र से पं० रुद्रदत्त जी का संपादकीय जीवन आरंभ हुआ।

१८७३ ई० में पत्रकारिता जगत् में पुनः हलचल हुई। यद्यपि पत्रों की संख्या में कोई विशेष वृद्धि न हुई किंतु पाठकों की संख्या खूब बढ़ी। इसी वर्ष भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने काशी से 'हरिश्चंद्र मेगजीन' का प्रकाशन किया। १८७४ ई० में इसी का नाम बदलकर 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' कर दिया गया। पृष्ठसंख्या बढ़ा दी गई। यह विविध-विषय-विभूषित मासिक पत्र था। इसमें कविता, आलोचना, उपन्यास, इतिहास, राजनीति तथा पुरातत्व आदि विषयों पर लेख निकलते थे। इसी वर्ष भारतेंदु की 'कविवचन सुधा' का (साप्ताहिक) प्रकाशन हुआ। इन दोनों पत्रों की अच्छी प्रसिद्धि थी और इनसे पत्रकारिता को यश मिल रहा था। अमृतसर से 'हिंदी प्रकाश' हिंदी, उर्दू तथा पंजाबी में निकला। 'जबलपुर समाचार' जबलपुर से (हिंदी, अंगरेजी) में निकला। लखनऊ से 'भारत पत्रिका' (अखबारे अंजूमने हिंद का हिंदी संस्करण) अवध के तालुकेदारों ने निकाला। आगरे से 'मर्यादा परिपाटी समाचार' हिंदी, संस्कृत में निकाला गया। इसके संपादक पंडित दुर्गाप्रसाद शुक्ल थे।

१८७४ ई० में भारतेंदु ने ही स्त्रियों के लिये 'बालबोधिनी' का प्रकाशन किया। इसमें स्त्रियों के लिये कुछ उपदेश भी रहते थे। प्रयाग से 'नाटक प्रकाश' का प्रकाशन हुआ। इसके संपादक थे रतनचंद। हिंदी अक्षरों के लिये आंदोलन करने के हेतु मेरठ से 'नागरी प्रकाश' निकाला गया। इसका उर्दू संस्करण 'मुहब्बते हिंदी' भी निकाला जाता था। 'जगत अरशाना' पंजाब से निकला था। इसकी जानकारी अतीत में लुप्त हो गई है। अलीगढ़ के वकील तोताराम वर्मा ने 'भारतबंधु' निकाला। लाला श्रीनिवास ने 'सदादर्श' दिल्ली से प्रकाशित किया था।

१८७५ ई० में पं० शिवनारायण शुक्ल ने 'धर्मप्रकाश' मासिक का प्रकाशन प्रयाग से आर्यसमाज की ओर से हिंदी, संस्कृत में प्रारंभ किया। उसी समय सनातन धर्म की ओर से प्रयाग से ही 'धर्मपत्रिका' निकाली गई। सरदार संतोष सिंह ने

अमृतसर से 'सकल संबोधिनी पत्रिका' हिंदी में प्रकाशित की। इसमें धर्मचर्चा रहती रहती थी। लुधियाना से कन्हैयालाल ने 'नीतिप्रकाश' (पुस्तक या पत्र ?) प्रकाशित किया। 'आनन्द लहरी' का प्रकाशन धीरा शास्त्री ने बनारस में शुरू किया। 'सुदर्शन समाचार' के संपादक प्रयाग के मुरलीधर और राव वृजप्रसाद थे। तासी के अनुसार बंबई से 'सत्यामृत' निकला था।

भारतेंदु की लीलाभूमि काशी से 'कविवचन सुधा', 'बालबोधिनी' और 'हरिश्चन्द्र चंद्रिका' तो निकलती ही थी, भारतेंदु की ही प्रेरणा से १८:६ ई० में 'काशी पत्रिका' भी निकली। इसके संपादक बालेश्वरप्रसाद बी० ए० थे। आरंभ में यह नागरी अक्षरों में निकली। फिर दूसरा पृष्ठ उर्दू अक्षरों में निकलने लगा और स्तर गिर गया। इसके अतिरिक्त 'नुरुलबसर', 'कमरुल अखबार' और 'कन्दे नजाहर' आदि उर्दू वाले निकालते थे। इनमें कुछ स्थान हिंदी के लिये भी रहता था। लाहौर का 'हिंदूबांधव' तथा शाहजहाँपुर का 'आर्यभूषण' भी निकलता था। 'हिंदूबांधव' हिंदी और उर्दू में छपता था। आर्यसमाज का एक और पत्र 'आर्य-भूषण' जो पहले 'आर्यदर्पण' के नाम से साप्ताहिक निकलता था, मासिक रूप में शाहजहाँपुर से निकलने लगा था।

१८७७ ई० में पं० मुकुंदराम के संपादकत्व में 'मित्रविलास' निकला। 'भारतदीपिका' और 'भारतहितैषी' इसी वर्ष प्रकाशित हुए थे। प्रयाग से 'नागरी प्रत्रिका', 'धर्म पत्र' और 'धर्मप्रकाश' का प्रकाशन हुआ। इन तीनों पत्रों के संपादक सदासुखलाल थे। शाहजहाँपुर से मुंशी बख्तावर सिंह ने आर्यसमाजी विचारों के प्रकाशन के लिये 'समाज' निकाला। इसी समय पं० बालकृष्ण भट्ट का प्रयाग से 'हिंदी प्रदीप' निकला। भट्टजी बड़ी लगन के व्यक्ति थे। उन्होंने इस पत्रिका द्वारा हिन्दी की बड़ी सेवा की। इस पत्रिका में प्रकाशित उनके अनेक निबंध प्रसिद्ध हैं।

१८७८ ई० में प्रयाग से 'कायस्थ समाचार' निकला। यह बहुत प्रभावशाली जातीय पत्र था। कुछ विद्वानों का मत है कि डा० सच्चिदानंद सिन्हा के 'हिंदू रिव्यू' की प्रेरणा का यही आधार था। प्रयाग से ही 'ज्ञानचंद्र' नामक पत्र का प्रकाशन हुआ। लखनऊ से 'अखबारे सरिश्ते तालीम' हिंदी, उर्दू में निकला। इसी समय काशी से किन्हीं एच० के० भट्टाचार्य के संपादकत्व में 'आर्यमित्र' का प्रकाशन हुआ। किंतु यह 'आर्यमित्र' आर्यसमाज का नहीं था।

१८७८ ई० में जो सबसे प्रभावशाली हिंदी पत्र निकला, वह कलकत्ते का 'भारतमित्र' था। इसके संस्थापक पं० छोटूलाल मिश्र और पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र थे। इसके निवेदन में लिखा है—'विदित हो कि यह पत्र प्रतिपक्ष में एक बार प्रकाशित होगा, परंतु बिना सर्वसाधारण की सहायता के इसके चिरस्थायी होने की आशा निराशा मात्र है, इसलिये सर्वसाधारण को उचित है कि इसकी सहायता करे और

यदि यह पत्र ईश्वर की इच्छा से समाज में प्रचलित हुआ तो और इसके ५ सौ ग्राहक हुए तो शीघ्र ही साप्ताहिक हो के प्रचारित होगा।' और यह निवेदन सफल हुआ तथा 'भारतमित्र' साप्ताहिक निकलने लगा। इसके ऊपर यह आदर्श वाक्य छपा रहता था —

सगुण खनित्र विचित्र अति खोले सब के चित्र।
शोधैं नरचरित्र यह 'भारतमित्र' पवित्र॥

'भारतमित्र' का प्रकाशन हिंदी पत्रकारिता के क्षेत्र में एक अभूतपूर्व घटना थी। 'भारतमित्र' ने हिंदी पत्रकारिता को बड़ा ऊँचा उठाया। यह एक युग में हिंदी का सर्वाधिक प्रभावशाली पत्र था। यह राजनीतिक, धार्मिक और साहित्यिक आंदोलनों में खुलकर भाग लिया करता था। स्वामी दयानंद सरस्वती के लेख 'भारतमित्र' में छपते थे। हिंदी के मामले में 'भारतमित्र' भारतेंदु हरिश्चंद्र का समर्थक था। उनके लेख भी इसमें छपते थे। कलकत्ते में जो जुए के अड्डे थे, उनके विरुद्ध उसने आंदोलन चलाया था और उसे सफलता भी मिली थी। बंकों में जो २ बजे रात तक काम होता था, उसके विरुद्ध भी इसने आंदोलन छेड़ा था। बाबू बालमुकुंद गुप्त के संपादकत्व में 'भारतमित्र' में हिंदी भाषा के संस्कार का आंदोलन छिड़ा। बालमुकुंद गुप्त ने स्वयं 'व्याकरण विचार', 'भाषा की अनस्थिरता' (१० लेख), 'आत्मारामीय टिप्पण' (२) लेख और 'हिंदी में आलोचना' (७ लेख) लिखे। इन सभी का आधुनिक हिंदी साहित्य में ऐतिहासिक महत्व है। गुप्त जी ने आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी से गहरी टक्कर ली थी। 'भारतमित्र' का संपादन पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे और पं० अंबिकाप्रसाद वाजपेयी ने भी किया था।

१८७८ ई० में जयपुर से 'जयपुर गजट' का प्रकाशन हुआ। यह उदार विचारों का राजनीतिक पत्र था। राजनीतिक ज्ञान के प्रचार और प्रसार तथा हिंदी आंदोलन को सतत जागरूक रखने में इसने बड़ा काम किया। आरंभ में इसका प्रकाशन हिंदी, अंग्रेजी में होता था, आगे चलकर उर्दू में भी होने लगा।

१८७९ ई० में कलकत्ता से पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र ने अपने तीन और साथियों के साथ सारसुधानिधि प्रेस से 'सारसुधानिधि' नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन किया। इसका मंगलाचरण इस प्रकार था—

श्री हरिचरण प्रसाद ते, जगमग जगत प्रसिद्ध।
अक्षर नभ शुभ शरद में, सार सुधानिधि सिद्ध॥
'सारसुधानिधि' सिद्ध, 'शंभु', 'दुर्गा' श्रुति शारद।
गणपति गणपति ब्रह्म, ब्रह्म बुध बुद्धि विशारद।
गणपति गणपति सूर्य, सुरस्सरवर देहिं विजय श्री।
नमो ओम् 'गोविंद', 'सदानन्द' मंगल जयश्री॥

इस पत्र में सदानंद दुर्गाप्रसाद, गोविंदनारायण और शंभुनाथ कुल चार साझी थे। इसके संपादक पं० सदानंद थे। यह अपने समय का तेजस्वी पत्र था। कुछ वर्ष चलने के बाद अर्थाभाव के कारण इसे बंद कर देना पड़ा। १८७६ ई० में ही कलकत्ते से 'जगतमित्र' का प्रकाशन भी हुआ। कानपुर से 'शुभचिंतक', प्रयाग से 'ज्ञानचंद्रोदय' और काशी से 'काशीपंच' का प्रकाशन भी इसी वर्ष हुआ।

१८८० ई० में कलकत्ते का तीसरा विख्यात पत्र 'उचितवक्ता' प्रकाशित हुआ। उसका आदर्श वाक्य था—'हितं मनोहारि च दुर्लभ वचः'। इस पत्र की दिलचस्पी राजनीति में भी थी। विशेष रूप से देशी रजवाड़ों तथा अँगरेजों से जो विवाद उठे उनमें 'उचितवक्ता' अपने ढंग से बोलता था। साहित्य तो उसका अपना विषय था ही। इस प्रकार विविध आलोचना की ओर इसका झुकाव था। यह पत्र अपने व्यंग्यात्मक लेखों के लिये भी प्रसिद्ध था। इसके लेखकों में भारतेंदु हरिश्चंद्र भी थे। यह कई बार बंद होकर भी निकला। इसके अतिरिक्त १८८० ई० में निम्नलिखित और भी पत्र निकले—'जैन पत्रिका' (प्रयाग), 'धर्मनीतितत्व' (पटना), 'क्षत्रिय पत्रिका' (पटना) इसके संपादक बाबू रामदीनसिंह थे। आगे चलकर इन्होंने हिंदी की बड़ी सेवा की।

१८८१ ई० में 'नवीन वाचक' साप्ताहिक पत्र गोंडा से प्रकाशित हुआ। मासिक पत्रिकाओं में 'भारतदीपिका' (लखनऊ), संपादक बाबू अंबिकाचरण घोष, 'आरोग्यदर्पण' प्रकाशित करनेवाले पं० जगन्नाथप्रसाद वैद्य (प्रयाग) और चौधरी पं० बदरीनारायण उपाध्याय द्वारा संपादित और प्रकाशित 'आनंद कादंबिनी (मिर्जापुर) निकली। इसमें प्रायः उपाध्याय जी के लेख भरे रहते थे। इसकी भाषा शुद्ध, अलंकृत और मुहावरेदार थी।

१८८२ ई० में हिंदी उर्दू का संघर्ष जोरों से चल रहा था। हिंदीवाले हिंदी (देवनागरी) अक्षरों को अदालत और दफ्तर में प्रवेश कराने के लिये यत्नशील थे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये ही श्री गौरीदत्त शर्मा ने 'देवनागरी प्रचारक' मासिक का प्रकाशन आरंभ किया।

१८८३ ई० में प्रतापगढ़ के तालुकेदार राजा रामपाल सिंह ने इंगलैंड से हिंदी और अँगरेजी में 'हिंदोस्थान' नाम का पत्र निकाला। १८८५ ई० में जब वे स्वदेश लौट आए तब कालाकाँकर से हिंदी में दैनिक 'हिंदोस्थान' निकाला। इसका एक अँगरेजी संस्करण भी छपता था। इसके संपादक महामना पं० मदनमोहन मालवीय थे। 'हिंदोस्थान' के संपादन से ही मालवीय जी का सार्वजनिक और राजनीतिक जीवन आरंभ होता है। जब मालवीय जी को राजनीतिक कार्यों के कारण समयाभाव हो गया, तब बाबू बालमुकुंद गुप्त ने 'हिंदोस्थान' का संपादन

भार सँभाला। आगे चलकर जब राजा साहब ने अपना राजनीतिक मतपरिवर्तन कर लिया तब 'हिंदोस्थान' का प्रकाशन बंद हो गया।

१८८३ ई० में ही पं० प्रतापनारायण मिश्र ने कानपुर से 'ब्राह्मण' नामक बड़ा तेजस्वी अखबार निकाला था। जब इसे अर्थाभाव रहने लगा तब पटना के खंगविलास प्रेस के मालिक बाबू रामदीन सिंह ने इसे खरीद लिया और कुछ दिनों तक यह पटना से निकला। इस पत्र को निकालनेवाले लखनऊ के बाबू गंगाप्रसाद वर्मा थे। इनके सिवा 'धर्मोपदेश' (बरेली), 'भारतहितैषिणी' (लाहौर), 'विद्योदय' (कलकत्ता), 'यज्ञविलास' (पटना), 'सदचार मार्तंड' (जयपुर), 'कविकुल कंज दिवाकर' (बस्ती), 'इंदु' (लाहौर), 'वैष्णव पत्रिका' (काशी) 'हिंदी समाचार' (भागलपुर) और व्यापार बंधु' (बंबई) भी निकले।

१८८४ ई० में भागलपुर से 'वैष्णव पत्रिका' का प्रकाशन पं० अंबिकादत्त व्यास के संपादकत्व में हुआ। इसका नाम इसी वर्ष 'पीयूषप्रवाह' कर दिया गया। इसके पहले यह काशी से निकलता था। भागलपुर से यह पहला पत्र निकला था। चंपारण से 'चंपारण हितकारी' का प्रकाशन हुआ। चंपारन में यह प्रथम जागृति थी। इनके अतिरिक्त सांप्रदायिक तथा जातीय पत्र भी निकले। इनमें कायस्थों का 'कायस्थ व्यवहार', 'गौड़ कायस्थ', 'कुलश्रेष्ठ समाचार' प्रकाशित हुआ। ये सभी मासिक थे। इनके अतिरिक्त कलकत्ता से 'वेदप्रकाश' और कानपुर से 'रसिकपत्रिका' और 'भारतभूषण' का प्रकाशन हुआ। जम्मू से 'जम्मू गजट' भी निकला। ये सभी साप्ताहिक पत्र थे। 'राजपूताना गजट' और मथुरा समाचार' ये तो उर्दू के पत्र, किंतु इनमे हिंदी के लेख भी छपते थे।

तृतीय उत्थान

हिंदी पत्रकारिता के इतिहास में सन् १८९० ई० का विशेष महत्व है। इसी वर्ष कलकत्ता से साप्ताहिक 'हिंदी बंगवासी' और इसके दस वर्ष बाद प्रयाग से 'सरस्वती' का प्रकाशन आरंभ हुआ। इन दोनों में १० वर्ष का अंतर है। 'हिंदी बंगवासी' जनता की भावनाओं को व्यक्त करनेवाला, ताजा समाचार सस्ते में देनेवाला पत्र था। उसने हिंदी साहित्य की भी बड़ी सेवा की थी। दस वर्ष बाद प्रकाशित होनेवाली 'सरस्वती' का हिंदी साहित्य में दिशानिर्देशक स्थान है। हिंदी साहित्य की सेवा की दृष्टि से ही 'सरस्वती' का प्रकाशन हुआ था। इसी लिये उसपर लिखा था—काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा अनुमोदित—और उसके संपादक मंडल में थे सर्व श्री राधाकृष्णदास, कार्त्तिक प्रसाद खत्री, जगन्नाथदास रत्नाकर', किशोरीलाल गोस्वामी और श्यामसुंदर दास। १९०३ ई० में आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' के संपादक हुए। हिंदी भाषा

के संस्कार की दृष्टि से द्विवेदीजी का बहुत महत्व है। उनके पूर्व हिंदी के लेखकों में व्याकरण की शिथिलता थी। व्याकरण के व्यतिक्रम और भाषा की अस्थिरता को द्विवेदीजी ने दूर किया, विस्तृत आलोचना का पथ प्रशस्त किया, अनेक लेखकों और संपादकों को हिंदी क्षेत्र में उतारा और उनका मार्गदर्शन किया।

१८९० ई० में कलकत्ता से 'हिंदी बंगवासी' के प्रकाशन द्वारा हिंदी पत्रकारिता ने एक नया मोड़ लिया। यह साप्ताहिक था। तत्कालीन सभी समाचारपत्रों से आकार प्रकार में बड़ा, समाचार की दृष्टि से ताजा, विचारपूर्ण लेखों से संपन्न और जनभावना को व्यक्त करनेवाला होते हुए भी कम मूल्य का था। इस रूप में यह सार्वजनिक समाचारपत्र था। इसका संचालन कुछ बंगाली सज्जनों के हाथ में था और इसके आदि संपादक पं० अमृतलाल चक्रवर्ती थे। 'हिंदी बंगवासी' की विशेषता का वर्णन करते हुए बाबू बालमुकुंद गुप्त ने लिखा है –

'हिंदी बंगवासी नए ढंग का अखबार निकला। हिंदी में उससे पहले वैसा अखबार कभी न निकला था। वह डबल रायल आकार के दो बड़े बड़े पत्रों पर निकला। दो रुपये साल उसकी कीमत हुई। प्रति सप्ताह कम से कम एक चित्र उसमें प्रकाशित होने लगा। खबरें ताजा ताजा उसमें निकलने लगीं। लेख भी अच्छे होते थे। एकाध लेख हँसी दिल्लगी का भी होता था। जिनके चित्र छपते थे उनके चरित्र भी बहुधा निकला करते थे। बहुत सी ऐसी बातें उसमें छपने लगीं जो और भी अखबारों में होती थीं...'

'यह खूब फैलने लगा। विशेषकर बिहार और युक्तप्रदेश में उसका बड़ा आदर हुआ। थोड़े ही दिनों में उसकी ग्राहकसंख्या २००० हो गई।' 'हिंदी बंगवासी' के आदि संपादक पं० अमृतलाल चक्रवर्ती ने इस पत्र का संपादन अपनी समस्त विशेषताओं के साथ किया।

१८९६ ई० में 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' (त्रैमासिक) निकली। इसके संपादक थे—बाबू श्यामसुंदर दास, महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी, श्री कालीदास और श्री राधाकृष्ण दास। बाद में यह पत्रिका जब मासिक बनी तब संपादक थे – श्री श्यामसुंदर दास, श्री रामचंद्र शुक्ल, श्री रामचंद्र वर्मा और श्री बेनी प्रसाद। १९२० ई० में यह पुनः त्रैमासिक बनी और संपादक हुए—पं० गौरीशंकर-हीराचंद ओझा, श्री श्यामसुंदर दास, श्री चंद्रधर शर्मा गुलेरी और मुंशी देवी प्रसाद। यह मुख्यतः शोध पत्रिका है। इसमें हिंदी साहित्य तथा इतिहास पर प्रभाव डालनेवाले महत्वपूर्ण शोध लेख छपते हैं। इसके अनेक अंक प्रमाणकोटि में आते हैं। यह पत्रिका आज भी अपने तरीके से निकलती आ रही है। इसी वर्ष का उल्लेखनीय साप्ताहिक है—श्री वेंकटेश्वर समाचार। इसे सेठ

खेमराज बजाज ने बंबई से निकाला। इसमें कितने ही साहित्यिक ग्रंथ छापे जाते रहे। यह आकार प्रकार में बहुत बड़ा निकलता था और आज भी निकल रहा है।

इंडियन प्रेस के अध्यक्ष श्री चिंतामणि घोष ने १९०० ई० में मासिक 'सरस्वती' का प्रकाशन आरंभ किया। आरंभ में इसका संपादन काशी से होता था और पत्रिका पर छपा रहता था - काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा अनुमोदित— और इसके संपादक मंडल में थे—सर्व श्री राधाकृष्ण दास, कार्तिक प्रसाद खत्री, जगन्नाथ दास 'रत्नाकर', किशोरीलाल गोस्वामी और श्यामसुंदर दास। सन् १९०३ ई० पं० महावीरप्रसाद द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' के संपादन का भार स्वीकार कर लिया। उस समय संपादन कला का कोई आदर्श स्थिर नहीं हुआ था। बड़े और प्रसिद्ध व्यक्ति के त्रुटिपूर्ण लेख भी छपते थे, किंतु अप्रसिद्ध और छोटे लोगों के विद्वत्तापूर्ण लेखों की भी उपेक्षा होती थी। आलोचनार्थ आए ग्रंथों का नाममात्र छाप दिया जाता था। लेखों के प्रतिपाद्य विषय का समुचित संपादन तो दूर उनकी भाषा तक को नहीं सुधारा जाता था। समय की पाबंदी पर तो किसी का ध्यान ही नहीं था। ऐसी परिस्थिति में उन्होंने 'सरस्वती' का संपादन आरंभ किया। 'सरस्वती' में प्रकाशित लेखों की फाइल नागरी-प्रचारिणी सभा में सुरक्षित है। उसे देखने से यह प्रतीत होता है कि द्विवेदी जी प्रत्येक लेख को मनोयोगपूर्वक पढ़कर विषयवस्तु तथा भाषा की दृष्टि से उसका संपादन करते थे। अधिकांश लेखों का तो कायाकल्प कर देते थे। बड़े से बड़े आदमियों के अप्रतिपादित लेखों को छापने से इनकार कर देते थे। स्वयं विषय देकर नए नए लेखकों और कवियों से लिखवाते तथा उनको सुधारकर छापते थे। इस प्रकार लेखक भी पैदा करते जाते थे। आलोचनार्थ आए ग्रंथों की समालोचना तो करते ही थे; यदि कोई गलत और अमर्यादित ग्रंथ कहीं से प्रकाशित हुआ हो, तो उसे मँगाकर उसकी बखियाउधेड़ आलोचना भी करते थे। इसी लिये उनके अनुशासन से लोग थर्राते थे। समय की पाबंदी तो ऐसी करते थे कि ठीक वक्त पर 'सरस्वती' अपने ग्राहकों के पास पहुँच जाती थी। प्रायः तीन मास के लिये 'सरस्वती' के लिये रचनादि प्रेस में रखते थे। अपने हानिलाभ की उपेक्षा करके भी पाठकों के हानिलाभ का ध्यान रखते थे। आरंभ में ही नागरीप्रचारिणी सभा से उनका संघर्ष हो गया और उन्होंने उसपर से सभा के अनुमोदन को निकालकर 'सरस्वती' में 'अनुमोदन का अंत' छापा। व्याकरण के संबंध में उनका बालमुकुंद गुप्त से संघर्ष छिड़ गया। यद्यपि इसमें द्विवेदीजी का पक्ष कमजोर था; किंतु टक्कर गहरी रही। यह था 'अस्थिरता' और 'अनस्थिरता' का द्वंद्व। पं० श्यामबिहारी मिश्र, पं० शुकदेवबिहारी मिश्र और अनेक आर्यसमाजियों से भी उनका संघर्ष रहा किंतु कहीं भी उन्होंने माफी

नहीं माँगी। द्विवेदीजी ने लगभग २० वर्षों तक 'सरस्वती' का संपादन किया। उन्होंने अपनी विद्वत्ता, श्रमशीलता और कार्यदक्षता से हिंदी साहित्य और हिंदी पत्रकारिता के स्तर को बहुत उन्नत किया। बहुत से लेखक, कवि और संपादक तैयार किए। इसी लिये उनके कार्यकाल तक के संपूर्ण हिंदी साहित्य पर उनकी छाप बैठ गई।

१९०१ ई० में जो पत्र प्रकाश में आए, उनमें 'समालोचक' का स्थान विशेष है। इसे जयपुर से पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने निकाला था। वही इसके संपादक थे। गुलेरी जी संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, हिंदी और अँगरेजी भाषा तथा साहित्य के प्रकांड विद्वान थे। उनकी लेखनी से प्रसूत 'समालोचक' बड़ा सारगर्भित पत्र था। 'समालोचक' द्वारा गुलेरी जी एक अनूठी शैली लेकर साहित्य क्षेत्र में उतरे। यह पत्र अल्पायु हुआ किंतु उतने ही समय में इसने हिंदी जगत् पर अपनी छाप लगा दी।

कानपुर के आर्मी प्रेस से लाला सीताराम जी ने 'सिपाही' नामक मासिक पत्र प्रकाशित किया था जिसे १९०४ ई० में साप्ताहिक कर दिया गया। इसके अतिरिक्त 'गढ़वाल समाचार' (गढ़वाल , और 'नारद' (छपरा) प्रकाशित हुआ। किंतु इनका स्थानीय ही महत्व था। इस काल में 'हितवादी' नामक पत्र का प्रकाशन कलकत्ता से हुआ। इसके संपादकों में पं० रुद्रदत्त शर्मा और प्रसिद्ध क्रांतिकारी पं० सखाराम गणेश देउस्कर थे। देउस्करजी ने 'सरस्वती' संपादक पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी से व्याकरण का एक महत्वपूर्ण प्रश्न भी किया था कि बँगला, मराठी आदि में तो शब्द के साथ विभक्ति मिलाकर लिखी जाती है पर हिंदी में अलग क्यों लिखी जाती है। यहाँ द्विवेदी जी का पक्ष कमजोर था, अतः वे चुप लगा गए किंतु 'हितवार्ता' में ही पं० गोविंद नारायण मिश्र के लेख 'विभक्ति विचार' और प्राकृत विचार' पर निकले। इन लेखों के कारण ही मिश्र जी की प्रसिद्धि हुई। 'हितवादी' में ही देउस्करजी से पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर ने पत्र-संपादन-कला का अभ्यास किया। इन्हीं दिनों आर्यसमाज में ब्राह्मण-अब्राह्मण - संघर्ष के परिणामस्वरूप पं० भीमसेन शर्मा आर्यसमाज से अलग हुए और उन्होंने 'ब्राह्मण सर्वस्व' नामक मासिक पत्र प्रकाशित किया। १९०५ ई० में जो पत्र प्रकाश में आए, उनमें लाहौर से निकलनेवाला 'संगीतामृत प्रवाह' विशेष उल्लेखनीय है। यह विष्णु दिगंबर पुलुस्कर का पत्र था। इसके संपादक पं० ठाकुरराम भीवर थे किंतु सारा कार्य विष्णु दिगंबर के निर्देश से होता था।

सन् १९०७ ई० का हिंदी पत्रकारिता के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। इसी वर्ष महामना पं० मदनमोहन मालवीय ने प्रयाग से 'अभ्युदय' नामक साप्ताहिक पत्र निकाला। इसके पूर्व वे कालाकाँकर से निकलनेवाले 'हिंदोस्थान' का

संपादन करते थे। 'हिंदोस्थान' राजा रामपाल सिंह का पत्र था। उसमें मालवीय जी अपने विचारों का पूर्ण प्रतिपादन नहीं कर पाते थे। इसी लिये उन्होंने 'अभ्युदय' का प्रकाशन किया। कुछ समय तक तो मालवीय जी ने ही 'अभ्युदय' का संपादन किया किंतु जब उनको राजनीति से एकदम अवकाश नहीं बचा तब उन्हीं की प्रेरणा से बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन ने 'अभ्युदय' का संपादन अपने हाथ में लिया। बाद में उन्हें भी समय का अभाव हो गया और पं० कृष्णकांत मालवीय 'अभ्युदय' का संपादन करने लगे। 'अभ्युदय' का महत्व राजनीतिक और साहित्यिक दोनों दृष्टियों से है। उत्तरप्रदेश की राजनीतिक जागृति में इसका पूर्ण योग रहा है। इसी भाँति हिंदी भाषा और साहित्य का भी कार्य 'अभ्युदय' ने किया है। अखिल भारतीय हिंदी साहित्य संमेलन की स्थापना में 'अभ्युदय' का विशेष हाथ था।

इसी वर्ष लोकमान्य तिलक के केसरी' का हिंदी संस्करण 'हिंदी केसरी' नाम से प्रकाशित हुआ। इसके संपादक माधवराव सप्रे थे। यह गरम दल का अखबार था अतः चाव से पढ़ा जाता था। आगे चलकर तिलक पर राजद्रोह का मुकदमा चला और उनको सजा मिली किंतु उसी केस में सप्रे जी ने माफी माँग ली। इसका प्रभाव तिलक पर गहरा पड़ा और उन्होंने दुःखी होकर 'हिंदी केसरी' को बंद कर दिया। इनके अतिरिक्त अनेक पत्र पत्रिकाओं का प्रकाशन होता रहा।

१६०६ ई० में प्रयाग से 'कर्मयोगी' नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन हुआ। 'कर्मयोगी' की प्रेरणा श्री अरविंद घोष के 'कर्मयोगिन' से मिली थी। यह क्रांतिकारी विचारधारा का प्रचारक था। केवल 'कर्मयोगी' पढ़ने के जुर्म में अनेक विद्यार्थी स्कूलों और कालेजों से निकाल दिए गए थे। 'कर्मयोगी' पढ़ने के अपराध में ही श्री गणेशशंकर विद्यार्थी नौकरी से अलग कर दिए गए थे। 'कर्मयोगी' के वास्तविक संपादक पं० सुंदरलाल जी थे किंतु नाम अन्य क्रांतिकारियों का छपता था। अल्पकाल में ही 'कर्मयोगी' के तीन संपादकों को लंबी सजाएँ मिलीं किंतु जब लंबी सजाओं से भी 'कर्मयोगी' का प्रकाशन बंद नहीं हुआ तब सरकार ने लंबी जमानत माँगकर 'कर्मयोगी' को बंद कर दिया।

१६०६ ई० में ही दो और मासिक पत्रिकाओं का जन्म हुआ। हिंदी साहित्य के इतिहास में इन दोनों का महत्वपूर्ण स्थान है। इनमें एक है 'इंदु' और दूसरी 'मर्यादा'।

'इंदु' का प्रकाशन काशी से १६०६ ई० में जयशंकर प्रसाद जी ने किया। इसके मुख पृष्ठ पर लिखा है—

सुखद सुशीतल राशि, बरषि सुधा प्रिय आल ते।
चहुँदिशि कला प्रकाशि 'इंदु' सकल मंगल करे॥

इसके संपादक श्री अंबिकाप्रसाद गुप्त थे और मूल्य ३॥) वार्षिक था। यह साहित्यिक पत्रिका थी। छायावादी कविता की मूल प्रवृत्ति का आभास इसमें मिलता है। इसी के द्वारा 'प्रसाद' जी साहित्य जगत् में अवतीर्ण हुए।

'मर्यादा' का प्रकाशन प्रयाग से १९०६ ई० में अभ्युदय प्रेस से हुआ। इसके प्रेरणास्रोत महामना पंडित मदनमोहन मालवीय थे। यह राजनीति प्रधान मासिक पत्रिका थी। इसके संपादक पंडित कृष्णकांत मालवीय थे। 'सरस्वती' से इसमें यह विशेषता थी कि 'सरस्वती' राजनीति से दूर रहती थी और 'मर्यादा' में खुलकर राजनीतिक लेख निकलते थे। हिंदू विश्वविद्यालय की परिकल्पना सबसे पहले 'मर्यादा' में निकली थी। जब मालवीय जी अधिकतर काशी रहने लगे, तब श्री शिवप्रसाद जी गुप्त की प्रेरणा से 'मर्यादा' काशी आ गई। कुछ दिनों तक उसका संपादन बाबू श्रीप्रकाश जी और डा० संपूर्णानंद जी ने भी किया था।

१९१२ ई० में पं० ईश्वरी प्रसाद शर्मा ने 'मनोरंजन' नामक मासिक पत्र शाहाबाद से निकाला। यह शुद्ध साहित्यिक पत्र था। अपने समय में बड़ा लोकप्रिय था। इसने दो विशेषांक भी निकाले। तीन वर्ष निकलकर यह बंद हो गया।

१९१३ ई० की महत्वपूर्ण घटना है कानपुर से साप्ताहिक 'प्रताप' का प्रकाशन। इसे अमर शहीद श्री गणेशशंकर विद्यार्थी ने अपने कुछ मित्रों के सहयोग से निकाला था। वही इसके संपादक थे। विद्यार्थी जी तथा उनके 'प्रताप' का आदर्श था देश के स्वाभिमान तथा उसकी स्वाधीनता के लिये सर्वस्व निछावर करनेवाले कार्यकर्ता पैदा करना। वे छोटे से छोटे कार्यकर्ताओं से संपर्क रखते थे और उनको सहारा देते थे। यही कारण था कि दूर दूर से जनता से संबंध रखनेवाले समाचार 'प्रताप' में आते और छपते थे। 'प्रताप' की व्यापक प्रसिद्धि और प्रभाव का यही रहस्य था। 'प्रताप' किसान आंदोलन का समर्थक था, उसने किसानों पर ताल्लुकेदारों के अत्याचारों का विरोध किया। बरेली जिले के ऐसे ही एक अत्याचार का विरोध 'प्रताप' में छपा। 'प्रताप' पर मुकदमा चला किंतु विद्यार्थी जी ने संवाददाता का नाम नहीं बताया। किसानों के पक्ष में लिखने के कारण एक बार और 'प्रताप' पर मुकदमा चला और विद्यार्थी जी को कारावास की सजा मिली। मित्रों ने कहा कि माफी माँग लीजिए, यह कोई राजद्रोह का मुकदमा तो नहीं है, किंतु विद्यार्थी जी ने माफी न माँगकर जेल जाना पसंद किया। गणेशशंकर विद्यार्थी भीतर से क्रांतिकारी किंतु प्रत्यक्षतः कांग्रेस के नेता

थे। उन्होंने पश्चिमी उत्तरप्रदेश के राजनीतिक जीवन का निर्माण किया था। उन्होंने रामप्रसाद बिसमिल, चंद्रशेखर 'आजाद' और सरदार भगतसिंह आदि क्रांतिकारी नेताओं का बराबर पोषण किया। उत्तरप्रदेश में मजदूर संगठन के वे ही जन्मदाता थे। काकोरी षडयंत्र केस, मेरठ षडयंत्र केस और लाहौर षडयंत्र केसों में वे प्रेरणास्रोत थे। हिंदी के आंदोलन में उन्होंने बराबर आगे बढ़कर काम किया। इसी लिये गोरखपुर हिंदी साहित्य संमेलन के वे अध्यक्ष हुए। १९३१ ई० में सरदार भगतसिंह की फाँसी के अवसर पर कानपुर में जो भयानक हिंदू मुसलिम दंगा हुआ, उसे शांत करने में वे शहीद हो गए। गणेशशंकर विद्यार्थी जैसा तेजस्वी संपादक हिंदी में और कोई नहीं हुआ।

अप्रैल १९१३ ई० में खंडवा के कुछ साहित्यप्रेमियों की एक समिति ने 'प्रभा' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन किया। इसके संपादक थे श्रीयुत कालूराम जी गंगराडे बी० ए० एल० एल० बी०। पत्रिका का आदर्श इंगलैंड से प्रकाशित होनेवाला 'रिव्यू आफ रिव्यू' था। इसकी पृष्ठ संख्या ६० से ७० तक होती थी। वार्षिक मूल्य पहले ३) था बाद में ५) हो गया। लगभग १९१७ ई० से इसका प्रकाशन प्रताप प्रेस, कानपुर से होने लगा। उस समय संपादक पर नाम छपता था—गणेशशंकर विद्यार्थी, संपादक 'प्रताप' और देवदत्त शर्मा बी० ए०। १९२१ ई० में 'प्रभा' के संपादक हुए श्रीकृष्णदत्त पालीवाल एम० ए०। १९२३ ई० में पं० माखनलाल चतुर्वेदी और उसके बाद पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'। १९१७ ई० से 'प्रभा' राजनीतिक पत्रिका हो गई और उसके मुखपृष्ठ पर छपता था – विविध विषय संपन्न सचित्र राजनैतिक मासिक पत्रिका।

१९१४ ई० में सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० काशीप्रसाद जायसवाल के संपादकत्व में पटने से 'पाटलिपुत्र' नामक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित हुआ। यह हथुवा राज का पत्र था। लगभग ६ महीने तक डा० जायसवाल इसके संपादक थे। उस काल तक यह बहुत ही विद्वत्तापूर्ण और सुसंपादित ढंग से निकला। इसका एक विशेषांक तो बहुत सुंदर निकला था। डा० जायसवाल के बाद बाबू सोनासिंह चौधरी इसके संपादक हुए।

लगभग १९१८ ई० में बाबू मूलचंद अग्रवाल ने कलकत्ते से 'विश्वमित्र' नामक दैनिक पत्र का प्रकाशन किया। आरंभ में उनको द्रव्याभाव था। एक हैंडप्रेस पर उन्होंने 'विश्वमित्र' निकाला था। १९२१ ई० के असहयोग आंदोलन में उन्हें सजा भी हुई थी। इसके बाद 'विश्वमित्र' का प्रचार बढ़ने लगा। 'विश्वमित्र' के मालिक और वास्तविक संपादक श्री मूलचंद ही थे। किंतु कुछ दिनों तक पं० मातासेवक पाठक ने भी इसका संपादन किया था। व्यवसाय बुद्धि के कारण मूलचंद जी ने 'विश्वमित्र' को चलाया और उससे द्रव्यार्जन भी किया। १९४० ई०

के बाद 'विश्वमित्र' दिल्ली, कानपुर, बंबई और पटना से भी निकलने लगा। इसका साप्ताहिक संस्करण भी निकलता था और उसके संपादक पं० देवदत्त शुक्ल थे। कुछ दिनों तक मासिक 'विश्वमित्र' भी निकला था, जिसके संपादक डा० हेमचंद्र जोशी और पं० इलाचंद जोशी थे। 'विश्वमित्र' ने धनार्जन तो खूब किया किंतु यश उसके भाग्य में नहीं था। वह अब भी दैनिक रूप में कलकत्ता और पटना से निकलता है।

इनके अतिरिक्त भी अनेक पत्र पत्रिकाओं का प्रकाशन उस काल में हुआ है। स्थानाभाव के कारण उन सबका वर्णन यहाँ संभव नहीं है अब आगे हम अपने आलोच्य काल पर आते हैं।

हिंदी समाचारपत्रों की प्रगति

(१९२० से १९४० ई० तक)

सामान्य प्रवृत्तियाँ

समचारपत्रों का इतिहास देश की राजनीति और सामाजिक स्थिति से संबद्ध होता है। प्रचार का साधन होने के कारण समाचारपत्रों पर राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तनों का सीधा प्रभाव पड़ता है। भारतीय राजनीति में गांधी जी के प्रवेश के साथ देश का इतिहास नया मोड़ लेता है। गांधी जी के नेतृत्व में देश के अंदर जैसी व्यापक जागृति हुई, वैसी इससे पूर्व कभी नहीं हुई थी। समाचारपत्रों पर उसका व्यापक प्रभाव पड़ा। इसी लिये उस काल की सामान्य स्थिति का संक्षिप्त परिचय अपेक्षित है।

सन् १९१६ ई० में लखनऊ कांग्रेस के अवसर पर गांधीजी ने भारतीय राजनीति में प्रवेश किया। उन्होंने चंपारन में नीलहे गोरों के अत्याचार के विरुद्ध सत्याग्रह किया और उसमें उनको सफलता मिली। फरवरी १९१९ ई० में भारत सरकार ने रौलट एक्ट पास किया जिसके द्वारा उसके हाथ में दमन के लिये व्यापक अधिकार मिला। देश ने इसका विरोध किया। १३ अप्रैल १९१९ ई० को जलियाँवाला बाग में अँगरेजों ने सैकड़ों भारतीयों को गोली से भूनकर सारे पंजाब में सैनिक कानून लागू कर दिया। इसके प्रतिक्रियास्वरूप देश में विरोध और विक्षोभ की लहर दौड़ गई। दिसंबर १९१९ ई० में अमृतसर में ही कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। उसमें लोकमान्य तिलक, देशबंधु चितरंजन दास और महात्मा गांधी जी ने अंग्रेजी सरकार द्वारा मांटेगु चेम्सफोर्ड शासनसुधारों की घोषणा को अपर्याप्त और असंतोषजनक बताते हुए सरकार से संघर्ष करने पर जोर दिया। १९२० ई० में देश का वातावरण और गरम हो गया। इस समय देश

के एकछत्र नेता महात्मा गांधी थे। उन्होंने संपूर्ण भारत में असहयोग आंदोलन का शंखनाद किया। उनके असहयोग का कार्यक्रम बहुत कुछ वही था जिसे १६०५ ई० में स्वदेशी आंदोलन के क्रम में देश ने स्वीकार किया था। किंतु वह व्यापक स्तर पर नहीं था। उसने संपूर्ण भारतीय जीवन को स्पर्श नहीं किया था। १६२० ई० के असहयोग आंदोलन ने भारतीय जीवन को अपने में समेट लिया। हिंदी प्रदेशों पर उसका व्यापक प्रभाव पड़ा। जिन कार्यक्रमों द्वारा इसका प्रभाव दूर तक प्रसारित हुआ, उनका संक्षिप्त विवरण यहाँ अपेक्षित है—महात्मा गांधी के इस असहयोग आंदोलन में विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, सरकारी नौकरियों और मान, पद, प्रतिष्ठा का त्याग, अँगरेजी स्कूलों, कालेजों और अदालतों का छोड़ना, अपनी स्वतंत्र राष्ट्रीय शिक्षाप्रणाली का देशी भाषाओं के माध्यम से अपनी आवश्यकताओं के अनुसार विकास, ग्रामों और शहरों में झगड़ा मिटाने के लिये पंचायतों को कायम करना, और इसी प्रकार अपनी एक सामान्य समानान्तर राष्ट्रीय सरकार कायम करना। इसी के अनुसार काशी विद्यापीठ, बिहार विद्यापीठ, साबरमती आश्रम आदि संस्थानों की स्थापना हुई। इन सारे कार्यक्रमों के प्रचार के लिये अनेक दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्र पत्रिकाओं का प्रकाशन हिंदी भाषा और देवनागरी लिपि में आरंभ हुआ। इनमें 'आज' (काशी), 'स्वतंत्र' (कलकत्ता), 'वर्त्तमान' (कानपुर), 'दैनिक प्रताप' (कानपुर), विश्वमित्र' (कलकत्ता), 'भविष्य' (प्रयाग), 'विजय', 'अर्जुन' (दिल्ली) इत्यादि हैं। इसी काल में बेतार के तार से समाचार भेजने की व्यवस्था हुई, रूटर और एसोसिएटेड प्रेस नामक समाचार एजेंसियों की स्थापना हुई, जिनसे समाचारपत्रों का विकास हुआ।

आलोच्य काल की दूसरी सामान्य परिस्थिति है हिंदू मुसलिम दंगों से उत्पन्न संगठन और आंदोलन तथा उनसे संबद्ध प्रचार। इन सांप्रदायिक प्रवृत्तियों के उत्स को ठीक से देखने के लिये हमें १६२० ई० की राजनीतिक स्थिति पर एक नजर और डालनी होगी। राष्ट्रीय संघर्ष में मुसलमानों को साथ लाने के लिये कांग्रेस ने खिलाफत के प्रश्न को राष्ट्रीय संघर्ष का एक मुद्दा बना दिया। बीच में तुर्की की क्रांति ने खिलाफत के आधार को ही समाप्त कर दिया किंतु कांग्रेस के समर्थन के कारण खिलाफत जैसे मजहबी मामले को राष्ट्रीय स्तर प्राप्त हो गया। इस प्रकार मुसलमानों की सांप्रदायिकता देश के राष्ट्रीय स्तर पर आ गई। उनका खिलाफती धर्मराज कायम करने का जोश, विदेशी अंगरेजों के विरुद्ध ही सीमित न रहकर स्वदेशी हिंदुओं के विरुद्ध भी भड़क उठा। परिणामस्वरूप १६२२ ई० में ही मुलतान में भीषण हिंदू मुसलिम दंगा हुआ। किंतु उस मुसलिम प्रधान इलाके में दंगे को शांत करने के लिये कोई मुसलिम नेता नहीं

पहुँचा। प्रतिक्रियास्वरूप हिंदुओं में भी हिंदू संगठन कायम करने की प्रवृत्ति पैदा हुई। फलस्वरूप तबलीग और तंजीम, हिंदू संगठन और शुद्धि आंदोलन की सांप्रदायिक भावना उभरकर सामान्य धरातल पर आ गई। इस विषय से संबंधित भी अनेक पत्र पत्रिकाएँ हिंदी में निकलीं। लगभग सभी हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं में यह विषय भी स्थान पाने लगा।

आलोच्यकाल की महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं में सन् १९३० ई० का सत्याग्रह संग्राम भी है। इसकी पृष्ठभूमि में १९२८ ई० का साईमन कमीशन है जिसके बहिष्कार के अवसर पर लाहौर में लाला लाजपत राय पर लाठी का भयानक प्रहार हुआ और उनकी मृत्यु भी हुई। प्रतिक्रियास्वरूप सरदार भगतसिंह ने सैंडर्स का वध किया और सेंट्रल असेंबली में बम फेंककर क्रांतिकारी प्रवृत्ति को सामान्य धरातल पर ला दिया। १९३० ई० में महात्मा गांधी ने बारडोली में नमक कानून तोड़कर सत्याग्रह संग्राम छेड़ दिया। यह सत्याग्रह संग्राम बहुत ही व्यापक और देश के आमूलचूल को झकझोरकर जगा देनेवाला हुआ। इसमें देश की और विशेषकर हिंदी की सभी पत्र पत्रिकाओं ने खुलकर भाग लिया। अँगरेजी सरकार झुकी। गांधी इरविन पैक्ट हुआ किंतु फिर सरकार ने वार किया। नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। फलस्वरूप १९३२ ई० में पुनः सत्याग्रह छिड़ा। देश की संघर्ष शक्ति आसमान चूम रही थी। अँगरेजों ने उसे समझा और प्रांतीय शासनाधिकारों की घोषणा की। १९३६ में कांग्रेस ने लगभग सभी सूबों पर अधिकार कर लिया। इन सभी परिस्थितियों में हिंदी के पत्रों ने साथ दिया।

आलोच्यकाल की एक और सामान्य प्रवृत्ति, जिसने हिंदी पत्रों, पत्रकारों और साहित्यकारों को प्रभावित किया, वह है–साम्यवादी या समाजवादी, जिसे साहित्य में प्रगतिवाद भी कहते हैं। इस प्रवृत्ति का बीजारोपण भी भारत में सन् १९२० ई० में ही हुआ। सन् १९१७ ई० में रूस में साम्यवादी क्रांति हुई। उसका भारत पर भी प्रभाव पड़ा। १९२० ई० में कुछ भारतीय क्रांतिकारी छिपकर रूस चले गए। उन्होंने रूसी क्रांति का अध्ययन किया और वापस आकर अमर शहीद श्री गणेश शंकर विद्यार्थी के नेतृत्व में कानपुर में मजदूर संगठन कायम किया। १९२४ ई० में कानपुर में कम्युनिस्ट केस भी चला १९२४ ई० में पं० जवाहरलाल नेहरू ने रूस की यात्रा की। नेहरू जी के द्वारा कांग्रेस के अंदर समाजवादी विचारधारा का प्रभाव फैला। १९२७ ई० तक भारत में कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हो गई। १९२८ ई० में मेरठ षड्यंत्र केस चला किंतु अपने अंतर्राष्ट्रीय दर्शन के कारण १९३० ई० में कम्युनिस्टों ने सत्याग्रह संग्राम का विरोध किया। यहीं से समाजवादी विचारधारा में दरार पड़ी।

१९३४ ई० में आचार्य नरेंद्रदेव की अध्यक्षता में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना हुई। अप्रत्यक्ष रूप से इस दल को पं० जवाहरलाल नेहरू का समर्थन प्राप्त था। १९३६ ई० से प्रेमचंद की अध्यक्षता में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई। समाजवादी विचारधारा के कारण देश में अनेक स्थानों पर किसानों के तथा अनेक स्थानों पर मजदूरों के आंदोलन हुए। अनेक पत्र पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ। सामान्य रूप से हिंदी की पत्र पत्रिकाओं पर किसी न किसी रूप से समाजवादी विचारधारा का प्रभाव पड़ा। इस प्रकार इस विचारधारा ने भी समाज को प्रभावित किया।

आलोच्यकाल में पत्र पत्रिकाओं की संख्या बहुत अधिक है। सभी पत्र-पत्रिकाओं को ढूँढ़कर देख पाना भी कठिन है। किसी भी संग्रहालय में सबका संग्रह नहीं है। संपादकाचार्य पं० अंबिकाप्रसाद वाजपेयी और डा० रामरतन भटनागर भी सभी पत्र पत्रिकाओं को देख पाने में समर्थ नहीं हुए। प्रस्तुत प्रयत्न तो एक इतिहास का एक छोटा कोना मात्र है। अतः आलोच्यकाल के सभी पत्रों का इतिहास दे पाना कठिन है। किंतु आलोच्यकाल का प्रतिनिधित्व जिन हिंदी पत्र-पत्रिकाओं ने किया है, उनका इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयत्न हम अवश्य करेंगे। इसके अतिरिक्त ऐसे पत्रों की चर्चा भी हम करेंगे जिनका किसी न किसी रूप में महत्त्व रहा है किंतु स्थानाभाव के कारण बहुत से पत्रों का नाम भी छोड़ जाना पड़ेगा।

आज

देश के सार्वजनिक जीवन में स्व० शिवप्रसाद गुप्त का बड़ा विशिष्ट स्थान है। दस लाख रुपयों का दानकर उन्होंने काशी विद्यापीठ की स्थापना की। राष्ट्रीय शिक्षा का प्रथम दौर १९०५ ई० में चला था और द्वितीय १९२० ई० में। इस द्वितीय दौर के राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाओं में काशी विद्यापीठ का स्थान महत्त्वपूर्ण है। यह एक प्रशिक्षित राजनीतिक कार्यकर्ता पैदा करने का केंद्र था। इतना ही नहीं, श्रेष्ठ साहित्य के माध्यम से जनता के मानस को संस्कृत और समुन्नत करने के लिये शिवप्रसाद गुप्त ने 'ज्ञानमंडल' प्रेस की स्थापना की। इसके द्वारा अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथों का निर्माण और प्रकाशन कराया। १९२० ई० में जन्माष्टमी के दिन उन्होंने 'आज' नामक दैनिक पत्र काशी से प्रकाशित कराया। 'आज' में रोमन टाइप का उपयोग नहीं होता था। असोशिएटेड प्रेस से समाचार बराबर लिया जाता था। 'आज' के प्रथम संपादक बाबू श्री प्रकाश जी थे। इनके सहकारी के रूप में पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर भी थे। कालांतर में श्रीप्रकाशजी को समयाभाव रहने लगा, इसलिये 'आज' के प्रधान संपादक बाबूराव विष्णु

पराड़कर हुए। 'आज' अँगरेजी के 'पायोनियर' और 'लीडर' के टक्कर का दैनिक पत्र बराबर रहा। अनेक प्रसंगों पर उसने 'लीडर' की आलोचना की और विवाद किया। 'आज' के संपादक को शिवप्रसाद गुप्त ने पूरी स्वतंत्रता दी थी। लेखक ने गुप्तजी के अनेक पत्र देखे हैं जिनमें उन्होंने 'आज' में प्रकाशित किसी लेख अथवा टिप्पणी में त्रुटि दिखाई है। उनमें संपादक के प्रति नम्रता और सौजन्य का अद्भुत मिश्रण है। पराड़कर जी के किसी भी संपादकीय कार्य में उन्होंने कभी भी बाधा नहीं पैदा की। उनके सा आदर्श मालिक दुर्लभ है। १९३३ ई० में 'आज' का अंगरेजी संस्करण 'टुडे' नाम से निकला। इसके संपादक डा० संपूर्णानंद जी थे। 'आज' भारतीय स्वाधीनता का प्रबल समर्थक था। आंदोलन के दिनों में जब अग्रलेख का लिखना कानून की मार में आता था, उस समय संपादकीय कालम को कोरा छोड़कर उसपर 'काले कानून की भेंट' लिख दिया जाता था। घोर आंदोलन के दिनों में जब 'आज' का प्रकाशन बंद हो जाता था, तब वह गुप्त रूप से 'रणभेरी' के रूप में निकलता था और उसका भी संचालन पराड़कर जी करते थे। 'आज' हिंदी का सर्वाधिक लोकप्रिय और आदर्श दैनिक पत्र रहा है।

स्वतंत्र

जन्माष्टमी सन् १९२० ई० को कलकत्ता से 'स्वतंत्र' नामक दैनिक पत्र का प्रकाशन हुआ। इसके संपादक पं० अंबिकाप्रसाद वाजपेयी थे। यह भारतीय स्वतंत्रता का समर्थक था किंतु गांधी जी के असहयोग आंदोलन पर इसकी पूर्ण आस्था नहीं थी। इस तरह इसकी नीति स्पष्ट नहीं थी। आगे चलकर बाबू पारसनाथ सिंह ने जो 'स्वतंत्र' के संपादकीय विभाग में थे, असहयोग आंदोलन का समर्थन कर दिया। कुछ समय तक कलकत्ते में इसका बड़ा प्रचार था। १९३० ई० में सत्याग्रह के अवसर पर इससे पाँच हजार की जमानत माँग ली गई। जमानत न दे पाने के कारण इसका प्रकाशन बंद कर देना पड़ा। बाद में बाबू मूलचंद अग्रवाल ने इसका स्वामित्व खरीद लिया। लगभग १९३४ ई० में 'स्वतंत्र' बंद हो गया। 'स्वतंत्र' का साप्ताहिक संस्करण भी निकलता था।

वर्तमान

विजयादशमी सन् १९२० ई० को कानपुर से 'वर्तमान' नामक दैनिक पत्र का प्रकाशन हुआ। इसके संपादक और प्रकाशक पं० रमाशंकर अवस्थी थे। इसका मनोरंजन का स्तंभ प्रसिद्ध था जिसे अवस्थीजी स्वयं लिखते थे। आगे चलकर 'वर्तमान' समाजवादी विचारों का समर्थक हो गया। १९५२ ई० में यह बंद हो गया।

दैनिक प्रताप

'प्रताप' का जन्म तो १६१३ में ही हो चुका था। १६२० ई० में देश की स्वाधीनता के व्यापक प्रचार के लिये श्री गणेशशंकर विद्यार्थी ने 'प्रताप' का दैनिक संस्करण 'दैनिक प्रताप' नाम से कानपुर से ही निकाला। 'दैनिक प्रताप' के संपादक भी विद्यार्थी जी ही थे। हम अन्यत्र लिख चुके हैं कि विद्यार्थी जी मूलतः क्रांतिकारी थे। १६२३ ई० में फतहपुर केस में विद्यार्थीजी ने हिंसा का समर्थन किया। उनपर मुकदमा चला। उनके मित्रों ने माफी माँग लेने के लिये कहा किंतु विद्यार्थी जी ने माफी नहीं माँगी। उन्हें सजा हो गई। आर्थिक संकट के कारण कुछ दिनों तक 'दैनिक प्रताप' का प्रकाशन बंद हो गया था किंतु वह फिर प्रकाशित होने लगा। विद्यार्थीजी की शहादत के बाद 'दैनिक प्रताप' के संपादक पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और बाद में विद्यार्थी जी के बड़े पुत्र श्री हरिशंकर विद्यार्थी हुए। कुछ दिनों तक श्री ओंकारशंकर विद्यार्थी भी संपादक थे। आज कल श्री सुरेश भट्टाचार्य इसका संपादन करते हैं।

कर्मवीर

आरंभ में १६२० ई० में जबलपुर से 'कर्मवीर' नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन हुआ। यह पं० माखनलाल चतुर्वेदी का पत्र था। वे ही इसके संपादक भी थे। थोड़े दिनों के बाद यह खंडवा चला गया। यह राजनीति में गरम दल का समर्थक था। राजनीति के अतिरिक्त साहित्यिक प्रवृत्तियाँ भी इसकी थीं। कुछ दिनों तक इसका संपादन श्री रामवृक्ष बेनीपुरी ने भी किया था। यह पत्र अब भी निकलता है।

देश

पटना में सदाकत आश्रम की स्थापना के बाद लगभग १६२० ई० में डा० राजेन्द्र प्रसाद जी ने पटना से 'देश' नामक साप्ताहिक पत्र निकाला। आरंभ में वे ही इसके संपादक थे। बाद में आचार्य बदरीनाथ वर्मा इसके संपादक हुए। श्री गदाधर प्रसाद अंबष्ठ, मथुरा प्रसाद और पं० पारसनाथ त्रिपाठी ने इसके संपादकीय विभाग में काम किया था। यह गांधीजी की नीति का समर्थक था। लगभग १० वर्ष चलने के बाद यह बंद हो गया। इसी नाम का एक पत्र १६३६ में साप्ताहिक रूप में पटना से निकला। कुछ अंकों के बाद इसे भी बंद कर दिया गया।

भविष्य

इसी वर्ष प्रयाग से पं० सुंदरलाल जी के संपादकत्व में 'भविष्य' नामक दैनिक पत्र निकला। गरम दल के विचारों का पोषण करते हुए भी यह महात्मा गांधी जी के कार्यक्रम का समर्थक था। बाद में यह साप्ताहिक हो गया।

स्वार्थ

काशी के ज्ञानमंडल से अर्थशास्त्र संबंधी एक मासिक पत्रिका का प्रकाशन भी १६२० ई० में हुआ। यह बहुत ऊँचे स्तर की अपने विषय की सर्वांगपूर्ण पत्रिका थी। वार्षिक मूल्य ४) था। एक वर्ष तक इसके संपादक पं० जीवनशंकर याज्ञिक एम० ए०, एल० एल० बी थे। बाद में बाबू नरसिंहदास एम० ए०, एल० एल० बी० हुए। इनके बाद श्री मुकुंदीलाल श्रीवास्तव ने इसका संपादन किया।

इसी वर्ष बिजनौर से 'स्वराज्य' नामक अर्ध साप्ताहिक पत्र निकला। दैनिक पत्रों में इसी वर्ष कलकत्ते से 'साम्यवादी', कानपुर से 'लोकमत' और गूँजरवाला से 'भावनामा' नामक दैनिक पत्रों का प्रकाशन हुआ। इस वर्ष के अन्य महत्वपूर्ण पत्र पत्रिकाएँ हैं—'जैनबंधु' (दिल्ली), 'वैश्य बंधु' (काशी), 'अग्रवाल सोहिया हितैषी' (आगरा), 'गोहा वैश्य पताका' (नागपुर), 'मारवाड़ी सुधार' (आरा), 'राजस्थान केसरी' (यह तिलक के 'केसरी' के आदर्श पर निकलनेवाला राजनीतिक पत्र था। इसका उद्देश्य राजस्थान में राजनीतिक जागृति पैदा करना था। सेठ जमनालाल का संरक्षण इसे प्राप्त था), 'प्रेमबंधु' (कानपुर), 'विश्वभूषण' (अयोध्या), 'बंधु' (मुरार, ग्वालियर), 'सौरभ' (झालरा पाटन), 'पतिव्रता' (कलकत्ता , 'भारती' (कलकत्ता), छात्र सहोदर' (जबलपुर), 'किसान' (उन्नाव) 'किसान समाचार' (मुजफ्फरपुर), 'आर्यदेश' (हरिहर, बस्ती), 'उषा' (मुरार ग्वालियर), 'अहिंसा' (काशी), 'स्वास्थ्य दर्पण' (जबलपुर), 'सेवक बंधु' और 'स्वयंसेवक' (प्रयाग)।

इस वर्ष लगभग २८ मासिक पत्र निकले जिनमें ११ जातीय पत्र थे। अनेक जातीय पत्रों का स्तर भी ऊँचा था।

१६२१ ई० के महत्वपूर्ण पत्र पत्रिकाओं में 'हिंदी नवजीवन' का नाम लिया जा सकता है। यह महात्मा गांधी जी के गुजराती 'नवजीवन' का हिंदी रूपांतर था। यह विचार पत्र था। इसके संपादक महात्मा गांधी ही थे किंतु संपादन का सारा काम पं० हरिभाऊ उपाध्याय करते थे। इसके प्रकाशक सेठ जमनालाल बजाज थे। यह नवजीवन प्रेस गुजरात से साप्ताहिक रूप में निकलता था और इसका वार्षिक मूल्य ४) था। महात्मा गांधी के 'यंग इंडिया' का हिंदी रूपांतर पटना से 'तरुण भारत' नाम से निकलता था। इसका संपादन श्री मथुराप्रसाद दीक्षित करते थे।

कुछ दिनों तक नागेश्वर प्रसाद शर्मा भी इसके संपादक थे। एक पत्र हिंदी अंग्रेजी में 'मारिशस इंडियन' नाम से मारिशस के पोर्टलुईस से श्री वेदव्रत शर्मा के संपादकत्व में निकला था।

१९२१ ई० में निकलनेवाले हिंदी दैनिक समाचारपत्रों में कानपुर से 'आदर्श' और जबलपुर से 'तिलक' का नाम लिया जा सकता है। 'आदर्श' के संपादक कस्तूरी नारायण थे। 'तिलक' की विशेष जानकारी नहीं मिली।

इस तरह कुल मिलाकर २१ मासिक पत्र निकले किंतु इनमें एक भी महत्वपूर्ण साहित्यिक मासिक नहीं है। अनेक तो जातीय पत्र ही हैं जिनमें से कुछ साहित्यिक रुचि के हैं। कुछ सार्वजनिक महत्व के भी पत्र हैं।

१९२१ ई० की हिंदी पत्र पत्रिकाओं की जो उल्लेखनीय बात है वह यह कि प्रायः सबके सब असहयोग के समर्थन में कुछ न कुछ लिखते रहे। इस वर्ष की पत्र पत्रिकाएँ हैं – 'समाजसेवक' (नागपुर), 'धर्मवीर' (दिल्ली), 'स्वाधीन' (कलकत्ता), 'निर्भीक' (मोतीहारी), 'किसान' (इटावा), 'महिला संसार' (फतहगढ़), 'नाई मित्र' (मोठ, झाँसी), 'खंडेलवाल जैन हितेच्छु' (शोलापुर), 'राष्ट्रीय अध्यापक' (कानपुर), 'जैन विजय पताका' (कलकत्ता), 'खंडेलवाल हितेच्छु' (बंबई), 'बारह सेनी' (अलीगढ़), 'अमरवैश्य शुभचिंतक' (कानपुर), 'श्रीसनाढ्य' (जबलपुर), 'श्रीगोतम' (मूडवा, मारवाड), 'गूजर गौड हितैषी (सोहागपुर), 'नाईब्राह्मण' (कानपुर), 'उद्यम' (नागपुर), 'उद्योग' (कलकत्ता), 'कर्तव्य' (आगरा), 'तिलक' (आगरा), 'महिला' (आगरा), 'शिल्प कला' (दिल्ली), 'शिल्प समाचार' (कन्नौज), 'वैदिक संदेश' (फौंगड़ी), 'समय' (मुरार, ग्वालियर), 'आयुर्वेद प्रदीप' (मुजफ्फरपुर), 'कविराज (दिल्ली), 'आर्यावर्त (पटना) यह वर्तमान दैनिक आर्यावर्त से भिन्न था।

१९२२ ई० मासिक पत्रिकाओं की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

माधुरी

लखनऊ से 'माधुरी' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन ३० जुलाई १९२२ ई० को हुआ। इसपर लिखा था 'विविध-विषय-भूषित साहित्य संबंधी सचित्र मासिक पत्र'। इसके संपादक थे—श्री दुलारेलाल भार्गव और श्री रूपनारायण पांडेय। पृष्ठसंख्या १०४ थी और वार्षिक मूल्य ६॥) था। प्रथम अंक के मुखपृष्ठ पर यह दोहा छपा था—

> **सिता, मधुर मधु अधर तिय सुधा माधुरी धन्य।**
> **पै नव-रस-साहित्य की यह माधुरी अनन्य॥**

आगे चलकर दूसरी लाइन को बदलकर इस प्रकार कर दिया गया—

पै यह साहित माधुरी नव-रस-मयी अनन्य ।

इसमें प्रमुख स्तंभ निम्नलिखित थे—(१) विविध विषय, (२) सुमन संचय, (३) विज्ञान वाटिका, (४) महिला मनोरंजन और (५) पुस्तक परिचय ।

कुछ समय तक श्री प्रेमचंदजी और पं० कृष्णविहारी ने भी 'माधुरी' का संपादन किया था । श्री सूर्यकांत त्रिपाठी निराला तथा श्री शिवपूजन सहाय ने भी 'माधुरी' में काम किया था ।

'माधुरी' प्रधानतः साहित्यिक मासिक पत्रिका थी । 'माधुरी' का प्रचार प्रसार तथा ग्राहकसंख्या बहुत बढ़ी । इसका स्तर भी ऊँचा रखा गया । रीतिकालीन अनेक कवियों पर इसमें महत्वपूर्ण लेख निकले हैं । इसके अनेक साहित्यिक विशेषांक प्रसिद्ध हैं । हिंदी संसार में 'माधुरी' का विशेष महत्वपूर्ण स्थान है । इसका प्रकाशन नवलकिशोर प्रेस से होता था ।

चाँद

लगभग १६२० में ही श्री रामरत्न सिंह सहगल ने 'चाँद' निकालने का निश्चय किया था । उस समय उन्होंने जो डिक्लरेशन मैजिस्ट्रेट के यहाँ दाखिल किया था, उसमें 'चाँद' के प्रकाशन का उद्देश्य समाजसेवा घोषित किया था किंतु उस समय सरकार ने १५००) जमानत माँगकर 'चाँद' का निकलना रोक दिया था । सहगल जी समय की प्रतीक्षा में थे । नवम्बर १६२२ ई० में 'चाँद' का प्रकाशन हुआ । प्रथम अंक में 'चाँद' का उद्देश्य इस प्रकार घोषित था— 'हमारे पत्र का उद्देश्य स्त्रियों का अज्ञान, परदे की कुप्रथा इत्यादि सामाजिक बुराइयों को दूर करना, स्त्रियों को उपयोगी तथा उनके हित की बातों से सदा उनका परिचय कराते रहना, उन्हें बच्चों के पालने की उचित शिक्षा देते रहना, उन्हें गृहस्थी के सभी आवश्यक कार्यों में निपुण बनाना है···'प्रथम अंक में दो व्यक्तियों का नाम संपादक के रूप में छपा—श्री रामरत्न सिंह सहगल और श्री नंदकिशोर तिवारी । समाजसुधार की दिशा में 'चाँद' ने बहुत काम किया । सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिये 'मारवाड़ी अंक' आदि निकाले । आगे चलकर 'चाँद' की नीति में परिवर्तन हो गया । उसका उद्देश्य सामाजिक के साथ ही राजनीतिक भी हो गया । अतः उसके मुखपृष्ठ पर निम्नलिखित उद्देश्य छपने लगा—

'आध्यात्मिक स्वराज्य हमारा ध्येय, सत्य हमारा साधन और प्रेम हमारी प्रणाली है । जब तक इस पावन अनुष्ठान में हम अविचलित हैं तब तक हमें इसका भय नहीं कि हमारे विरोधियों की संख्या और शक्ति कितनी है ।'

इसने राजनीतिक क्रांति से संबंधित लेखों का भी प्रचार आरंभ किया। इस दिशा में 'चाँद' का फाँसी अंक प्रसिद्ध है। इसमें उच्चकोटि के सामाजिक और राजनीतिक लेख निकलते थे। पुस्तकों की आलोचना भी इसमें होती थी।

१६२२ ई० के दैनिक पत्रों में कुछ नाम गिनाए जा सकते हैं किंतु सभी अल्पायु थे। इनमें 'प्रकाश' (कलकत्ता), 'मातृभूमि,' 'विक्रम' (कानपुर), 'स्वराज्य' (उन्नाव) और 'वैभव' (दिल्ली) हैं। इनमें 'प्रकाश' के संपादक बाबू पारसनाथ सिंह थे और 'विक्रम' के श्री नारायण प्रसाद अरोड़ा। दैनिक 'वैभव' का संपादन पं० इंद्र विद्यावाचस्पति ने किया। इसी के द्वारा इंद्रजी पत्रकार जगत् में आए। इस वर्ष की पत्र पत्रिकाएँ हैं—'भारत तिलक' (मद्रास), 'बिहार दर्पण' (मुजफ्फरपुर), 'हिंदू गजट' (हरिद्वार), 'देवेन्द्र' (लखनऊ), 'नवीन राजस्थान' (अजमेर), 'नवभारत' (देहरादून), 'मातृभूमि' (पटना), 'हिंदी आउटलुक (लखनऊ), 'स्वाधीन' (झाँसी), 'हिंदी' (नेटाल), 'देव-दर्शन' (प्रयाग), 'महान लोधी राजपूत धर्म पताका' (आगरा), 'झाँसी समाचार' (झाँसी), 'स्वराज्य' (गोरखपुर), 'भारत धर्म नेता' (काशी), 'अरोड़ा वंश सेवक' (नसीराबाद), केशरवानी मार्गदर्शक' (सागर), 'गहोइ वैश्य हितकारी' (मुरार, ग्वालियर) 'जाटव' (आगरा), 'रजकबंधु' (प्रयाग), 'धीमान् ब्राह्मण' (सरधना), 'मस्ताना योगी' (कानपुर), 'धनचक्कर' (पटना), 'कपट सखा' (कानपुर), 'तिजारत' (दिल्ली), 'छात्र हितैषी' (अलीगढ़), 'तिलक' (मुजफ्फरपुर)

१६२३ में अनेक पत्र पत्रिकाएँ प्रकाश में आईं। इनमें ६ दैनिक, २४ साप्ताहिक, ६ पाक्षिक और लगभग १० मासिक थे।

१६२३ में प्रकाशित होने वाले दैनिक पत्रों में 'अर्जुन' सबसे प्रभावशाली दैनिक पत्र था। यह दिल्ली से प्रकाशित हुआ। इसके संपादक पं० इंद्र विद्यावाचस्पति थे। दिल्ली, पंजाब और राजस्थान में यह अत्यंत प्रभावशाली दैनिक था। 'विजय' नागपुर से निकला था। पटना से 'ब्रह्मर्षि' नामक एक दैनिक पत्र निकला था, किंतु उसका कोई विवरण नहीं मिलता। 'प्रकाश' सागर (म० प्र०) से निकला था। किंतु 'अर्जुन' को छोड़ कर सभी अल्पायु थे। 'अर्जुन' का साप्ताहिक संस्करण भी निकलता था। दिल्ली से ही 'सत्यवादी' नामक एक और भी साप्ताहिक पत्र निकला जिसके संपादक इंद्र जी थे। इस प्रकार इस काल में इंद्र जी सबसे प्रभावशाली संपादक थे।

१६२३ ई० में कुल २४ साप्ताहिक पत्र निकले। इनमें साहित्यिक रुचि का सबसे प्रभावशाली साप्ताहिक कलकत्ता से निकलनेवाला 'मतवाला' था। इसके

प्रकाशक संचालक और संपादक मिर्जापुर निवासी और कलकत्ता प्रवासी श्री महादेव प्रसाद सेठ थे। 'मतवाला' अपने समय में उदीयमान साहित्यकारों का केंद्र था। इसे 'मतवाला मंडल' भी कहते थे। 'मतवाला मंडल' में महाकवि 'निराला,' 'उग्र', शिवपूजन सहाय तथा अन्य अनेक महत्वपूर्ण साहित्यिक थे। इसका दो पंक्तियों का मोटो बड़ा मजेदार था—

अमिय-गरल-रवि-शशिकर सीकर राग विराग भरा प्याला।
पीते हैं जो साधक उनका प्यारा है यह मतवाला।

मासिकों में अधिकांश जातीय ही थे। किंतु उनमें भी साहित्यिक रुचि के लेख रहते थे। इस वर्ष सार्वजनिक रुचि का मासिक 'आर्यकुमार' दिल्ली से प्रकाशित हुआ। इसके संपादक सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री केशवदेव शास्त्री थे।

इस वर्ष की पत्र पत्रिकाओं में प्रमुख है—'नवयुग' (प्रयाग), 'अहिंसा-प्रचारक' (अजमेर), 'गोरक्षक' (दिल्ली), 'साप्ताहिक विश्वदूत' (रंगून), 'जीवन' (मथुरा), 'श्रमजीवी' (नागपुर), 'युगांतर' (लुधियाना), 'तरुण राजस्थान' (अजमेर), 'अहिंसा' (अजमेर), 'आर्य मार्तंड' (अजमेर), 'जैन पताका' (बंबई), 'वैश्य गजट' (दिल्ली), 'महिला समाचार' (लखनऊ), 'महिला सुधार' (कानपुर), 'व्यापार पत्र' (दिल्ली), 'मातृभूमि' (मेरठ), 'अरुणोदय' (मिर्जापुर), 'ग्रामवासी' (काशी), 'स्वच्छंद' (हाथरस), 'राम' (शाहाबाद), 'कायस्थ पत्रिका' (गया), 'गुलहरे वैश्य हितकारी' (कानपुर), 'कुशवाहा क्षत्रिय मित्र' (काशी), 'विजयवर्गीय' (कलकत्ता), 'अछूत' (दिल्ली), 'राजस्थान सारस्वत' (अजमेर), 'क्षत्रियवीर' (कलकत्ता), 'दागी मित्र' (गया), 'परवार बंधु' (जबलपुर), 'अनुभूत योगसार' (इटावा), 'इलाज' (प्रयाग), 'गृहस्थ जीवन' (झाँसी), 'कैलाश' (मुरादाबाद), 'गोहितैषी' (दिल्ली), 'व्यवसाय' (मथुरा), 'रेलवे वकील' (दिल्ली), 'बहारे काश्मीर' (लाहौर), 'बालविनोद' (दानापुर), 'स्त्रीधर्म शिक्षा' (चुनार, मिर्जापुर), 'स्त्री दर्पण' (प्रयाग), 'हिंदी समाचार' (मद्रास), 'छत्तीसगढ़' (रायगढ़), 'भ्रमर' (बरेली)।

१९२४ ई० में गांधी जी का आंदोलन समाप्त हो गया था। यह काल आंदोलन का कम और विचारों के प्रचार का अधिक था। संभवतः इसी लिये दैनिक पत्रों में प्रगति नहीं हुई। साप्ताहिकों में विचार तो रहते थे, सप्ताह भर के समाचार भी अपनी अपनी दृष्टि से संग्रहीत होते थे। इसी लिये १९२४ ई० में साप्ताहिकों की संख्या सबसे अधिक है। इस वर्ष साप्ताहिक ३९, मासिक ११ और दैनिक २ ही निकले। मासिकों में सार्वजनिक और साहित्यिक महत्व के एक

भी नहीं निकले। प्रायः सभी जातीय, सांप्रदायिक अथवा दस्तकारी आदि से संबंधित पत्रिकाएँ निकलीं। कुछ मासिक महिलोपयोगी और बालकों के भी निकले। किंतु कोई भी व्यापक और प्रभावशाली नहीं था।

इस वर्ष की एक और विशेषता है कानपुर से अर्धसाप्ताहिक 'मजदूर' का प्रकाशन। 'मजदूर' का संपादक कौन था, यह नहीं पता चलता किंतु इतना सिद्ध है कि इस वर्ष कानपुर में मजदूर आंदोलन मजबूत हो गया था। परोक्ष रूप से उसे श्री गणेशशंकर विद्यार्थी का भी समर्थन प्राप्त था।

१६२४ ई० के सार्वजनिक महत्व के साप्ताहिकों में 'श्रीकृष्ण संदेश' की गणना की जा सकती है। यह कलकत्ता से प्रकाशित होता था। बा० एस० के० बर्मन कंपनी ने इसे प्रकाशित किया था। इसके संपादक पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे थे। इसमें गंभीर और महत्वपूर्ण लेख छपते थे।

इसी वर्ष कलकत्ता से श्री युगलकिशोर बिड़ला जी की प्रेरणा से 'श्री सनातन धर्म' नामक पत्र प्रकाश में आया। यह उदार दृष्टि का पत्र था इसके संपादक पं० अमृतलाल चक्रवर्ती थे।

१६२४ ई० में इस बात का अनुभव हुआ कि जहाँ प्रतिवर्ष नई नई पत्र पत्रिकाएँ निकलती हैं वहाँ कितनी ही बंद भी हो जाती हैं। इस अवस्था के मूल में कितनी ही बातें रही हैं। इनमें मुख्य हैं संपादकों की अनभिज्ञता और पाठकों की उदासीनता। कहना न होगा कि अस्त होनेवाली पत्र पत्रिकाओं के प्रति दुःख प्रकट करना और नई आनेवाली पत्रपत्रिकाओं का हर्षपूर्ण स्वागत करना एक स्वाभाविक बात लक्षित हुई। इस वर्ष की पत्र पत्रिकाएँ हैं—'प्रेत' (लखनऊ), 'प्रणवीर' (नागपुर), 'संगठन' (सिकंदरपुर, फर्रुखाबाद), 'साहस' (झाँसी), 'नाई केसरी' (कालपी), 'आर्य गजट' (लाहौर), 'आर्य जगत' (लाहौर), 'आर्यजीवन' (कलकत्ता), 'श्री सनातन धर्म' (कलकत्ता), 'ज्योति किरण' (नीमच), 'माहेश्वरी' (कलकत्ता), 'माहेश्वरी सुधार' (अजमेर), 'मारवाड़ी ब्राह्मण' (कलकत्ता), 'देशबंधु' (कलकत्ता), 'मौजी' (कलकत्ता), 'युगांतर' (कलकत्ता), 'अग्रसर' (कलकत्ता), 'रंगीला' (कलकत्ता), 'श्रमिक' (कलकत्ता), 'भांड' (काशी), 'भूत' (काशी), 'वाणिज्य' (काशी), कूर्मांचल मित्र' (अलमोड़ा), 'गोलमाल' (कलकत्ता), 'ब्रजवासी' (मथुरा), 'महात्मा' (बंबई), 'महावीर' (सहारनपुर), 'रंगीला' (गया), 'लोकमान्य' (बाँदा), वीरभूमि' (दिल्ली), 'वीरेंदु' (कोंच, जालौन) 'संदेश' (भिवानी), 'सावधान' (भिवानी), 'नवयुग' (कानपुर), 'अमर' (देहरादून), 'कायस्थ पत्रिका' (गया), 'औदीच्य ब्राह्मण' (दिल्ली), 'चित्रगुप्त'

(पटना), 'कसौधन मित्र' (भागलपुर), 'वणिक हितकारी' (दरभंगा), 'आरोग्य' (कानपुर), 'रत्नसागर' (कालाकाँकर), 'हिंदी पुष्कर' (बरेली), 'रंगमंच' (काशी), 'मनोरमा' (प्रयाग), 'हितैषी' (सारंगपुर, मालवा), 'खादी हितकारी' (नागपुर), 'रिआया' (गोंडा), 'वीर बालक' (दिल्ली), 'वीर संदेश' (लाहौर), 'साम्यवादी' (कानपुर), 'महिला सर्वस्व' (अलीगढ़), 'महिला महत्व' (कलकत्ता), उत्साह' (काशी), 'आशा' (कलकत्ता), 'योग प्रचारक' (काशी), 'भारत गौरव' (कलकत्ता), 'समालोचक' (सागर), 'श्रीमाली अभ्युदय' (महुवा काठियावाड़), 'साहु मित्र' (पटना), 'शिक्षामृत' (नरसिंहपुर), 'साहित्य' (कानपुर), 'साहित्य सरोज' (कलकत्ता), 'गुरुकुल' (कांगड़ी), 'अवतार' (मद्रास), 'समालोचक' (सिकंदरपुर)।

१६·५ ई० में २ दैनिक, ६ साप्ताहिक, ८ पाक्षिक और ११ मासिक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ। दो दैनिकों में एक 'आर्यमित्र' और दूसरा 'हिंदू संसार' था। पहला 'आर्यमित्र' साप्ताहिक का ही दैनिक संस्करण था, उसके भी संपादक पं० हरिशंकर शर्मा थे और आगरा से ही प्रकाशित भी हुआ था। दूसरा कलकत्ता से निकला था और कलकत्ते के साप्ताहिक 'कलकत्ता समाचार' का दूसरा रूप और दैनिक था। दोनों पर हिंदू मात्र भावनाओं का व्यापक प्रभाव था। दोनों ही कुछ दिनों तक निकलकर बंद हो गए।

सैनिक

१६२५ ई० के प्रकाशनों में सर्वाधिक प्रभावशाली और लोकप्रिय साप्ताहिक आगरे का 'सैनिक' था। यह श्री कृष्णदत्त पालीवाल एम० ए० का पत्र था। वे ही इसके संपादक थे। पालीवाल जी ने 'प्रताप' में रहकर पत्रकार कला सीखी थी। वे गणेशशंकर विद्यार्थी के शिष्य थे। 'सैनिक' प्रधानतः राजनैतिक पत्र था किंतु उसमें साहित्यिक प्रवृत्तियों के लिये भी स्थान था। सैनिक बड़ा ही निर्भीक पत्र था। १६३१ ई० में यह दैनिक हो गया किंतु सरकार द्वारा जमानत माँगे जाने के कारण बंद हो गया। १६४२ ई० के आंदोलन के अवसर पर तो सरकार ने 'सैनिक' के प्रेस आदि को भी जब्त कर लिया था। अब भी दैनिक रूप से 'सैनिक' का प्रकाशन होता है।

कल्याण

विक्रम संवत् १६८२ और ईस्वी सन् १६२६ में संपूर्ण हिंदू धर्म के ज्ञान, भक्ति और योग के साहित्य का प्रतिनिधित्व करनेवाला 'कल्याण' प्रकाश में आया। इसके मुखपृष्ठ पर लिखा था—'भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार संबंधी सचित्र मासिक पत्र'। यह गीता प्रेस, गोरखपुर से निकला और संपादक में नाम था—श्री

हनुमान प्रसाद पोद्दार का। यह परंपरागत हिंदू धर्म के परंपराप्राप्त साहित्य का प्रामाणिक प्रचारक रहा है। अब तक इसके दर्जनों विशेषांक निकल चुके हैं। इसके विशेषांक संग्रहणीय होते हैं। इसकी ग्राहकसंख्या सर्वाधिक है और अब तक यह नियमित प्रकाशित होता जा रहा है।

इस वर्ष पत्रपत्रिकाओं की संख्या पिछले वर्षों को पार कर गई। दैनिक पत्रों की संख्या कम और मासिक की ज्यादा देखी गई। साथ ही बंद होनेवाली पत्रपत्रिकाओं की संख्या भी पिछले वर्षों से कम रही। एक बड़े संतोष की बात यह रही कि पिछले वर्ष की अपेक्षा पत्र पत्रिकाओं में लेख कुछ अधिक सुरुचिपूर्ण और उन्नत तथा छोटे होने लगे। उनकी भाषा में सुधार की आवश्यकता तो थी ही किंतु उसकी प्रगति वांछनीय थी। वर्ष की पत्र पत्रिकाएँ हैं—'भविष्य' (कानपुर), 'जाटवी' (आगरा), 'प्रभात' (लाहौर), 'प्रायश्चा' (मथुरा), 'जीवन' (मथुरा), 'धर्मवीर' (मधुबनी, दरभंगा), 'सत्यवादी' (लाहौर), 'व्यापारदर्पण' (कलकत्ता), 'कुर्मी क्षत्रिय दिवाकर' (काशी), मारवाड़ी मित्र' (पूना), 'मौर्य भाष्कर' (लखनऊ), 'विश्वकर्मा' (कानपुर), 'वैश्य हितकारी' (मेरठ), 'भृगु' (सागर), 'आयुर्वेद केसरी' (कानपुर), 'वैद्यकल्पद्रुम' (कुलपहाड़, हमीरपुर), 'आधुनिक धनवंतरी' (कानपुर), डाक्टर (बरेली); 'कलाकौशल' (कानपुर), 'कला शिक्षक' (बनखेरी), 'अनुपम' (सिकंदराबाद), 'संजीवन' (दिल्ली), 'खद्दर' (कानपुर), 'व्यापारिक संसार' (हाथरस), 'विद्यार्थी जीवन' (करोंची), 'हिंदसेवक' (ब्यावर), 'महारथी' (दिल्ली), 'श्री मैथिली' (दरभंगा), 'युग प्रदेश' (मद्रास), 'भारतपुत्र' (फीजी), 'राजस्थान' (अकोला), 'श्रीमारवाड़ जैन सुधारक' (आबू रोड), 'खंडेलवाल जैन' (बरोसापुर), 'धर्मरक्षक' (कलकत्ता), 'प्रकाश' (लाहौर), 'भारतफल' (देहरादून), 'मार्तण्ड' (देवारु), 'आरोग्य दर्पण' (अहमदाबाद), 'कथाचिकित्सा' प्रयाग), आनंद' (हरदुआगंज, अलीगढ़), 'कंपोजिटर बंधु' (ग्वालियर), कूर्मक्षत्रिय दिवाकर' (काशी), 'खंडेलवाल' (काशी)।

हिंदू पंच

१९२६ ई० में कलकत्ते से 'हिंदू पंच' नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन हुआ। यह तत्कालीन हिंदू विचारधारा का पोषक और हिंदू संगठन का समर्थक था। इसमें हास्य व्यंग्य की भी प्रमुखता रहती थी। इसके प्रकाशक आर० एल० बर्मन और संपादक पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा थे। यह एक समय में बड़ा प्रभावशाली पत्र था।

बालक

१९२६ ई० में पुस्तक भंडार लहेरियासराय के मालिक श्री रामलोचन शरण ने 'बालक' नामक मासिक पत्र का प्रकाशन किया। अपने परिश्रम और व्यवहारकुशलता से इन्होंने 'बालक' को अच्छी तरह चलाया। बालक के संपादकों में आचार्य शिवपूजन सहाय, श्री रामवृक्ष बेनीपुरी और श्री अच्युतानंद दास भी थे। किंतु अब इधर बहुत वर्षों से श्री रामलोचन शरण ही इसका संपादन करते हैं। 'बालक' मुख्यतः शिक्षासंबंधी पत्र है किंतु आरंभ से ही इसमें साहित्यिक प्रवृत्तियों का भी पोषण हुआ। 'बालक' का 'भारतेंदु अंक' तथा 'चित्र चरित्रांक' महत्वपूर्ण निकले थे। 'बालक' अब भी पटना से निकल रहा है।

लगभग इसी समय पटना से साप्ताहिक 'महावीर' का प्रकाशन हुआ। इसके संपादक श्री जगतनारायण लाल, एम० ए०, एल० एल० बी० थे। यह हिंदू राष्ट्रीयता की मनोवृत्ति का पोषक था। १९३० ई० में जगतनारायण लाल के सत्याग्रह में आ जाने के बाद यह पत्र बंद हो गया।

सुधा

१९२७ ई० में माधुरी से अपना संबंध त्यागकर लखनऊ से ही श्री दुलारेलाल भार्गव ने 'सुधा' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन किया। यह विविध-विषय-विभूषित साहित्यसंबंधी सचित्र मासिक पत्रिका थी। आगे चलकर यह साहित्यिक, सामाजिक और राजनीतिक पत्रिका हो गई। आरंभ में इसके संपादक श्री दुलारेलाल भार्गव ही थे किंतु बाद में उनके साथ ही श्री रूपनारायण पांडेय और श्री नंदकिशोर तिवारी का नाम भी रहने लगा। आगे चलकर पुनः श्री दुलारेलाल भार्गव ही अकेले संपादक रह गए। इसमें समाजसुधार, साहित्य-चर्चा और विविध विषय नामक स्तंभ थे। रंगीन चित्र, फोटोग्राफ और कार्टून भी इसमें छपते थे। कार्टून राजनीतिक, सामाजिक तथा साहित्यिक विषयों पर भी रहते थे। 'सुधा' में उच्च कोटि के साहित्यिक, सामाजिक और धार्मिक विषयों पर लेख तथा निबंध रहते थे।

विशाल भारत

जनवरी १९२८ ई० में श्री रामानंद चट्टोपाध्याय ने अपने प्रवासी प्रेस कलकत्ते से विविध-विषय-विभूषित सचित्र मासिक पत्र 'विशाल भारत' निकाला। अपने आरंभिक जीवन में श्री रामानंद जी ने प्रयाग में अध्यापन का कार्य भी किया था। वहीं उनका संबंध पं० सुंदरलाल जी से हुआ था और आगे चलकर जब उन्होंने 'विशाल भारत' निकालने का निश्चय किया तब सुंदरलाल जी की

प्रेरणा से ही पं० बनारसीदास चतुर्वेदी को उसका संपादक बनाया। 'विशाल भारत' के मुखपृष्ठ पर 'सत्यं शिवं सुंदरम्' और 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' लिखा रहता था। यह साहित्यिक, राजनीतिक और सामाजिक विषयों का उच्च कोटि का मासिक पत्र था। इसके प्रत्येक अंक में प्रवासी भारतीयों की समस्या पर बराबर कुछ न कुछ रहता था। आरंभ में ही पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने अश्लील साहित्य के विरुद्ध प्रबल आंदोलन चलाया। उन्होंने अश्लील साहित्य का घासलेटी साहित्य नाम रखा था। चतुर्वेदी जी के इस आंदोलन का आघात 'उग्र' तथा उन जैसे कुछ लेखकों पर पड़ा। इसके बाद साहित्य में दुरूह अस्पष्टता के विरुद्ध भी उन्होंने आंदोलन किया। आगे चलकर 'कस्मै देवाय' नाम से उन्होंने साहित्यिक आदर्श के लिये भी आंदोलन किया। चतुर्वेदी जी के सभी आंदोलन सफल रहे। इस प्रकार 'विशाल भारत' ने हिंदी साहित्य के क्षेत्र में बड़ा काम किया। इसके सहायक संपादक श्री वृजमोहन वर्मा थे। ये हिंदी, उर्दू, फारसी और बँगला साहित्य के सहायक विद्वान् थे। 'विशाल भारत' का 'वाय-चक्रम' नामक स्तंभ यही लिखते थे। चतुर्वेदी जी ने अनेक नए साहित्यिकों को साहित्य जगत् में उतारा। श्री सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' उनमें से एक हैं। अपने छोटे भाई की मृत्यु तथा कुछ आर्थिक कारणों और ओरछा नरेश श्री वीर सिंहजू देव के आग्रह पर १९३८ ई० के आसपास चतुर्वेदी जी टीकमगढ़ (म० प्र०) चले गए। उस समय 'विशाल भारत' के संपादक श्री सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन हुए। उन्होंने भी 'विशाल भारत' को अच्छा निकाला किंतु आगे चलकर किसी कारण मालिकों से उनकी नहीं पटी। वात्स्यायन जी के चले जाने के बाद पं० श्रीराम शर्मा ने 'विशाल भारत' का संपादन कार्य सम्हाला। 'विशाल भारत' अब तक निकल रहा है।

वीणा

'विशाल भारत' के प्रकाशन के कुछ पूर्व ही मध्यभारत हिंदी साहित्य समिति, इंदौर की ओर से 'वीणा' नामक मासिक पत्रिका निकली। इसके संपादक पं० कालिका प्रसाद दीक्षित 'कुसुमाकर' थे। एक प्रकार से यह उस काल के मध्य भारत की साहित्यिक प्रगति की परिचायक पत्रिका थी। इसमें भी उच्च कोटि की साहित्यिक रचनाएँ छपती थीं। यह अब भी प्रकाशित हो रही है।

त्यागभूमि

विजयादशमी संवत् १९८४ (१९२७ ई०) में अजमेर से 'त्यागभूमि' का प्रकाशन हुआ। यह मासिक पत्र था। इसके संपादक पं० हरिभाऊ उपाध्याय और श्री क्षेमानंद 'राहत' थे। इसके मुखपृष्ठ पर लिखा था—'राजस्थान की जीवन, जागृति, बल और बलिदान की पत्रिका।' आरंभ में ही छपा है—

आत्म समर्पण होत जहँ, जहँ विशुद्ध बलिदान।
मर मिटने की साध जहँ, तहँ हैं श्री भगवान॥

आरंभ में ही श्री हरिभाउ उपाध्याय ने लिखा है—'जब 'मयूर' का जन्म हुआ, विघ्न और कठनाइयों की ठोकरों से थकी हुई व्यवहार बुद्धि को यह शंका थी कि यह एक साल भी कैसे पूरा होगा'''ईश्वर की कृपा से इस तीसरे ही वर्ष में 'मयूर' 'त्यागभूमि' के रूप में पाठकों के सामने उपस्थित है।' 'मयूर' का प्रकाशन और संपादन भी हरिभाऊ जी ने ही किया था। ६३ पृष्ठों की 'त्यागभूमि' का वार्षिक मूल्य ४ था।

पिछले वर्ष की तरह कोई विशेष उल्लेखनीय परिवर्तन लक्षित न हुआ। प्रतिवर्ष की तरह ही अनेक छोटे मोटे नए पत्रों का प्रकाशन हुआ और अनेक वैसे ही बंद हो गए।

युवक

जनवरी १६२६ ई० में पटना से 'युवक' नामक मासिक पत्र प्रकाशित हुआ। इसके संपादक श्री रामवृक्ष बेनीपुरी थे। ६४ पृष्ठों के इस मासिक पत्र का वार्षिक मूल्य ४) था। इसके मुखपृष्ठ पर लिखा था—'शक्ति, साहस और साधना का मासिक'। आगे चलकर इसी के नीचे निम्नलिखित पंक्तियाँ और जोड़ दी गईं–

सफलता पाई अथवा नहीं, उन्हें क्या ज्ञात, दे चुके प्राण।
विश्व को चाहिए उच्च विचार ? नहीं केवल अपना बलिदान॥

युग की माँग को पूरा करनेवाला यह मासिक पत्र बहुत लोकप्रिय था। कुछ दिनों बाद सरकारी वार से इसका प्रकाशन बंद हो गया।

हंस

श्री प्रेमचंद जी ने संभवतः १६३०-३१ ई० में काशी से 'हंस' नामक मासिक पत्र निकाला। प्रेमचंद जी मुख्यतः कथालेखक थे, अतः 'हंस' मुख्यतः तत्कालीन हिंदी कथा साहित्य का प्रतिनिधि पत्र हो गया किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि 'हंस' में कविता, एकांकी, आलोचना और निबंध आदि साहित्य रूपों का अभाव था। साहित्य के विविध रूपों का सुंदर सामंजस्य 'हंस' में रहता था। 'हंस' के द्वारा प्रेमचंद जी ने हिंदी कथा साहित्य को बहुत ऊँचे धरातल पर उठाया। दर्जनों कहानीलेखकों को सँभाल, सँवारकर साहित्य क्षेत्र में उतारा। हिंदी के कथासाहित्य में आदर्श, यथार्थ और कला का सामंजस्य स्थापित किया। उन दिनों गुजराती कथासाहित्य में श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी की बड़ी प्रतिष्ठा थी। प्रेमचंद जी की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। 'हंस' पर

इसका प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता था। अतः मुंशी के आग्रह से लगभग १६३५ ई० में 'हंस' का प्रकाशन बंबई से होने लगा और उसे भारतीय साहित्य का प्रतिनिधि पत्र घोषित किया गया। इस काल में प्रेमचंद जी के साथ साथ मुंशी का नाम भी संपादक में छपता था। 'हंस' विविध भारतीय भाषाओं की श्रेष्ठ रचनाओं का प्रतिनिधि पत्र हो गया। १६३६ ई० में प्रेमचंद की अध्यक्षता में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई। स्वभावतः हंस' पर प्रगतिशील विचारधारा का प्रभाव पड़ा। इसके कुछ दिनों बाद प्रेमचंद जी का परलोकवास हो गया।

प्रेमचंद की मृत्यु के बाद 'हंस' का संपादन श्री शिवदान सिंह चौहान ने किया। चौहान कम्युनिस्ट थे। अतः 'हंस' पर प्रत्यक्ष कम्युनिस्ट विचारधारा का प्रभाव पड़ा। अब वह व्यवहारतः प्रगतिशील लेखक संघ का मुखपत्र हो गया। 'हंस' के द्वारा चौहान ने प्रगतिशील साहित्य का नेतृत्व किया। चौहान के बाद कुछ दिनों तक हंस' का संपादन श्री श्रीपतराय जी ने किया। इसके बाद श्री अमृतराय के हाथ में 'हंस' आया। लगभग १६४६-४७ तक चलकर 'हंस' बंद हो गया।

प्रेमचंद के काल में 'हंस' के कई साहित्यिक विशेषांक निकले। श्री शिवदान सिह चौहान और श्री अमृतराय के द्वारा 'हंस' ने हिंदी साहित्य की अच्छी सेवा की। आधुनिक हिंदी गद्य के निर्माण में 'हंस' का विशिष्ट स्थान है।

भारत

इसी काल में प्रयाग के 'लीडर प्रेस' से 'भारत' नामक अर्ध साप्ताहिक पत्र निकला। इसके प्रथम संपादक पं० वेंकटेश नारायण तिवारी थे। उनके बाद पं० नंददुलारे वाजपेयी संपादक हुए। इन दोनों व्यक्तियों के संपादनकाल में 'भारत' का साहित्यिक महत्व भी था। इसमें उच्च कोटि के साहित्यिक लेख और टिप्पणियों का प्रकाशन होता था। साहित्य के सामयिक प्रसंगों पर विवाद भी चलता था, बाद में 'भारत' दैनिक हो गया। पं० बलभद्रप्रसाद मिश्र उसके संपादक हुए। दैनिक 'भारत' का प्रकाशन अब भी होता है। श्री शंकरदयाल श्रीवास्तव उसके संपादक हैं।

लगभग इसी समय पं० रामशंकर त्रिपाठी ने कलकत्ते से 'लोकमान्य' नामक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित किया। वह स्वयं ही इसके संपादक भी थे। कुछ दिनों बाद यह दैनिक हो गया। आगे चलकर यह कानपुर से भी निकलने लगा। इसे श्री सेठ जुगलकिशोर जी बिड़ला का समर्थन प्राप्त था। इसपर हिंदू राष्ट्रीयता की मनोवृत्ति का प्रभाव भी था। अब यह बंद हो गया।

गंगा

नवंबर १६३० ई० में सुलतानगंज (भागलपुर) से 'गंगा' नामक पत्रिका का प्रकाशन हुआ। इसके संस्थापक बनैली राज के कुमार कृष्णानंद सिंह थे। प्रधान संपादक पं० रामगोविंद त्रिवेदी और संपादक पं० गौरीनाथ झा तथा श्री शिवपूजन सहाय थे। प्रथम अंक में इसका उद्देश्य स्पष्ट करते समय कहा गया है—'गंगा सदैव साहित्यवृक्ष का मूल सिंचन करेगी। काव्य, इतिहास, विज्ञान, भूगोल, खगोल'''कलासंबंधी लेख, रंगीन चित्र'''शिक्षाप्रद कहानियाँ'''' आदि का प्रकाशन 'गंगा' में होता रहेगा'। इसके 'वेदांक', 'विज्ञानांक' और 'पुरातत्वांक' प्रसिद्ध हैं। पुरातत्वांक के संपादक श्री राहुल सांस्कृत्यायन थे।

१६३० ई० में हिंदी संसार की अवस्था में विशेषकर पत्र पत्रिकाओं के जीवन में कोई परिवर्तन लक्षित न हुआ। देश और समाज की अवस्थाओं की तरह ही पत्र पत्रिकाओं की अवस्था असंतोषजनक रही। कई पत्र पत्रिकाएँ बंद हुई और कइयों ने संपादकीय लेख तथा टिप्पणी आदि लिखना बंद कर दिया। अस्थायी संधि के बीच ही में भंग हो जाने के कारण अवस्था और भी चिंतनीय हो गई। परंतु सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर प्रत्येक खराबी में कोई न कोई अच्छाई निकलती ही है और इसी न्याय के अनुसार देश का राजनीतिक आंदोलन प्रकारांतर से हिंदी के प्रचार में विशेष सहायक होता रहा। लोक में राष्ट्रीयता के भावों की वृद्धि के साथ साथ राष्ट्रभाषा के प्रति प्रेम भी बराबर बढ़ता रहा और देश की राजनीतिक परिस्थिति जानने के कारण ही बहुत से ऐसे लोग भी हिंदी पत्र पत्रिकाएँ पढ़ने लगे जो पहले कभी उन्हें छूते तक नहीं थे।

हिंदुस्तानी

१६३१ ई० में उत्तरप्रदेश में सर तेजबहादुर सप्रू की अध्यक्षता में हिंदुस्तानी एकेडमी की स्थापना हुई। इसका प्रधान कार्यालय प्रयाग में था। इसका उद्देश्य हिंदी और उर्दू भाषा में भारतीय संस्कृति इतिहास, और साहित्य का शोध और उनका प्रकाशन कराना था। एकेडमी के प्रधान मंत्री डा० ताराचंद जी थे। उसकी ओर से 'हिंदुस्तानी' नामक एक त्रैमासिक शोध पत्रिका भी १६३१ ई० में प्रकाशित हुई। इसके संपादक मंडल में थे—डा० ताराचंद, डा० बेनीप्रसाद, डा० धीरेंद्र वर्मा, श्रीकृष्ण बलदेव वर्मा और श्री रामचंद्र टंडन। टंडन जी ही इसके संपादक भी थे। इसमें उच्चकोटि के विद्वानों के लेख छपते थे।

१६३१ ई० में राजनीतिक आंदोलन में शिथिलता के रहते हुए भी साहित्य-निर्माण और पत्र पत्रिकाओं के सर्वांगीण विकास की दिशा में कोई ठोस कदम नहीं उठाया गया। नवीन प्रेस एक्ट के बन जाने के कारण कितने ही पत्रों से जमानत

लिखना ही छोड़ दिया। विश्वव्यापी व्यापारिक तथा आर्थिक संकट एवं उथल पुथल के कारण लेखन कार्य में शिथिलता रही। प्रकाशकों के कार्य में मंदी रही। फिर भी कुछ नवीन प्रकाशक मैदान में उतरे।

इस वर्ष देश की राजनीतिक परिस्थिति भी बड़ी अशांत और कठिन थी। १६३० ई० में तो सत्याग्रह का आंदोलन एकाएक छिड़ गया था, जिसके लिये अँगरेज तैयार नहीं थे; अतः १६३१ ई० में अँगरेजों ने गांधी जी से समझौता करके एक प्रकार से समय लिया। इस बीच उन्होंने दमन की पूरी तैयारी की। १६३२ ई० का साल आते ही दमनकारी चार आर्डिनेंसों का उपहार देश को मिला और कांग्रेस का गैरकानूनी संस्था करार दिया गया। सब नेताओं को पकड़कर जेल में डाल दिया गया। सत्याग्रह करने या सरकार का विरोध करने पर सभी संपत्ति जब्त करने का फरमान निकालकर जनता के सार्वजनिक जीवन को सरकार ने कुचल कर धर दिया। ऐसी परिस्थिति में समाचारपत्रों का निकलना बहुत ही कठिन कार्य था। फिर भी कुछ समाचारपत्र निकले। ऐसे समाचार पत्रों में प्रमुख था—

जागरण

आलोचनाप्रधान, शुद्ध साहित्यिक और सचित्र पाक्षिक 'जागरण' फरवरी १६३२ ई० में काशी से निकला। इसके प्रकाशन की व्यवस्था श्री विनोदशंकर व्यास ने की थी। इसके संपादक थे श्री शिवपूजन सहाय। इसे उस समय के सभी साहित्यकारों का समर्थन और सहयोग प्राप्त था। श्री जयशंकर प्रसाद, श्री निराला, श्री सुमित्रानंदन पंत और श्रीमती महादेवी वर्मा की रचनाएँ इसमें बराबर निकलती थीं। 'प्रसाद' जी का 'तितली' नामक उपन्यास धारावाहिक रूप से 'जागरण' में निकलता था। इसमें बहुत ही उच्चकोटि की समालोचनाएँ भी निकलती थीं। सामयिक पत्र पत्रिकाओं की रचनाओं पर सारगर्भित टिप्पणियाँ रहती थीं। यह पत्र संपादन की दिशा में सर्वश्रेष्ठ था किंतु बहुत दिनों तक नहीं चल सका। कुछ दिनों बाद ही 'जागरण' प्रेमचंद जी का हो गया।

जागरण का स्वामित्व खरीदकर प्रेमचंद स्वयं उसका संपादन करने लगे। संपादक की प्रवृत्ति के अनुसार 'जागरण' की प्रवृत्ति बदल गई। अब 'जागरण' पाक्षिक से साप्ताहिक हो गया और साहित्यिक प्रधानता का स्थान राजनीतिक प्रधानता ने ले लिया। आचार्य नरेंद्रदेव और श्री संपूर्णानंद इसके प्रमुख लेखक हो गए। १६३? ई० में तो श्री संपूर्णानंद ही 'जागरण' के संपादक भी हो गए। आगे चलकर यह पत्र बंद हो गया।

१६३२ ई० में जब गांधी जी जेल ही में थे तभी अंग्रेजों ने डा० अम्बेडकर को मिलाकर मुसलमानों की भाँति ही अछूतों को पृथक् मताधिकार देने की योजना

की। यह अंग्रेजों की ऐसी भयानक चाल थी जिससे हिंदू समाज सदा के लिये कमजोर हो जाता। गांधीजी ने जेल में ही इसका विरोध किया और आमरण अनशन भी शुरू कर दिया। जेल में ही उन्होंने अछूतों को हरिजन कहकर उनके उत्थान का व्रत लिया। गांधीजी की जागरूकता और उनके प्रयत्न से अँगरेजों की राजनीतिक चाल कमजोर पड़ गई। इसी आंदोलन के दौरान में फरवरी १९३३ ई० में गांधीजी ने 'हरिजन' नामक साप्ताहिक अखबार अँगरेजी में तथा 'हरिजन सेवक' हिंदी और गुजराती में निकाला। हिंदी 'हरिजन सेवक' का संपादनकार्य आरंभ में पं० हरिभाऊ उपाध्याय देखते थे, बाद में श्री वियोगी हरि ने उसका कार्यभार सँभाल लिया।

योगी

बिहार भूकंप के बाद २० जनवरी १९३४ ई० को योगी' नामक साप्ताहिक पत्र पटना से प्रकाशित हुआ। इसे सारन के बाबू नारायण प्रसाद सिंह के सहयोग और उन्हीं के संरक्षण में श्री व्रजशंकर वर्मा ने निकाला। श्री व्रजशंकर वर्मा ने कलकत्ते में पं० बनारसीदास चतुर्वेदी से पत्रकार कला का अनुभव प्राप्त किया था। उन्हीं के परामर्श से कुछ दिनों तक 'योगी' का संपादन होता रहा। १९३५ ई० में श्री रामवृक्ष बेनीपुरी ने कुछ दिनों तक योगी का संपादन भार संभाला था। 'योगी' में साहित्यिक और राजनीतिक दोनों प्रवृत्तियों का सामंजस्य रहा। 'योगी' का अब अपना प्रेस हो गया है और श्री व्रजशंकर वर्मा कुशलतापूर्वक उसका संचालन तथा संपादन कर रहे हैं।

नवशक्ति

अगस्त १९३४ ई० में श्री देवव्रत शास्त्री ने 'नवशक्ति' नामक साप्ताहिक पत्र पटने से निकाला। उन्हें श्री गणेशशंकर विद्यार्थी के निकट रहकर संपादन-कला सीखने का सौभाग्य प्राप्त था। १९३७ ई० में 'नवशक्ति' का दैनिक संस्करण भी निकलने लगा। उसके भी संपादक देवव्रत जी थे। किंतु आठ महीना निकलने के बाद दैनिक संस्करण को बंद कर देना पड़ा। आगे चलकर १९३९ ई० में 'नवशक्ति' से ही दैनिक 'राष्ट्रवाणी' निकली। इसके भी संपादक देवव्रत जी ही थे। आपसी मतभेद के कारण देवव्रतजी ने नवशक्ति से अपना संबंध विच्छेद कर लिया।

संभवतः इसी के आसपास कलकत्ता से डा० हेमचंद जोशी ने 'विश्ववाणी' नामक पत्र प्रकाशित किया। यह अंतरराष्ट्रीय जगत् के विविध विषयों से विभूषित था। थोड़े ही दिनों तक चलने के बाद यह बंद हो गया।

सन् १९३५ ई० में पटना के वर्मन कंपनी ने युनिवर्सिटी प्रेस से 'आलोक' नामक साप्ताहिक पत्र निकला। इसके संपादक थे श्री ललित किशोर सिंह

'नटवर'। इसमें सिनेमा संबंधी समाचारों और लेखों की प्रमुखता थी। यह थोड़े ही दिनों तक चलकर बंद हो गया।

१६३५ ई० के आसपास ही प्रयाग से श्री श्रीनाथसिंह ने दीदी' नामक मासिक पत्रिका निकाली। प्रत्यक्षतः तो यह महिलोपयोगी प्रतीत होती थी किंतु वस्तुतः इसमें साहित्यिक महत्व की सामग्रियाँ भी रहती थीं। आगे चलकर इसका अपना प्रेस भी हो गया। यह बहुत दिनों तक चलने के बाद बंद हुआ।

१६३६ ई० में युनिवर्सिटी प्रेस पटना से 'बिजली' नामक साप्ताहिक पत्र निकला। इसके संपादक श्री प्रफुल्लचंद ओझा 'मुक्त' थे। बिहार तथा बिहार के बाहर के साहित्यकारों का भी सहयोग 'बिजली' को प्राप्त था। इसी वर्ष बिहार शरीफ से नालंदा' नामक सचित्र मासिक का प्रकाशन हुआ। इसके संपादक श्री रत्नचंद्र छत्रपति एम० ए० थे। बिहार के सभी साहित्यकारों का सहयोग इसे प्राप्त था किंतु पटना के ये दोनों साहित्यिक पत्र कुछ ही समय चलकर बंद हो गए।

साहित्य

१६३६ ई० में पटना से बिहार हिंदी साहित्य संमेलन का त्रैमासिक पत्र 'साहित्य' निकला। इसके संपादक थे श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु और श्री जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज'। उस समय ये दोनों सज्जन हिंदी विद्यापीठ देवघर में थे। वहीं से 'साहित्य' का संपादन होता था। 'साहित्य' में उच्च कोटि के निबंध छपते थे। कुछ दिनों बाद उसका संपादन भार आचार्य बदरीनाथ वर्मा ने सम्हाला। अनेक वर्षों तक बंद रहने के बाद १६५० ई० में 'साहित्य' का पुनः प्रकाशन हुआ। इस समय उसके संपादक हुए आचार्य शिवपूजन सहाय और श्री नलिनविलोचन शर्मा। अब भी कभी कभी इसका प्रकाशन हो जाता है।

साहित्य संदेश

इसी काल से आसपास आगरा से श्री महेंद्र जी ने 'साहित्य संदेश' नामक नामक मासिक पत्र निकाला। साहित्यसंबंधी उच्च परीक्षाओं को ध्यान में रखकर इसका संपादन होता है। इसी लिये इसमें साहित्य के विविध रूपों की परीक्षोपयोगी आलोचनाएँ होती हैं।

रूपाभ

लगभग इसी काल में उत्तरप्रदेश के कालाकाँकर से 'रूपाभ' नामक मासिक पत्र का प्रकाशन आरंभ हुआ। 'रूपाभ' के संपादक सुप्रसिद्ध कवि श्री सुमित्रानंदन पंत थे। पंतजी को कालाकाँकर राज्य ने संमानपूर्वक अपने यहाँ रखा था। पंतजी ने अपने सांस्कृतिक और साहित्यिक विचारों के प्रचार और प्रसार के लिये 'रूपाभ' निकाला। 'रूपाभ' में उच्च कोटि की कविताएँ, आलोचनाएँ और निबंध

निकलते थे। पंत जी तथा उनसे प्रभावित कवियों को समझने के लिये 'रूपाभ' एक मुख्य साधन रहा। कुछ वर्ष तक चलने के बाद इसका प्रकाशन बंद हो गया।

सर्वोदय

इसी काल में वर्धा से गांधी जी के विचारों का प्रतिनिधि प्रचारक 'सर्वोदय' निकला। यह मासिक पत्र था और हाथ के कागज पर छपता था। इसके संपादक श्री काका साहब कालेलकर थे। इसका मुख्य कार्य गांधी जी के विचारों को दार्शनिक आधार देना था। लेख चिंतनपूर्ण निकलते थे।

विश्वभारती पत्रिका

इसी वर्ष शांतिनिकेतन (बोलपुर) से हिंदी में त्रैमासिक 'विश्वभारती पत्रिका' का प्रकाशन आरंभ हुआ। इसके संपादक पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी थे। इसका मुख्य कार्य हिंदी में रवींद्र साहित्य का प्रामाणिक प्रकाशन था। कुछ शोधपूर्ण मौलिक निबंध भी छपते थे।

संघर्ष

१९३७ ई० में लखनऊ से आचार्य नरेंद्रदेव जी ने 'संघर्ष' नामक साप्ताहिक पत्र निकाला। यह कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का मुखपत्र था। आचार्य नरेंद्रदेव और बी० पी० सिन्हा (विश्वेश्वर प्रसाद सिन्हा) बैरिस्टर, इसके संपादक थे। समाजवादी आंदोलन और किसान मजदूर संघर्ष का यह प्रबल समर्थक था।

जनता

इसी समय बिहार के समाजवादी नेताओं द्वारा स्थापित 'जन-साहित्य संघ' (पटना) की ओर से 'जनता' नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन हुआ। इसके संपादक श्री रामवृक्ष बेनीपुरी थे। इसने बिहार के किसान आंदोलन का बड़ा प्रबल समर्थन किया। इसकी तीव्र आलोचनाओं के कारण सरकार की दृष्टि इसपर पड़ी और संभवतः किसी सरकारी आघात के कारण इसे बंद कर देना पड़ा।

इसी समय के आसपास प्रयाग से 'देशदूत' नामक साप्ताहिक का प्रकाशन हुआ। इसके संपादक श्री ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' थे। इसमें साहित्यिक प्रवृत्तियों का प्रोत्साहन मिलता था। लगभग इसी समय श्री प्रफुल्लचंद ओझा 'मुक्त' ने पटना से 'आरती' नामक साहित्यिक मासिक पत्रिका का प्रकाशन किया। १९३८ ई० में आरा से 'अग्रदूत' नामक साप्ताहिक का प्रकाशन हुआ। इसके संपादक श्री रामदयाल पांडेय थे। दिल्ली से 'नवयुग' नामक साप्ताहिक भी इसी काल में प्रकाशित हुआ। इसके संपादक श्री सत्यकाम विद्यालंकार थे।

'विशाल भारत' छोड़कर टीकमगढ़ आने के बाद, लगभग इसी काल में पं० बनारसीदास चतुर्वेदी जी ने हिंदी की बोलियों का प्रमुख मासिक पत्र 'मधुकर' निकाला। 'मधुकर' के द्वारा उन्होंने जनपदीय साहित्य का आंदोलन किया। चतुर्वेदी जी को इस दिशा में भी पर्याप्त सफलता मिली।

लगभग इसी काल में सुप्रसिद्ध क्रांतिकारी श्री यशपाल ने जेल से निकलने के बाद 'विप्लव' नामक मासिक पत्र का प्रकाशन लखनऊ से किया। 'विप्लव' का किसी राजनीतिक दलविशेष से संबंध तो नहीं था किंतु वह समाजवादी विचारधारा का पोषक था। उसकी शैली साहित्यिक थी और कहानी के माध्यम से विचारों का प्रचार उसकी विशेषता थी।

१६३८ ई० में सभी हिंदी पत्र पत्रिकाएँ सुचारु रूप से निकलती रहीं। उसमें कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं हुई। कई नई पत्र पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ। ये सभी पत्र पत्रिकाएँ अंतरंग और बहिरंग दोनों दृष्टियों से अच्छी थीं किंतु जितनी उन्नति संख्या में थी उतनी योग्यता में नहीं। भाषा एवं शैली के प्रति उदासीनता बड़ी दुखद है। पत्र पत्रिकाओं की बढ़ती में यह स्वाभाविक है अवश्य किंतु सतर्कता, सजगता तो चाहिए ही। इस वर्ष की पत्र पत्रिकाएँ हैं— 'अग्रगामी' (काशी), 'नव प्रगति' (पौड़ी), 'प्राची प्रकाश' (रंगून), 'विचार' (कलकत्ता), 'समाजसेवक' (कलकत्ता), 'सुदर्शन' (ऐटा), 'भारतीय समाचार' (दिल्ली), 'अखंड ज्योति' (आगरा), 'आदर्श' (हरिद्वार), 'मैथिल बंधु' (अजमेर), 'वैदिक' (औंध), 'व्यावहारिक वेदान्त' (लखनऊ), 'सन्मार्ग' (काशी)।

१६३६ ई० में हिंदी पत्र पत्रिकाओं ने अपनी उदासीनता को त्यागकर हिंदी की चर्चा और हिंदी आंदोलनों में बराबर योग दिया। कुछ दैनिक पत्रों की तत्परता बड़ी प्रशंसनीय रही। ये पत्र पत्रिकाएँ समय समय पर अपने लेखों और टिप्पणियों से कार्य को गति देती रहीं। ऐसा मालूम पड़ता था कि वे सभी उस राह की आवश्यकता समझती हैं। इस वर्ष पत्र पत्रिकाओं की छपाई और सफाई में बहुत कुछ ढीलापन देखा गया। कुछ नवीन पत्र पत्रिकाओं के दर्शन हुए। इनमें हिंदी की ठोस सेवा भावना मालूम पड़ी। इस वर्ष की पत्रपत्रिकाएँ हैं—'राष्ट्रसंदेश' (पूर्णिया), 'खादी सेवक' (मुजफ्फरपुर), 'ग्रामसुधार' (इंदौर), 'अभिनय' (कलकत्ता), 'इस्लाम' (कानपुर), 'कहानी' (बनारस), 'केशरी' (गया), 'तूफान' (इलाहाबाद), 'दीपक' (अलवर), 'नोंकझोंक' (आगरा), 'ब्रज भारती' (मथुरा), 'भारतोदय' (ज्वालापुर), 'मनस्वी' (अमेठी), 'सबकी बोली' (बरवा), 'साधना' (आगरा), 'भारती विद्या' (बंबई), 'वीरबाला' (वनस्थली)।

हिंदी पत्रों के विकास और इतिहास का यहाँ संक्षिप्त क्रमबद्ध परिचय प्रस्तुत किया गया है। आलोच्य काल की बदलती और अग्रसर होती पत्रकारिता की महत्ता इस दृष्टि से है कि इसने अपनी शक्ति और संपन्नता के कारण हमारे विचार और साहित्य में अभिनव क्रांति का सृजन किया है।

टिप्पणियों के प्रणयन और विकास में हिंदी पत्रिकाओं का बड़ा हाथ रहा। इन पत्रिकाओं ने न केवल इनके विविध रंगरूप निखारे, प्रत्युत इनके द्वारा पत्रकारिता को बड़ा बल मिला। इस मानी में हिंदी पत्रिकाओं ने अपना स्तर तो ऊँचा उठाया ही, अपना विस्तार भी किया। पिछले दिनों जब मुश्किल से लोग पत्रकारिता की ओर आते थे आलोच्य काल में अधिकाधिक लोगों का ध्यान इस ओर गया। कितनों ने तो इसे अपनी जीविका और व्यवसाय की वस्तु के रूप में लिया। यह ठीक है कि इनमें अर्थप्राप्ति कम थी किंतु किसी भी अन्य व्यवसाय की तरह उसकी माँग सर्वश्रेष्ठ ही थी। उन्होंने अपनी योग्यता से जहाँ जन जन का संबंध दृढ़ किया, वहां अपने गुण और परिश्रम से हिंदी को सजा सँवारकर गौरव प्रदान किया।

हिंदी साहित्य के विविध अंगों के निर्माण में हिंदी पत्र पत्रिकाओं का महत्वपूर्ण योग रहा है। इन पत्र पत्रिकाओं ने हिंदी भाषा को भी खूब सँवारा और सजाया। यह कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि आज हिंदी को जो राष्ट्रभाषा का रूप मिला है, उसे जो शक्तिसंपन्नता और प्रौढ़ता मिली है, इसे लाने का श्रेय पत्र पत्रिकाओं को ही है। अंग्रेजी भाषा में तार या टेलीफोन द्वारा प्राप्त समाचार का हिंदी रूपांतर कर सर्वसाधारण के लिये सुलभ करने का काम समाचारपत्रों ने ही किया। उन्होंने जिस हिंदी का निर्माण किया वही प्रचलित हुई। यह समय संघर्ष का था। वह संघर्ष जिसमें हिंदी की नवीन शैली का निर्माण करना था। उसे भारत की राष्ट्रवाणी बनाकर देश के कोने कोने ले जाना था। हमें इस दिशा में जो सफलता मिली इसका श्रेय बहुलांश में पत्र पत्रिकाओं को ही है।

आलोच्यकाल की हमारी पत्र पत्रिकाओं का स्वर प्रधानतः राजनीतिक था। महात्मा गाँधी के नेतृत्व में देश ने जो आंदोलन किया, सारा समाज उसके साथ था। यही कारण था कि गांधी जी और उनके साथियों की भाँति ही पत्र पत्रिकाओं को भी सरकार का कोपभाजन बनना पड़ा। गांधी आंदोलन को उनसे हवा और पानी मिलता था। देश के अन्य क्षेत्रों के समान ही इस क्षेत्र में भी गांधी जी का बड़ा दान है। गांधी जी ने इन पत्र पत्रिकाओं का स्वर बदल दिया। त्याग, बलिदान, संयम, अहिंसा और प्रेम आदि उदात्त भावों का आगमन गांधी जी के कारण हुआ।

हम आलोच्य काल के बहुत निकट हैं। इसी कारण उसका परीक्षण कठिन मालूम पड़ता है। हमारे जीवन के समस्त क्षेत्र में आलोच्य काल का ऐसा संमिश्रण है कि उसे पकड़ने में हम असमर्थ हैं। सर्वत्र एक भीषण क्रांति, अभिनव परिवर्तन एवं बहुमुखी आयोजन है। पुरानी दीवारें गिर चुकी हैं। पुराने स्वर बंद हो चुके हैं। हजार वर्षों की भारतीय सामाजिक और राजनीतिक प्रगति ने जो नया मोड़ लिया है, उसका श्रेय इस आलोच्य काल को है और वह हमारी पत्र पत्रिकाओं के पृष्ठों पर लिखा है। राष्ट्र के बहुमुखी परिवर्तन ने साहित्य को जिस रूप में प्रभावित किया है, उसकी पूरी कथा ही हमारी पत्र पत्रिकाओं का इतिहास है। भारत ने जिस सर्वतोमुखी क्रांति का सर्जन किया वह अभूतपूर्व है। स्त्रियों ने घरों से निकलकर आजादी की माँग की, अछूतों ने अधिकार की घोषणा की, किसान अपने खेतों में और मजदूर कारखानों में अपनी शक्ति को पहचानने लगे। शिक्षा, समाज, धर्म, दर्शन, राजनीति, अर्थ—सबमें नवीनता का प्रवेश हुआ। हमारी संस्कृति को अपने व्यावहारिक अहिंसा सिद्धांत के चार चाँद लगाकर महात्मा गांधी ने देश को वहाँ पहुँचा दिया, जहाँ वह वरेण्य है; जहाँ से उसकी दिव्य ज्योति सकल विश्व पर छा रही है। संक्षेप में भारत की विशाल आबादी इन परिवर्तनों के कारण सकल संघर्षों को पारकर जीवित और महान् बन सकी।

यह हम कई बार कह चुके हैं कि राजनीति ही हमारी पत्र पत्रिकाओं का मुख्य लक्ष्य था। किंतु हम जिस राजनीति की बात कहते हैं उसमें हमारी सभी चीजें, राष्ट्र उत्थान की सभी बातें—साहित्य, समाजसुधार, धर्म, दर्शन, कला संनिहित हैं। यही कारण है कि उस काल में पत्रकारिता का क्षेत्र अत्यंत विशाल था। पत्र पत्रिकाएँ हमारी राष्ट्र की आकांक्षाओं, प्रेरणाओं और विचारों की वाहिकाएँ बनी रहीं। उनका स्थान हमारे नेताओं के साथ हो गया। चरित्र और ज्ञान, शिक्षा और आदर्श, पत्रकार के लिये प्रधान गुण थे। पत्रकारों ने ही हिंदी को राष्ट्रवाणी का रूप दिया। जनता को ज्ञानबल दिया एवं संस्कृति को प्रकाश, सभ्यता को नूतनता एवं साहित्य कला को जीवन दिया। इस काल में हिंदी ने एक नवीन रूप ग्रहण किया। इस समय का कोई आंदोलन ऐसा नहीं हुआ, जो पत्र पत्रिकाओं से अछूता रहा हो। हिंदी काव्य साहित्य की अनेक प्रवृत्तियाँ पत्र पत्रिकाओं के ही माध्यम से देश के कोने कोने फैलीं। यह उन्हीं का प्रयत्न है कि हिंदी न केवल राष्ट्रवाणी बनी, प्रत्युत जनवाणी, मनवाणी और विश्ववाणी बन रही है।

हिंदी आलोचना का उदय

हिंदी में आलोचना का प्रारंभ भारतेंदु हरिश्चंद्र द्वारा हुआ और 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' के मुखपृष्ठ पर पत्रिका में प्रकाशित होनेवाले विषयों की जो सूची दी

गई है, उसके अंत में '......और समालोचना संभूषिता' लिखकर समालोचनात्मक रचनाओं को स्थान दिया गया है। आलोचना के इस उदयकाल में आलोचना की पद्धति का कोई मापदंड नहीं था। किसी लेखक की रचना का रीतिपरंपरा के अनुकूल गुणदोष विवेचन या लेखक के बारे में इधर उधर के एक दो विचार लिख देना इतनी सी बातें आलोचना में दिखाई देती हैं। 'कविवचन सुधा' में प्रकाशित 'हिंदी कविता' (१८७२) शीर्षक लेख में हिंदी के बिल्कुल आरंभिक काल की आलोचना पद्धति का रूप मिलता है—

हिंदी कविता

'इस काल में नाटक एक दो बने जिसमें एक हास्यार्णव था यद्यपि यह शुद्ध नाटक की चाल से नहीं है, तथापि कुछ नाटक की चाल छूकर बना है पर बहुत असभ्य शब्दों से भरा है, इसी से कवि ने उसमें अपना नाम नहीं रखा पर अनुमान होता है कि रघुनाथ कवि का ही नाटक सबसे पहले जो हिंदी भाषा में पुरानी ठीक नाटक की रीति से बना वह नहुष नाटक श्री गिरिधरदास कवि का है और इसके पीछे आजकल तो अनेक नाटक बने और अब तो भाषा के अनेक व्याकरण और प्रबंध पुस्तक बन गई। आधुनिक काल के कवियों में श्री गिरिधरदास महान् कवि हुए, क्योंकि व्याकरण, कोष और नाटक हिंदी में पहले इन्होंने बनाए। पजनेस, रघुनाथ इत्यादि अनेक कवि कुछ पहले हुए पर किसी ने नई बात नहीं की वही लीक पीटते चले गए।' (कविवचन सुधा, जि० ३, नं० १३, १० जनवरी १८७२, पृ० ७६)।'

उपर्युक्त अंश में आलोचना पद्धति का वर्णनात्मक रूप अधिक मिलता है और उसमें 'हिंदी कविता' पर लिखने की अपेक्षा नाटक पर ही अधिक लिखा गया है। 'कविवचन सुधा' के समान 'क्षत्रिय पत्रिका' और 'आनंद कादंबिनी' में भी आलोचनात्मक लेख मिलते हैं। इन लेखों में आलोचना का प्रारंभिक रूप मिलता है। इन पत्रिकाओं में प्राप्तिस्वीकार के लिये जो स्तंभ था उसमें 'अंधेर नगरी' नाटक, 'नीलदेवी' नाटक, 'संयोगिता स्वयंवर' नाटक, 'नूतन ब्रह्मचारी' उपन्यास आदि साहित्यिक रचनाओं तथा तत्कालीन प्रकाशित पत्र पत्रिकाओं की आलोचनाएँ रहती थीं। ये आलोचनात्मक लेख किसी विशेष लेखक द्वारा लिखाए नहीं जाते थे, पुस्तक या समाचारपत्र को स्वीकार करने पर कुछ आलोचनात्मक पंक्तियाँ लिखी जाती थीं। इस प्रकार की 'प्राप्तिस्वीकार या आलोचना' का उद्देश्य 'गुन गाना, दोष दिखाना और सीख सिखाना' तक ही सीमित था। सन् १८८१ ई० में 'क्षत्रिय पत्रिका' में प्रकाशित 'मालती और माधव' रचना पर इस प्रकार की आलोचना मिलती है —

'मालती और माधव' हम धन्यवादपूर्वक इस पुस्तक को स्वीकार करते हैं। ग्रंथकर्ता ने इसे उपन्यास के रीति पर लिखा है परंतु बना नहीं। जो कुछ हो यह देखने योग्य है हम पहले इसके शुभचिंतकों के निकट यह निवेदन करते हैं कि एक बेर इसे आद्योपांत अवलोकन कर लें ताके उनको यह तो मालूम हो जाय कि उपन्यास क्या है और किसे कहते हैं यद्यपि इसके कर्ता ने मुद्रण के समय असावधानता की है परंतु विषय कुछ बुरा नहीं।' (क्षत्रिय पत्रिका, खंड १, संख्या ५, संवत् १९३८, पृ० १२३)'

इस लघु आलोचनात्मक टिप्पणी में ग्रंथ की 'प्राप्तिस्वीकार' का संकेत मिलता है। इसमें पाठकों के प्रति निवेदन मिलता है और साथ ही ग्रंथ पर एक प्रकार का निर्णय दिया गया है। इसी साल 'आनंद कादंबिनी' में भारतेंदु की 'नीलदेवी' रचना पर जो आलोचनात्मक टिप्पणी मिलती है उसमें 'ग्रंथपरीक्षण' का आरंभिक रूप इस प्रकार प्रकट हुआ है—

'नीलदेवी' हमारे प्रियवर श्रीयुत बाबू हरिश्चंद्र जी रचित, ऐतिहासिक दुखांत गीत रूपक। यह रूपक पंजाब के राजा सूरजदेव की रानी नील देवी का अपने पति के प्राण के बदले में स्वयं गायिका के वेष में दिल्ली के बादशाह के सेनापति 'अब्दुल शरीफ खाँ सूर' की सभा में जाकर उक्त पति-प्राण-हारक शत्रु का बध कर डालने के बीज पर लिखा गया है। यद्यपि इस रूपक के प्रबंध और रचना में कुछ दोष भी क्यों न आ गए हों, पर तो भी हम केवल गुणभाग का वर्णन करना उचित मानते हैं।'···(आनंद कादंबिनी, खंड १, संख्या ५, संवत् १९३८, पृ० १२१)'।

उपर्युक्त टिप्पणी में 'नीलदेवी' रचना के बारे में बहुत कुछ लिखा गया है। इसमें आलोचक 'रचना' के गुण दिखाना चाहता है। परंतु गुणदोष-विवेचन-पद्धति की समालोचनात्मक टिप्पणी सन् १८८२ में 'क्षत्रिय पत्रिका' में प्रकाशित 'अंधेर नगरी' रचना की आलोचनात्मक टिप्पणी में मिलती है और उसमें गुणों की प्रशंसा भी की गई है—

'अंधेरनगरी'

'भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के 'अंधेर नगरी' नामक हास्य और उपदेशयुक्त रूपक के विषय में कुछ लिखा चाहता हूँ तो लेखनी मुँह फैला देती है। उनके संमुख वही कुछ लिख सकता है जो उन्हीं सा नवों रसों में निपुण और गद्य पद्य दोनों में परिपूर्ण हो। यद्यपि इसे एक खेल समझकर उक्त बाबू साहब ने एक ही दिन में लिख डाला है पर गद्य और पद्य दोनों में हास्य और उपदेश

दोनों को भलीभाँति निबाहा है। बस इसी का नाम 'खेल का खेल तमाशे का तमाशा है।' ('क्षत्रिय पत्रिका', खंड ६, संख्या ११, संवत् १६३६, पृ० २४६),

प्राप्तिस्वीकार' के रूप में लिखी गई इस प्रकार की आलोचनात्मक टिप्पणियों में 'ग्रंथपरिचय' का प्रारंभिक स्वरूप दिखाई पड़ता है। जो नाटक या उपन्यास स्वीकार किए जाते थे उनपर कुछ न कुछ लिखना आवश्यक था, इसलिये पत्रिका के संपादक इस प्रकार की टिप्पणियों के लिये 'प्राप्तिस्वीकार या आलोचना' स्तंभ को अलग स्थान देते थे परंतु उसमें रचना या ग्रंथकार की स्तुति रहती थी और आलोचना को कम स्थान रहता था। यह परंपरा सन् १८८३ ई० तक मिलती है। 'पुस्तक परिचय' के रूप में लिखे गए आलोचनात्मक लेखों में 'आनंद कादंबिनी' में प्रकाशित 'संयोगिता स्वयंबर' नाटक की आलोचना बहुत प्रसिद्ध है। इस प्रकार की सर्वांगीण गुणों से युक्त आलोचना सन् १८८५ ई० तक नहीं मिलती है। इसमें कटूक्तियाँ भी हैं और आलोचना का गंभीर तथा विश्लेषणात्मक रूप भी। इसमें आलोचक का ध्यान स्वाभाविकता की ओर ही रहा और इसमें तात्कालीन आलोचना के बारे में कई संकेत भी मिलते हैं--

संयोगिता का स्वयंबर नाटक

'यद्यपि इस पुस्तक की समालोचना करने के पूर्व इसके समालोचकों की समालोचनाओं की समालोचना करने की आवश्यकता पड़ती है; क्योंकि जब हम इस नाटक की समालोचना बहुतेरे सहयोगी और मित्रों को करते देखते हैं, तो अपनी ओर से जहाँ तक खुशामद न मानी जाय तो यह अनुमान हो कि न वे केवल नाट्यविद्या और पुराने कवियों के काव्य ही से अनभिज्ञ हैं, किंतु कदाचित् भाषा भी भलीभाँति नहीं जानते, क्योंकि इस क्षुद्र ग्रंथ की रचना पर मोहित हो रचयिता को भाषा के वाल्मीकि, भाषा के कालिदास और भाषाचातुर्य कह डालते और श्री हरिश्चंद्र के तुल्य भारतेंदु के पद के योग्य ठहराते।' (आनंद कादंबिनी) माला २, मेघ १०-११-१२, संवत् १६४२, पृ० ७)।'

उपर्युक्त समालोचनात्मक लेख के प्रारंभिक अंश की पंक्तियाँ पढ़ते ही इसमें समालोचनात्मक शैली का निखरा हुआ रूप मिलता है। इसमें समालोचक कुछ कहना चाहता है, वह केवल पुस्तक के गुणदोष का विवेचन करना नहीं चाहता, बल्कि तत्कालीन समालोचना के क्षेत्र में जो कुछ धाँधली मची थी उसकी ओर भी संकेत करता है। वास्तव में इस समालोचनात्मक लेख की बहुत प्रशंसा हुई होगी, क्योंकि बाद में इसी पत्रिका में अपने उपन्यास 'नूतन ब्रह्मचारी' की आलोचना 'संयोगिता स्वयंबर' के ढंग पर करने के लिये शायद पं० बालकृष्ण भट्ट ने इस पत्रिका के संपादक को लिखा होगा। इस बात का संकेत भी संपादक ने 'नूतन ब्रह्मचारी' पर लिखी हुई आलोचनात्मक टिप्पणी में इस प्रकार किया है —

नूतन ब्रह्मचारी

'उपन्यास एक सहृदय के हृदय का विकास अर्थात् हमलोगों के सुयोग्य मित्र एम० ए० उपाधिधारी रचित, जिसको वे हमारे पास भेजकर 'संयोगिता स्वयंवर' की सी समालोचना लिखने को लिखते हैं।' (आनंद कादंबिनी' माला ३, मेघ १-२, संवत् १६४४, पृ० १६)

इस प्रकार की समालोचना का दर्शन तत्कालीन 'हिंदी प्रदीप', 'कवि व चित्रकार' आदि पत्र पत्रिकाओं में मिलता है। पं० कुंदनलाल की 'कवि व चित्रकार' पत्रिका में 'नवीन ग्रंथों की आलोचना' शीर्षक के अंतर्गत किताबों की, 'सुंदरी स्वप्न प्रकाश' तथा शालग्राम जी कृत 'मोरध्वज' नाटक की समालोचनाएँ एक ही ढंग की हैं। 'मोरध्वज' पर इस प्रकार लिखा गया है—

'मोरध्वज नाटक'

'लाला शालग्राम जी का बनाया हुआ 'मोरध्वज' नाटक हमारे पास पहुँचा। इस उत्तम ग्रंथ को हमने आदि से अंत तक पढ़ा, इसमें करुण वीर शांत आदि जितने रस हैं ग्रंथकार ने बड़ी उत्तमता के साथ अभिनय दिखलाया है। राजा मोरध्वज की ही भक्ति उदारता और भगवान् श्री कृष्णचंद्र की भक्तवत्सलता और अर्जुन के साथ पूर्ण मित्रता से दिखलाई गई है, जिनसे ग्रंथकार की कवित्व शक्ति का पूर्ण रीति से (परिचय) मिल सकता है। स्थान स्थान पर प्राचीन कवियों के कवित्व दोहे आदि जो दिए हैं, वे मानों सुवर्णजटित रत्नों का अनुकरण कर रहे हैं—भाषा इस नाटक की अतीव सरल और मनोहर है इस ग्रंथ के पढ़ने से मनुष्य मात्र की बुद्धि असत्कर्मों को छोड़ सन्मार्ग में प्रवृत्त हो सकती है भक्तों को इसके देखने से एक अलौकिक आनंद की प्राप्ति होगी उपसंहार में हम ग्रंथकर्ता को धन्यवाद देते हैं, जिन्होंने ऐसे सुगम और मनोहर नाटक को बनाकर हमारी देश भाषा की उन्नति की। साधारण कवियों को चाहिए कि लाला शालग्राम की सी भाषा अपने बनाए हुए ग्रंथों में रक्खा करें कि जिसे सर्वसाधारण सुगमता से समझ सके।' (कवि और चित्रकार' संवत् १६४० वि० ३१)।'

मोरध्वज की समालोचना में एक विशेषता दिखाई पड़ती है कि उसके अंत में आलोचक का नाम दिया गया है। इससे दो बातों के बारे में तर्क किया जा सकता है। अब समालोचना करने का कार्य संपादक के अलावा दूसरे लेखक भी करते थे। यह भी कहा जा सकता है कि आधुनिक काल में जिस प्रकार आलोचना करने के लिये भिन्न भिन्न लेखकों के पास किताबें भेजी जाती हैं उसी प्रकार की पद्धति इस काल में आरंभ हुई होगी। 'मोरध्वज' की समालोचना पढ़कर कोई भी पाठक यह कह सकता है कि समालोचना में कलात्मक तथा व्यवस्थित ढंग का

आविर्भाव हो रहा था। इसमें आलोचक ने नाटक की कथावस्तु तथा भाषा पर अलग अलग लिखा है और अंत में समालोचना का उपसंहार लिखकर नाटककार को प्रोत्साहित करने की दृष्टि से धन्यवाद भी दिया है।

भारतेंदुकालीन 'कवि वचन सुधा', 'हरिश्चंद्र चंद्रिका', 'हरिश्चंद्र मेगज़िन' 'आनंद कादंबिनी'; 'हिंदी प्रदीप', 'कवि व चित्रकार' आदि पत्रिकाओं में आलोचनात्मक रचनाएँ थीं। मुद्रणकला का प्रचार होने के कारण पुस्तकों का प्रकाशन सर्वसुलभ हुआ था, इसलिये समाचारपत्रों में विज्ञापन भी होता था। ग्रंथलेखक अपनी पुस्तकें पत्र पत्रिकाओं के पास भेजते थे और पुस्तक के 'प्राप्तिस्वीकार' के रूप में कुछ लिखा भी जाता था परंतु पाठकों का मन समालोचना की ओर बहुत आकृष्ट नहीं हुआ था अधिकतर लेखक किसी न किसी पत्रिका के संपादक थे, इसलिये उनकी पुस्तकों पर किसी दूसरी पत्रिका में भी आलोचना छपती थी।

भारतेंदु युग रीति काल से प्रभावित था। इसलिये पांडित्यपूर्ण समालोचना पद्धति का प्रभाव कहीं नहीं दिखाई पड़ता है। इस काल के आलोचकों ने कविता, नाटक, उपन्यास आदिपर आलोचनात्मक लेख लिखे हैं परंतु आलोचना के सैद्धांतिक पक्ष पर अधिक जोर नहीं दिया गया है। इसलिये इस काल की आलोचनात्मक सामग्री में आलोचना की आरंभिक अवस्था मिलती है। इस काल के आलोचकों में भारतेंदु हरिश्चंद्र, बदरीनारायण चौधरी, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुंद गुप्त आदि ही मुख्य माने जा सकते हैं। इन आलोचकों में भट्ट जी का महत्व सबसे ज्यादा है, वे आधुनिक ढंग की आलोचना के जन्मदाता हैं। भट्ट जी ने अपने जीवन में जितनी आलोचनाएँ लिखीं वे परिमाण में अधिक नहीं हैं। आकार से उसका प्रकार ही अधिक महत्वपूर्ण है। भट्ट जी के के समक्ष आलोचना की कोई प्राचीन परंपरा प्रेरणा लेने या मार्गदर्शन के लिये नहीं थी। उन्हें तो परंपरा स्वयं स्थापित करनी थी। साहित्य के प्रत्येक अंग पर उन्होंने कुछ न कुछ अवश्य लिखा है। इस काल के साहित्यसेवियों में भारतेंदु के बाद भट्ट जी का व्यक्तित्व महान् था। किंतु भट्ट जी को इतना अवकाश न मिला कि वे किसी एक साहित्यिक विधा के शृंगार एवं विकास में अपने प्रयत्न केंद्रित करते। इसलिये जब हम उनके आलोचना साहित्य का अध्ययन करते हैं, ऐसा अनुभव होता है यदि भट्ट जी इस संबंध में जितना अधिक लिखते उतना ही अच्छा था और यही विचार उनके उपन्यास नाटक आदि को पढ़कर बनता है। 'हिंदी प्रदीप' का प्रथम अंक १ सितंबर सन् १८७१ ई० को निकला था। भट्ट जी ने इसे निकाला था।

आज भी हिंदी पत्रकार कला का इतिहास बहुत पुराना नहीं है, फिर भट्टजी का युग तो उसके आरंभ का युग था। यह कहा जा सकता है कि 'हिंदी प्रदीप'

से पूर्व हिंदी पत्रकार कला का कोई उज्ज्वल इतिहास नहीं था। सच बात तो यह है कि पत्रकारिता तब जन्म ले रही थी। उसका पालन पोषणकर उसे युवा बनाने और सौंदर्य प्रदान करने का बहुत श्रेय 'हिंदी प्रदीप' को है। 'हिंदी प्रदीप' की संचिकाओं में वे निबंध जिनका स्वर आलोचनात्मक है अधोलिखित हैं— चंद्रहास तथा सबके गुरू गोवर्धनदास के अभिनय की आलोचना (हिंदी प्रदीप, अक्टूबर १८७७, पृ० १२-१३), लाला श्रीनिवास कृत रणधीर प्रेम मोहिनी नाटक (हिंदी प्रदीप, मार्च १८०८, पृ० १६), नाटकाभिनय (हिंदी प्रदीप, जनवरी १८८०, पृ० २-३), शमशाद सौशन नाटक (हिंदी प्रदीप, अप्रैल १८८०, पृ० १), नीलदेवी (हिंदी प्रदीप, फरवरी १८८२, पृ० १-३), परीक्षा गुरू (हिन्दी प्रदीप, दिसंबर १८८२, पृ० १२-१३), मुद्राराक्षस (हिंदी प्रदीप, अप्रैल १८८३, पृ० १), नेक सलाह हिंदी प्रदीप, अगस्त १८८३, पृ० १८-१६) सच्ची समालोचना संयोगिता स्वयंबर की (हिंदी प्रदीप, अप्रैल १८८६ पृ० १७-२१, एकांतवासी योगी (हिंदी प्रदीप, मई १८८६, पृ० १४), बंग विजेता (हिंदी प्रदीप अगस्त १ ८६, पृ० १७-२१), हिंदी कालिदास की आलोचना (हिंदी प्रदीप, अगस्त १८८६, पृ० १४) नैषध चरित चर्चा पर सुदर्शन दंश (हिंदी प्रदीप, सितंबर १६००, पृ० १८–२१), रामलीला नाटक मंडली, (हिंदी प्रदीप, जनवरी, फरवरी १६५०, पृ० २४-१५) आदि।

काव्यग्रंथों पर विस्तृत आलोचना लिखने की परिपाटी अत्यंत आधुनिक है। भारतेंदु काल में इस प्रकार की आलोचनाओं का प्रायः अभाव है। आलोचकों का ध्यान जाता भी था तो सामयिक साहित्य की ओर। प्राचीन साहित्य की ओर उनकी दृष्टि अध्ययन या गवेषणा तक सीमित रहती थी, आलोचनात्मक नहीं होती थी। भट्टजी ने नियमित रूप से प्राचीन साहित्य पर आलोचनाएँ नहीं लिखी हैं किंतु फुटकर लेखों के रूप में उन्होंने संस्कृत के विभिन्न कवियों पर प्रकाश डाला है। हिंदी प्रदीप की संचिकाओं में प्राचीन संस्कृत कवियों एवं साहित्य पर भट्टजी के निम्नांकित लेख उपलब्ध हैं—

बाह, पंडितराज जगन्नाथ, महाकवि हर्ष, विल्हण कवि की उक्ति, हर्ष की उक्ति, महाकवि विल्हण, गोवर्धनाचार्य, सप्तशतीस्तोत्र और भगवद्गीता, महाकवि भवभूति, महाकवि क्षेमेंद्र, महाकवि हरिश्चंद्र, वराहमिहिर और वराह संहिता, महाकवि बाणभट्ट, महाकवि भारवि, त्रिविक्रम भट्ट, महाकवि दामोदर गुप्त, भट्टनारायण राजशेखर, प्राचीन ग्रंथकारों का संक्षिप्त इतिहास, मम्मट, आर्यभट्ट आदि, महाकवि जयदेव, आनंदवर्द्धनादि, भर्तृहरि, कालिदास और भवभूति, अमरसिंह, नागेश या नागेशजी भट्ट, गीतासार समुच्चय, महाकवि बाणभट्ट, चंद्रोदय वर्णन, गीतासार समुच्चय, भट्ट आदि कवि भवभूति, वाल्मीकि,

व्यास आदि। भट्टजी आज के विकसित समालोचना साहित्य के मूल हैं। यदि मूल ही दोषयुक्त हो तो उसको आधार मानकर विकासाकांक्षी शाखाएँ अपने शैशव में ही मुरझा जाती हैं। हिंदी आलोचना की आज की सुखमय स्थिति के लिये भट्ट जी को उचित श्रेय दिया जाना चाहिए। हिंदी के प्रसिद्ध आलोचक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी पर भट्ट जी का बहुत ऋण है, अनेक स्थानों पर द्विवेदीजी के विचार भट्टजी से उधार लिए प्रतीत होते हैं। भट्ट जी कविता पर बंधनों के विरुद्ध थे और बनावटी या कृत्रिम कविता के भी वे प्रशंसक नहीं थे। भट्ट जी की एतद्विषयक शब्दावली देखिए—

'स्वाभाविक और बनावट में बड़ा अंतर होता है। हमारे मन में जो भावना जिस समय जैसी उठी कह डाला। यदि हमारे मन की उमंगें सच्ची हैं तो जो बातें हमारे चित्त से निकलेंगी सच्ची होंगी और उनका असर भी सच्चा ही होगा। इसके विरुद्ध जब हम किसी नियम से जकड़ दिए गए तब उसके बाहर तो हम पैर रख ही नहीं सकते इसलिये सुसंस्कृत कविता (क्लासिक पोइट्री) अवश्यमेव कृत्रिमता दोषपूरित रहेगी।' (हिंदी प्रदीप, अक्टूबर १८८६, पृ० १४)

उपर्युक्त पंक्तियों को द्विवेदी जी की निम्नांकित पंक्तियों से मिलाइए तो भावसाम्य ही नहीं, भाषासाम्य तक उसमें दिखाई देगा —

'पुराने काव्यों को पढ़ने से लोगों का चित्त जितना पहले आकृष्ट होता था उतना अब नहीं होता हजारों वर्षों से कविता क्रम जारी है जिन प्राकृतिक बातों का वर्णन कवि करते हैं उनका वर्णन बहुत कुछ अब तक हो चुका। जो नए कवि होते हैं वे उलट फेर से प्रायः उन्हीं बातों का वर्णन करते हैं। इसी से अब कविता कम हृदयग्राहिणी होती है।

संसार में जो बात जैसी दीख पड़े कवि को उसे वैसा ही वर्णन करना चाहिए उसके लिये किसी तरह की रोक या पाबंदी का होना अच्छा नहीं। दबाव से कविता जोश दब जाता है। उसके मन में जो भाव आप ही आप पैदा होते हैं उन्हें जब वह निडर होकर अपनी कविता में प्रकट करता है तभी उसका असर लोगों पर पूरा पूरा पड़ता है। बनावट से कविता बिगड़ जाती है।' (रसज्ञ रंजन, पृ० ५६)

श्री बालमुकुंद गुप्त ने साहित्यिक जीवन के आदि से लेकर अंत तक हिंदी के प्रसिद्ध पत्रों का संपादन किया था। अतः इसी माध्यम से आपने आलोचना साहित्य के प्रचार एवं सृजन के पावन यज्ञ में बहुमूल्य आहुतियाँ अर्पित की थीं। उनकी आलोचना का क्षेत्र साहित्य और समाज दोनों ही थे। वे कला को उप-

योगिता की तुला पर तौलनेवाले साहित्यकार थे। भारतीय सभ्यता, संस्कृति तथा स्वातंत्र्य के समर्थक साहित्य के आविर्भावक थे। यदि उन्हें किसी रचना से भारतीय सभ्यता और संस्कृति पर आघात होता हुआ प्रतीत होता था तो उनकी लौह-लेखनी शीघ्र लेखक के विरुद्ध उठ जाया करती थी। इस दृष्टि से उनकी आलोचना के दो क्षेत्र ठहरते हैं - एक शुद्ध साहित्यिक आलोचना का क्षेत्र, जिसके अंतर्गत समकालीन लेखकों और साहित्यकारों की रचनाओं पर लिखी आलोचनाएँ आती हैं और दूसरा राजनीतिक क्षेत्र, जिसके अंतर्गत उनकी दृष्टि साहित्य से हटकर समाज और राष्ट्र पर पड़ती है। वे सचेष्ट और कुशल अनुसंधानकर्ता थे, विस्मृति के गर्त से प्राचीन साहित्यकारों का उद्धार करने में उन्हें विशेष रुचि थी और चरितचर्चा की एक अभूतपूर्व शैली का उन्होंने विकास किया था। 'प्रयाग समाचार' के जन्मदाता, पं० देवकीनंदन तिवारी, साहित्याचार्य पं० अंबिकादत्त व्यास, पं० देवी सहाय, पाडे प्रभुदयाल, बाबू रामदीन सिंह, पं० गौरीदत्त, पं० माधव मिश्र, मुंशी देवीप्रसाद प्रभृति हिंदी के वे लेखक थे जिनके जीवनचरित गुप्तजी ने भारतमित्र में प्रकाशित करके उनको पुनर्जीवित किया था। आलोचक गुप्तजी की सबलतम आलोचना का निदर्शन समकालीन लेखकों पर लिखी गई आलोचनाएँ हैं। इस प्रकार की आलोचना में रचना का कलात्मक रूप गौण और रूप की लोकप्रियता प्रमुख है। इस विधा में आपका ध्यान विषयवस्तु के कलात्मक निरूपण की ओर अल्प और उसके समाजहितैषी पक्ष की ओर अधिक होता है। आलोचना उनके लिये साध्य न होकर साधनमात्र थी। इस साधन का उपयोग गुप्तजी ने लोकरुचिविनाशक एवं लोककल्याणकारी रचनाओं के समर्थन में किया था। इस प्रकार की उनकी आलोचनाएँ हैं—'अभुमती' नाटक तथा 'तारा उपन्यास' पर लिखे लेख। इसके अतिरिक्त आलोचक गुप्तजी ने अपनी आलोचना द्वारा अतिशय शृंगारिकता के पुनरावर्तन का विरोध 'कामशास्त्र' (भारतमित्र, ५ फरवरी, सन् '१९०५ ई०) नामक पुस्तक तथा द्विवेदी जी की कविता 'प्रियंवदा' (सरस्वती, भाग ७, सं० १२, पृ० ४८६) की आलोचना द्वारा किया, कुरुचि उत्पादक भद्दी अनुकृति का प्रतिवाद सुशील कवि, (पतनलाल) की 'उजाड़गाँव', साधु तथा योगी' नामक रचनाओं की समीक्षा (भारतमित्र २१ अगस्त सन् १८९९ ई०) द्वारा और क्लिष्ट एवं दुर्बोध साहित्य का निरसन 'तुलसी सुधारक' (भारतमित्र, सन् १९०२ ई०) की आलोचना द्वारा किया है। समकालीन लेखकों पर लिखी आलोचनाएँ इस बात का प्रमाण हैं कि गुप्त जी निर्भीक, निष्पक्ष तथा आलोचकीय गौरव की रक्षा करनेवाले आलोचक थे। रचना के गुणदोष विवेचन की पद्धति का परित्याग करके जो आलोचक रचनाकार के गुण एवं दोषों की उद्भावना करने लग जाते हैं, गुप्तजी उनके अपवाद थे। हिंदी में नवीन पत्रों के प्रकाशन और अभिनव साहित्य सृजन पर आप

हर्ष व्यक्त करते थे तथा ईर्ष्या अथवा व्यक्तिगत विद्वेषवश अच्छी रचनाओं को निकृष्ट बनानेवाले आलोचकों की वे खबर लेते थे। श्री बालमुकुंद गुप्त आचार्य द्विवेदी की भाषा और व्याकरण संबंधी मान्यताओं के कठोर आलोचक होते हुए भी 'सरस्वती' के प्रकाशन, सुंदर छपाई तथा 'गेटअप' आदि के प्रशंसक थे (भारतमित्र—सरस्वती की नाराजी, सन् १९०२ ई०)। गुप्तजी की अंतिम एवं युगांतरकारी विशेषता है तुलनात्मक समीक्षापद्धति का बीजारोपण। यद्यपि भारतेंदु युग में आलोचना का मूल रूप विकसित हो चुका था पर तुलनात्मक समीक्षा की ओर प्रयास न हो पाया था। गुप्त जी ने इस ओर अद्भुत प्रयास किया। पं० प्रतापनारायण मिश्र की प्रतिभा एवं काव्यशक्ति की समता भारतेंदु जी के साथ करते हुए आप ने लिखा था—'पंडित प्रतापनारायण मिश्र में बहुत बातें बाबू हरिश्चंद्र की सी थीं। कितनी ही बातों में वह उनके बराबर और कितनी ही में कम थे, पर एकाध में बढ़कर भी थे।'

भारतेंदुकालीन समालोचना के कार्य को देखकर यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि यह युग समालोचना की गंभीरता तथा प्रौढ़ता के लिये उपयुक्त नहीं था, क्योंकि हिंदी में अच्छी अच्छी किताबें नहीं लिखी गई थीं तथा उस समय किसी भी ग्रंथ की समीक्षा से परिचय प्राप्त करने के लिये पाठकों के पास कोई साधन नहीं थे। जो कुछ समालोचनाएँ प्रकाशित होती थीं उनमें अधिकतर गुणदोष विवेचन ही रहता था और किसी वाद के घेरे में वह न जा सके। इसलिये इस काल की समालोचना में आलोचना पद्धति की प्रयोगावस्था के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। परंतु आलोचना की यह परंपरा एक नए युग की प्रतीक्षा कर रही थी सन् १८९७ ई० में 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' के प्रकाशन के कारण आलोचना को एक नई दिशा मिली और द्विवेदी युग के आलोचकों की प्रारंभिक रचनाएँ इस पत्रिका द्वारा पाठकों के सामने आने लगीं। इस तरह इस पत्रिका के प्रकाशन के साथ आलोचना के क्षेत्र में एक नए युग का प्रारंभ हुआ।

'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' के प्रथम वर्ष में गंगाप्रसाद अग्निहोत्री का 'समालोचना', बाबू जगन्नाथदास का 'समालोचनादर्श', पं० अंबिकादत्त व्यास का 'गद्यकाव्य मीमांसा' आदि लेख हिंदी समालोचना की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। बाद में 'समालोचनादर्श' और 'गद्यकाव्य मीमांसा' पुस्तक रूप में प्रकाशित हुए। इन दोनों ग्रंथों में आलोचना के सिद्धांतों का विश्लेषण मिलता है। 'समालोचनादर्श' पोपकृत 'ऐसे आन क्रिटिसिज्म' का काव्यानुवाद है। हिंदी आलोचना की प्रारंभिक अवस्था में समीक्षा शास्त्र को पद्यबद्ध करना भारतेंदुयुगीन परंपरा का परिचय देना है। इसमें 'रत्नाकर' जी की प्रतिभा का दर्शन होता है। किसी भी लेखक में प्रतिभा का होना अत्यावश्यक है और इसका परिचय रत्नाकर जी ने इस प्रकार दिया है—

'बिन प्रतिभा के सिखत तथा जाँचत विवेक बिन,
अहंकार सों भरे फिरत फूले नित निसि दिन,
जोरि बरोरि कोऊ साहित्य ग्रंथ निर्माने,
अर्थ शून्य, कहूँ निरोधी लच्छन ठाने।'

इससे पता लगता है कि कवियों का लक्ष्य भी आलोचना की ओर गया है। इन तीन रचनाओं को देखकर यह कहा जा सकता है कि इस समय समीक्षा संबंधी कार्य की कमी का अनुभव अग्निहोत्री, अंबिकादत्त व्यास जैसे विद्वानों को होता होगा और इसलिये उनके द्वारा व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में कुछ कार्य हो सका।

'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' में इतिहास, साहित्य, भाषातत्व, पुरातत्व आदि के बारे में लेख प्रकाशित होने लगे और खोजसंबंधी सामग्री भी पाठकों के सामने आने लगी। इसी काल की 'हिंदी प्रदीप' 'आनंद कादंबिनी' आदि भारतेंदुयुगीन पत्रिकाओं में भी समीक्षाप्रधान लेख प्रकाशित होते थे अर्थात् इन पत्रिकाओं का उद्देश्य पाठकों के लिये सब प्रकार की सामग्री प्रस्तुत करना था, इसलिये उनमें जो कुछ समालोचनात्मक लेख मिलते हैं वे प्रायः निबंध के रूप में ही हैं।

'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' के प्रकाशन से हिंदी में महावीरप्रसाद द्विवेदी, माधवप्रसाद मिश्र, श्यामसुंदर दास, अंबिकादत्त व्यास और मिश्रबंधु जैसे धुरंधर लेखकों की प्रतिभा को विकसित होने के लिये अवकाश मिला तथा द्विवेदी युग के गद्यलेखकों की एक विशाल परंपरा निर्मित हुई। पत्रिका के जून सन् १८९८ ई० के अंक में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी कृत 'नागरी! तेरी यह दशा', श्यामसुंदर दास कृत 'भारतवर्षीय भाषाओं की जाँच' जैसे महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुए हैं। अतः पत्रिका के प्रारंभिक अंकों में ही हिंदी साहित्य के विविध अंगों पर विचार होने लगा।

आधुनिक हिंदी आलोचना का सूत्रपात 'सुदर्शन' (१९००), 'सरस्वती' (१९००), 'समालोचक' (१९०२) आदि पत्रिकाओं के कारण हुआ। इन पत्रिकाओं में 'सरस्वती' और 'समालोचक' द्वारा आलोचना साहित्य की पर्याप्त उन्नति हुई। 'सरस्वती' के प्रथम अंक से ही आगत ग्रंथादिकों की यथोचित समालोचना आरंभ हुई। भारतेंदुकालीन लेखकों के जीवनचरित्र पर जितने लेख प्रकाशित हुए हैं उनमें उन उन लेखकों की कृतियों की समालोचना भी की गई। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के 'सरस्वती' के संपादक होने के बाद आलोचनात्मक साहित्य लिखने के लिये प्रोत्साहन मिलने लगा और प्रकाशित पुस्तकों की समालोचना करने की दृष्टि से १९०४ ई० से 'सरस्वती' में पुस्तकपरीक्षा स्तंभ' आरंभ किया गया। इसी से द्विवेदीयुगीन समालोचना साहित्य का आरंभ माना जाता है। इस प्रकार की आलोचना का नमूना इस रूप में मिलता है —

'पुस्तक-परीक्षा'

'विघ्नदर्शन। इसका दूसरा नाम है राक्षसीमाया का परिचय'। टाइटिल पेज इस पर नहीं है। इसके कर्ता बरेली निवासी सुनीलाल शास्त्री हैं। इसमें 'सूत्र' हैं। जैसे संस्कृत की प्राचीन पुस्तकों में सूत्र हैं वैसे ही इसमें भी हैं। उनका भाष्य भी है। वह भी हिंदी में है। नग्न रहनेवाले, भूत, प्रेत इत्यादि सिद्ध करने का यत्न करनेवाले तथा अघोरपंथी मत के अनुयायियों के प्रतिकूल बहुत सी बातें इसमें शास्त्री जी ने लिखी हैं। (सरस्वती, जनवरी १६०५, ई० पृ० ४०)

सन् १६०० ई० के आसपास पत्रपत्रिकाओं में आलोचना के बारे में चर्चा हो रही थी और उसके लिये हिंदी के विद्वानों की एक समिति बनवाई गई थी परंतु इससे कोई कार्य नहीं हो सका। पाठकों के मन में समालोचनात्मक साहित्य की आवश्यकता का अनुभव होने लगा। इस काल के निबंधकार भी अपने साहित्यिक निबंधों में समालोचनात्मक विचार प्रकट करने लगे। इस काल में अधिकतर समालोचनात्मक निबंध लिखे गए हैं। हिंदी उर्दू समस्या और अन्य तत्कालीन साहित्यिक समस्याओं का विवरण इन लेखों में मिलता है।

हिंदी साहित्य संमेलन के वार्षिक अधिवेशन में अनेक साहित्यिक निबंध पढ़े जाते थे और उनपर चर्चा होती थी। इन साहित्यिक निबंधों में तत्कालीन साहित्य की समस्याओं पर विचार किया जाता था और साहित्य की उन्नति करने के लिये नई नई योजनाओं पर विचार किया जाता था। इस प्रकार आलोचना का क्षेत्र बढ़ता ही गया। भिन्न भिन्न नगरों में साहित्यिक गोष्ठियों की आयोजना होती थी और उनमें भी साहित्य के किसी न किसी अंग पर चर्चा होती थी। इस प्रकार की चर्चा में वादों का निर्माण होता था और अनेक लेखकों द्वारा वादात्मक लेख लिखे गए। आलोचना का क्षेत्र इतना व्यापक होने लगा कि तत्कालीन समस्याओं का विश्लेषण करने की प्रवृत्ति आलोचना के रूप में दिखाई देने लगी। सन् १६०७ ई० में 'सरस्वती' में प्रकाशित 'स्त्रीशिक्षा की आलोचना' शीर्षक निबंध में स्त्रीशिक्षा की आवश्यकता पर विचार किया गया है। आलोचना का क्षेत्र धीरे धीरे इतना विस्तृत होने लगा कि हिंदी के विद्वान् साहित्य की कृतियों के बारे में भी अपने विचार प्रकट करने लगे। सन् १६०३ ई० में सूर्यनारायण दीक्षित कृत 'शेक्सपियर का हेमलेट' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ। इसमें आलोचना की विश्लेषणात्मकशैली का रूप इस प्रकार प्रकट हुआ है—

'शेक्सपियर की प्रतिभा इतनी बढ़ी चढ़ी थी कि उसने हैमलेट के पागलपने को इतनी योग्यता के साथ दरसाया है कि आजकल भी बड़े बड़े समझदारों को भ्रम हो जाता है कि हैमलेट वास्तव में पागल था, वह बनावटी पागल न था। कोई कोई डाक्टर हैमलेट को पढ़कर अपनी सारी डाक्टरी उसी की खोज में खर्च

कर देते हैं कि हैमलेट वास्तव में पागल था या थोड़े दिनों के लिये पागल बन गया था। कोई कहता है कि वह बनावटी पागल था। कोई कहता है नहीं, वास्तव में पागल था। कोई कोई यह भी कहते हैं कि न तो वह सच्चा पागल था और न बनावटी ही।' (सरस्वती, जून १६०६, पृ० २४१)।

इसी काल में जासूसी, तिलस्मी, ऐयारी आदि उपन्यासों का प्रचार जनता में अधिक संख्या में हो रहा था और समाचारपत्रों में उनकी चर्चा होती थी। इन पत्रिकाओं में उपन्यासों की प्रशंसा ही की जाती थी और साधारण से साधारण पुस्तक पर बहुत अच्छी आलोचना निकलती थी। इस प्रकार की आलोचना का विरोध माधवप्रसाद मिश्र ने इस प्रकार किया है —

'समालोचना करते करते अपने घर में उन्होंने (समालोचकों ने) कुछ नियम भी गढ़ लिए हैं और बात बात में निजनिर्मित नियम और प्रथा की दुहाई देते हैं और साथ ही 'तिलिस्म' और ऐयारी नाम से उनके बदन में खाज उठने लगती है। उनसे कोई नहीं पूछता कि उपन्यासों के विषय में तुम जानते ही क्या हो ? जिस उपन्यास को तुम ऐयारी तिलिस्म का पचड़ा कहते हो उस उपन्यास के बनने पहले तुमने कितने उपन्यास पढ़े हैं ? और किस किस उपन्यास से कौन कौन गुण तुमने सीखे हैं और इस विषय में समालोचक बनने की योग्यता कहाँ प्राप्त की है ?'

हिंदी आलोचना के विकास युग के प्रारंभ में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू श्यामसुंदरदास, श्री मिश्रबंधु, पं० पद्मसिंह शर्मा, पं० कृष्णबिहारी मिश्र, लाला भगवानदीन जैसे समालोचकों की कृतियाँ मिलती हैं। हिंदी भाषा के संशोधन तथा आधुनिक समालोचना के पथ को प्रशस्त करने का कार्य 'सरस्वती' ने किया। भारतेंदु युग के लेखकों—पंडित प्रतापनारायण मिश्र, पं० बालकृष्ण भट्ट आदि की गद्यलेखन की शैलियों में स्थानीय बोलियों का पुट सहज में ही आ जाता था। इसके अतिरिक्त उनकी भाषा में व्याकरण संबंधी अशुद्धियाँ भी यदा-कदा हो जाती थीं। द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' के द्वारा भाषा के परिमार्जन का कार्य प्रारंभ किया। इसमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं है कि व्याकरण की शुद्धता और भाषा के परिमार्जन के प्रवर्तक द्विवेदी जी ही थे। 'सरस्वती' के संपादन काल में उनके पास समालोचनार्थ जो पुस्तकें आती थीं उनकी व्याकरण संबंधी भूलों की द्विवेदी जी कड़ी आलोचना करते थे। इसका प्रत्यक्ष प्रभाव यह हुआ कि लेखक सावधान हो गए। हिंदी गद्य को परिमार्जित एवं व्याकरण के अनुसार शुद्ध रूप देने में सरस्वती का सबसे बड़ा हाथ है।

यद्यपि हिंदी में समालोचना का कार्य भारतेंदु युग से प्रारंभ हो गया था तथापि इस कार्य को भी व्यवस्थित करने का श्रेय द्विवेदीजी को ही है। कदाचित्

द्विवेदीजी की ही प्रेरणा से पं० पद्मसिंह शर्मा ने 'सतसई संहार' शीर्षक के अंतर्गत विद्यावारिधि पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र कृत बिहारीसतसई की टीका की आलोचना लिखी थी। यह आलोचना धारावाहिक रूप से सरस्वती में प्रकाशित हुई थी। इसमें शर्मा जी ने बिहारी के मूल्यांकन में तुलनात्मक प्रणाली का प्रयोग किया था जो बाद में हिंदी में खूब चली।

हिंदी को सरस्वती की सबसे बड़ी देन यह है कि इसने देश के विभिन्न अंचलों के विद्वानों को हिंदी में लिखने के लिये प्रेरणा प्रदान की और इस प्रकार हिंदी को समृद्ध बनाने में योगदान किया। उस युग में अँगरेजी, संस्कृत तथा अन्य भाषाओं के ऐसे अनेक विद्वान् थे जो अपने को हिंदी लिखने में असमर्थ बताते थे। द्विवेदी जी ऐसे विद्वानों से स्वयं मिलकर तथा उनसे पत्र व्यवहार करके हिंदी में लिखने के लिये आग्रह करते थे। उन विद्वानों से प्राप्त लेखों की भाषा का परिमार्जन द्विवेदी जी स्वयं करते थे और इसके बाद इन लेखों को इन्हीं लेखकों के नाम से 'सरस्वती' में प्रकाशित कर देते थे।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है द्विवेदी युग में रचनाओं और रचनाकारों की तुलनात्मक समीक्षा भी आलोचना साहित्य की एक विशिष्टता है। द्विवेदी युग के तुलनात्मक आलोचना के लेखकों में पं० पद्मसिंह शर्मा का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने तुलनात्मक दृष्टि से अनेक आलोचनाएँ लिखीं— 'भिन्न भिन्न भाषाओं में समानार्थवाची पद्य' (सरस्वती, भाग ८, पृ० २६४), 'संस्कृत और हिंदी कविता का बिंबप्रतिबिंब भाव' ('सरस्वती, १६ ८ ई०, पृ० ३१८ और ४०८ सरस्वती, १६११ ई०, पृ० ४३८ और ६१५ तथा 'सरस्वती' १६१२ पृ० ६७२)। द्विवेदी युग में टीका पद्धति पर तीन प्रकार की रचनाएँ हुईं— अर्थ परिचय, रचना परिचय और रचनाकार परिचय के रूप में। टीका पद्धति के दूसरे प्रकार (रचनापरिचयात्मक आलोचना) के तीन रूप हैं। पहला रूप पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित सामयिक पुस्तकों की परीक्षा है। इस क्षेत्र में 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका', 'सरस्वती', 'समालोचक', 'मर्यादा', 'प्रभा' आदि ने पुस्तक-परीक्षा के लिये विशिष्ट खंड निर्धारित करके महत्वपूर्ण कार्य किया। इन परीक्षाओं में प्रायः पुस्तक की छपाई सफाई के अतिरिक्त एक दो विशेषताओं का परिचय दे दिया गया है। द्विवेदी युग की आलोचना के विषय में उपर्युक्त विवेचन के अतिरिक्त कुछ और भी आलोचनीय है। शैली की दृष्टि से ये आलोचनाएँ तीन प्रकार की हैं—निर्णयात्मक, भावात्मक और चिंतनात्मक

आलोचनार्थ पुस्तक भेजनेवालों में सच्चे गुण-दोष-विवेचन के इच्छुक बहुत कम थे। अधिकांश लोग समालोचना के रूप में पुस्तक का विज्ञापन प्रकाशित कराकर आर्थिक लाभ अथवा उसकी प्रशंसा प्रकाशित कराकर अपनी यशोवृद्धि

करना चाहते थे। प्रतिकूल समीक्षा होने पर असंतुष्ट लोग कभी अपने नाम से, कभी बनावटी नाम से, कभी अपने मित्रों, मिलनेवालों या पार्षदों से प्रतिकूल समीक्षा के एक एक शब्द का प्रतिवाद उपस्थित करते या कराते थे। कुछ लोग तो पुस्तक की भूमिका में ही यह लिखा देते थे कि कटु आलोचना से लेखक का उत्साह भंग हो जायगा। (समालोचना का सत्कार, सरस्वती, १६१७ ई०, पृ० ३२७ के आधार पर)।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' के संपादक होने के कारण तत्कालीन साहित्य की विविध धाराओं से परिचित थे। उन्होंने अपनी प्रतिभा का उपयोग मौलिक साहित्य का निर्माण करने की अपेक्षा हिंदी साहित्य की उन्नति करने के लिये किया। उनके युग तक भारतेंदुकालीन समीक्षा के आदर्श का प्रभाव था और किसी पुस्तक की आलोचना उसके गुण-दोष-विवेचन के रूप में ही की जाती थी। परंतु द्विवेदी जी ने अपने आलोचनात्मक लेख केवल अपने पाठकों तक सीमित नहीं रखे, बल्कि उनका प्रभाव उस समय के कवियों और कलाकारों पर भी पड़ा और इनके द्वारा साहित्यनिर्माण के लिये एक निश्चित दिशा निर्देशित होती गई। 'सरस्वती' द्वारा उन्होंने कई आलोचनात्मक लेख हिंदी पाठकों के सामने रखे तथा संस्कृत साहित्य के कवियों पर आलोचनात्मक लेख लिखकर देश, काल और परिस्थिति के आधार पर उनकी रचनाओं पर प्रकाश डाला। उनके 'नैषध चरितचर्चा, हिंदी कालिदास की आलोचना, विक्रमांकदेव चरित चर्चा, कालिदास की निरंकुशता' आदि आलोचनात्मक लेखों द्वारा संस्कृत साहित्यसंबंधी कुछ ऐसी बातें उन्होंने अपने काल के कवियों के सामने रखीं जिनके कारण नव साहित्य के निर्माण के लिये एक विशेष प्रेरणा मिलती गई। हिंदी के साहित्य के निर्माण के बारे में भी उनका कार्य महत्वपूर्ण है। तत्कालीन हिंदी साहित्य की कल्पना देनेवाले व्यंग्य चित्र प्रकाशित किए गए और हिंदी साहित्य के यथार्थ रूप को लोगों के सामने रखा गया। इस प्रकार के व्यंग्यात्मक चित्र पाठकों में एक प्रकार का क्षेत्र निर्माण करने में सहायक हुए। उस काल की हिंदी साहित्य की परिस्थिति का वास्तविक रूप सामने रखनेवाले ये चित्र हिंदी आलोचना के क्षेत्र में अपनी स्थायी महत्व रखते हैं। इन व्यंग्य चित्रों द्वारा पाठकों का मनोरंजन भी होता था। सन् १६०२ ई० में प्रकाशित 'मराठी साहित्य, अँगरेजी साहित्य, बँगला साहित्य, प्राचीन कविता का अर्वाचीन अवतार तथा खड़ी बोली का पद्य' शीर्षक व्यंग्य चित्रों में हिंदी साहित्य की सामयिक अवस्था का रूप पाठकों के सामने खड़ा किया गया है। इस प्रकार के व्यंग्य चित्र पाठकों को अच्छे नहीं लगे परंतु द्विवेदी जी उनके द्वारा हिंदी साहित्य का कल्याण करना चाहते थे। सन् १६०२ ई० के नवम्बर में प्रकाशित 'हिंदी उर्दू' शीर्षक चित्र द्वारा तत्कालीन हिंदी उर्दू झगड़े

की ओर भी संकेत मिलता है। इस चित्र के नीचे 'उर्दू' और 'हिंदी' का संवाद इस रूप में रखा गया है—

हिंदी उर्दू

'उर्दू—अरी क्यों री चुड़ैल। तू मर कर भी नहीं मरती?

हिंदी—बेटी। तू जुग जुग जी, मुझे क्यों मारे डाले? मैंने तेरा क्या बिगाड़ा है?

उर्दू—तेरे आछते मुझे राजगद्दी तो नहीं मिलती।

हिंदी—ठीक है बेटी। कलियुग न है। तुझे इसी दिन के लिये बड़े साध से जन्माया था। अच्छा तेरे जी में आवै सो कह, पर मेरी तो माता की आत्मा ठहरी, मैं तो आसीस ही दूँगी।' (सरस्वती, नवंबर १९०२, पृ० ३५६)।

द्विवेदी जी के समय में अँगरेजी साहित्य में विक्टोरियन युग की आलोचना की शास्त्रीय पद्धति का प्रवेश हो चुका था जो आदर्श एवं प्रभाववादी था परंतु अँगरेजी समालोचना का प्रभाव द्विवेदीजी के काल में नहीं दिखाई पड़ता। द्विवेदी जी को संस्कृतसाहित्य के प्रति अपार श्रद्धा थी इसलिये उनकी आलोचनात्मक कृतियों में भारतीय रससिद्धांत को ही महत्वपूर्ण स्थान मिला है। उनकी अंतिम कृतियों में रोमांटिक भावधारा का भी कुछ प्रभाव लक्षित होता है। वे एक सनातनी हिंदू एवं पुरातन सिद्धांतवादी भी थे। अतः कवियों या कलाकारों के प्रति उनकी भावना ईश्वरवादी थी, अर्थात् वे कलाकार को साहित्य के क्षेत्र में ईश्वर का ही अवतार मानते थे। वे नवीनता के ग्राहक थे परंतु अपनी पुरानी परंपरा की रक्षा करके उन्होंने नवीनता का ग्रहण किया। शास्त्रीय संयम से युक्त स्वच्छंदतावादी परंपरा का स्वरूप उनकी आलोचनात्मक कृतियों में मिलता है। उनका 'उपन्यास रहस्य' नामक लेख उनकी आलोचना शैली और दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है। इसमें आलोचना की भारतीय पद्धति का स्पष्ट रूप आचार्य द्विवेदीजी की प्रतिभा में दीप्त है—'जिनको मनुष्य के स्वभाव का ज्ञान है, जो अपने विचार मनमोहक भाषा द्वारा प्रकट कर सकते हैं, जो यह जानते हैं कि समाज का रुख किस तरफ है और किस प्रकार की रचना से हानि पहुँच सकती है, वे पश्चिमी पंडितों के तत्वनिरूपण का ज्ञान प्राप्त किए बिना भी अच्छे उपन्यास लिख सकते हैं'। (सरस्वती, 'उपन्यास रहस्य', अक्टूबर १९२२, भाग २३, खंड २ पृ० १९६)

एक बार 'भारती' पत्रिका की आलोचना करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा था—'इसके विविध विषयवाले स्तंभ की बातें बहुत ही सामान्य होती हैं। उदाहरणार्थ 'एक चोर की जेल में मृत्यु' का हाल आधे कालम में छपा है। मतलब यह कि संपादक महाशय ने नोटों और लेखों को उनकी उपयोगिता का विचार

किए बिना ही प्रकाशित कर दिया है'। (सरस्वती भाग ६, सं० ७, पृ० ३५२)। द्विवेदी जी ने इस प्रकार की कोरी आलोचना ही नहीं की वरन् हिंदी सपादकों के समक्ष आदर्श भी उपस्थित किया। उनके विविध विषय समाचारभाग नहीं होते थे। उनकी टिप्पणियों का उद्देश्य था 'सरस्वती' के पाठकों की बुद्धि का विकास करना। पाठकों के लाभार्थ उनमें साधारण अध्ययन की सामग्री भी रहती थी। वे प्राचीन तथा अर्वाचीन साहित्य, इतिहास, पुरातत्व, विज्ञान, भूगोल, धर्म, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति, पत्र पत्रिकाओं के सामयिक प्रसंग, हिंदी भाषा और उसके भाषियों की आवश्यकताएँ, महान पुरुषों के जीवन की रोचक और महत्वपूर्ण घटनाएँ, देश विदेश के ज्ञातव्य समाचार, गवर्नमेंट आदि में प्रकाशित सरकारी मंतव्य आदि विषयों का एक निश्चित दृष्टि से, अपनी शैली में समीक्षात्मक उपस्थापन करते थे। कभी कभी तो रिपोर्ट और पुस्तकें उन्हें अपने मूल्य से मँगानी पड़ती थीं'। (सरस्वती, भाग १४, पृ० ४१५)।

उस समय एक ओर 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' द्वारा खोजपूर्ण तथा पांडित्यपूर्ण समीक्षात्मक लेख प्रकाशित हो रहे थे तथा दूसरी ओर 'सरस्वती' तथा 'समालोचक' में गुणदोष पद्धति की समीक्षात्मक रचनाएँ प्रकाशित हो रही थीं। मिश्रबंधुओं ने आलोचना की इन दो धाराओं के संमिश्रण से अपनी समीक्षा पद्धति का रूप पाठकों के सामने रखा।

इस युग का सामयिक साहित्य मुख्यतः नागरीप्रचारिणी पत्रिका', 'सरस्वती', 'मर्यादा', 'इंदु', 'चाँद', 'प्रभा' और 'माधुरी' में प्रकाशित हुआ। सरस्वती, की अग्रजा 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' १६०४ ई० में त्रैमासिक थी, १६१५ ई० में मासिक हुई और फिर १६२० वि० में त्रैमासिक हो गई। उसका उद्देश्य सामान्य पत्रिकाओं से भिन्न था। आरंभ में तो उसने कविता आदि विषयों को भी स्थान दिया था किंतु आगे चलकर केवल शोधसंबंधी पत्रिका रह गई। मर्यादा आदि अन्य पत्रिकाएँ 'सरस्वती' की अनुगा थीं। रूप और गुण सभी दृष्टियों से उन्होंने 'सरस्वती' का अनुकरण किया।

द्विवेदी युग के अधिकांश लेखक संपादक थे। काशी नागरीप्रचारिणी सभा में रक्षित पत्रिकाओं की फाइलों से सिद्ध है कि श्यामसुंदरदास ('नागरीप्रचारिणी पत्रिका' और 'सरस्वती'), राधाकृष्ण दास ('नागरीप्रचारिणी पत्रिका' और 'सरस्वती'), भीमसेन शर्मा ब्राह्मण सर्वस्व), कृष्णकांत मालवीय (मर्यादा), रामचंद्र शुक्ल (नागरीप्रचारिणी पत्रिका), गौरीशंकर हीराचंद ओझा (नागरीप्रचारिणी पत्रिका), लाला भगवानदीन (लक्ष्मी), रूपनारायण पांडेय (नागरीप्रचारक ', बालकृष्ण भट्ट (हिंदी प्रदीप), गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी (ब्रह्मचारी), पद्मसिंह शर्मा ('परोपकारी' और 'भारतोदय'.), संतराम बी० ए० ('उषा' और

'भारती'), लाला सीताराम बी० ए० (विज्ञान), ज्वालादत्त शर्मा (प्रतिभा), गोपालराम गहमरी ('समालोचक' और 'जासूस'), माधव प्रसाद मिश्र (सुदर्शन), द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी (यादवेन्दु), यशोदानंदन अखौरी (देवनागरवत्सर), संपूर्णानंद (मर्यादा), किशोरी लाल गोस्वामी (वैष्णव सर्वस्व), छविनाथ पांडेय (साहित्य), मुकुन्दी लाल श्रीवास्तव (स्वार्थ), शिवपूजन सहाय (आदर्श) आदि सभी लेखक संपादक भी थे।

इसी प्रकार 'आनंदकादंबिनी' में प्रकाशित 'अपनी भाषा पर विचार' शीर्षक लेख में पं० रामचंद्र शुक्ल ने तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार 'शब्द-विस्तार' और 'शब्दयोजना' पर जो विचार व्यक्त किए हैं उनमें नवीनता के के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। भाषा और साहित्य के बारे में देखने का दृष्टिकोण शुक्ल जी की अन्य रचनाओं में भी मिलता है। उनकी तुलसी ग्रंथावली (१९२३), जायसी ग्रंथावली (१९२५), भ्रमरगीतसार (१९२६) आदि की भूमिकाओं में उनकी आलोचनात्मक शैली का परिष्कृत रूप मिलता है। शुक्लजी की समीक्षात्मक कृतियों ने हिंदी आलोचना को एक निश्चित दिशा में मोड़ दिया। उनकी आलोचनात्मक कृतियों में उनके व्यक्तिगत भावों तथा विचारों का प्रभाव सर्वत्र दिखाई देता है। नागरीप्रचारिणी सभा की एक विशेष भाषा नीति उसके पीछे थी और उसमें हिंदी साहित्य के महान् विद्वानों की रचनाओं को ही विशेष स्थान मिलता था। इसलिये साधारण लेखक की आलोचनात्मक कृतियों को स्थान देने का कार्य 'सरस्वती' ने किया। बाबू श्यामसुंदरदास की आलोचनात्मक कृतियाँ शुक्ल जी की रचनाओं के समकालीन हैं। शुक्ल जी की रचनाएँ द्विवेदी-कालीन परंपरा से प्रभावित हैं और उनकी समीक्षात्मक रचनाओं का प्रकाशन सन् १९०१ ई० से मिलता है और सन् १९०४ ई० में उनका साहित्य' शीर्षक लेख 'सरस्वती' में छपा है। इस लेख के द्वारा उन्होंने अपने साहित्यिक विचारों को पाठकों के सामने रखा और इसमें उन्होंने साहित्य की व्यवस्था इस प्रकार दी है—

'साहित्य केवल लेखनप्रणाली ही का नाम है, वाचालता का नहीं। भिन्नता उसकी प्रणाली में, उसके सर्वांगीण और दिगंतव्यापी होने में है। जो बात कही जाती है वह बोलनेवाले के पास से बहुत दूर नहीं जा सकती, वायु में उसका नाश हो जाता है'। सारगर्भित और उन्नत भावों को प्रकट करने के लिये 'सरस्वती' के द्वारा विविध साहित्यप्रकार पाठकों के सामने रखे जाते थे। द्विवेदी जी ने अपने कई लेख 'सरस्वती' में प्रकाशितकर अपने साहित्यसंबंधी विचारों को प्रकट किया। 'सरस्वती' में कुछ ऐसी बातें प्रकाशित होती थीं जिनके कारण साहित्य क्षेत्र में एक प्रकार के तीव्र आंदोलन का वातावरण तैयार हो जाता था और उनपर विचार करने के लिये जो कुछ समालोचनात्मक लेख निकलते थे वे

अधिकतर वादात्मक रूप लेकर ही निकले हैं। इसलिये इस काल में कुछ ऐसे भी लेख मिलते हैं जिनका उद्देश्य किसी वादात्मक समस्या पर प्रकाश डालना है। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के 'अनस्थिरता' शब्द को लेकर जो कुछ लेख लिखे गए थे वे इस प्रकार के वादात्मक समालोचना की कोटि में आते हैं। 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' का उद्देश्य साहित्यिक अनुसंधान था इसलिये उसमें स्वच्छंदतावादी व्यक्तिगत विचारों को स्थान नहीं मिला था।

संक्षेप में यही इस शताब्दी के आरंभिक २० वर्षों के साहित्य की साधारण रूपरेखा है। एक पीढ़ी समाप्त हो रही थी और दूसरी का उदय हो रहा था। नए के आगमन का पूर्वाभास और पुराने की विदाई की विलंबित छाया कभी कभी कुछ वर्षों का समय घेर लेती है।

प्रथम विश्वयुद्ध ने हमें पश्चिमी समाज के संपर्क में ला रक्खा और हम साहित्य तथा अन्य साधनों से पश्चिम की अधिकाधिक जानकारी करने लगे। महायुद्ध की परिस्थितियों ने हमारी जातीयता की कट्टर भावना को बहुत कुछ शिथिल कर दिया और अब हम उस भूमिका पर आ गए जब जातीय और प्रादेशिक सीमाओं से ऊपर उठकर विश्व की प्रगति को एक दृष्टि से देख सकें। भारतीय और विदेशी जीवनपद्धति और राष्ट्रीय गुणों को भी जानने समझने और तुलना करने का अवसर हमें मिलने लगा था। हमारी दृष्टि पुरानी धार्मिक रीतियों से हटकर जीवन के दार्शनिक आधारों पर जाने लगी थी। हम मोटे तथ्यों से ध्यान हटाकर उनके प्रेरक सूक्ष्म उपकरणों को देखना चाहते थे।

संक्षेप में नई संस्कृति और नवीन जीवनदृष्टि के निर्माण की दिशा में हम अग्रसर हो रहे थे। इसी अवसर पर गांधीजी के रूप में एक महान् व्यक्तित्व भारतीय रंगमंच पर अवतरित हुआ और देश में राजनीतिक चेतना की एक अभूतपूर्व लहर दौड़ गई। जलियाँवाला बाग का हत्याकांड और एक विराट जन आंदोलन देश के एक छोर से दूसरे छोर तक उभर उठा। आहुतियाँ पड़ती गईं और आग भड़कती गई। गांधीजी और उनके सहकारियों के निरीक्षण में स्वतंत्रता का यह महायज्ञ निरंतर चलता रहा। बीच बीच में व्यवधान आए, राजनीति की धारा नए मोड़ लेती रही, वह गुमसुम होकर चुपचाप भी बही। निराशा की रेखाएँ भी भारतीय क्षितिज पर दिखाई दीं, पर राजनीतिक उतार चढ़ावों के होते हुए भी हमारी राष्ट्रीय चेतना अव्याहत ही रही। इस सर्वतोव्यापी सक्रिय राष्ट्रीयता का प्रभाव हमारे इस समय के साहित्य पर अनेक रूपों में अनेक प्रकार से पड़ा। हम तो यहाँ तक कहना चाहेंगे कि इस व्यापक राष्ट्रीय जागृति की हलचल में ही हमारा यह साहित्य पनपा और फूला-फला है। इस अभूतपूर्व जागृति केंद्र से पृथक् रखकर हम अपने इस साहित्य को परख ही नहीं सकेंगे। खेद और आश्चर्य की बात है

कि हमारे कतिपय समीक्षकों ने इस अत्यंत सीधी और सच्ची बात को भी समझने का प्रयत्न नहीं किया कि हमारे इस युग के साहित्य की मुख्य प्रेरणा राष्ट्रीय और सांस्कृतिक है तथा इससे भिन्न वह कुछ और हो भी नहीं सकती थी। राष्ट्रीयता ने हमारे समस्त सामाजिक जीवन को अनेक रूपों में आंदोलित कर रखा था और हमारे कवि तथा लेखक भी इस दुर्दमनीय प्रभाव से बच नहीं सकते थे। विशेषकर जिन्हें हम इस समय का प्रतिनिधि लेखक और कवि मानते हैं उनपर इसका प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव तो पड़ना ही था। यह सोचना भी असंभव है कि जिस समय हमारे देश में राष्ट्रीय मुक्ति का जीवनमरण संग्राम चल रहा हो उस समय हमारे कल्पनाशील कवि और लेखक उससे कुछ भी प्रेरणा न ग्रहण करें बल्कि उसके प्रति विमुख और अन्यमनस्क होकर रहें। वस्तुतः हम देखते हैं कि इस युग के आरंभ से ही एक नई चेतना साहित्य में प्रवेश कर रही थी। शुक्ल जी के समय में ही सन् १९३७ ई० के लगभग द्वितीय महायुद्ध के आसन्न संकट, युद्धोद्यत फासिज्म के संस्कृतिविरोधी दृष्टिकोण, असहयोग आंदोलन की असफलता और जनता का विक्षोभ, छायावाद की कविता में नए प्राणसंचार का अभाव, महादेवी और बच्चन के गीतों के निराशावादी उद्गार और जीवन की व्यापक समस्याओं के प्रति हिंदी आलोचना की उदासीनता, इन सबने मिलकर जहाँ राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में गतिरोध और वैषम्य पैदा कर दिया वहाँ प्रबुद्ध विचारकों में इस गतिरोध को तोड़कर नया मार्ग निकालने के लिये एक नई चेतना भी जगाई।

'सरस्वती', 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका', हिंदी प्रदीप', 'इंदु' आदि का कार्यकाल कब का समाप्त हो चुका था। अतः इस काल में इनकी चर्चा अप्रासंगिक है।

प्रेमचंद ने भी कई पत्र पत्रिकाओं द्वारा अपनी आलोचनात्मक प्रतिभा का परिचय दिया। 'हंस' में बराबर उनकी कुछ न कुछ आलोचनात्मक टिप्पणियाँ, पुस्तकपरिचय आदि छपते ही थे। माधुरी, भाग ', खंड १, पृ० ३७४ में प्रकाशित अपने 'उपन्यास रचना' शीर्षक लेख में प्रेमचंद ने पाश्चात्य आलोचकों के मतानुसार उपन्यास के तत्वों और साधनों का वर्णनात्मक शैली में निरूपण किया। प्रेमचंद की ऐसी रचनाएँ अमृतराय द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'विविध प्रसंग' में संकलित हैं। यह लगभग सोलह सौ पृष्ठों की सामग्री है जो 'विविध प्रसंग' के तीन खंडों में प्रकाशित हुई है। पहले खंड में १९०३ ई० से लेकर १९२० ई० तक के लेख और समीक्षाएँ काल अनुक्रम से हैं। दूसरे और तीसरे खंड में १९२१ ई० से लेकर १९३६ ई० तक के लेख, टिप्पणियाँ और समीक्षाएँ हैं। छोटी टिप्पणियाँ और बड़े लेख दोनों में काफी गहरा असर है जो देखने में चाहे जितनी छोटी हों पर घाव गहरा करती हैं। अपने उस छोटे से कलेवर में भी उनका वक्तव्य स्पष्ट और

महत्वपूर्ण है। उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। 'विविध प्रसंग' के पहले खंड में अधिकांश लेख उर्दू के प्रसिद्ध पत्र 'जमाना' से लिए गए हैं जिससे मुंशीजी का आजीवन बहुत आत्मीय संबंध रहा। इस अवधि में मुंशीजी ने 'जमाना' के अलावा और भी अनेक उर्दू पत्रों में जैसे मौलाना मुहम्मद अली के 'हमदर्द' और इम्तयाज अली 'ताज' के 'कहकुशा', 'जमाना' और चकबस्त के मासिक पत्र 'सुबहे उम्मीद' में काफी नियमित रूप से लिखा। 'जमाना' में तो बहुत अर्से तक लिखा लेकिन बदकिस्मती से उसपर मुंशीजी का नाम नहीं आता था और कब से कब तक यह स्तंभ उनके हाथ में रहा, इसका भी कहीं कोई संकेत नहीं मिलता। विविध प्रसंग के दूसरे और तीसरे खंड में मूल हिंदी सामग्री है। कुछ फुटकर लेख और टिप्पणियाँ और समीक्षाएँ माधुरी, चाँद, मर्यादा, स्वदेश आदि पत्रों से ली गई हैं (जिसका सकेत भी लेख के अंत में दे दिया गया है), लेकिन अधिकांश सामग्री 'हंस' और 'जागरण' से संकलित है। मासिक पत्र होने के नाते, हंस से ली गई सामग्री के अंत में केवल महीना और सन् मिलेगा, 'जागरण' साप्ताहिक था, अतः उसमें तारीख भी मौजूद है। इन पत्रों से प्रेमचंद का तेजस्वी पत्रकार रूप हिंदी संसार के सामने स्पष्ट हो जाता है।

प्रेमचंद के जीवनकाल में ही राजनीतिक, सांस्कृतिक गतिरोध और विघटन की एक और समाजोन्मुखी आशामूलक प्रतिक्रिया हिंदी आलोचना में 'प्रगतिवाद' की मानवतावादी विचारधारा के रूप में प्रतिफलित हुई। 'हंस' और अन्य मासिक पत्रों के द्वारा यह आंदोलन अधिक बढ़ा। पहले शिवदान सिंह चौहान ने अपने आलोचनात्मक निबंधों में प्रगतिवाद की व्याख्या की, फिर प्रकाशचंद्र गुप्त, डा० रामविलास शर्मा, नरेंद्र शर्मा, नेमिचंद जैन, अमृतराय, शमशेर बहादुर सिंह आदि 'प्रगतिवाद' के और अनेक आलोचक आगे आए। प्रगतिवाद ने आलोचना की शास्त्रीय पद्धति को न अपनाकर हिंदी आलोचना के संमुख साहित्य और समाज के संबंध या प्रश्न उठाकर साहित्य के प्रयोजन और साहित्यकार के सामाजिक दायित्व का प्रश्न उठाया। छायावाद की नई दृष्टि से व्याख्या करके छायावादी काव्य में मार्मिकता से व्यक्त हुए प्रतिवाद और असंतोष के स्वर को पहचाना और सामाजिक जीवन से साहित्य और साहित्यकार के विलगाव का कारण स्पष्ट करके प्रगतिशील आंदोलन द्वारा साहित्य को जीवन के निकट आने की प्रेरणा दी। इस समय प्रेमचंद, पंत, निराला आदि हिंदी के शीर्ष स्थानीय लेखक प्रगतिशील आंदोलन में संमिलित हुए और पंत, निराला ने नए दृष्टिकोण से काव्यरचना शुरू की। ऐसा लगा कि छायावाद की भूमिका समाप्त होने से रचनात्मक साहित्य की धारा अभावग्रस्त न हो जायगी किंतु कुछ वर्षों के अंदर ही प्रगतिवादी आलोचना कुछ दिनों के लिये संकीर्ण मतवाद की दिशा में पथभ्रष्ट हो गई।

अब फिर प्रगतिवादी आलोचना अपने मूल सिद्धांतों की ओर लौट रही है और अपने व्यापक सांस्कृतिक दायित्व को सँभालने की ओर कदम बढ़ा रही है। प्रगतिवाद की विचारधारा का हिंदी आलोचना और आलोचकों पर व्यापक प्रभाव पड़ा है और सामान्यतः यह स्वीकार किया जाने लगा है कि रसानुभूति कराने के साथ-साथ साहित्य का व्यापक सामाजिक प्रयोजन भी होता है और साहित्य का कार्य जीवन के वस्तुसत्य को कलात्मक अभिव्यक्ति देना है। अनेक स्वतंत्रचेता आलोचक गंभीर चिंतन मनन के द्वारा मन के शंकासंदेहों से लड़ते हुए इस वस्तून्मुखी दृष्टिकोण की ओर बढ़ भी रहे हैं।

इस युग में मासिक पत्रों में कुछ महत्वपूर्ण वादविवाद चले जिनसे आलोचना साहित्य के विकास में सहायता मिली। पश्चिमी साहित्य की जानकारी रखनेवाले लेखक अपने साथ नए विचार लाए। उनके वादात्मक लेखों में साहित्य के उद्देश्य, उसकी शैली और जीवन के प्रति दृष्टिकोण पर विचार हुआ जिससे हिंदी लेखकों को नई प्रेरणाएँ मिलीं। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के संपादन-काल में 'विशाल भारत', श्री सुमित्रानंदन पंत के 'रूपाभ' और 'हंस' ने ऐसे साहित्यिक विवाद में भाग लिया। युग के साथ साहित्य की प्रगति बनाए रखने में इन पत्रों ने प्रशंसनीय कार्य किया। मासिक पत्रों के उन्नत स्तर की एक यह भी कसौटी होती है।

कहना नहीं होगा कि इस काल में पत्र पत्रिकाओं की अभूतपूर्व उन्नति हुई। इस उन्नति के पीछे हिंदी जनता की जागृति थी। सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना और दिन प्रतिदिन बढ़ती हुई राजनीतिक चेतना तथा राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति के कारण पत्रपत्रिकाएँ हिंदी में बढ़ती ही गईं। कांग्रेस के आलोचकों ने जनता में यह जागृति पैदा की थी। दिन प्रतिदिन जनता में देशभक्ति की भावना प्रबल होती गई। अपने धर्म, अपनी जाति, अपनी संस्कृति, सभ्यता, अपनी भाषा, आदि के प्रति हिंदीवाले अपने कर्तव्यों का अनुभव करने लगे। इतिहास के प्रेमी जानते हैं कि उस समय आए दिन हड़तालें होती थीं। असहयोग आंदोलन, सविनय अवज्ञा आंदोलन और असेंबलियों के चुनाव, व्यक्तिगत सत्याग्रह, आदि ने देश के प्रत्येक अंग पर अपना प्रभाव डाला था। उस समय केवल आलोचनासंबंधी पत्रों में 'साहित्यसंदेश' का ही नाम उल्लेखनीय है। यों और भी बहुत से साहित्यसंबंधी पत्रों का प्रकाशन हो रहा था जिनके द्वारा हिंदी आलोचना के उदय में पर्याप्त सहयोग मिल रहा था। इन पत्र-पत्रिकाओं ने बहुत से काम किए हैं जैसे नवीन लेखकों को प्रकाश में लाना, हिंदी आलोचना के प्रचार प्रसार के कार्य में सहयोग देना, समय समय पर उठनेवाले प्रश्नों पर विचारविनिमय का आयोजन, सत्साहित्य की व्याख्या और प्रचार

(रिव्यू) आदि। इस युग में पत्रों की समालोचनाओं में गंभीरता का उदय हुआ। हिंदी साहित्य के प्रचार प्रसार से इस युग में प्रकाशन को भी काफी बल मिला और पत्र पत्रिकाओं में टीका और व्याख्या की तरह की चीजें भी निकलीं। इन पत्रों में सदैव एक दो साहित्यविषयक लेख और निबंध का प्रकाशन अनिवार्य समझा जाने लगा। ऐसे निबंध 'सरस्वती', 'सुधा', 'त्यागभूमि', 'हंस', 'माधुरी', 'विशाल भारत', 'प्रताप' आदि की संचिकाओं में भरे पड़े हैं। हिंदी समालोचना के मूल्यांकन में इन निबंधों का बड़ा महत्व है। दुर्भाग्यवश इनमें से अधिकांश निबंध आज तक किसी संकलन में भी नहीं आ पाए हैं। कालेजों और स्कूलों में हिंदी साहित्य की पढ़ाई को विस्तार एवं प्रसार मिलने पर हिंदी समालोचना स्वतः विकसित होती चली गई। इस दृष्टि से भी बहुत सी पत्र पत्रिकाएँ महत्वपूर्ण हो गईं। अहिंदी प्रांतों में भी हिंदी का प्रचार होने के कारण विद्यार्थियों की संख्या बढ़ने लगी और परीक्षोपयोगी आलोचनात्मक लेख एवं पुस्तकें लिखी गईं। हिंदी में पाश्चात्य समालोचनापद्धति का प्रवेश होने के कारण 'कला के आदर्श' के बारे में व्याख्या होने लगी और साहित्यिक विद्वान् और लेखकों की प्रतिभा में एक प्रकार का अंतर्द्वंद्व दिखाई देने लगा। राजनीतिक विचारधारा से प्रभावित साहित्य में जब मनोविश्लेषणवादी विचारधारा का प्रवेश होने लगा तब साहित्यदर्शन की प्रवृत्तियों में भी परिवर्तन दिखाई देने लगा। अब साहित्य में मनुष्य की मनोवृत्तियों का विश्लेषण होने लगा और आधुनिक मनोविज्ञान के सिद्धांतों के अनुसार साहित्य की व्याख्याएँ होने लगीं। अतः कलाकृतियों की अपेक्षा कलाकार के व्यक्तित्व की समीक्षा भी आरंभ हुई और मनोवैज्ञानिक समीक्षा का आरंभ हुआ। आधुनिक आलोचना पर विचार करने से ऐसी धारणा होती है कि पिछले कुछ वर्षों में गवेषणा और उसके निष्कर्षों को प्रस्तुत करनेवाले लेखों का प्रचलन बहुत बढ़ गया है जिसके प्रकाशन तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में होते रहे हैं। बीसवीं सदी की अँगरेजी आलोचना और आधुनिक हिंदी आलोचना में कुछ बातों में पर्याप्त साम्य दिखाई देता है। वर्तमान सदी की अँगरेजी आलोचना मुख्यतः दो कोटि की है। अधिकतर आलोचक या तो विश्वविद्यालयों में पढ़ानेवाले प्राध्यापक हैं अथवा पत्र पत्रिकाओं में लिखनेवाले आलोचक या समीक्षक। यदि हम टी० एस० इलियट, आई० ए० रिचर्डस, मिडल्टनमरी प्रभृति दो चार मौलिक विचारकों को छोड़ दें तो अधिकतर अँगरेजी आलोचना या तो विश्वविद्यालयीय है अथवा पत्र पत्रिकाओं में छपनेवाली है। इसी प्रकार हिंदी में पं० रामचंद्र शुक्ल, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डा० नगेंद्र, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, डा० रामविलास शर्मा आदि को छोड़ दें तो अधिकतर समीक्षा पत्र पत्रिकाओं में छपनेवाली हैं। बहुत से प्राध्यापक तो केवल तथ्यों और

तिथियों को एकत्र करते रहते हैं किंतु उनमें जो विशिष्ट प्रतिभासंपन्न लोग हैं उनके कथन में सदा चमत्कार दिखाई देता है। तथ्यों से वे नवीन निष्कर्ष निकालते हैं और अपनी सारग्राहिणी प्रज्ञा द्वारा काव्य की अंतरात्मा को पहचान लेते हैं। समाचारपत्रों में छपनेवाली समीक्षाएँ अधिकांश ऐसी होती हैं जिनका महत्व अल्पकालीन होता है किंतु उच्चकोटि की साहित्यिक पत्रिकाओं में प्रकाशित होनेवाले अनेक लेखों का स्थायी महत्व रहता है। अँगरेजी आलोचना उन्नीसवीं सदी के आरंभ से ही पत्रिकाओं के सहारे विकसित हुई है और बड़े से बड़े आलोचकों ने अपने लेख पत्रिकाओं में प्रकाशित होने के लिये लिखे हैं। आलोच्य काल में आलोचना के उदय का यही एक सिंहावलोकन है।

चतुर्थ खंड

समालोचना साहित्य का विकास

लेखक

डा० शंभुनाथ सिंह

प्रथम अध्याय

भारतेंदुयुगीन आलोचना

आधुनिक विचारों की दृष्टि से भारत में आधुनिक युग का प्रारंभ सन् १८५० ई० के बाद से मानना चाहिए। भारत के लिये यह विविध प्रकार की हलचलों का युग था। इस युग में धार्मिक सुधार, सामाजिक परिवर्तन, वैज्ञानिक विकास, नवीन शिक्षा का विकास, सांस्कृतिक पुनरुत्थान, राजनीतिक संगठन और राष्ट्रीय जागृति के संबंध में जितनी भी क्रियाशीलता दिखलाई पड़ती है उन सबका एकमात्र और मूलभूत कारण आर्थिक संघर्ष है। इस युग का इतिहास पूँजीवादी ब्रिटिश साम्राज्यवाद के शोषण की क्रिया प्रतिक्रिया का इतिहास है। अँगरेजों की इसी नीति के फलस्वरूप एक ओर सामंतवाद और पुराणपंथी संस्कृति का ह्रास हो रहा था और दूसरी तरफ मध्यवर्गीय बौद्धिक, वैज्ञानिक और राष्ट्रीय संकृति का विकास हो रहा था। ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ इस युग में साथ साथ चलती हुई दिखलाई पड़ती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध दो संस्कृतियों के संपर्क तथा भारत पर विदेशी साम्राज्यवाद के प्रभुत्व का काल है। इस कारण इस युग में एक ओर तो सामंतवादी तथा पुराणपंथी लोग सांस्कृतिक यथास्थिति बनाए रखने के लिये प्रयत्नशील थे और दूसरी ओर ऐसे मध्यवर्ग का उदय हो रहा था जो वैज्ञानिक आविष्कारों तथा पाश्चात्य शिक्षा से लाभ उठाकर एक नई पूँजीवादी संस्कृति का विकास करना चाहता था। अपने इस प्रयत्न में उसे सामंतवाद और साथ ही साम्राज्यवाद का विरोध करने के लिये विवश होना पड़ा। यह संक्रांति धर्म, राजनीति और दर्शन के क्षेत्र में ही नहीं, साहित्य और कला के क्षेत्र में भी दिखलाई पड़ती है।

पाश्चात्य साहित्य और विचारधारा के संपर्क के कारण इस युग में जिस प्रकार की समीक्षा का प्रारंभ हुआ वह भारतीय साहित्य शास्त्र की सैद्धांतिक समीक्षा से बहुत भिन्न है। भारतीय साहित्यशास्त्र में किसी एक रचनाकार अथवा किसी एक ही रचना पर अलग से विचार करने की प्रणाली नहीं थी। परंतु उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिंदी आलोचना के क्षेत्र में जिस समीक्षापद्धति का उदय हुआ वह बहुत कुछ पाश्चात्य समीक्षा की व्यावहारिक पद्धति से प्रभावित है जिसमें किसी एक लेखक अथवा किसी एक कृति पर अलग से विचार किया जाता है। इस युग में आकर हिंदी साहित्य में गद्य की विधा का भी उद्भव और विकास हुआ जिससे हिंदी समीक्षा को विशेष बल मिला।

उन्नीसवीं शताब्दी में, भारतीय जनजीवन में जिस प्रकार नई विचारधारा के उद्भव के साथ पुरानी सामंतवादी संस्कृति भी जीती रही, उसी प्रकार हिंदी साहित्य में पाश्चात्य साहित्य की व्यावहारिक समालोचना के आविर्भाव के साथ-साथ रीतिसाहित्य की शास्त्रीय परंपरा भी चलती रही और कुछ ऐसे लेखक हुए जिन्होंने रीतिसाहित्य के विभिन्न संप्रदायों पर अनेक ग्रंथों की रचना की इनमें लछिराम के 'रामचंद्रभूषण' (१८६० ई०), 'रावणेश्वर कल्पतरु' (१८६० ई०); कविराज मुरारिदान के 'जसवंतभूषण' (१८६३ ई०); प्रतापनारायण सिंह के 'रस कुसुमाकर' (१८६४ ई०) आदि ग्रंथ उल्लेखनीय हैं। इन ग्रंथों के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि भारतेंदु युग में भी रीतिसाहित्य संबंधी कुछ ग्रंथों की रचना अवश्य हुई परंतु उनके द्वारा काव्य शास्त्र को कोई मौलिक देन नहीं दी गई। इन ग्रंथकारों ने भी अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के विवेचन और निरूपण का अनुकरण मात्र किया, कोई नई उद्भावना नहीं की।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है भारतेंदु युग साहित्य की अन्य विधाओं की तरह समीक्षा के भी आविर्भाव का काल है। भारतेंदु ने इस क्षेत्र में यद्यपि बहुत कम काम किया फिर भी उनके कुछ निबंधों और पत्रिकाओं में प्रकाशित टिप्पणियों का स्वर समीक्षात्मक है। उन्होंने समीक्षा के रूप में जो कुछ भी दिया उसका अपना ऐतिहासिक महत्त्व है। आधुनिक हिंदी साहित्य के भीतर वास्तविक समीक्षा का सूत्रपात बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' द्वारा हुआ। इनके द्वारा की गई लाला श्रीनिवासदास प्रणीत 'संयोगिता स्वयंवर' की समीक्षा ही आधुनिक समीक्षा का प्रारंभिक रूप है। यद्यपि यह समीक्षा भी पुस्तक परिचय प्रणाली में हुई है फिर भी इसमें समीक्षा के तत्व अधिक मात्रा में पाए जाते हैं। हिंदी साहित्य का इतिहास लिखनेवाले लगभग सभी विद्वानों ने हिंदी आलोचना का सूत्रपात प्रेमघन की 'संयोगिता स्वयंवर की आलोचना' से ही माना है। भारतेंदु युग के समीक्षकों में बालकृष्ण भट्ट का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'हिंदी प्रदीप' में प्रकाशित उनके कुछ निबंधों और टिप्पणियों का हिंदी समीक्षा के विकास में अपना अलग महत्त्व है। उनके कुछ लेखों में तुलनात्मक समीक्षा की प्रवृत्ति भी दिखलाई पड़ती है। इनके अतिरिक्त गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, बालमुकुंद गुप्त और अंबिकादत्त 'व्यास' का भी तत्कालीन समीक्षकों में विशेष महत्त्व रहा है।

इस युग की समीक्षा को देखने से यह पता चलता है कि वह पुस्तक और लेखक परिचय तक ही सीमित थी। किसी ग्रंथ की समीक्षा करते समय समीक्षकों ने ग्रंथकर्ता की अंतःप्रवृत्तियों का विवेचन एवं विश्लेषण नहीं किया। इस युग में आधुनिक समालोचना के समुचित रूप से विकसित न होने का प्रधान कारण यह है कि यह काल भारतीय इतिहास में संक्रमण का काल है। हिंदी गद्यसाहित्य का

निर्माण अभी हो रहा था। उस समय रचनात्मक साहित्य की सर्वप्रथम आवश्यकता थी। रचनात्मक साहित्य के अनुरूप ही समीक्षा का निर्माण होता है। पहले लक्ष्य ग्रंथ बनते हैं तभी लक्षण ग्रंथ बनते हैं तभी लक्षण ग्रंथ भी प्रस्तुत किए जाते हैं। यही कारण है कि भारतेंदुमंडल के लेखकों ने जितना ध्यान रचनात्मक साहित्य की ओर दिया उतना समीक्षा की ओर नहीं। फिर भी हिंदी समालोचना के प्रारंभ और रूपनिर्माण में उनकी देन महत्वपूर्ण है। इस युग के समीक्षक पाश्चात्य साहित्य की व्यावहारिक समीक्षा से अत्यधिक प्रभावित थे और धीरे धीरे हिंदी में भी उसी के रूप का विकास करना चाहते थे। भारतीय साहित्य शास्त्र की सैद्धांतिक समीक्षा की ओर उनका ध्यान नहीं था, यद्यपि उन्होंने भारतीय साहित्य शास्त्र के सिद्धांतों को एकदम ही नहीं भुला दिया। भारतेंदु के 'नाटक' शीर्षक निबंध में भारतीय और पाश्चात्य दोनों नाट्य सिद्धांतों की दृष्टि से विचार किया गया है। इस काल में यद्यपि समीक्षा का कोई आदर्श प्रतिमान नहीं उपस्थित किया जा सका फिर भी आधुनिक युग में समीक्षा का जो स्वरूप दिखाई पड़ता है, उसका बीज इसी काल में पड़ा था।

द्विवेदीयुगीन आलोचना

भारतेंदु युग में हिंदी-समीक्षा की जो स्थिति थी द्विवेदी युग में आकर उसमें बहुत कुछ परिवर्तन एवं विकास हुआ। यद्यपि द्विवेदी युग में हिंदी समीक्षा को वह प्रौढ़ता और व्यापकता नहीं मिल सकी जो उसे आचार्य रामचंद्र शुक्ल के समय में मिली, फिर भी यह निर्विवाद सत्य है कि इस युग ने उसके लिये एक सुदृढ़ पृष्ठभूमि तैयार की। इस युग की समीक्षा में जितनी प्रवृत्तियाँ काम कर रही थीं उनमें से लगभग सभी आचार्य शुक्ल और उनके बाद की समीक्षा में कुछ परिवर्तित, कुछ विकसित एवं कुछ परिष्कृत रूप में दिखलाई पड़ती हैं। इस युग में संस्कृत कवियों के साथ हिंदी के सूर, तुलसी, केशव, बिहारी, देव, भूषण, मतिराम आदि कवियों के काव्यसौंदर्य पर बड़े ही प्रभावपूर्ण एवं तुलनात्मक ढंग से विचार किया गया। इस प्रकार के समीक्षकों में प्रमुख हैं— महावीरप्रसाद द्विवेदी, मिश्रबंधु, पद्मसिंह शर्मा, कृष्णबिहारी मिश्र और लाला भगवानदीन।

द्विवेदी युग में तुलनात्मक समीक्षा का भी सूत्रपात हुआ जिसका बहुत कुछ श्रेय पद्मसिंह शर्मा को है। शर्मा जी ने बिहारी पर पुस्तक लिखी जिसमें उन्होंने हिंदी के अन्य कवियों के मिलते जुलते पद्यों को बिहारी के पद्यों के परिपार्श्व में रखकर उनकी तुलना की और साथ ही देव के समर्थकों द्वारा बिहारी पर किए गए आक्षेपों का उत्तर देते हुए बिहारी को श्रेष्ठ सिद्ध किया। उनकी इस आलोचना

का परिणाम यह हुआ कि हिंदीसमीक्षा के क्षेत्र में देव और बिहारी को लेकर एक अच्छा खासा विवाद खड़ा हो गया। सन् १९२० के आसपास कृष्णबिहारी मिश्र की 'देव और बिहारी' नामक पुस्तक तथा लाला भगवानदीन के 'बिहारी और देव' से संबंधित लेख इसी के परिणामस्वरूप प्रकाशित हुए। इस विवाद में समीक्षकों का ध्यान इन कवियों के काव्य के मार्मिक पक्ष के उद्घाटन की ओर कम और अपने दृष्टिकोण के अनुरूप एक दूसरे को बढ़ाचढ़ाकर श्रेष्ठ सिद्ध करने की ओर अधिक था। अगर इस युग के समीक्षकों ने तुलनात्मक समीक्षा की इस पद्धति को सही दिशा की ओर मोड़ा होता तो निश्चय ही यह हिंदी समीक्षा के लिए बड़े महत्व की बात हुई होती। इस युग के कुछ विद्वानों द्वारा की गई हिंदी के प्राचीन कवियों के ग्रंथों की टीकाएँ और उनकी भूमिकाएँ भी इस युग की समीक्षा का महत्वपूर्ण अंग हैं। जिन कवियों की टीकाएँ की गईं उनमें तुलसी, सूर, केशव, बिहारी, भूषण और मतिराम प्रमुख हैं। इन टीका ग्रंथों की की अपनी एक पद्धति होती थी जिसके अनुकूल ये प्रस्तुत किए जाते थे। उनमें टीकाकार जिस कवि की टीका करने बैठते उसको श्रेष्ठ सिद्ध करना उनका प्रमुख लक्ष्य होता और इसके लिये वे हर संभव साहित्यिक उपाय करते। इन टीका ग्रंथों की भूमिकाएँ हिंदी समीक्षा के विकास में महत्वपूर्ण योग देती हैं।

इस युग की प्रमुख साहित्यिक संस्थाओं तथा पत्रिकाओं ने हिंदी साहित्य के कुछ प्राचीन कवियों के संबंध में जो शोधपूर्ण कार्य किए उनसे भी इस युग की समीक्षा को विशेष शक्ति मिली। इस क्षेत्र में काशी की प्रसिद्ध साहित्यिक संस्था नागरीप्रचारिणी सभा और उसकी नागरीप्रचारिणी पत्रिका का कार्य महत्वपूर्ण एवं स्थायी है। सन् १९१३ ई० में निकलनेवाला मिश्रबंधुओं का 'मिश्रबंधु विनोद' भी इसी शोधप्रणाली के अंतर्गत आता है। यद्यपि यह ग्रंथ शुक्ल जी के शब्दों में केवल 'कवि-वृत्त-संग्रह' मात्र है और इसके काल-विभाजन का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है, फिर भी इसमें पहली बार साहित्य का इतिहास लिखने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। अतः इसके ऐतिहासिक महत्व को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता।

समीक्षा के इस व्यावहारिक पक्ष के साथ साथ इसके सैद्धांतिक पक्ष पर भी द्विवेदी युग में थोड़ा बहुत विचार होता रहा। भारतेंदु युग में लिखे गए काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में प्राचीन परंपरा का ही अनुकरण किया गया है, परंतु द्विवेदी युग में संस्कृत की पांडित्यपूर्ण शैली के अतिरिक्त आधुनिक युग की व्याख्यात्मक पद्धति का भी आश्रय लिया गया है। समीक्षा के इस पक्ष पर विचार करनेवालों में महावीरप्रसाद द्विवेदी, मिश्रबंधु, लाला भगवानदीन, कन्हैयालाल पोद्दार, अर्जुनदास केडिया आदि प्रमुख हैं। यद्यपि इन लोगों

ने भी काव्यशास्त्र पर विचार करते समय संस्कृत के अलंकार ग्रंथों का ही विशेष आधार लिया है लेकिन उनके विवेचन में कहीं कहीं समन्वयवादी दृष्टिकोण की झलक भी मिल जाती है। इस युग की सैद्धांतिक समीक्षा में एक विशेष बात यह है कि इसमें नाटक, कहानी, उपन्यास, निबंध और समालोचना आदि गद्य की नवीन विधाओं पर भी विचार किया गया है।

द्विवेदी युग की समीक्षा को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उस युग की समीक्षा में उतनी प्रौढ़ता और परिपक्वता नहीं आ सकी थी। उस युग के समीक्षकों ने किसी एक ही कवि और उसके काव्य को लेकर समीक्षा करने का प्रयास तो अवश्य किया परंतु अपने इस समीक्षण में वे निष्पक्ष दृष्टिकोण नहीं अपना सके। उनमें प्रभावाभिव्यंजकता और पूर्वग्रह की मात्रा अधिक है, काव्य-विषयक मार्मिक पक्षों के उद्‌घाटन का प्रयत्न कम। किन्हीं दो कवियों की तुलना करते समय अपने पक्ष के कवि के दोषों की ओर उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया। समीक्षा के अंतर्गत गुण और दोष दोनों के देखने की जो एक निष्पक्ष और संतुलित दृष्टि होती है उसका इस युग की समीक्षा में अभाव है। फिर भी हिंदी समीक्षा के विकास में द्विवेदीयुगीन समीक्षा का महत्वपूर्ण योग है। द्विवेदी युग के उत्तरार्ध में ही आचार्य श्यामसुंदर दास और आचार्य रामचंद्र शुक्ल जैसे समर्थ आलोचकों की समालोचनाओं का भी आरंभ हो जाता है जिनसे आगे चलकर हिंदी समीक्षा विशेष शक्तिशाली और समर्थ हो सकी।

———

द्वितीय अध्याय

आधुनिक आलोचना का उदय

आधुनिक हिंदी आलोचना की पूर्व पीठिका के रूप में अबतक परंपराप्राप्त भारतीय काव्यशास्त्र तथा हिंदी रीतिशास्त्र के विवेचन के साथ आधुनिक काल के भारतेंदु और द्विवेदी युगों में हिंदी आलोचना की प्रगति का विवेचन किया गया है। इस विवेचना से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आधुनिक आलोचना का सूत्रपात तो द्विवेदी युग में हो गया था पर अभी तक उसमें आधुनिकता की समस्त प्रवृत्तियों का समावेश नहीं हो सका था। वस्तुतः द्विवेदी युग तक की हिंदी आलोचना मुख्यतः रूढ़िवादी (कॉनवेंशनल) ही थी। आधुनिक सैद्धांतिक आलोचना का तो अभी प्रारंभ ही नहीं हुआ था, कवियों और लेखकों की विशेषताओं और युगीन प्रवृत्तियों का अन्वेषण और विवेचन करनेवाली गंभीर आलोचना का भी अब तक अभाव ही था। यह कार्य द्विवेदी युग के बाद के बीस वर्षों में हुआ। काव्य की दृष्टि से इसे छायावाद युग, आलोचना की दृष्टि से शुक्ल युग और कथा साहित्य की दृष्टि से प्रेमचंद युग कहा जाता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसे हिंदी साहित्य के इतिहास का तृतीय उत्थान काल (सं० १९७५ से सं० १९९५) कहा है। यही हमारा प्रकृत आलोच्य काल है। आधुनिक आलोचना का उदय और विकास इसी काल में क्यों हुआ, इसके पहले क्यों नहीं हुआ, इस संबंध में यहाँ थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक है।

(क) सामाजिक परिपार्श्व

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस तृतीय उत्थान के सामान्य परिचय में इस बात पर बड़ी खीझ प्रकट कि है कि इस काल में हिंदी साहित्य पर पाश्चात्य साहित्य का अनपेक्षित प्रभाव पड़ा और पाश्चात्य साहित्य की प्रवृत्तियों और दृष्टिकोण का अंध अनुकरण भी हुआ[1]। प्रभाव ग्रहण करना और अनुकरण करना भी तभी संभव होता है जब सामाजिक परिस्थितियाँ उसके अनुकूल रहती हैं। पाश्चात्य देशों से भारत का व्यापारिक और सांस्कृतिक संबंध तो बहुत पहले से

[1] रामचंद्र शुक्ल—हिंदी साहित्य का इतिहास—पृ० ४८६, ४९० ग्यारहवाँ संस्करण।

चला आ रहा था पर प्राचीन काल में तो पाश्चात्यों ने ही भारतीय कथा साहित्य, दर्शन आदि की बहुत सी बातें ग्रहण की थीं, भारतीयों ने उनसे बहुत कम लिया था। वस्तुतः जातीय संस्कृतियों के उत्थानपतन के कारण सांस्कृतिक और कलात्मक प्रयत्नों का भी विकास और ह्रास होता रहता है और प्रगतिशील और विकासमान संस्कृतियाँ रूढ़िवादी तथा ह्रासशील संस्कृतियों को सदा प्रभावित करती रहती हैं। यूरोपीय देशों ने उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक विज्ञान और उद्योग में ही नहीं, साहित्य और कला में भी अत्यधिक उन्नति कर ली थी। इसके विपरीत अँगरेजी राज्य में भारत के उद्योगधंधों के साथ साथ उत्तरोत्तर उसका सांस्कृतिक ह्रास भी होता गया। सोलहवीं शताब्दी तक भारतीय उद्योगधंधे अपनी उन्नति के चरम शिखर पर थे पर अँगरेजों ने अपना राज्य स्थापित करने के साथ उन्हें भी नष्ट करना प्रारंभ किया। इस तरह उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक भारत एक निर्धन देश हो गया साथ ही उसका सांस्कृतिक और साहित्यिक विकास भी अवरुद्ध हो गया। आर्थिक और राजनीतिक ह्रास का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि भारत की धार्मिक और सांस्कृतिक शक्ति विघटित हो गई, रूढ़िवादिता बढ़ गई, यहाँ तक कि प्राचीन भारतीय संस्कृति और साहित्य के उदार, उदात्त और गतिशील स्वरूप को भी भारतीय जनता ने बहुत कुछ विस्मृत कर दिया।

इस राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पतन का प्रतिफलन भारतीय लोकभाषाओं के सतरहवीं और अठारहवीं शताब्दी के साहित्य में रीतिबद्धता, शृंगारिकता और चाटुकारिता की प्रवृत्तियों के रूप में दिखाई पड़ता है। अँगरेजों ने अपने देश में तो औद्योगिक क्रांति करके सामंतवाद को नष्ट किया किंतु भारत में उन्होंने उसे प्रश्रय दिया। इस काल के राजा और सामंत भी ह्रासोन्मुख और प्रतिगामी प्रवृत्तियों के पोषक थे और वे ही साहित्य और कला के आश्रयदाता भी थे। मुगलकाल का विकासमान मध्यवर्ग अँगरेजी राज्य की नीति के फलस्वरूप समाप्तप्राय हो गया था। अतः साहित्य और कला का मध्यवर्ग से हटकर सामंतों के आश्रय में चला जाना स्वाभाविक ही था। परिणामस्वरूप इस काल के साहित्य और कला में ह्रासोन्मुख सामंत वर्ग की सभी प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं किंतु यह स्थिति बहुत दिनों तक नहीं रह सकी। सन् १८५७ ई० की राजनीतिक क्रांति, विक्टोरिया की सन् १८५८ ई० की घोषणा, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना तथा विभिन्न सामाजिक और धार्मिक सुधार के आंदोलनों के कारण उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक देश में एक नई चेतना की लहर दौड़ने लगी। इन राजनीतिक और सामाजिक हलचलों के मूल में भी आर्थिक कारण ही वर्तमान थे। अँगरेजों ने उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से अपने

लाभ के लिये ही सही, देश में उद्योगधंधों का प्रारंभ कर दिया था जिससे नए औद्योगिक नगरों, नवीन श्रमजीवी वर्ग और व्यापारी मध्यवर्ग का उदय और विकास हुआ। दूसरी ओर अँगरेजों की आर्थिक शोषण की गति भी तीव्रतर होती गई। फलतः उनके ऊपर से भारतीयों का विश्वास उठने लगा। उन्नीसवीं शताब्दी में जो तरह तरह की धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक हलचलें दिखाई पड़ती हैं वे अँगरेजों के प्रति भारतीयों के इसी असंतोष और विद्रोह की भावना को व्यक्त करती हैं। भारतीय साहित्य के आधुनिक काल का प्रारंभ इन्हीं परिस्थितियों में हुआ।

हिंदी साहित्य का आधुनिक युग उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से प्रारंभ होता है। इस युग के प्रारंभ के पचास वर्षों का काल संक्रांति का काल था जिसमें एक ओर तो सामंती रूढ़िवादी विचारधारा पूर्ववत् पर मंद गति से बहती जा रही थी; दूसरी ओर नई मध्यवर्गीय राष्ट्रीय और आधुनिकतापरक विचारधारा भी प्रारंभ हो गई थी। आधुनिक विचारों के प्रारंभ का कारण देश की परिस्थितियों के ज्ञान के साथ पाश्चात्य साहित्य, राजनीति और विज्ञान आदि विषयों का परिचय और अध्ययन भी था। यह युग दो विरोधी विचारधाराओं के संघर्ष तथा दो विजातीय और असमान संस्कृतियों के संपर्क का काल था। इसका परिणाम यह हुआ कि पुराने विचारों का स्थान धीरे धीरे नए विचार ग्रहण करने लगे अथवा पुराना ही नया बनाकर उपस्थित किया जाने लगा। देश के पुनरुत्थान की भावना का जन्म इसी काल में हुआ था जो बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों में अधिक स्पष्ट और शक्तिशाली रूप में सामने आई। अतः इन दो दशकों को जिन्हें हिंदी साहित्य के इतिहास में द्विवेदी युग कहा गया है, पुनरुत्थान युग भी कह सकते हैं।

आचार विचार संक्रामक होते हैं। विजेता जाति की संस्कृति का विजित जाति अनुकरण भी करती है पर अनुकरण को संस्कृति का सहज विकास नहीं कहा जा सकता। सहज विकास का कारण तो भौतिक परिस्थितियाँ होती हैं। किसी जाति की संस्कृति को दूसरी जाति तभी ग्रहण कर सकती है जब उनकी भौतिक परिस्थितियों में समानता हो। पाश्चात्य संस्कृति का अनुकरण भारत में पर्याप्त मात्रा में हुआ पर वह उन्नीसवीं शताब्दी में नैतिक पतन का कारण बना, सांस्कृतिक विकास का नहीं। जब इस पतन का ज्ञान हुआ तो उसकी प्रतिक्रिया के रूप में पुनरावर्तन की प्रवृत्ति भी बढ़ी किंतु अतीत का पुनरावर्तन न तो संभव है और न श्रेयस्कर। वह तो एक झूठा आदर्शवाद है जो समाज की प्रगति में बाधा उत्पन्न करनेवाला होता है। इसी कारण उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में भारत में पुनरावर्तन की प्रवृत्ति

के साथ साथ पाश्चात्य और भारतीय संस्कृतियों के सामंजस्य की प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती है। संक्रांति युग के भारतेंदु तथा अन्य कवि पाश्चात्य कला, शिक्षा और उद्योगधंधों के अपनाने के पक्षपाती थे। साहित्य में भी उन्होंने पश्चिम की बहुत सी शैलियों को अपनाया। निबंध, उपन्यास, पत्रकारिता, जीवनी, लघुकथा आदि का प्रारंभ उसी सामंजस्य बुद्धि का परिणाम था। यह प्रवृत्ति पुनरुत्थान युग (द्विवेदी युग) में और भी बढ़ी क्योंकि जिन परिस्थितियों के बीच पाश्चात्य साहित्य का विकास हुआ था या हो रहा था वे भारत में भी उत्पन्न हो रही थीं। भारतेंदु युग में साहित्य की जिन जिन प्रवृत्तियों का उदय हुआ था, द्विवेदी युग में उन सबका और भी विकास एवं परिष्कार हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में औद्योगिक विकास उतना नहीं हुआ था, अतः संक्रांति काल में हिंदी की रीतिकालीन कविता के विरुद्ध जो विद्रोह दिखाई पड़ा वह बहुत कुछ सीमित था।

इस संबंध में एक बात और उल्लेखनीय है जिसका प्रभाव पुनरुत्थान युग की कविता पर तो कम, लेकिन छायावाद युग की कविता पर अधिक पड़ा है। औद्योगिक विकास के साथ ही उद्योगधंधों का विकेंद्रीकरण होता गया और अँगरेजी सरकार की नीति के कारण नगर ही ग्रामों की आवश्यकता पूर्ति के केंद्र बनते गए। शहरों की आबादी बढ़ती गई और साथ ही वहाँ मध्यवर्गीय व्यक्तिवाद भी बढ़ता गया। दूसरी तरफ गाँवों के सामूहिक जीवन का ह्रास भी जारी रहा। गाँवों में शादी ब्याह, जन्म मरण, उत्सव त्यौहार सब में सामूहिक क्रियाशीलता दिखाई पड़ती है। नगरों में घने बसे मुहल्लों में भी सभी लोग अलग अलग जीवन यापन करते हैं, जैसे सबका जीवन एक दूसरे से असंबद्ध हो। पारस्परिक प्रतियोगिता और एकाकीपन ही पूँजीवादी नागरिकता की विशेषता है। उसमें एक ओर तो सामंतवादी बंधनों को तोड़ने के लिये व्यक्तिवाद आवश्यक है, परंतु दूसरी ओर वह सामान्य मानव को पूँजी का गुलाम बना देने का एक अस्त्र भी है। यही पूँजीवाद का अंतर्विरोध है। सन् १६०० ई० के बाद भारत में भी नागरिक जीवन और व्यक्तिवाद की वृद्धि हुई। ऐसी परिस्थिति में यूरोपीय साहित्य का, जिसमें औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप व्यक्तिवाद का प्राधान्य था, भारतीय साहित्य पर प्रभाव पड़ना जरूरी था। भारत के जिन भागों में अँगरेज पहले आए वहाँ औद्योगिक विकास पहले हुआ और पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव भी उन्हीं प्रांतों के साहित्य पर पहले दिखाई पड़ा। हिंदी पर यह प्रभाव कुछ तो सीधे अँगरेजी, किंतु अधिकतर बँगला और मराठी के माध्यम से पड़ा।

पूँजीवादी वर्ग सामंतवाद को मिटाने के लिये क्रांतिकारी रूप में सामने आता है और समाज को प्रगतिशील बनाता है। उसी तरह पूँजीवादी साहित्य

भी प्रारंभ में क्रांतिकारी होता है अर्थात् वह सामंती साहित्य के विरुद्ध विद्रोह करता है। हिंदी की रीतिकालीन कविता के विरुद्ध उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जो सीमित विद्रोह दिखलाई पड़ा उसका कारण भी यही था कि वह एक सीमा तक औद्योगिक विकास के कारण उत्पन्न नए मध्यम वर्ग का साहित्य था। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में औद्योगिक विकास कुछ अधिक हुआ। इसलिये इस काल में सामंती साहित्य के विरुद्ध होनेवाला विद्रोह भी अधिक दिखाई पड़ता है। भारत में आधुनिक साहित्य का विकास उस तरह सीधे ढंग से नहीं हुआ जैसे यूरोप में हुआ था। यूरोप में आधुनिक साहित्य का प्रारंभ पंद्रहवीं शताब्दी में हुआ पर अठारहवीं शताब्दी में औद्योगिक क्रांति के बाद ही वह अपने क्रांतिकारी रूप को प्राप्त कर सका। पुनरुत्थान के बाद से यूरोप में जो सांस्कृतिक परिवर्तन हुए उनके मूल में वहीं होनेवाले आर्थिक परिवर्तन थे। हमारे देश में ठीक इसकी उल्टी बात हुई। भक्तिकाल में पुनरुत्थान की जो लहर उठी थी वह तत्कालीन आर्थिक स्थिति की सुदृढ़ता और सांस्कृतिक अंतरावलंबन के कारण थी। बाद में अँगरेजों के साम्राज्यवादी और आर्थिक आक्रमण के कारण पुनरुत्थान की प्रवृत्ति दब गई और ह्रासोन्मुख सामंतवादी संस्कृति का प्रभाव कविता पर पड़ा। सन् १८५७ ई० के बाद फिर नई परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं जिनके कारण राष्ट्रीयता और पुनरुत्थान का नए ढंग से प्रारंभ हुआ। यहीं से साहित्य में आधुनिकता की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ने लगी जो उत्तरोत्तर बढ़ती गई। प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक यह प्रवृत्ति पुनरावर्तन और समझौते की प्रवृत्तियों से मिलीजुली थी। किंतु महायुद्ध के बीच और उसके बाद भारत की आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए जिनके कारण आधुनिक हिंदी साहित्य संक्रांति और पुनरुत्थान युगों के बाद अपने विकास की तीसरी मंजिल पर पहुँचकर पूरा विद्रोही हो गया। साम्राज्यवाद और सामंतवाद के विरुद्ध यह उच्च मध्यवर्ग और निम्न मध्यवर्ग का संमिलित विद्रोह था जो साहित्य में भी विविध रूपों में दिखलाई पड़ा। इस प्रकार सन् १६०० ई० के बाद भारतीय समाज की आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियाँ प्रायः वैसी ही थीं जैसी इंग्लैंड में अठारहवीं शताब्दी के अंत में स्वच्छंदतावादी नवजागरण (रोमांटिक रिवाइवल) के समय थीं। अतः हिंदी ही नहीं, सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य में इस काल में स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों की लहर दिखलाई पड़ती है।

पहले कहा जा चुका है कि औद्योगीकरण के कारण भारत में एक नवीन मध्यवर्ग का उदय हुआ जिसमें विद्रोह की भावना अधिक थी। अँगरेजों ने भारत में अपने राज्य को सुदृढ़ बनाने के लिये अँगरेजी शिक्षापद्धति का प्रारंभ किया था तथा इस तरह शिक्षित भारतीयों को नौकरियाँ देकर उन्हें

सदा के लिये गुलाम बना देना चाहते थे। किंतु इसका उलटा परिणाम यह हुआ कि इन्हीं शिक्षित लोगों में से एक ऐसे मध्यवर्ग का उदय हुआ जो अपनी संस्कृति और राष्ट्रीयता का प्रेमी था। अँगरेजी शिक्षा का अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि देश में पाश्चात्य साहित्य, विज्ञान एवं संस्कृति के संपर्क के कारण एक नवीन वैज्ञानिक बुद्धिवादी दृष्टिकोण का प्रसार हुआ। फलतः देश में अंधविश्वासों और रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह के साथ साथ जीवन के सभी क्षेत्रों में लोकतांत्रिक दृष्टिकोण का प्रचार हुआ जिसके आधार थे। बंधुत्व, समानता और स्वतंत्रता। राजनीति में यह विचारधारा गांधीवाद के रूप में तथा साहित्य में स्वच्छंदतावाद (रोमांटिसिज्म) के रूप में दिखलाई पड़ी। धर्म का स्थान इस युग में अध्यात्मवाद और आदर्शवाद ने ले लिया और पुनरुत्थान और सुधारवाद की प्रवृत्तियों ने सामंजस्यवाद का रूप ग्रहण किया। प्रथम महायुद्ध ने भी भारतीय मानस को अनेक रूपों में प्रभावित किया। १९१४ ई० के पहले भारत को संसार के अन्य देशों के बारे उतनी अधिक जानकारी नहीं थी। यूरोप में एक नवीन वैज्ञानिक और यांत्रिक सभ्यता का चरम विकास हो रहा है यह तो भारतीय जान गए थे, किंतु उसका परिणाम कैसा होगा इसका परिचय उन्हें महायुद्ध से ही मिला। इसके पहले ही १९०४ ई० के रूस-जापान-युद्ध में जापान की विजय से एशिया की हीनता की मनोवृत्ति समाप्त हो चली थी और उसका प्रभाव भारत पर भी पड़ा था। पश्चिम के अनुकरण से जापान ने यह शक्ति अर्जित की थी, यह बात भी स्पष्ट हो गई थी। किंतु पश्चिम की सभ्यता की बाह्य चकाचौंध के भीतर क्या छिपा हुआ है, यह बात भी इस महायुद्ध ने ही स्पष्ट की। युद्ध में भारतीय सैनिक काफी संख्या में विदेश भेजे गए थे, समाचारपत्रों में युद्ध के समाचार भरे रहते थे; अनेक युद्धों में भारतीय सैनिकों ने विजय प्राप्तकर यूरोपीय सैन्यशक्ति पर अपनी श्रेष्ठता स्थापित की थी। इन सब बातों से भारतीय जनता का दृष्टिकोण बहुत व्यापक, उनकी अंतर्राष्ट्रीय भावना अधिक विस्तृत और राष्ट्रीय गौरव की भावना अधिक तीव्र हो गई। इस युद्ध ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि आज के इस वैज्ञानिक युग में जब कि जहाज, रेल, वायुयान, रेडियो आदि ने देशों की भौगोलिक दूरी कम करके उनकी सीमाएँ तोड़ दी हैं, भारत भी इस विशाल विश्व का एक अंग बन गया है और संसार की प्रत्येक घटना का उसके लिये भी उसी तरह का महत्व है जैसे अन्य देशों के लिये। इस युद्धकाल के भीतर ही रूस में समाजवादी क्रांति हुई। इसका प्रभाव भी भारतीय बुद्धिजीवियों पर पड़ा और देश में साम्राज्यविरोधी राष्ट्रीय आंदोलन के साथ साथ समाजवादी विचारधारा का भी तीव्र गति से प्रचार होने लगा। चीन में भी सनयातसेन ने रूस की सहायता से क्रांति कर दी थी, उधर विश्वभर के समाजवादियों का संगठन 'तृतीय अंतर्राष्ट्रीय संघ' सभी देशों में श्रमजीवी क्रांति करने के लिये प्रयत्नशील था जिससे हर देश में पूँजीपतियों और

श्रमजीवियों के बीच संघर्ष होने लगे। इन सब विश्वव्यापी घटनाओं और हलचलों का व्यक्त अव्यक्त प्रभाव भारत पर भी पड़ रहा था; फलतः भारतीय जनता संसार के विविध आंदोलनों के परिचय के कारण अधिक साहस और आत्मविश्वास से युक्त हो गई।

(ख) हिंदी साहित्य की तत्कालीन अंतर्धाराएँ

उपर्युक्त सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के कारण द्वितीय महायुद्ध के बाद हिंदी साहित्य में अनेक प्रकार की नवीन प्रवृत्तियों और नवीन साहित्यिक विधाओं का जन्म हुआ। हिंदी गद्य का प्रारंभ तो भारतेंदु युग में ही हो गया था पर उसका प्रतिमानीकरण और उसमें नवीन शैलियों की उद्भावना इसी काल में हुई। कविता के क्षेत्र में भी इस काल में ऐसी प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ीं जो हिंदी साहित्य के लिये बिलकुल नई थीं। साहित्य की इन नवीन प्रवृत्तियों को देखकर ही आलोचकों और विचारकों ने इस युग को नया युग और आधुनिक साहित्य को नवयुग का साहित्य या नया साहित्य कहना शुरू कर दिया।[1] इस नवीनता या आधुनिकता की पहली शर्त थी प्राचीन गतानुगतिक रूढ़ियों और नए युग के लिये अनुपयुक्त सिद्धांतों का निर्मम विरोध और त्याग। इस निषेधात्मक प्रवृत्ति के साथ साथ उसकी दूसरी विधेयात्मक या रचनात्मक प्रवृत्ति थी समस्त विश्व की उपयोगी चिंतनधाराओं का स्वीकरण और उनके साथ भारतीय चिंतन-धारा का सामंजस्य। इन दोनों परस्परपूरक प्रवृत्तियों का परिणाम यह हुआ कि हिंदी साहित्य एक नवीन उत्साह और विकास की तीव्र आकांक्षा और आवेग से भर उठा। प्राचीन सामंती आदर्शों तथा शास्त्रीय नियमों से आबद्ध साहित्यिक रूपों की चिराचरित को छोड़कर सहसा हमारा साहित्य विश्व साहित्य के साथ

[1] (क) 'बहुत कम दिन पहले ही हमारे साहित्यिकों को नवयुग की हवा लगी है। जिस दिन कवि ने परिपाटीविहीन रसज्ञता और रूढ़िसमर्थित काव्यकला को साथ ही चुनौती दी थी, उस दिन को साहित्यिक क्रांति का दिन समझना चाहिए।'—हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ० १३२।

(ख) 'छायावाद की इस धारा के आने के साथ ही साथ अनेक लेखक नवयुग के प्रतिनिधि बनकर योरप के साहित्य क्षेत्र में प्रवर्तित काव्य और कला संबंधी अनेक नए पुराने सिद्धांत सामने लाने लगे।'—रामचंद्र शुक्ल—हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ६०१।

(ग) 'नया साहित्य : नये प्रश्न' आधुनिक साहित्य संबंधी मेरे अध्ययन की पाँचवीं पुस्तक है।'—नंददुलारे वाजपेयी—नया साहित्य : नये प्रश्न, निवेदन, पृ० १, सन् १९५५।

कदम से कदम मिलाकर चलने लगा। प्राचीन परंपरावादी विचारवाले लोगों को यह पश्चिम का अंधानुकरण मालूम पड़ा पर विवेकशील भारतीयों ने इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया। रवींद्रनाथ ठाकुर ने जो स्वयं इस सामंजस्यवादी विचारधारा के प्रवर्तक थे, इस संबंध में लिखा है—'यूरोपीय साहित्य और दर्शन मन को सहलाते नहीं, उसपर आघात करते हैं। यूरोपीय सभ्यता को अमृत, विष या मदिरा चाहे जो समझा जाय, उसका धर्म ही उत्तेजित करना, मन को स्थिर न रहने देना है। इस अँगरेजी सभ्यता के संपर्क से ही हमारे देश के सभी व्यक्ति किसी एक दिशा में चलने और औरों को भी उसी पर अग्रसर करने के लिये छटपटा उठे हैं।' इससे स्पष्ट है कि हिंदी साहित्य में बीसवीं शताब्दी के आरंभिक पच्चीस वर्षों में जो गतिशीलता दिखाई पड़ी वह अँगरेजी शिक्षा अथवा यूरोपीय साहित्य और संस्कृति के संपर्क के कारण ही उत्पन्न हुई, पर साथ ही यह भी स्मरणीय है कि देश की तत्कालीन आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों ने ही उस गतिशीलता के लिये भूमिका प्रस्तुत की थी। किसी जीवित जाति के संस्पर्श में आने से ही कुछ नहीं होता, ग्रहण करनेवाली जाति में ग्रहण करने की क्षमता और आकांक्षा भी होनी चाहिए। तत्कालीन परिस्थितियों ने देश के लोगों में बाह्य प्रभाव ग्रहण करने की शक्ति और आकांक्षा उत्पन्न कर दी थी।

यदि तत्कालीन साहित्य की सभी विधाओं में पाई जानेवाली कुछ सामान्य प्रवृत्तियों की खोज की जाय तो उनमें सर्वप्रमुख दो प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं—स्वतंत्रता की भावना और विद्रोह की प्रवृत्ति। ये ही प्रवृत्तियाँ छायावाद युग या विद्रोह युग के समूचे साहित्य में अनेक रूपों में भी अभिव्यक्त हुई हैं। उन्होंने कहीं तो स्वच्छंदतावाद का रूप ग्रहण किया है, कहीं यथार्थवाद का; कभी वे मानवतावाद और आध्यात्मिक आदर्शवाद (रहस्यवाद) के रूप में दिखाई पड़ती हैं तो कभी राष्ट्रीयता, देशभक्ति और सांस्कृतिक समन्वय संबंधी विचारों और आंदोलनों के रूप में अभिव्यक्त होती है; कहीं उसका माध्यम व्यक्तिवाद है तो कहीं समाजवाद या वर्गवाद। स्वतंत्रता की भावना सर्वप्रथम सामंती और दरबारी संस्कृति के बंधनों से मुक्ति के प्रयत्नों में दिखाई पड़ती है। भाषा, छंद, काव्य-विषय, कल्पना, सब में प्राचीन लकीरों को छोड़कर नए रास्ते अपनाए गए। रीतिकालीन प्रवृत्तियों के विरोध में पुनरुत्थान युग में जो स्थूल नीतिमत्ता से थोथी उपदेशात्मकता और नीरस वर्णनात्मकता का विधान हुआ था, उससे नए साहित्यकार के उन्मुक्त मन को संतोष नहीं हुआ। वह स्थूल शृंगार के बंधनों को तोड़कर उनकी जगह मर्यादावाद और बुद्धिवाद के नवीन बंधनों को स्वीकार करने को तैयार नहीं था क्योंकि उससे उसकी उन्मुक्त कल्पना और इच्छापूर्ति की स्वतंत्र प्रवृत्ति के पंख बँध

जाते थे। इसने स्थूल बाह्य बंधनों से विद्रोह करके सूक्ष्म मनोलोक में अपने नीड़ की रचना की। इस तरह साहित्य में अतिशय बौद्धिक नीरसता की जगह भावुकता और आंतरिकता की, भौतिक जीवनदृष्टि की जगह आध्यात्मिक जीवनदृष्टि की, स्थूल ऐंद्रिय प्रेम अथवा उसके बहिष्कार की जगह आदर्शवादी प्रेम (प्लेटानिक लव) तथा स्वाभाविक प्रेम की प्रतिष्ठा हुई। यही नहीं देश, जाति, विश्व मानव तथा मानवेतर प्रकृति के प्रति भी मानवीय प्रेम की भावना का प्रसार हुआ। आध्यात्मिक आदर्शवाद ही कविता में रहस्यवाद और प्रकृति के प्रति तादात्म्य की भावना के रूप में अभिव्यक्त हुआ है।

इस युग का यह नवीन आध्यात्मिक आदर्शवाद भक्तियुगीन आध्यात्मिक आदर्शवाद से भिन्न कोटि का था। भक्तिकाल के आध्यात्मिक उत्थान में सामाजिकता का भी बहुत अधिक योग था और साथ ही वह विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों और साधना मार्गों के सिद्धांतों और प्रयोगों से पुष्ट था किंतु इस युग की आध्यात्मिकता कम से कम हिंदी कविता में प्रधानतया एक दृष्टिकोण के रूप में थी जिसमें साधना और धार्मिक आस्था का न तो योग था, न वह सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति में सहायक ही थी। वह तो धार्मिक रूढ़िवादिता और स्थूल नुधारवाद दोनों के विरुद्ध विद्रोह के रूप में आई थी। उसका लक्ष्य व्यक्ति को स्थूल सामाजिक और धार्मिक नियंत्रण से मुक्त करना था। इस तरह वस्तुतः सामाजिक संबंधों की विषमता से छुटकारा पाने के लिये ही कवि ने अध्यात्म का सहारा लिया। अध्यात्म के क्षेत्र में अद्वैतवाद का ही स्वर प्रधान था जो प्राणिमात्र की आत्मा को जड़ जगत् से स्वतंत्र और समान मानता है इसी लिये लोकतंत्र की स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की माँग को अध्यात्मवाद आदर्श रूप में पूरा करता था। यूरोप के दार्शनिक कांट हीगेल, बर्गसाँ आदि ने भी इसी पूँजीवादी और अध्यात्मवादी आदर्शवाद का प्रचार किया था। यूरोप के रोमांटिक साहित्य, विशेषकर जर्मनी के साहित्य में जिस तरह आध्यात्मिकता का रंग बहुत गहरा था, उसी तरह हिंदी की छायावादी कविता में भी रहस्यवाद के रूप में आध्यात्मिक प्रवृत्ति वर्तमान थी। इस काल में भारत में आध्यात्मिकता भी विद्रोह का एक प्रतीक बन गई थी। स्वामी विवेकानंद, योगी अरविंद, स्वामी रामतीर्थ, महात्मा गाँधी सब ने अपने जीवन में आध्यात्मिकता और राष्ट्रीयता का समन्वय किया था। वस्तुतः व्यक्तिवाद के विकास के साथ साथ अध्यात्मिकता का विकास भी स्वाभाविक है। आध्यात्मिक क्षेत्र में व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के प्रसार का पूरा अवसर हाथ लगता है और उसके विद्रोही अहम् की तृप्ति भी होती है। छायावादी कवियों में भी अधिकांश ने इस आध्यात्मिकता के माध्यम से ही अपने विद्रोह का स्वर ऊँचा किया है।

यह आदर्शवाद केवल रहस्यवाद तक ही सीमित नहीं था। सौंदर्यकल्पना और राजनीतिक विचारों के क्षेत्र में भी इस आदर्शवाद का प्रसार दिखाई पड़ता है। छायावादी काव्य में यथार्थ से कल्पना को विच्छिन्न करके एक आदर्श स्वप्न लोक की रचना की गई जहाँ जगत् की विषमताएँ और आत्मा की स्वतंत्रता के मार्ग की बाधाएँ नहीं हैं। प्रकृति और अध्यात्म के क्षेत्रों के अतिरिक्त प्रेम, विश्वबंधुत्व अतीतगौरव आदि क्षेत्रों से भी अपने स्वप्नलोक के निर्माण के लिये छायावादी कवियों ने उपादान ग्रहण किए हैं। वस्तुतः वर्तमान जीवन से असंतुष्ट होकर ही इन कवियों ने स्वतंत्र स्वप्नलोक का निर्माण किया और इसी लिये छायावादी कविता में जगत् के विषम कोलाहल से दूर भागकर उससे मुक्ति पाने की प्रबल कामना दिखाई पड़ती है। फिर भी इस प्रवृत्ति को प्रतिक्रियावादी नहीं कहा जा सकता क्योंकि तत्कालीन परिस्थितियों में यह भी सामाजिक वैषम्य से विद्रोह की भावना को ही अभिव्यक्त करनेवाली थी। इसी से वास्तविक जीवन के असौंदर्य और अभाव की क्षतिपूर्ति काव्य में कलात्मक सौष्ठव की प्रतिष्ठा और कल्पना निर्बंध प्रयोग द्वारा की गई। मानवीकरण, ध्वन्यात्मकता, प्रतीकात्मकता, लाक्षणिक प्रयोगों के चमत्कार आदि द्वारा वस्तु के सूक्ष्म और आंतर सौंदर्य का चित्रण किया गया। भाषा के संबंध में भी नए सौंदर्यबोध से ही काम लिया गया। पुराने घिसेपिटे शब्दों को छोड़कर नए, अप्रचलित अथवा नवनिर्मित शब्दों का निर्बाध प्रयोग किया गया जिनके द्वारा नवीन सूक्ष्म भावों की सफल अभिव्यक्ति हो सकी। कवियों ने छंदों के चुनाव में भी स्वतंत्रता की प्रवृत्ति दिखलाई। लोकगीतों में प्रयुक्त छंदों और मुक्त छंद का साहस के साथ प्रयोग किया गया तथा नाद और लय के सौंदर्य पर विशेष ध्यान दिया गया, तुक और अनुप्रास पर नहीं।

इस युग के समूचे साहित्य में अभिव्यक्त राजनीतिक और सामाजिक विचारधारा में भी किसी न किसी आदर्शवाद के दर्शन होते हैं। उस युग के काव्य, नाटक और कथा साहित्य सबमें यह आदर्शवाद विभिन्न रूपों में दिखाई पड़ता है। तत्कालीन राजनीति के क्षेत्र में दो प्रवृत्तियाँ प्रमुख थीं—हिंसात्मक और अराजकतामूलक क्रांति की तथा अहिंसात्मक और नैतिकतामूलक संघर्ष की। प्रथम प्रवृत्ति के पोषक भगतसिंह, चंद्रशेखर आजाद आदि क्रांतिवादी थे और द्वितीय के महात्मा गांधी तथा उनके अनुयायी। इन दोनों में आदर्शवाद ही प्रेरक शक्ति था। पहले प्रकार की अराजकतावादी प्रवृत्ति बँगला के नजरुल इस्लाम की कविताओं से प्रभावित उन कविताओं में दिखाई पड़ती है जिनमें महानाश, क्रांति, ध्वंस, अग्निवीणा आदि शब्दों की आवृत्ति द्वारा क्रांति का आवाहन किया गया तथा उसे निर्बंध, अनुत्तरदायी और असंयमित बताया गया। इन कविताओं में वर्गसंघर्ष और नवीन समाज की रचना का कोई आदर्श नहीं है।

क्रांतिवादियों की भाँति अराजकतावादी कवि भी डान क्विक्जाट की तरह सारी दुनियाँ से अकेले ही लड़ने को तैयार दिखाई पड़ता है। जैनेंद्र और यशपाल के प्रारंभिक उपन्यासों तथा लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्त नाटकों में भी इसी व्यक्तिवादी आदर्शवाद और वैयक्तिक वीर भावना (इनडिविडुवल हीरोइज्म) की अभिव्यक्ति हुई। इन उपन्यासों और नाटकों के पात्र राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं से अकेले ही लड़ते हुए चरित्र की आदर्श उच्चता प्राप्त करते हैं। उनकी शक्ति अपने निजी त्याग, बलिदान, साहस और वीरता की शक्ति है जिसके पीछे गंभीर सामाजिक दायित्व और जन आंदोलनों का कोई योग नहीं दिखलाई पड़ता। दूसरे प्रकार की आदर्शवादी विचारधारा का आधार वह मानवतावाद है जो उन्नीसवीं शताब्दी के पाश्चात्य दार्शनिकों और विचारकों के सिद्धांतों तथा प्राचीन भारतीय आदर्शवादी विचारों का समन्वय है। राजनीति में महात्मा गांधी और साहित्य में रवींद्रनाथ, शरत्चंद्र और प्रेमचंद इस मानवतावाद के उन्नायक हैं। मानवतावादी आदर्शवाद कहीं यथार्थोन्मुख आदर्शवाद के रूप में और कहीं आध्यात्मिक मानवतावाद के रूप में दिखलाई पड़ता है। इन सभी सिद्धांतों में यथार्थवाद और आदर्शवाद को समन्वित करके उसे मानवता के सर्वांगीण हित में नियोजित करना ही प्रमुख लक्ष्य है। गांधीजी के समान प्रेमचंद भी आदर्शोन्मुख यथार्थवादी थे। प्रेमचंद के शब्दों में 'यथार्थवाद यदि आँखें खोल देता है तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है।' इस तरह प्रेमचंद जी का यथार्थवादी चित्रण उनके आदर्शों को मूर्त करने का साधन मात्र है। मानवतावादी आदर्शवाद का मूल स्वर टाल्सटाय के सिद्धांतों के अनुरूप नैतिकतामूलक और उपयोगितावादी है। इसी कारण प्रेमचंद के उपन्यासों की आधारभूमि यथार्थ जीवन होते हुए भी उनके चरित्रों का विकास तथा घटनाक्रम का अंत अस्वाभाविक और उपदेशात्मक प्रतीत होता है। निष्कर्ष यह कि प्रेमचंद का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद गांधी जी के मानवतावादी आदर्शवाद का ही साहित्यिक रूपांतर है।

मानवतावादी आदर्शवाद का दूसरा रूप रवींद्रनाथ शरत्चंद, जयशंकर प्रसाद और निराला आदि के साहित्यों में दिखलाई पड़ता है जिन्होंने यथार्थ जीवन का आधार ग्रहण करते हुए भी मानव की आंतरिक शक्ति को उदात्तीकृत रूप में उपस्थित किया है। इन लेखकों के प्रेरणास्रोत यूरोपीय राजनीतिक और दार्शनिक विचारक उतने अधिक नहीं थे जितने यूरोपीय रोमांटिक साहित्य के उन्नायक कवि और लेखक तथा प्राचीन भारतीय दार्शनिक सिद्धांत। इन लेखकों का लक्ष्य मानव की शक्ति, सौंदर्य और आनंद की उपलब्धि द्वारा 'शुद्ध मानव'

बनाना है। अतः इनके साहित्य का स्वर मानवतावादी होते हुए भी उपयोगितावादी और स्थूल नैतिकतावादी नहीं है। इन लेखकों का यथार्थबोध स्थूल वस्तुचित्रण या नैतिकतामूलक चरित्रविधान में नहीं, मानव के सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक और सौंदर्यबोधात्मक प्रयत्नों के चित्रण के रूप में दिखलाई पड़ता है। कहना न होगा कि शुद्ध साहित्य की दृष्टि से आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का यही रूप अधिक उचित और उपयुक्त है। मानवतावादी आदर्शवाद का दूसरा रूप यथार्थोन्मुख आदर्शवाद है जिसमें मुख्य लक्ष्य तो यथार्थ जीवन की विषमताओं और व्याधियों को दूर करके भौतिक दृष्टि से सुखी और संपन्न मानवसमाज की स्थापना करना है, पर उसमें आध्यात्मिक और नैतिक आदर्शों को उक्त लक्ष्य की पूर्ति का साधन स्वीकार किया गया है। इसे राजनीतिक शब्दावली में समन्वयात्मक समाजवाद कह सकते हैं। भारतीय राजनीति में कुछ ऐसे विचारक थे और अब भी हैं जो गांधीवाद और समाजवाद का समन्वय आवश्यक मानते हैं, ठीक उसी तरह साहित्य में सुमित्रानंदन पंत, भगवतीचरण वर्मा आदि लेखकों ने इस समन्वयात्मक सिद्धांत के आधार पर साहित्यरचना की। इन लोगोंने अपना विचारक्षेत्र गांधीवाद और समाजवाद तक ही सीमित रखा किंतु जयशंकर प्रसाद ने बहुत व्यापक क्षेत्र में अपनी समन्वयात्मक दृष्टि का प्रसार किया। उनके काव्य, नाटक, उपन्यास और कहानियों में यद्यपि आदर्शवादी स्वर प्रधान है पर उनका लक्ष्य मानव के भौतिक जीवन की चरम उन्नति है। वस्तुतः उन्होंने भौतिक और आध्यात्मिक क्षेत्रों का भेद मिटाकर दोनों में एकरूपता मान ली है। उनके अनुसार भौतिक उन्नति के बिना आध्यात्मिक उन्नति और आध्यात्मिक उन्नति के बिना भौतिक उन्नति नहीं हो सकती। कामायनी में उन्होंने आध्यात्मिक आदर्श को यथार्थ और दैनंदिन जीवन में अवतरित करने का जो विशाल समायोजन किया है वही विविध रूपों में उनके 'कामना' और 'एक घूँट' नाटकों तथा 'कंकाल' और 'तितली' उपन्यासों में दिखलाई पड़ता है। आदर्शवादी मानवतावाद का तीसरा रूप वह आध्यात्मिक मानवतावाद है जो योगी अरविंद के अतिमानस संबंधी नवरहस्यवादी सिद्धांतों से अनुप्रेरित है। हिंदी में यह विचारधारा मुख्यतः सुमित्रानंदन पंत और नरेंद्र शर्मा की परवर्ती कविताओं में दिखलाई पड़ती है।

इस युग का यह अध्यात्मवादी भ्रम अधिक दिनों तक नहीं टिक सका। प्रथम महायुद्ध के बाद की विश्वव्यापी निराशा और आर्थिक मंदी का प्रभाव भारत पर भी पड़ा। अतः मध्यवर्गीय साहित्यकार ने अनियंत्रित स्वतंत्रता की जो कल्पना की थी वह टूट गई और जीवन उसे और भी विकराल और बंधनग्रस्त मालूम पड़ने लगा। फलतः मध्यवर्गीय साहित्यकार उत्तरोत्तर अहंवादी, भाग्यवादी और निराशावादी बनता गया। फलस्वरूप १९१० ई० के बाद के साहित्य में

निराशा, भ्रम, मृत्युपूजा, कच्ची रोमांस, काल्पनिक अस्वस्थ ऐंद्रियता और सामाजिक अनुत्तरदायित्व की भावनाएँ दिखलाई पड़ने लगीं, किंतु साथ ही साहित्यकारों का एक वर्ग ऐसा भी उत्पन्न हुआ जो यथार्थ जीवन का सम्यक् विश्लेषणकर उसकी बाह्य और आंतरिक अस्वस्थता तथा अभावों को दूर करना चाहता था। इस प्रकार हमारे आलोच्य काल के उत्तरार्ध में यथार्थवादी प्रवृत्तियों का उदय हुआ। यह यथार्थवाद तत्कालीन हिंदी साहित्य में चार रूपों में दिखलाई पड़ता है—व्यक्तिवादी यथार्थवाद, मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद, सामाजिक यथार्थवाद और समाजवादी यथार्थवाद। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, छायावाद का आदर्शवादी भ्रम टूटने के बाद हिंदी कविता में निराशा, अस्वस्थ ऐंद्रियता और वैयक्तिक जीवन की दैनंदिन घटनाओं का चित्रण होने लगा। यथार्थ जीवन की असंगतियों और उनके कारणों का विश्लेषण करने की जगह ये कवि अपने वैयक्तिक दुःखों को भुलाने तथा कठिनाइयों से मुक्ति पाने के लिये हाला, प्याला, मधुशाला आदि की शरण लेने लगे अथवा सस्ते रोमांस और असफल प्रेम की रागिनी गाने लगे। सन् १९३० ई० के बाद की छायावादी कविता में इस तरह की व्यक्तिवादी प्रवृत्ति का एक प्रमुख स्वर सुनाई पड़ता है। यद्यपि इस प्रवृत्ति ने छायावाद की अतिशय निर्वैयक्तिकता और कल्पनातिरेक से हिंदी कविता को मुक्त करने का प्रयास किया किंतु प्रतिक्रियात्मक होने के कारण उसमें काव्यगत गांभीर्य और उदात्तता का अभाव था। इसी कारण गंभीर और चिंतनशील पाठकों के लिये यह कविता उपयुक्त नहीं थी।

सौभाग्यवश साहित्य की अन्य विधाओं में यह प्रवृत्ति नहीं पनपने पाई। कथा साहित्य में अवश्य यह और भी छिछली और असामाजिक होकर एक ऐसे वर्ग द्वारा स्वीकृत की गई जिसके रोमानी और बाजारू साहित्य को गंभीर साहित्य के अंतर्गत स्वीकार ही नहीं किया गया। यथार्थवाद का दूसरा रूप 'मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद' मुख्य रूप से प्रेमचंदोत्तर कथा साहित्य में दिखलाई पड़ता है। यों तो चरित्रचित्रण प्रधान कहानियों और उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक दृष्टि अनिवार्य होती है, किंतु इस युग में पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव तथा मनोविज्ञान के अध्ययन से ऐसे उपन्यासों, कहानियों और नाटकों की रचना होने लगी जिनमें मानसिक प्रक्रियाओं, वृत्तियों और चिंतनधाराओं का विवृत विवेचन किया गया। इस प्रकार की कृतियों में मनोविज्ञान चरित्रचित्रण का साधन न होकर साध्य बन गया; अर्थात् चरित्रचित्रण का उद्देश्य व्यक्ति के मन का विश्लेषण और अध्ययन हो गया। यह मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद दो रूपों में दिखलाई पड़ता है—(१) सामान्य मनोवैज्ञानिक और (२) मनोविश्लेषणात्मक। सामान्य मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में चरित्रचित्रण का व्यावहारिक रूप प्रत्यक्ष और सैद्धांतिक रूप अप्रत्यक्ष रहता

है; अर्थात् जिन मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों के आधार पर चरित्र निर्मित होते हैं उनकी व्याख्या नहीं होती, साथ ही उनमें यह चित्रित किया जाता है कि व्यक्ति के चरित्र और जीवनचर्या के मूल में मनोवैज्ञानिक कारण ही प्रमुख होते हैं, धार्मिक, नैतिक या राजनीतिक नहीं। जैनेंद्रकुमार के कथासाहित्य को इसके उदाहरण के रूप में उपस्थित किया जा सकता है।

मनोविश्लेषणात्मक यथार्थवाद, मनोविज्ञान की नवविकसित शाखा मनोविश्लेषण शास्त्र के सिद्धांतों पर आधारित है जिसके प्रमुख आचार्य सिगमंड फ्रायड, एडलर और युंग थे। इन तीनों मनोविश्लेषणशास्त्रियों के सिद्धांतों में थोड़ा बहुत अंतर है और उन तीनों के ही सिद्धांतों के आधार पर अलग अलग साहित्यिक प्रवृत्तियों का प्रचलन यूरोपीय देशों में हुआ। फ्रायड उपचेतन मन में दमित काम इच्छाओं को ही समस्त साहित्य का मूल कारण मानता है। उसके अनुसार साहित्यसर्जना की प्रक्रिया स्वप्न की प्रक्रिया से मिलती जुलती है। स्वप्न के समान साहित्य भी प्रतीकात्मक होता है। काम की दमित इच्छाएँ चेतन मन द्वारा उपचेतन मन में ढकेल दी जाती हैं, पर वे स्वप्न, दिवास्वप्न और साहित्यरचना के क्षणों में चेतन मन के अनजान में अपना रूप बदलकर प्रतीकों का रूप धारण करके अभिव्यक्त होती हैं। इस कारण मन पर पड़े दबाव का रेचन हो जाता है। यदि ऐसा न हो तो व्यक्ति स्नायविक बीमारियों का शिकार हो जाय या पागल हो जाय। यदि ऐसे रोगियों का मानसिक विश्लेषण और उनके जीवन वृत्त का अध्ययन किया जाय तो उनकी बीमारी के मूल में दमित काम वृत्तियाँ ही मिलेंगी। फ्रायड के इस सिद्धांत के आधार पर ही यूरोप में कई 'वादों'—प्रयोगवाद, अतियथार्थवाद आदि का प्रचलन हुआ। इन साहित्यिक वादों का प्रभाव हिंदी साहित्य पर भी पड़ा। आलोच्य युग में इलाचंद्र जोशी और अज्ञेय के उपन्यासों में मनोविश्लेषणात्मक पद्धति का आश्रय लिया गया है। इस प्रवृत्ति के साहित्य में पात्रों की मानसिक प्रक्रियाओं का चित्रण मनोविश्लेषणात्मक पद्धति से किया गया है किंतु हिंदी उपन्यासों में अतियथार्थवाद की वह चेतनाप्रवाह और खंडित बिंबोंवाली पद्धति जो अँगरेजी में जेम्स ज्वायस के उपन्यासों में प्रयुक्त हुई है, नहीं मिलती। उसमें डी० एच० लारेंस के उपन्यासों की तरह काम की उन्मुक्त तृप्ति का चित्रण ही अधिक मिलता है। हिंदी की प्रयोगवादी कविता में भी जिसका प्रारंभ इस युग के अंत में हो गया था, उपचेतन की दमित कामवासना की अभिव्यक्ति अभिधात्मक पद्धति में ही हुई है; चेतनाप्रवाह वाली प्रतीकात्मक पद्धति में नहीं। अतः कहा जा सकता है कि तत्कालीन हिंदी साहित्य में मनोविश्लेषण शास्त्र का बहुत ही सतही प्रभाव पड़ा था।

फ्रायड ने काम इच्छाओं के दमन से उत्पन्न कुछ ग्रंथियों की भी कल्पना की है जो व्यक्ति के चरित्रनिर्माण का कारण होती हैं। इस कल्पना को एडलर

ने अधिक बड़े पैमाने पर विकसित किया। एडलर के अनुसार बचपन से ही व्यक्ति अपने परिवेश से बहुत कुछ प्राप्त करना चाहता है पर शारीरिक अशक्ति और अभावों के कारण उसकी सभी इच्छाएँ पूरी नहीं हो पातीं। अतः अपने अभावों और दमित इच्छाओं की पूर्ति वह कल्पना, दिवास्वप्न, इच्छापूर्तिविधि (विशफुलमेंट) आदि द्वारा करता और बड़ा होने पर साहित्य, राजनीति, धर्म आदि के क्षेत्रों में नेतृत्व करके वह अपनी क्षतियों की पूर्ति करता है। इस तरह उसने साहित्य को दमित वासनाओं का प्रतीकात्मक रेचन न मानकर उनकी क्षतिपूर्ति माना है। वह शारीरिक हीनता की ग्रंथि को ही व्यक्ति मन की सभी कुंठाओं का मूल मानता है। उसके अनुसार सामाजिक अपराधों का मूल कारण अपराधियों के मन की हीनता-ग्रंथि-जन्य तरह तरह की कुंठाएँ ही हैं। फ्रायड के समकालीन युंग ने सामूहिक चेतना का सिद्धांत प्रतिपादित किया। व्यक्तिमन एक ऐसा विराट् कोश है जिसमें आदिकाल से लेकर अबतक के मानवीय कार्यों के मूल में निहित प्रवृत्तियाँ, जीवन की अनुभूतियाँ तथा बाह्य वस्तुज्ञान संस्कार-रूप में संचित रहते हैं। फलतः आज के मानव की समस्त सांस्कृतिक और वैज्ञानिक उपलब्धियों के बाद भी आदिम मानव की पशु वृत्तियाँ उसके सामूहिक अचेतन मन में वर्तमान हैं जो नाना प्रकार के असामाजिक कार्यों और अपराधों के रूप में अभिव्यक्त होती हैं। साथ आदिमयुगीन मानव के पारिपार्श्विक बिंब (आर्चीटाइपल इमेज) भी, जो आदिम पशुवृत्तियों की तरह ही सामूहिक अचेतन मन में संस्कार रूप में संचित हैं, चेतन मन में व्यक्त हुआ करते हैं। फ्रायड के सिद्धांतों के समान एडलर और युंग के सिद्धांतों ने भी यूरोपीय साहित्य को प्रभावित किया है, यद्यपि यह प्रभाव फ्रायड के प्रभाव जैसा व्यापक नहीं है। हीनता की ग्रंथि और क्षतिपूर्ति के सिद्धांतों को प्रायः सभी परवर्ती मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में अपना लिया गया और डास्टेवस्की के उपन्यासों को इसके लिये आदर्श मान लिया गया। युंग के सिद्धांतों को कथा साहित्य में उतना नहीं अपनाया गया जितना काव्य में। अँगरेजी में डाइलन टामस द्वारा प्रवर्तित आदिम बिंबवादी एपॉकिलिप्टिक काव्यधारा में इस सिद्धांत का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। हिंदी में इलाचंद्र जोशी के उपन्यासों पर उपर्युक्त सिद्धांतों का गहरा प्रभाव पड़ा है। लक्ष्मीनारायण मिश्र के प्रारंभिक नाटकों में भी उनका प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। बुद्धिवाद की ओट में वस्तुतः उन्होंने मनोविश्लेषणात्मक यथार्थवाद का ही पल्ला पकड़ा है। भुवनेश्वर के एकांकी नाटकों में मनोविश्लेषणशास्त्रीय सिद्धांत अधिक निखरे और अमिश्रित रूप में मिलते हैं। इन परवर्ती मनोविश्लेषणशास्त्रीय सिद्धांतों का प्रभाव प्रयोगवाद के बाद की 'नई कविता' पर विशेष रूप से पड़ा पर वह हमारे आलोच्य काल के बाद का विकास चरण है।

यथार्थवाद के अन्य दो रूप सामाजिक यथार्थवाद और समाजवादी यथार्थवाद हैं। सामाजिक यथार्थवाद का प्रारंभ तो यूरोप में रोमांटिक साहित्य की प्रतिक्रिया में उन्नीसवीं शताब्दी में ही शुरू हो गया था जो उपन्यास साहित्य विशेषकर फ्रांसीसी उपन्यासों में, प्रकृतवाद के रूप में प्रचलित हुआ था। विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों के आविष्कारों, विशेषकर प्राणिशास्त्र में डार्विन के विकासवाद के सिद्धांत के परिणामस्वरूप प्रकृतवाद का प्रारंभ हुआ था। इन आविष्कारों और सिद्धांतों ने सभी प्रकार की अतिप्राकृत शक्तियों में मानव की आस्था को समाप्तकर उसे पूर्णतः भौतिकतावादी बना दिया। अब मानव परंपरागत धार्मिक, नैतिक और आध्यात्मिक मान्यताओं तथा वर्जनाओं को अस्वीकारकर अपने यथार्थ स्वरूप को जानने पहचानने लगा। विकासवाद ने उसे यह मंत्र दिया कि तत्वतः उसमें तथा अन्य जीवों में कोई तात्विक अंतर नहीं है, अमीबा और जेरी मछली से लेकर वनमानुष और मानव तक सभी एक ही प्रकार की जैविक परंपरा की देन हैं। इस मान्यता के कारण साहित्य में अतिशय कल्पनाशीलता और आदर्शवादिता का प्रभाव बहुत कम हो गया और साहित्यकार इन नवोपलब्ध जीवन सत्यों को यथातथ्य अभिव्यक्त करने लगा। अब साहित्यकार जीवन के उन सभी पक्षों का नग्न चित्रण करने लगा जो अबतक धार्मिक और नैतिक वर्जनाओं के कारण साहित्य में अग्राह्य माने जाते थे। फ्रांस में एमिलीज़ोला, मोपासाँ और फ्लावेयर आदि उपन्यासकारों ने प्रकृतवाद को एक साहित्यिक आंदोलन के रूप में परिवर्तित किया। उनके अनुसार साहित्य में कुछ भी घृणित, अश्लील, गंदा और गोपनीय नहीं है। साहित्य का कथ्य केवल दो प्रकार का हो सकता है—सत्य और असत्य। साहित्यकार को केवल जीवन के सत्यों का, चाहे वे गंदे और अश्लील हों, चाहे सुरुचिपूर्ण और सुंदर, यथातथ्य चित्रण करना चाहिए। इसके विपरीत आदर्शों और कल्पना का आश्रय ग्रहण करके साहित्यरचना करना सबसे बड़ा साहित्यिक झूठ है। मनुष्य पशु कोटि का एक जीव है अतः उसके सभी गोपनीय या अश्लील समझे जानेवाले कार्य स्वाभाविक या प्राकृतिक हैं। इसी धारणा के कारण इस साहित्यधारा का नाम प्रकृतवाद पड़ा। वस्तुतः आधुनिक युग के वैज्ञानिक यथार्थवाद का सर्वप्रथम रूप प्रकृतवाद ही है। प्रकृतवाद का उद्देश्य सामाजिक यथार्थ के प्रामाणिक और विवृत वर्णन द्वारा मानवसमाज को ऊँचा उठाना तथा प्रकृति पर विजय करते हुए मनुष्यता की उच्च भूमि पर पहुँचाना था। पाश्चात्य प्रकृतवादी साहित्य का प्रभाव हिंदी साहित्य पर १६२० ई० के बाद ही पड़ने लगा था। उग्र, चतुरसेन शास्त्री, ऋषभचरण जैन आदि लेखकों के तत्कालीन कथासाहित्य में सामाजिक बुराइयों और भ्रष्टाचारों का नग्न चित्रण प्रकृतवादी ही माना जायगा। उग्र के घासलेटी कहे जानेवाले साहित्य में उद्देश्य की पवित्रता को देखकर ही महात्मा गांधी ने उसकी प्रशंसा की थी। काव्य के

क्षेत्र में प्रेमाभिव्यंजना के यथार्थ चित्रण में चुंबन, आलिंगन आदि शब्दों की आवृत्ति भी प्रकृतवाद के प्रभाव को ही व्यक्त करती है। अंचल की प्रारंभिक कविताओं में, जिनकी नंददुलारे वाजपेयी ने क्रांतिकारी कहकर प्रशंसा की थी, प्रकृतवादी विचारधारा ही दिखलाई पड़ती है।

किंतु सामाजिक यथार्थवाद केवल प्रकृतवाद तक ही सीमित नहीं है। सामाजिक विषमता, राजनीतिक दासत्व, धार्मिक पाखंड और अत्याचार आदि का चित्रण तथा उनके विरोध में होनेवाले प्रयत्नों का वर्णन भी आधुनिक युग के साहित्य में सर्वत्र दिखलाई पड़ता है और वस्तुतः यही सामाजिक यथार्थवाद का प्रकृत रूप है। यहीं नहीं, साहित्य को जीवन के अधिक निकट लाना, यथार्थ चरित्रों और स्वाभाविक घटनाओं की योजना, लोक जीवन की प्रवृत्तियों और आकांक्षाओं का उद्घाटन, व्यावहारिक भाषा की स्वीकृति आदि बातें भी यथार्थवाद की ही प्रवृत्ति का द्योतन करती हैं। वस्तुतः सामाजिक यथार्थवाद की दृष्टि वस्तुगत होती है। वह वस्तु के सामान्य और विशिष्ट दोनों रूपों को ऐंद्रियबोध के मानदंड से तौलती है। ऐंद्रियबोध पर आधारित वास्तविक जीवनानुभव ही यथार्थवादी साहित्य के उपादान हैं। यद्यपि सभी देशों के प्रत्येक काल के साहित्य में यथार्थवादी दृष्टि किसी न किसी रूप में वर्तमान रही है, किंतु आधुनिक वैज्ञानिक और लोकतांत्रिक युग में उसने विभिन्न आंदोलनों के मार्ग से होकर साहित्य में प्रवेश किया। इसी कारण आधुनिक हिंदी साहित्य का उदय ही भारतेंदु युग में यथार्थवाद को लेकर हुआ। हमारे आलोच्य युग में प्रेमचंद द्वारा यथार्थवादी कथा साहित्य का सूत्रपात हुआ। यद्यपि उन्होंने आदर्श और यथार्थ दोनों का समन्वय किया है पर वस्तुचित्रण की दृष्टि से वे पूर्णतः यथार्थवादी हैं। उन्होंने देश की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक गतिविधियों का बहुत ही सूक्ष्मता से निरीक्षण और चित्रण किया है। उनके समकालीन और परवर्ती उपन्यासकारों में से *कौशिक, सुदर्शन, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, भगवतीप्रसाद वाजपेयी* आदि ने भी सामाजिक यथार्थ का चित्रण इसी रूप में किया है। सेठ गोविंददास, उग्र, गोविंदवल्लभ पंत आदि लेखकों के नाटकों में भी यथार्थवाद का यही रूप दिखलाई पड़ता है। हिंदी कविता में सन् १९२० ई० के बाद सत्याग्रह आंदोलन, राष्ट्रीय भावना और समाजसुधार संबंधी विविध आंदोलनों से संबद्ध जो कविताएँ लिखी गई वे सामाजिक यथार्थवाद की ही कोटि में आती हैं।

समाजवादी यथार्थवाद वस्तुतः मार्क्स के प्रसिद्ध दार्शनिक सिद्धांत द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का साहित्यिक रूपांतर है। समाजवादी क्रांति के बाद रूस में शिक्षा और संस्कृति के सभी विषयों की व्याख्या इसी सिद्धांत के आधार पर की जाने लगी। साहित्य के संबंध में समाजवादियों ने मार्क्स और ऐंगिल्स के ग्रंथों के आधार

पर यह सिद्धांत स्थिर किया कि पूर्ववर्ती सभी युगों का साहित्य उच्च शासक वर्ग का साहित्य था जो उसका उपयोग अपने स्वार्थ की सिद्धि की दृष्टि से करते थे। उनके अनुसार सभ्यता और संस्कृति का मूल आधार अर्थ है। इसी आधार पर साहित्य, कला, धर्म, राजनीति आदि का महल खड़ा होता है। प्रत्येक युग में समाज में शोषकों और शोषितों के बीच संघर्ष चलता रहा है और इस संघर्ष में साहित्य शोषक वर्ग के अस्त्र के रूप में प्रयुक्त होता रहा है। सामंत युग और पूँजीवाद युग का साहित्य इसका उदाहरण है। अतः वर्तमान समय में श्रमिक वर्ग और पूँजीपतियों के बीच जो संघर्ष चल रहा है उसमें साहित्य को श्रमिक वर्ग का साथ देना चाहिए। साहित्यकारों का यह कर्तव्य है कि वे निम्न, शोषित वर्ग के पक्ष में साहित्य को एक अस्त्र के रूप में प्रयुक्त करें। इस विचारधारा का प्रारंभ यूरोपीय देशों में सन् १९१० ई० के पहले ही हो गया था और उसे प्रगतिशील आंदोलन प्राग्रेसिव मूवमेंट) का नाम दिया गया था। भारत में इस आंदोलन का प्रारंभ सन् १९३६ ई० में प्रेमचंद के सभापतित्व में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के साथ हुआ। हिंदी में सुमित्रानंदन पंत ने सर्वप्रथम इस विचारधारा के अनुसार काव्यरचना प्रारंभ की। आलोचना में शिवदान सिंह चौहान, रामविलास शर्मा और प्रकाशचंद गुप्त तथा कथा साहित्य में यशपाल, राहुल सांकृत्यायन आदि ने इसे अपनाया। इस नवीन साहित्यिक विचारधारा को प्रगतिवाद कहा जाने लगा। सन् १९४० ई० तक इसका प्रारंभिक स्वरूपनिर्माण ही हो सका था। प्रगतिवाद की विशेषता यह थी कि इसके आलोचनात्मक सिद्धांतशास्त्र की रचना पहले हुई और इसके आधार पर रचनात्मक साहित्य बाद में लिखा जाने लगा। प्रगतिवाद के आंदोलन में प्रारंभ में ऐसे लोग भी संमिलित थे जो कि न तो विचारों में पूर्णतः मार्क्सवादी थे और न समाजवादी दल के सक्रिय सदस्य ही थे। इस तरह तत्कालीन प्रगतिशील लेखक संघ एक संयुक्त मोर्चा था जिसमें सामाजिक परिवर्तन के इच्छुक सभी साहित्यकार बिना किसी राजनीतिक पक्षपात के संमिलित थे। सन् १९४० ई० के बाद इसका रूप उत्तरोत्तर संकीर्ण होता गया और अंत में यह 'वाद' विशुद्ध रूप से कम्युनिस्ट पार्टी का साहित्यिक मंच बनकर रह गया।

उपर्युक्त सभी प्रवृत्तियों की प्रेरणा से १९१८ ई० से लेकर १९३९–४० ई० तक हिंदी साहित्य के विविध रूपों और विधाओं का बहुत तीव्र गति से विकास हुआ। काव्य, उपन्यास, कहानी, नाटक, आलोचना, निबंध सभी में इस काल में प्रौढ़ता और स्वस्थता आई और बहुत व्यापक पैमाने पर साहित्य की रचना होने लगी। आलोचना का विकास साहित्यरचना के उपरांत ही होता है अतः यह काल आलोचना के पूर्ण विकास का काल है। उपर्युक्त साहित्यिक आंदोलनों के अनुसार आलोचना के क्षेत्र में भी अनेक सिद्धांत प्रचलित हुए जो अधिकतर पाश्चात्य सिद्धांतों पर ही

आधारित थे किंतु संस्कृत साहित्यशास्त्र का प्रभाव भी किसी न किसी रूप में वर्तमान था।

(ग) तत्कालीन आलोचना पर हिंदीतर आलोचना का प्रभाव—

द्विवेदीयुगीन आलोचना के पर्यवेक्षण में बतलाया जा चुका है कि उस काल में हिंदी आलोचना पर बाह्य प्रभाव पड़ना आरंभ हो गया था, फिर भी वह मुख्यतः परंपराविहित ही थी। आलोच्य काल में उसपर पाश्चात्य आलोचना का प्रभाव इतना अधिक पड़ा कि उसका स्वरूप बिलकुल परिवर्तित हो गया। यह पाश्चात्य प्रभाव बाह्यारोपित और मात्र अनुकरणात्मक नहीं था। हिंदी में रचनात्मक साहित्य में भी पाश्चात्य प्रभावों तथा परिवर्तित सामाजिक परिस्थितियों के दबाव के कारण इतने प्रकार की प्रवृत्तियाँ दिखलाई पड़ीं कि उनका आकलन करने के प्रयत्न में हिंदी आलोचना अपने आप पूर्ववर्ती मार्गों को छोड़कर नए मार्गों पर चल पड़ी। इस काल की आलोचना के प्रकाशस्तंभ आचार्य रामचंद्र शुक्ल थे जो विचारों की दृष्टि से परंपरावादी नहीं, समन्वयवादी थे। समन्वय का अर्थ ही है विरोधी, विपरीत या भिन्नजातीय तत्वों का इस प्रकार सामंजस्य कि नवनिर्मित तत्व मूल आवयविक तत्वों से बिलकुल भिन्न और नवीन हो जायँ। अतः शुक्ल जी तथा अन्य समन्वयवादी आलोचकों की समालोचना की समन्वयात्मक उपलब्धियों के भीतर भी, अन्वेषण करने पर, प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्र तथा पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र की विभिन्न प्रवृत्तियाँ, मूल आवयविक तत्व के रूप में देखी जा सकती हैं। इस काल में कुछ आलोचक ऐसे भी थे जिन्होंने पाश्चात्य और प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए स्थूल समन्वय या संमिश्रण का मार्ग निकाला। उच्च कक्षाओं में अध्ययन के लिये लिखी गई आलोचना पुस्तकों में इसी 'जोड़बटोर' वाली शैली का प्राधान्य था। प्राचीन परंपरा के कुछ आलोचकों ने भारतीय शास्त्रीय आलोचना के परंपराविहित मार्ग को ज्यों का त्यों अपनाए रखा। अलंकार ग्रंथों, टीकाओं तथा कवियों की समीक्षाओं में यही रूढ़िवादी शास्त्रीय पद्धति दिखलाई पड़ती है। पर इसे प्रभाव नहीं, अनुकरण या रूढ़िपालन मात्र समझना चाहिए। इसी तरह कुछ आलोचकों ने भारतीय परिस्थितियों तथा हिंदी साहित्य की रचनात्मक उपलब्धियों के मेल में रखे बिना ही पाश्चात्य आलोचना के सिद्धांतों को ज्यों का त्यों उद्धृत कर दिया। ऐसी आलोचना भी निश्चय ही अनुकरणात्मक है। आधुनिक भारतीय भाषाओं में से कुछ में उस समय तक रचनात्मक और आलोचनात्मक साहित्य का हिंदी की तुलना में अधिक विकास हो चुका था, अतः उनकी आलोचना पद्धतियों तथा सिद्धांतों का भी थोड़ा बहुत प्रभाव हिंदी आलोचना पर अवश्य पड़ा है। इन सब प्रभावों का संक्षिप्त आकलन कर लेना यहाँ आवश्यक है।

पूर्वपीठिका में संस्कृत साहित्यशास्त्र के विभिन्न मतवादों का विवेचन किया जा चुका है और बताया जा चुका है कि हिंदी साहित्य को प्रारंभ से लेकर अबतक किस प्रकार इन मतवादों ने प्रभावित किया है और अब भी कर रहे हैं। जिस प्रकार हिंदी साहित्य का मूल प्राचीन भारतीय साहित्य, विशेषकर संस्कृत साहित्य में निहित है, उसी प्रकार हिंदी आलोचना का मूलस्रोत भी संस्कृत साहित्यशास्त्र ही है। आलोच्य युग के प्रारंभ में द्विवेदीयुगीन समालोचक पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन, श्यामसुंदरदास आदि ने जो आलोचना लिखी वह मुख्यतः संस्कृत साहित्यशास्त्र पर ही आधारित थी। जैसा द्विवेदी युग की आलोचना के संबंध में कहा जा चुका है, पद्मसिंह शर्मा की तुलनात्मक समीक्षा रस, अलंकार, नायकनायिका भेद, ध्वनि और वक्रोक्ति के प्राचीन मार्गों पर ही चलनेवाली थी। इस प्रकार की समीक्षा का एक अन्य रूप परंपराविहित शास्त्रीय समीक्षा है जो लाला भगवानदीन तथा उनके शिष्यों द्वारा अपनाई गई थी। लाला जी अलंकारवादी थे। इसी कारण केशव की कविप्रिया और रामचंद्रिका की टीकाओं में उनकी वृत्ति अधिक रमी है। उच्च कक्षाओं के लिये पाठ्य ग्रंथ तैयार करने के उद्देश्य से इस काल में श्यामसुंदरदास, लाला भगवानदीन, गुलाबराय, रामदहिन मिश्र तथा विश्वनाथप्रसाद मिश्र जैसे कतिपय शास्त्रीय परंपरा के विद्वानों ने नाट्यशास्त्र, अलंकारशास्त्र तथा ध्वनिशास्त्र संबंधी ग्रंथ लिखे जिनमें प्राचीन शास्त्रीय सिद्धांतों और लक्षणों की विवेकपूर्ण व्याख्या की गई थी। उच्च कक्षाओं में अध्ययन के लिये ही लिखी गई कुछ पुस्तकों में भारतीय साहित्यशास्त्र के सिद्धांतों का निरूपण पाश्चात्य आलोचनात्मक सिद्धांतों के साथ साथ तुलनात्मक रूप में किया गया है। श्यामसुंदरदास के साहित्यालोचन को इस आलोचना परंपरा का आदिग्रंथ कहा जा सकता है। बाद में व्यावहारिक आलोचना में भी इस पद्धति का प्रयोग बहुत हुआ।

किंतु यह सब संस्कृत साहित्यशास्त्र का स्थूल स्वीकरण या अनुकरण मात्र था, प्रभाव नहीं। प्रभाव सूक्ष्म होता है जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार का हो सकता है। इस दृष्टि से देखने पर कहा जा सकता है कि आलोच्य युग की हिंदी आलोचना संस्कृत साहित्यशास्त्र से पूर्णतः प्रभावित और अनुप्रेरित है। शुक्ल जी जैसे समन्वयवादी आलोचक तो रस सिद्धांत के नव्य व्याख्याता और प्रबल उद्घोषक हैं ही, पाश्चात्य आलोचना से प्रेरणा ग्रहण करने वाले परवर्ती कई मूर्धन्य आलोचक भी रस, ध्वनि और वक्रोक्ति के सिद्धांतों के इतने अधिक पक्षपाती हैं कि उन्हें भी शुक्ल जी की आलोचना परंपरा में ही रखना आवश्यक हो जाता है। नंददुलारे वाजपेयी के शब्दों में 'एक प्रकार से यह शुक्ल जी के समीक्षा कार्य को ही आगे बढ़ाने का उपक्रम था। कतिपय अनुशीलनकर्ताओं ने इस नवीन समीक्षाधारा को

स्वच्छंदतावादी, सौष्ठववादी या सांस्कृतिक समीक्षाधारा भी कहा है।···इन अध्येताओं को भारतीय साहित्यिक परंपरा का भी यथेष्ट परिचय है' वाजपेयी जी ने रामकुमार वर्मा, हजारी प्रसाद द्विवेदी, सुधांशु तथा अपनी भी गणना इसी श्रेणी में की है[1]। विशुद्ध आलोचकों के अतिरिक्त कवि आलोचकों में से भी कुछ ने भारतीय आलोचनासिद्धांतों को प्रमुखता दी है। ऐसे कवियों में जयशंकर प्रसाद प्रमुख हैं जिन्होंने 'काव्य कला तथा अन्य निबंध' नामक ग्रंथ में रस, ध्वनि और वक्रोक्ति के शास्त्रीय सिद्धांतों को छायावादी काव्य का प्रमुख मानदंड माना है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आलोच्य-युग में हिंदी आलोचना पर प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्रीय परंपरा का प्रभाव बहुत ही गहरा और व्यापक था। यह प्रभाव प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में पड़ा है। प्रत्यक्ष प्रभाव का प्रमाण तो स्कूल कालेजों में पढ़ाई जानेवाली वह आलोचना है जो रस, अलंकार, गुण, रीति, शब्द-शक्तियों आदि के सैद्धांतिक और व्यावहारिक अध्ययन, अध्यापन के रूप में आज तक प्रचलित है। प्रत्यक्ष प्रभाव का दूसरा प्रमाण शुक्लजी तथा परवर्ती प्रमुख आलोचकों—नंददुलारे वाजपेयी, डा० नगेंद्र विश्वनाथप्रसाद मिश्र आदि के वे निबंध हैं जिनमें वे नवीन साहित्यिक मतवादों की आलोचना करते समय सदैव भारतीयता और भारतीय परंपरा की दुहाई देते दिखाई पड़ते हैं। अप्रत्यक्ष प्रभाव तत्कालीन हिंदी आलोचना के समन्वयात्मक स्वरूप तथा पूर्ववर्ती रूढ़िवादी और पक्षपातपूर्ण आलोचना की तुलना में अधिक उदार तथा व्यापक दृष्टि में दिखाई पड़ता है।

आधुनिक भारतीय भाषाओं में से बँगला और मराठी में आधुनिक साहित्य का प्रारंभ हिंदी से पहले ही हो गया था और इसी कारण बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों में बँगला और मराठी साहित्य का अनुवाद बहुत अधिक होता रहा। बँगला से यों तो बंकिमचंद्र, द्विजेंद्रलाल राय, माइकेल मधुसूदन दत्त आदि के ग्रंथों का हिंदी अनुवाद पहले ही हो गया था, पर इस युग में रवींद्रनाथ और शरत्चंद्र की कृतियों के हिंदी अनुवाद से हिंदी काव्य और कथासाहित्य में जो नवीन चेतना उत्पन्न हुई उसने हिंदी के रचनात्मक साहित्य को काफी दूर तक प्रभावित किया। बँगला में आलोचनात्मक साहित्य अधिक समृद्ध नहीं था; अतः उसके रचनात्मक साहित्य द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से हिंदी आलोचना कुछ न कुछ अवश्य प्रभावित हुई। हिंदी के जो आलोचक बँगला साहित्य और साहित्यकारों के अधिक संपर्क में रहनेवाले थे उनकी आलोचना पर बँगला

१ नंददुलारे वाजपेयी—नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० २०—प्रथम संस्करण।

आलोचना, विशेषकर रवींद्रनाथ की आलोचनात्मक कृतियों का, प्रत्यक्ष प्रभाव दिखलाई पड़ता है। छायावाद युग में अनेक हिंदी कवियों ने रवींद्रनाथ ठाकुर की काव्यशैली से ही नहीं, उनकी आलोचनाशैली से भी बहुत अधिक प्रभाव ग्रहण किया है। रवींद्रनाथ की आलोचना में कथ्य चाहे जो हो, शैली प्रायः काव्यात्मक और भावावेगपूर्ण है। इस शैली का प्रभाव हिंदी में पंत, निराला, रामकुमार वर्मा, शांतिप्रिय द्विवेदी और महादेवी वर्मा की आलोचनात्मक कृतियों में स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। यह नवीन काव्यात्मक आलोचनाशैली हिंदी में इसके पूर्व नहीं थी। अँगरेजी में भी आलोचना के क्षेत्र में काव्यात्मकता बहुत कम दिखलाई पड़ती है, अतः हिंदी में काव्यात्मक आलोचना शैली का प्रादुर्भाव निश्चित रूप से रवींद्रनाथ की काव्यात्मक आलोचना के प्रभाव के कारण ही मानना चाहिए। रवींद्रनाथ की गीतांजलि के समान उनके आलोचनात्मक निबंधों का भी अनुवाद और प्रचार इस युग में अधिक हुआ। अतः उनकी कविता की तरह उनकी काव्यात्मक आलोचना शैली का भी हिंदी में ग्रहण किया जाना स्वाभाविक ही था। रवींद्र नाथ की आलोचना की शैली ही नहीं, भावभूमि और विचारधारा का प्रभाव भी पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, निराला और हजारीप्रसाद द्विवेदी की आलोचनात्मक कृतियों में दिखलाई पड़ता है। विचारों की दृष्टि से रवींद्रनाथ मानवतावाद, आध्यात्मिक आदर्शवाद और सौंदर्यवाद के पोषक थे। उनके आध्यात्मिक आदर्शवादी विचारों को हिंदी में छायावाद और रहस्यवाद के समर्थक आलोचकों ने प्रभूत मात्रा में स्वीकार किया है। उनके सौंदर्यवादी विचार तो छायावाद के समर्थक प्रायः सभी आलोचकों द्वारा अपनाए गए हैं। किंतु रवींद्रनाथ की आलोचना का, विशेषरूप से उनकी मानवतावादी विचारधारा का, सर्वाधिक प्रभाव हजारीप्रसाद द्विवेदी पर पड़ा है। उनके साहित्यिक निबंधों और व्याख्यानों में यह प्रभाव साफ दिखलाई पड़ता है। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने केवल रवींद्रनाथ का ही नहीं, बँगला के कई आलोचकों और विद्वानों से अनेक रूपों में प्रभाव ग्रहण किया है। शांतिनिकेतन में काफी दिनों तक रहने के कारण उनकी विचारधारा पर रवींद्रनाथ के अतिरिक्त क्षितिमोहन सेन, विधुशेखर शास्त्री आदि विद्वानों के विचारों और शोधपूर्ण निष्कर्षों का इतना अधिक प्रभाव पड़ा है कि उनकी आलोचनापद्धति हिंदी के लिये एक नवीन वस्तु बन गई है। हिंदी में इनके पूर्व सांस्कृतिक अथवा मानवतावादी आलोचना की परंपरा वर्तमान नहीं थी। बँगला के प्रभाव के कारण ही हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा इसका सूत्रपात हुआ।

सन् १९१८ से १९४० ई० तक के हिंदी साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों और अंतर्धाराओं के विवेचन में बताया जा चुका है कि पाश्चात्य साहित्य के

संपर्क के कारण इस काल में अनेक नई साहित्यिक प्रवृत्तियों का उदय हुआ। रचनात्मक साहित्य में इन प्रवृत्तियों के ग्रहण किए जाने पर आलोचना में भी उनको स्वभावतः ग्रहण कर लिया गया। छायावादी कविता में स्वच्छंदता और रहस्यात्मकता की भावना अँगरेजी की रोमांटिक कविता से किसी न किसी रूप में प्रभावित थी। उसी तरह छायावाद की शैली और काव्यरूपों पर भी अँगरेजी रोमांटिक कविता का प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष प्रभाव था। अतः छायावादी कविता के आलोचकों के लिये अँगरेजी के रोमांटिक आलोचकों के मतों का अध्ययन करना तथा उनका समर्थन या विरोध करना आवश्यक हो गया। छायावाद का प्रारंभ होने पर प्राचीन परंपरा के आलोचकों का एक बहुत बड़ा दल उसके विरोध में खड़ा हुआ जो छायावाद को निरा बकवास और पाश्चात्य काव्य का अंधानुकरण मानता था किंतु रामचंद्र शुक्ल तथा उन्हीं जैसे दो एक और आलोचकों ने छायावाद को कुछ सहानुभूति दी। उन्होंने अँगरेजी की रोमांटिक आलोचना का अध्ययन करके उसकी अनेक बातों को स्वीकृत भी किया। रोमांटिक आलोचक कालरिज, चार्ल्स लैंब, हेजलिट् आदि ने रूसो के प्रकृतिवादी दर्शन से प्रेरणा ग्रहणकर यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि प्रकृति के साथ मनुष्य का आध्यात्मिक संबंध है, सभ्यता के उत्तरोत्तर विकास के कारण मनुष्य ने अपनी मनुष्यता बहुत कुछ खो दी है। अतः मनुष्य को पूर्ण मनुष्य बनने के लिये प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित करना चाहिए। रोमांटिक आलोचकों के इस प्राकृतिक जीवन-दर्शन को रामचंद्र शुक्ल ने अपनी आलोचना में पूर्णतः आत्मसात् कर लिया है। रोमांटिक आलोचकों की भाँति उन्होंने भी प्रकृति के सुंदर असुंदर, लघु और विराट्, सभी रूपों से रागात्मक संबंध स्थापित करने की सलाह कवियों को दी है। केवल सुंदर रूपों के प्रति आकर्षण को वे विकृत रुचि मानते थे। किंतु शुक्ल जी ने अँगरेजी की रोमांटिक आलोचनापद्धति की सभी बातों को स्वीकृत नहीं किया। यह कार्य छायावादी कविता के समर्थक आलोचकों—नंददुलारे वाजपेयी, नगेंद्र, शांतिप्रिय द्विवेदी आदि ने किया। रोमांटिक आलोचना के प्रभाव से ही इन आलोचकों ने काव्य में अलौकिक प्रेरणा तथा कल्पना की सहज उड़ान को आवश्यक माना है। वर्ड्सवर्थ ने कविता को भावनाओं का सहज उच्छ्वास कहा था। हिंदी के स्वच्छंदतावादी आलोचक भी इसी सिद्धांत को मानते हैं। वे छायावाद को स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह मानते हैं। यह सिद्धांत वस्तुतः अँगरेजी की, क्लासिसिज्म के विरुद्ध रोमांटिक विद्रोह (रोमांटिक रेवल्ट), इस शब्दावली का रूपांतर मात्र है। इस प्रकार छायावाद का समर्थन करनेवाली स्वच्छंदतावादी आलोचना पर ही अँगरेजी की रोमांटिक आलोचना का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, इस युग की आलोचना के प्रकाशस्तंभ

आचार्य रामचंद्र शुक्ल हैं जिन्होंने ऐतिहासिक और व्याख्यात्मक आलोचना की नई पद्धति चलाई। उन्होंने हिंदी साहित्य के इतिहास में प्राचीन कवियों की आलोचना तथा नए साहित्य के आकलन में सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों की विवेचना के साथ साथ आलोच्य साहित्य और साहित्यकार की प्रवृत्तियों और अंतर्वृत्तियों की बौद्धिक व्याख्या की है। आलोचना की यह पद्धति उन्होंने पाश्चात्य दार्शनिकों और आलोचकों के विचारों और आलोचना के प्रभाव से ही विकसित की। उनके इतिहास पर अँगरेजी साहित्य के इतिहास ग्रंथों, विशेषकर ऐमली लेगोइस और लुई कजामियाँ के इतिहास तथा कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंगलिश लिट्रेचर के कालविभाजन और उपस्थापन पद्धति का पूरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। प्रत्येक काल की साहित्यिक धाराओं का विभाजन करके साहित्यकारों को उनके भीतर रखकर विवेचना करने की पद्धति भी उन्होंने वहीं से ली। शुक्लजी की विचारधारा पर रोमांटिक आलोचकों के प्रभाव की बात पहले बतलाई जा चुकी है किंतु उससे भी बड़ा प्रभाव उनपर मैथ्यू आर्नाल्ड के बुद्धिवादी आलोचना सिद्धांतों तथा आइ॰ ए॰ रिचार्ड्स की मनोवैज्ञानिक आलोचनापद्धति का पड़ा है। मैथ्यू आर्नाल्ड साहित्य में बुद्धिप्रतिपादित सौंदर्य की सत्ता स्वीकार करता है। उसने साहित्य को जीवन की आलोचना मानकर उसे बुद्धिप्रतिपादित सौंदर्य के मानदंड से परखा है। उसी तरह शुक्लजी भी साहित्य को जीवन से अविच्छिन्न मानकर तथा सौंदर्य को लौकिक और बुद्धिगम्य मानकर अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन तथा साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन करते हैं। आई॰ ए॰ रिचार्ड्स की प्रसिद्ध आलोचना कृति 'साहित्यिक आलोचना के सिद्धांत' (प्रिंसिपल ऑव लिटरेरी क्रिटिसिज्म) का प्रभाव तो उनपर और भी स्पष्ट है। आई॰ ए॰ रिचार्ड्स ने मनोवैज्ञानिक उपलब्धियों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि कला और साहित्य की रचना और प्रेषणीयता का आधार मानसिक वृत्तियाँ और जीवनानुभूतियाँ हैं, इसलिये साहित्य का मूल्य जीवन के मूल्यों से भिन्न नहीं होता और न साहित्यिक अनुभूतियाँ ही वास्तविक जीवनानुभूतियों से विशिष्ट होती हैं। इसी तरह शुक्लजी भी काव्य के अंतिम लक्ष्य आनंद को लौकिक आनंद से भिन्न कोटि की वस्तु नहीं मानते और न कलात्मक सौंदर्य को आध्यात्मिक प्रेरणा या किसी अलौकिक शक्ति की देन समझते हैं। उन्होंने रस और उसके अवयवों की विवेचना में भी रिचार्ड्स की मनोवैज्ञानिक पद्धति का पूरा उपयोग किया है।

छायावादी कविता के समर्थक आलोचक जो शुक्लजी के बौद्धिक मर्यादावाद के विरोधी थे, साहित्य का किसी धार्मिक, नैतिक या आध्यात्मिक मानदंड से परीक्षण करना अनुचित समझते थे। उनके अनुसार साहित्य का मूल धर्म

सौंदर्य है जिसको अपनी स्थिति के लिये किसी साहित्येतर लक्ष्य की आवश्यकता नहीं है। साहित्य का सौंदर्य ही साहित्य का लक्ष्य है। स्पष्ट ही यह विचारधारा छायावादी कविता की अतिशय कल्पनाशील और सौंदर्यवादी चेतना की देन थी, किंतु उसको यूरोप में प्रचलित क्रोचे के अभिव्यंजनावाद तथा स्पिंगार्न और ब्रेडले के कलावादी सिद्धांत से भी पर्याप्त प्रेरणा मिली थी। हिंदी में इसी नवोदित विचारधारावाली आलोचना को ध्यान में रखकर ही रामचंद्र शुक्ल ने अभिव्यंजनावाद और सौंदर्यवाद का इतना अधिक विरोध किया था। हिंदी की सौंदर्यवादी आलोचना क्रोचे के अभिव्यंजनावाद या 'कला कला के लिये' के सिद्धांत को ज्यों का त्यों नहीं स्वीकार करती और न तो छायावादी कविता में ही अभिव्यंजनावाद को किसी आंदोलन या वादविशेष के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। फिर भी रामचंद्र शुक्ल ने मानो आतंकित होकर अभिव्यंजनावाद और कलावाद के विरोध में बहुत अधिक लिखा है। शुक्लजी की यह दूरदर्शी दृष्टि ही थी जो बाद में आनेवाली साहित्यिक प्रवृत्तियों को पहले ही से देख लेती थी। तभी तो उन्होंने प्रतीकवाद, बिंबवाद, अभिव्यंजनावाद आदि अनेक ऐसी साहित्यिक प्रवृत्तियों का विवेचन और विरोध किया है जिनका उदय प्रायः छायावाद युग की समाप्ति के बाद हुआ। छायावादी कविता में उनका कहीं पता नहीं था। यूरोपीय साहित्य में उस समय ये प्रवृत्तियाँ अवश्य प्रचलित थीं। संभवतः उन्हीं को देखकर और छायावादी कविता में उनका अनुमानकर शुक्लजी को उनके विरुद्ध कलम उठानी पड़ी थी। शुक्लजी के बाद तो काव्य में अभिव्यंजनावाद हिंदी आलोचना का एक विवादग्रस्त विषय बन गया और उसके विरोध या समर्थन में पर्याप्त आलोचनाएँ लिखी गईं। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि क्रोचे का सौंदर्य सिद्धांत, जिसे अभिव्यंजनावाद कहा जाता है, साहित्यिक आलोचना का नहीं बल्कि साहित्य और कला की रचनाप्रक्रिया का सिद्धांत है जो वस्तुतः दर्शन और सौंदर्यशास्त्र का विषय है। यूरोप में क्रोचे को साहित्यिक आलोचक के रूप में कोई नहीं स्वीकार करता। दर्शन के क्षेत्र में अवश्य उसका बहुत ऊँचा स्थान है। क्रोचे कला के निर्माण का मूल कारण या 'हेतु' प्रातिभज्ञान (इंटयुटिव नालेज) को मानता है। उसके अनुसार बाह्यगोचर जगत् की सभी वस्तुएँ द्रव्य की तरह हैं जो आत्मा के विभिन्न सौंदर्य साँचों (फार्म्स) में ढलकर प्रातिभज्ञान द्वारा मूर्तरूप में साहित्य या कला का रूप धारणकर व्यक्त होती हैं। इस प्रकार कला में आत्मिक साँचा ही सब कुछ है, उसमें ढलनेवाला द्रव्य या बाहरी वस्तु कुछ भी नहीं। उस साँचे में ढलने की क्रिया का नाम ही कल्पना है। प्रातिभज्ञान या कल्पना द्वारा ही अलग-अलग वस्तुओं के रूप ढलते हैं। ये आत्मा के भीतर ढले हुए रूप ही अभिव्यंजना हैं। इस प्रकार अभिव्यंजना बाह्य नहीं आंतरिक वस्तु है। वह प्रातिभज्ञान से अभिन्न है। इस तरह क्रोचे कविता या कला को प्रातिभज्ञान की आत्मिक

अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानता। जब तक यह अभिव्यक्ति कलाकार की आत्मा के भीतर रहती है तभी तक वह कला है। काव्य, चित्र, मूर्ति आदि के रूप में बाह्य अभिव्यक्ति हो जाने पर कला कला नहीं रह जाती, वह केवल अनुकरण होती है। क्रोचे के उपर्युक्त सिद्धांत का छायावादी कविता पर कोई प्रभाव नहीं है। हाँ, छायावादी कविता के सौंदर्यविवेचन में अवश्य इस सिद्धांत से सहायता मिल सकती है। इसी कारण लक्ष्मीनारायण सुधांशु, नगेंद्र, नंददुलारे वाजपेयी आदि शुक्लोत्तर आलोचकों ने छायावादी काव्य की विवेचना के प्रसंग में कुंतक के वक्रोक्तिवाद और क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का तुलनात्मक अध्ययन और विवेचन किया है।

क्रोचे के इस सौंदर्यशास्त्रीय अभिव्यंजनावाद का प्रभाव कुछ यूरोपीय सौंदर्यवादी आलोचकों पर भी अवश्य पड़ा था। ये 'कला कला के लिये' के सिद्धांत माननेवाले प्रभाववादी आलोचक थे। इंगलैंड के स्ट्रिनलर, वाल्टर पेटर, स्पिंगार्न क्लाइव बेल, ब्रैडले और आस्कर वाइल्ड इस कलावादी या प्रभाववादी आलोचना के प्रमुख व्याख्याता थे। इनके अनुसार कला का लक्ष्य स्वयं कला ही है। ये साहित्य और कला को धर्म, नैतिकता, राजनीति आदि किसी भी बाह्य मानदंड से परखना अनुचित समझते हैं। यदि साहित्य का लक्ष्य साहित्य ही है तो उसका नैतिक, आध्यात्मिक या सामाजिक जीवन के मूल्यों से क्या संबंध है? अतः स्पिंगार्न के अनुसार साहित्य नैतिक या अनैतिक नहीं होता। आस्कर वाइल्ड भी यही कहता है कि कोई भी साहित्यिक ग्रंथ नैतिक या अनैतिक नहीं, केवल सुंदर या असुंदर होता है। ब्रैडले के अनुसार काव्य न तो जीवन है और न जीवन का अनुकरण वह स्वयं में पूर्ण एक स्वतंत्र सत्ता है। अतः काव्य का आंतरिक सौंदर्यात्मक मूल्य ही उसका वास्तविक मूल्य है। उसमें संस्कृति, धर्म और नैतिकता से संबंधित अन्य बाहरी उपयोगितावादी मूल्य भी हो सकते हैं, किंतु इनके कारण काव्य के निजी आंतरिक मूल्य में कोई अंतर नहीं पड़ता। काव्यगत मूल्यों के अतिरिक्त काव्य के शिल्प और रूप के संबंध में भी इन आलोचकों के सिद्धांत क्रोचे के सिद्धांत के अनुरूप ही हैं। क्रोचे का अनुसरण करते हुए स्पिंगार्न ने कहा है कि सच्चा कवि काव्य संबंधी कोई नियम मानकर नहीं चल सकता। प्रत्येक कविता या कलात्मक रचना अपने ही विशिष्ट नियम से अनुशासित होती है। अतः किसी बाहरी सिद्धांत अथवा नियम के आधार पर उसकी परीक्षा नहीं होनी चाहिए। साहित्य में क्लासिकल, रोमांटिक, गीत काव्य और प्रबंध काव्य, उपन्यास और नाटक आदि भेद और उनके अलग नियम नहीं हो सकते। साहित्यकार कविता, कहानी आदि नहीं लिखता। वह तो केवल अपने को अभिव्यक्त करता है। अतः साहित्य के उतने ही भेद हो सकते हैं जितने साहित्यकार हैं। उसी तरह काव्य

की अभिव्यंजना में भी शैली अलंकार, गुण आदि भेदों का भी कोई स्थान नहीं है क्योंकि काव्य मात्र अभिव्यंजना है, वह अपने में ही पूर्ण है। अतः सफल अभिव्यक्ति ही काव्य का सौंदर्य है। इस सिद्धांत का प्रभाव भी हिंदी आलोचना पर बहुत अधिक नहीं पड़ा। हिंदी का शायद कोई भी आलोचक 'कला कला के लिये' के सिद्धांत का पूर्णतः समर्थन नहीं करता। रामचंद्र शुक्ल ने तो लोकहित को काव्य का साध्य मानने के कारण सर्वत्र इस सिद्धांत का खंडन ही किया है। पर शुक्ल युग के छायावाद के समर्थक आलोचकों को इस सिद्धांत ने, आंशिक रूप में ही सही, अवश्य प्रभावित किया है। ये स्वच्छंदतावादी या सौंदर्यवादी आलोचक के 'कला कला के लिये' के सिद्धांत का इतना अंश तो स्वीकार करते हैं कि साहित्य पर नैतिकता, धर्म आदि किसी बाह्य मूल्य का नियंत्रण नहीं होना चाहिए पर साहित्य का लक्ष्य स्वयं साहित्य को नहीं मानते। इनके अनुसार साहित्य का लक्ष्य सौंदर्यजन्य आनंद है। इस आनंद को उन्होंने भारतीय साहित्यशास्त्र के रससिद्धांत द्वारा अनुमोदित काव्यानंद के मेल में रखकर देखा है। इसी कारण प्रसाद, नंददुलारे वाजपेयी, शांतिप्रिय द्विवेदी, नगेंद्र तथा रवींद्रनाथ से प्रभावित कुछ अन्य आलोचकों ने अपनी समीक्षाओं में कलावाद और रसवाद का समन्वय करने का प्रयास किया है।

देश की परिस्थितियों के दबाव तथा गाँधी जी के नैतिक और आदर्शवादी सिद्धांतों के प्रभाव के कारण द्विवेदी युग में ही सोद्देश्य और उपयोगितावादी साहित्य की रचना पर बल दिया जाने लगा था। स्वयं महावीरप्रसाद द्विवेदी साहित्य के उपयोगितावादी लक्ष्य के सिद्धांत के समर्थक थे। गाँधीजी भी साहित्य को नैतिक और आध्यात्मिक उद्देश्य की सिद्धि का साधन मानते थे अतः गांधी जी के प्रभाव में आनेवाले छायावादयुगीन साहित्यिकों पर भी साहित्य के इस उपयोगितावादी सिद्धांत का प्रभाव पड़ा था। इसी दृष्टि से 'साहित्य किसके लिये' तथा 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' शीर्षक लेख लिखे गए और वादविवाद खड़ा किया गया। रामचंद्र शुक्ल स्वयं साहित्य के उपयोगितावादी सिद्धांत से अंशतः प्रभावित थे। वे साहित्य का लक्ष्य लोकहित साधन और लोकचित्त का परिष्कार मानते थे। प्रेमचंद ने 'कुछ विचार' शीर्षक अपने आलोचनात्मक निबंधों के संग्रह में इस सिद्धांत का जोरदार समर्थन किया है। वस्तुतः यह सिद्धांत यूरोपीय दार्शनिकों और विचारकों की देन है। प्लेटो से लेकर रस्किन और टाल्सटाय तक यूरोपीय विचारक विभिन्न रूपों में इस सिद्धांत का व्याख्यान करते आए हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में हेनरी मिल, आस्टिन आदि व्यक्तिवादी दार्शनिकों ने राजशास्त्र और अर्थशास्त्र के प्रसंग में इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया। उनके अनुसार सभी प्रकार के मानवीय प्रयत्नों का उद्देश्य 'अधिकतम व्यक्तियों का

अधिकतम हित' होना चाहिए। साहित्य में भी टाल्सटाय, रस्किन आदि ने इसे एक आलोचनात्मक सिद्धांत का रूप दे दिया। टाल्सटाय साहित्य का मूल लक्षण प्रेषणीयता तथा उसके माध्यम से मानव मात्र में एकता और भ्रातृत्व की भावना स्थापित करना ही उसका प्रधान लक्ष्य मानता है। रस्किन ने भी टाल्सटाय के समान लोकादर्श की स्थापना को ही साहित्य का लक्ष्य माना है। इन्हीं विचारकों का प्रभाव गाँधी जी के जीवन पर पड़ा था। गाँधीजी की विचारधारा तथा टाल्सटाय के उपन्यासों एवं आलोचनात्मक विचारों से प्रभावित होकर ही हिंदी आलोचना में साहित्य का उपयोगितावादी सिद्धांत प्रचलित हुआ था।

यद्यपि उपयोगितावाद का सिद्धांत व्यक्तिवादी दार्शनिकों द्वारा प्रारंभ किया गया था किंतु आगे चलकर मार्क्स और एँजिल्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवादी दर्शन के प्रभाव के कारण वह सामाजिक अथवा समाजवादी उपयोगिता के सिद्धांत के रूप में परिवर्तित हो गया। जैसा पहले कहा जा चुका है, रूस में समाजवादी क्रांति के बाद समाजवादी आलोचकों ने साहित्य का उद्देश्य आधुनिक युग में पूँजीवाद की समाप्ति, समाजवादी क्रांति और श्रमिक वर्ग के अधिनायक तंत्र की स्थापना में योग देना माना। इस तरह वे साहित्य का सोद्देश्य होना तथा वर्गसंघर्ष में शोषित वर्ग के अस्त्र के रूप में प्रयुक्त होने के योग्य होना आवश्यक मानते हैं। ऐसा साहित्य ही प्रगतिशील साहित्य होता है। जिस साहित्य में ये बातें नहीं होतीं वह या तो पूँजीवाद से प्रभावित व्यक्तिवादी या ह्रासशील होता है अथवा सामाजिक प्रगति का विरोधी और प्रतिक्रियावादी। इस प्रगतिवादी आलोचना का आधार मार्क्स और एँजिल्स के दार्शनिक सिद्धांत तथा लेनिन द्वारा की गई उनकी व्याख्याएँ हैं। यूरोप में १६३० ई० के आसपास इस विचारधारा ने काफी जोर पकड़ा और संसार के बहुत से प्रसिद्ध लेखक इस मत के अनुयायी हो गए। इंग्लैंड में अनेक नवयुवक कवियों और लेखकों ने, जिनमें से स्पेंडर, लुई मैकनीस, काडवेल आदि प्रमुख थे, प्रगतिवाद का आंदोलन ही प्रारंभ कर दिया। इनमें से काडवेलने, जो स्पेन के गृहयुद्ध में सोशलिस्ट ब्रिगेड की ओर से लड़ता हुआ मारा गया था, 'इल्यूजन एंड रियालिटी' नामक ग्रंथ लिखा जिसमें इस सिद्धांत का बहुत ही विद्वत्तापूर्ण प्रतिपादन किया गया है। काडवेल ने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार ही साहित्य को राजनीति, धर्म, संस्कृति आदि की तरह एक ऊपरी संस्थान माना है जिसकी आधार शिला अर्थ है। मानव जाति के इतिहास के विभिन्न युगों में आर्थिक व्यवस्था के अनुरूप ही धर्म, संस्कृति, साहित्य आदि का रूप गठन हुआ। आदिम युग में जब कि मानव समाज में प्रारंभिक समाजवादी व्यवस्था थी और श्रमविभाजन नहीं हुआ था, मनुष्य की भावनाएँ सामूहिक रूप में व्यक्त होती थीं। श्रमविभाजन, वैयक्तिक संपत्ति और व्यक्तिवाद का विकास होने पर सामूहिक भावनाओं

की जगह वैयक्तिक भावनाओं की अभिव्यक्ति होने लगी। तभी से साहित्य और कला का उपयोग शासक और शोषक वर्ग द्वारा अपने हित के लिये किया जाने लगा। औद्योगिक क्रांति और पूँजीवाद के प्रारंभ के साथ साहित्य में जो रोमांटिक आंदोलन प्रारंभ हुआ वह सामंतवाद के विरुद्ध मध्यवर्गीय विद्रोह की भावना की ही अभिव्यक्ति था। इस तरह प्रत्येक युग में साहित्य वर्गसंघर्ष में किसी न किसी पक्ष का समर्थन करता है अर्थात् साहित्य पक्षधर होता है। इस विवेचना द्वारा काडवेल ने यह निष्कर्ष निकाला है कि वर्तमान समय में साहित्य को व्यक्तिवादी भावनाओं का पोषण नहीं करना चाहिए बल्कि उसे समाज को बदलने, शोषक वर्ग का नाश करने और क्रांतिकारी श्रमिक वर्ग का अधिनायक तंत्र स्थापित करने में अधिक से अधिक योग देना चाहिए। इस प्रकार काडवेल ने समाजशास्त्रीय अथवा मार्क्सवादी आलोचना का प्रारंभ किया। इस आलोचना सिद्धांत का प्रभाव हिंदी साहित्य पर १९३५ ई० के बाद बड़ी तेजी से पड़ा। इस देश की सभी भाषाओं में १९३५ ई० के बाद प्रगतिशील लेखक संघों की स्थापना की गई और बड़ी धूमधाम से इस सिद्धांत के अनुसार साहित्यरचना और उससे भी अधिक आलोचना होने लगी। हमारे आलोच्य युग में यह मार्क्सवादी या प्रगतिवादी आलोचनापद्धति अभी अपनी शैशवावस्था में थी, केवल शिवदान सिंह चौहान और सुमित्रानंदन पंत ने १९३०-३८ ई० तक कुछ लेख लिखे थे। अतएव आगे यथास्थान इस संबंध में विशेष रूप से विचार किया जायगा।

मनोविश्लेषणशास्त्रीय सिद्धांतों से प्रभावित कथा साहित्य और काव्य की रचना तो छायावाद युग का अंत होते होते प्रारंभ हो गई थी, पर इस मतवाद से प्रभावित आलोचना का उस समय तक एक भिन्न समीक्षापद्धति के रूप में प्रारंभ नहीं हुआ था। इस सिद्धांत की उपपत्तियों का परिचय तत्कालीन साहित्य की अंतर्धाराओं के प्रसंग में दिया जा चुका है। हिंदी आलोचना पर मनोविश्लेषण शास्त्र का प्रभाव १९४० ई० के बाद पड़ना प्रारंभ हुआ जब कि हिंदी में प्रयोगवादी कविता एक आंदोलन के रूप में शुरू हुई और अज्ञेय, इलाचंद्र जोशी और नलिनविलोचन शर्मा ने इस दिशा में पथप्रदर्शन का काम किया। इनके पूर्व नरोत्तमप्रसाद नागर ने कुछ उपन्यासों को लेकर इस पद्धति से कुछ लेख लिखे थे। यूरोपीय देशों में प्रयोगशील साहित्य और अतियथार्थवादी काव्य की विवेचना में इस आलोचनापद्धति का पर्याप्त उपयोग किया जा रहा था। अँगरेजी में टी० एस० इलियट, आडेन, डाइलन टामस आदि कवियों तथा जेम्स ज्वायस, फिलिप टायन्बी आदि के उपन्यासों के संबंध में जो आलोचनाएँ लिखी गईं उनमें भी इस पद्धति का प्रयोग मिलता है।

तृतीय अध्याय

सैद्धांतिक आलोचना

आलोचना के दो पक्ष होते हैं, सैद्धांतिक और व्यावहारिक। ये दोनों एक दूसरे के पूरक होते हैं। एक के बिना दूसरे पक्ष के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। यह दूसरी बात है कि कहीं पहला पक्ष दुर्बल और दूसरा सशक्त होता है, कहीं दूसरा दुर्बल और पहला सशक्त होता है और कहीं दोनों की शक्ति समान होती है। प्राचीन भारतीय समीक्षा में सिद्धांत पक्ष ही अधिक व्यापक और सुदृढ़ था, व्यवहार पक्ष केवल लक्षणों के उदाहरण तक ही सीमित था। किसी कवि या उसके समस्त काव्यसाहित्य के संबंध में स्वतंत्र रूप से गुण-दोष-विवेचन करने या उसकी विशेषताओं, मूल प्रवृत्तियों और प्रेरणाओं का अन्वेषण और उद्घाटन करने की पद्धति यहाँ नहीं प्रचलित थी। हिंदी में व्यावहारिक समीक्षा का व्यापक प्रचार पाश्चात्य समीक्षा के प्रभाव से हुआ। यह आश्चर्य की बात है कि परंपरागत भारतीय साहित्यशास्त्र का सैद्धांतिक पक्ष इतना सुदृढ़ होते हुए भी हिंदी में आधुनिक आलोचना का प्रारंभ सैद्धांतिक आलोचना से नहीं, व्यावहारिक आलोचना से हुआ। द्विवेदी युग तक जो व्यावहारिक समीक्षा लिखी जाती रही उसका सैद्धांतिक आधार प्राचीन भारतीय या पाश्चात्य साहित्यशास्त्र था, हिंदी का कोई अपना आधुनिक साहित्यशास्त्र अभी तक नहीं निर्मित हो सका था। किंतु दोनों ही समीक्षा पद्धतियों से संबंधित कोई स्वतंत्र और व्याख्यात्मक सिद्धांत ग्रंथ भी अभी तक नहीं निर्मित हो पाया था। संस्कृत साहित्यशास्त्र के ग्रंथों की छायानुकृति तो पहले ही से होती आ रही थी। इस युग में अनुवाद तथा उनके आधार पर नए ग्रंथों के निर्माण का कार्य भी हुआ। इस तरह द्विवेदी युग में आधुनिक ढंग की सैद्धांतिक समीक्षा का विकास नहीं हो पाया था। आधुनिक सैद्धांतिक समीक्षा का वास्तविक रूप द्विवेदी युग के बाद के युग में ही विकसित हुआ। इस नए युग को आलोचना की दृष्टि से शुक्ल युग कहा जाता है। शुक्ल युग की सैद्धांतिक आलोचना का परीक्षण यहां निम्नलिखित वर्गों में रखकर किया जायगा—१. शास्त्रीय आलोचना, २. समन्वयात्मक आलोचना, ३. स्वच्छंदतावादी और अभिव्यंजनावादी आलोचना, ४. उपयोगितावादी आलोचना, ५. मनोविश्लेषणात्मक आलोचना और ६. समाजशास्त्रीय आलोचना।

(क) शास्त्रीय आलोचना

शास्त्रीय आलोचना से हमारा तात्पर्य उस सैद्धांतिक और व्यावहारिक समीक्षा से है जिसका आधार पूर्णतः प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्र है। भारतेंदु युग में यह पद्धति केवल रीति ग्रंथों की रचना के रूप में वर्तमान थी पर द्विवेदी युग में वह व्यावहारिक समीक्षा के अंतर्गत तुलनात्मक पद्धति लेकर उपस्थित हुई। शुक्ल युग (छायावाद युग) में भी शास्त्रीय समीक्षा की वह पद्धति चलती रही। इस काल में इस पद्धति के प्रमुख आचार्य लाला भगवान दीन, अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध, अर्जुनदास केडिया; और कन्हैयालाल पोद्दार थे। इन लोगों ने या तो संस्कृत साहित्यशास्त्र के ग्रंथों के आधार पर हिंदी गद्य में नए अलंकार ग्रंथ लिखे, या हिंदी के प्राचीन कवियों और आलंकारिकों के ग्रंथों की शास्त्रीय विवेचना करते हुए टीकाएँ लिखीं, अथवा शास्त्रीय आधार पर कवियों की व्यावहारिक आलोचनाएँ लिखीं जो तुलनात्मक और व्याख्यात्मक दोनों ही शैलियों में थीं। लाला भगवान दीन द्विवेदी युग के प्रख्यात शास्त्रीय आलोचकों में से थे और इस युग में भी वे टीकाओं और भूमिकाओं के अतिरिक्त तुलनात्मक आलोचनाएँ लिखते रहे। केशवदास की कविप्रिया और रामचंद्रिका की टीकाएँ इसी युग में लिखी गई। देव और बिहारी को लेकर खड़े विवाद में उन्होंने भी भाग लिया था और सन् १९२६ ई० में उनका बिहारी और देव ग्रंथ प्रकाशित हुआ था जिसमें उनकी तुलनात्मक शैली की समीक्षा का निखरा रूप दिखाई पड़ता है। भूमिकाओं में दीनजी ने व्याख्यात्मक पद्धति भी अपनाई है पर आलोचना का आधार शास्त्रीय ही है। हरिऔधजी का रसकलस (सन् १९३१ ई०) रस सिद्धांत का ग्रंथ है जिसमें प्रारंभ में एक काफी लंबी भूमिका देकर रस मत की विवेचना की गई है। मूल ग्रंथ में प्राचीन लक्षण-उदाहरणवाली पद्धति ही अपनाई गई है पर विशेषता यह है कि लक्षण गद्य में और उदाहरण ब्रजभाषा पद्य में और कवि के अपने रचे हैं। कुछ रसों तथा नायिकाओं के वर्गीकरण में हरिऔधजी ने युगानुरूप नवीन उद्भावनाएँ भी की हैं। अर्जुनदास केडिया का 'काव्य कल्पद्रुम' (सन् १९२१ ई०) परंपरागत भारतीय साहित्यशास्त्र का व्याख्यात्मक ग्रंथ है जिसमें वर्गीकरण की पद्धति और लक्षण आदि पुराने ही रखे गए है, यद्यपि लक्षण गद्य में और उदाहरण ब्रजभाषा पद्य में हैं। अर्जुनदास केडिया के 'भारतीभूषण' (सन् १९३० ई०) में केवल अलंकारों का वर्गीकरण और लक्षण उदाहरण उपस्थित किया गया है। इनके अतिरिक्त इस युग में रमाशंकर शुक्ल रसाल ने अलंकारपीयूष, बिहारीलाल भट्ट ने साहित्यसागर और शुकदेवबिहारी मिश्र तथा प्रतापनारायण मिश्र ने साहित्यपारिजात नामक काव्यशास्त्रीय ग्रंथों की रचना की।

इनमें से रसाल जी का अलंकारपीयूष मुख्यतः लक्षण उदाहरण का ग्रंथ न होकर अलंकारशास्त्र का आलोचनात्मक ग्रंथ है जिसमें अलंकारशास्त्र का इतिहास, और अलंकारों का वर्गीकरण तथा उनके भेदोपभेदों की विवेचना की गई है इस दृष्टि से यह अलंकारशास्त्र के क्षेत्र में सर्वथा नवीन प्रयास है। शास्त्रीयपद्धति की व्यावहारिक आलोचना भी इस युग में लिखी जाती रही जिसका विवेचन बाद में यथास्थान किया जायगा।

(ख) समन्वयात्मक आलोचना

परंपरा का पूर्ण परित्याग किसी भी देश के लिये न तो श्रेयस्कर होता है न आवश्यक। जातियों का विकास सांस्कृतिक परंपराओं के पुनर्नवीकरण तथा नवीन परंपराओं की स्थापना द्वारा ही होता है। जो जाति अपनी प्राचीन रूढ़ियों से चिपकी अथवा प्राचीन जातीय गौरव के मोह में फँसी रहती है वह अन्य जातियों के साथ विकास की प्रतियोगिता में पिछड़कर आत्महनन करती है। अतः यदि द्विवेदी युग के बाद की हिंदी आलोचना रूढ़िबद्ध शास्त्रीय पद्धति को छोड़ कर सांस्कृतिक अंतरावलंबन पर आधारित नवीन समन्वयात्मक पथों पर बढ़ने लगी तो वह हिंदी साहित्य ही नहीं, भारतीय जाति के भी विकास और अभिवृद्धि की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य था। विश्वविद्यालयों की उच्च कक्षाओं में हिंदी साहित्य के अध्यापन का प्रारंभ होने के साथ ही यह आवश्यकता प्रतीत हुई कि हिंदी का पाठ्यक्रम भी प्राचीन भाषाओं तथा अँगरेजी साहित्य के पाठ्यक्रम के समान होना चाहिए। इसके लिये हिंदी भाषा और साहित्य के इतिहास भाषाविज्ञान तथा भारतीय और पाश्चात्य आलोचना के ग्रंथों की आवश्यकता हुई इसके साथ ही हिंदी का भांडार भरने की दृष्टि से भी विद्वानों ने इन विषयों से संबंधित ग्रंथ लिखने की आवश्यकता समझी। विश्वविद्यालयों से हिंदी में एम. ए. की परीक्षा उत्तीर्णकर निकलनेवाले व्युत्पन्न और मेधावी नवयुवकों ने भी उत्साहपूर्वक आलोचनात्मक ग्रंथ लिखने की दिशा में कदम बढ़ाया। इस प्रकार प्रारभ में जो आलोचनात्मक साहित्य निर्मित हुआ वह बहुत कुछ समन्वयात्मक ही था किंतु बाद में समन्वय की धारा अधिकाधिक स्वच्छंदता और नवीनता की ओर मुड़ती गई। इस युग के सर्वश्रेष्ठ दो आलोचक डा० श्यामसुंदर दास और रामचंद्र शुक्ल समन्वयात्मक समीक्षा के प्रवर्तक और नियामक थे। यह समन्वय दो रूपों में दिखाई पड़ता है, पहला भारतीय और पाश्चात्य साहित्यसिद्धांतों के संकलन, संमिश्रण और तुलना के रूप में और दूसरा दोनों के सिद्धांतों का सम्यक् अध्ययन करके उनके आधार पर एक नवीन संश्लिष्ट और समन्वित समीक्षापद्धति की उद्भावना के रूप में। इन दोनों को क्रमशः संमिश्रणात्मक समन्वय पद्धति और संश्लेषणात्मक समन्वय पद्धति कहा जा सकता है।

संमिश्रणात्मक समन्वयपद्धति

इस आलोचनापद्धति के प्रवर्तक डा॰ श्यामसुंदर दास थे। व्यावहारिक आलोचना में जो तुलनात्मक पद्धति महावीरप्रसाद द्विवेदी और पद्मसिंह शर्मा ने चलाई थी यह उसी का सैद्धांतिक आलोचना में रूपांतर प्रतीत होता है। व्यावहारिक तुलनात्मक समीक्षा में एक भाषा या भिन्न भिन्न भाषाओं के दो कवियों के काव्य की तुलना और उनके गुण दोषों का निर्णयात्मक ढंग से विवेचन किया जाता था पर इस संमिश्रणात्मक समन्वय पद्धति की सैद्धांतिक आलोचना में दो भाषाओं या दो सांस्कृतिक परंपराओं में प्रचलित साहित्य सिद्धांतों की तुलना और समीकरण किया जाता है। श्यामसुंदर दास ने एम. ए. कक्षा में आलोचना पढ़ाने के लिये अँगरेजी के आलोचनात्मक ग्रंथों तथा संस्कृत के अलंकार ग्रंथों का सार इकट्ठा करके साहित्यालोचन (सन् १९२२) नामक अपने जिस प्रसिद्ध ग्रंथ की रचना की उसमें संकलन और संमिश्रण की यही पद्धति अपनाई गई है। श्यामसुंदर दास ने इस ग्रंथ में मौलिकता का दावा नहीं किया है। उसके प्रथम संस्करण की भूमिका में यह स्वीकार किया है कि अपने ग्रंथ की सामग्री उन्होंने अँगरेजी और संस्कृत के ग्रंथों से ली है पर विषयप्रतिपादन का दृष्टिकोण उनका अपना है। वस्तुतः यह ग्रंथ अन्य ग्रंथों का निचोड़ और सारसंकलन ही है। साहित्यालोचन के विषयविभाजन शीर्षकों के नामकरण तथा उपस्थापन विधि के साथ साथ उसकी विचारवस्तु के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है। प्रारंभ. कलाओं का विभाजन और विवेचन वर्सफील्ड की पुस्तक जजमेण्ट इन लिटरेचर' के आधार पर किया गया है। बहुत से लोग तो साहित्यालोचन को विलियम हेनरी हडसन की पुस्तक 'ऐन इण्ट्रोडक्शन टू दी स्टडी, आफ लिटरेचर' की छाया मात्र मानते हैं। इसमें संदेह नहीं कि साहित्यालोचन के काव्य, साहित्य शैली, उपन्यास, कहानी और आलोचनावाले अंशों का बहुलांश हडसन की पुस्तक का अनुवाद मात्र है। उसी तरह भारतीय सिद्धांतों विशेषकर दृश्यकाव्य और रस के विवेचन में विश्वनाथ कविराज के साहित्यदर्पण और भरतमुनि के नाट्यशास्त्र का पूर्णतः अनुसरण किया गया है। ग्रंथ के दूसरे संस्करण में बहुत सी नई सामग्री जोड़ी गई है और लेखक ने कुछ अपने विचार भी दिए हैं पर साथ ही रसनिष्पत्ति के संबंध में चार मतों की चर्चा करते हुए केशवप्रसाद मिश्र का एक लेख 'मधुमती भूमिका' भी पूरा का पूरा उद्धृत कर दिया गया है। उसी तरह परिशिष्ट में पद्मनारायण आचार्य द्वारा लिखित "शब्दशक्तियों से संबंधित एक निबंध भी संमिलित कर लिया गया है। इस तरह साहित्यालोचन में संकलन वृत्ति की ही प्रधानता दिखाई पड़ती है।

साहित्यालोचन की संमिश्रणात्मक समन्वय की पद्धति आगे चलकर

केवल संकलनात्मक न रहकर विवेचनात्मक और निर्णयात्मक हो गई। गुलाबराय ने सन् १६२८ ई० में 'नव रस' नामक एक रससिद्धांत का ग्रंथ लिखा जिसमें रसविचार के साथ साथ भावों का मनोवैज्ञानिक विवेचन भी प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रंथ का उद्देश्य साहित्यालोचन से भिन्न था। साहित्यालोचन साहित्यशास्त्र के विद्यार्थियों और अध्येताओं के लिये लिखा था पर नवरस का उद्देश्य रस-सिद्धांतों में मान्य भावों का मनोविज्ञान समझाना है। इसलिये लेखक ने रसों का वर्गीकरण करके उनके संबंध में यथास्थान मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन किया है। उनका उद्देश्य तो शुभ है पर विवेचनापद्धति संश्लेषणात्मक न होने से रसविवेचन और मनोवैज्ञानिक विवेचन अलग अलग दिखाई पड़ते हैं। नवरस की पद्धति संकलनात्मक तो नहीं है लेकिन संश्लेषणात्मक भी नहीं है। उसे हम विवेचनात्मक और तुलनात्मक समन्वय की पद्धति कह सकते हैं। यह पद्धति अपने विकसित और पुष्ट रूप में सन् १६०८ ई० के बाद विश्वविद्यालयों के विद्वत्तापूर्ण वातावरण में शैक्षणिक आलोचना (एकेडमिक क्रिटिसिज्म) के रूप में परिणत हुई। शुक्ल युग में डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने व्यावहारिक समीक्षा में तथा शुक्लोत्तर युग में डा० नगेंद्र ने अपने सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक समीक्षासंबंधी ग्रंथों में इसी पद्धति को अपनाया है। इन आलोचकों ने भी श्यामसुंदर दास की तरह ही भारतीय और पाश्चात्य आलोचना सिद्धांतों को साथ साथ रखा है पर उनसे आगे बढ़कर इन्होंने उनका तुलनात्मक विवेचन भी प्रस्तुत किया है। डा० नगेंद्र की परवर्ती आलोचना साहित्य के रीतिवादी या शास्त्रीय हो जाने का कारण उनके द्वारा स्वच्छंदतावादी आलोचनापद्धति को छोड़कर इस संमिश्रणात्मक समन्वय की विवेचात्मक पद्धति का अपनाया जाना ही है। उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के ग्रंथों और मतवादों का गहन अध्ययन करके उनकी जो विवेचना की है अथवा उनके जो अनुवाद किए हैं उनसे उपर्युक्त कथन प्रमाणित हो जाता है।

'साहित्यालोचन' की पद्धति अपनाकर रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने भी सन् १६३१ ई० में 'आलोचनादर्श' लिखा जो साहित्यसिद्धांत का ग्रंथ न होकर आलोचना सिद्धांत का ग्रंथ है। इस दृष्टि से यह हिंदी में अपने ढंग का पहला ग्रंथ था जिसमें आलोचना की परिभाषा, उसके ऐतिहासिक विकास तथा हिंदी आलोचना की प्रगति आदि का विवरण उपस्थित किया गया है। एक तरह से यह हिंदी आलोचना का आलोचनात्मक इतिहास है। आलोचना के रूप प्रकारों के वर्गीकरण में लेखक ने पाश्चात्य समीक्षापद्धतियों का हवाला देते हुए भी उनका गंभीर सैद्धांतिक विवेचन नहीं किया है जिससे यह पुस्तक सामान्य परिचयात्मक कोटि की हो गई है।

संश्लेषणात्मक समन्वय पद्धति

समन्वयात्मक समीक्षा का दूसरा रूप वह है जिसमें पाश्चात्य और भारतीय साहित्य सिद्धांतों को पूर्णतः आत्मसात् करके गंभीर मनन और निरीक्षण द्वारा हिंदी का अपना निजी समीक्षाशास्त्र निर्मित करने का प्रयत्न किया गया है। यह नवीन समन्वयवादी समीक्षा न तो भारतीय साहित्यशास्त्र की उद्धरणी है न पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का अनुकरण। इसके प्रवर्तक आचार्य रामचंद्र शुक्ल थे जिन्होंने अपनी अकाट्य तर्कना शक्ति, सूक्ष्म और तलस्पर्शिनी दृष्टि और मौलिक उद्भावना की क्षमता द्वारा पाश्चात्य और भारतीय साहित्य के महान् आचार्यों की श्रेणी में अपना स्थान बना लिया। उनकी समीक्षा का दृष्टिकोण है तो मूलतः भारतीय ही, उसमें संकीर्णता और गतानुगतिकता के लिये कोई स्थान नहीं है। परंपरागत शास्त्रीय सिद्धांतों को उन्होंने ज्ञान-विज्ञान की अधुनातन उपलब्धियों की कसौटी पर कसकर ही स्वीकृत किया है। इस परीक्षण की प्रक्रिया में प्राचीन भारतीय सिद्धांतों की उन्होंने जो व्याख्या की है वह बहुत कुछ प्राचीन आचार्यों की व्याख्या से भिन्न है। इस कारण उन्हें परंपरावादी आलोचक नहीं कहा जा सकता। भारतीय साहित्यशास्त्र के जो पारिभाषिक शब्द रूढिबद्ध होकर अर्थहीन हो गए थे, अपनी व्याख्याओं द्वारा उन्होंने उनमें नई अर्थवत्ता भरकर प्राचीन भारतीय सिद्धांतों को नवीन मूल्य प्रदान किया। ये नए साहित्यिक मूल्य समाजशास्त्रीय, वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक पीठिका पर आधारित हैं। मैथ्यू आर्नल्ड और आइ॰ए॰ रिचार्ड्स की भाँति शुक्ल जी भी साहित्यिक अनुभूतियों को जीवनानुभूतियों से अभिन्न मानते हैं। इस कारण एक ओर तो उन्होंने भारतीय रससिद्धांत की अलौकिकतापरक व्याख्या को अस्वीकृत करके उसे सर्वथा लौकिक सिद्ध किया और दूसरी ओर पाश्चात्य समीक्षा के क्षेत्र में प्रचलित, जीवन से असंपृक्त, अनेक नए नए और फैशनेबुल समीक्षा सिद्धांतों या वादों का तर्कपूर्ण ढंग से खंडन किया। शुक्लजी बुद्धिवादी थे और इसी लिये उन्होंने साहित्य की बुद्धिपरक व्याख्या की है। अपने विवेक की कसौटी पर कसे बिना वे किसी भी पाश्चात्य या भारतीय सिद्धांत को स्वीकृत या अस्वीकृत नहीं करते। इस तरह भारतीय सांस्कृतिक चेतना और पाश्चात्य वैज्ञानिक और बुद्धिवादी दृष्टिकोण का समन्वयकर उन्होंने हिंदी में एक नवीन विश्लेषणात्मक समीक्षा पद्धति का प्रारंभ किया। जीवन को साहित्य का आधार मानने के कारण एक ओर तो उन्होंने साहित्य को युगीन राजनीतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक परिप्रेक्ष्य में रखकर देखा है, दूसरी ओर उसके मूल प्रेरणास्रोतों और उद्देश्यों का परीक्षण यथार्थ जीवन के मनोवैज्ञानिक और वैज्ञानिक धरातल पर रखकर किया है किंतु जीवन के प्रति उनकी दृष्टि आदर्शवादी और मर्यादा

वादी थी जो भारतीय जीवनादर्शों के बिलकुल अनुरूप थी। पाश्चात्य देशों की यथार्थवादी जीवनदृष्टि को उन्होंने केवल साधन के रूप में स्वीकृत किया। इसी से आदर्शवादी होते हुए भी वे यथार्थवाद के विरोधी नहीं हैं। उन्होंने भारतीय आदर्शवाद और पाश्चात्य यथार्थवाद का सुंदर सामंजस्य उपस्थित करके अपनी नवीन और मौलिक दृष्टि का परिचय दिया है। यही नहीं, सैद्धांतिक और व्यावहारिक समीक्षा के अलग अलग कटघरों को तोड़कर उन्होंने दोनों को समन्वित इसी कारण किया है कि वे युगीन परिस्थितियों और नवोपलब्ध ज्ञान विज्ञान की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। युगीन परिस्थितियों ने उन्हें साहित्य को समाज के परिप्रेक्ष्य में रखकर देखने का बोध दिया। बीसवीं शताब्दी में सामंती जीवन के मूल्यों के ध्वस्त हो जाने पर सामंती युगों में निर्मित अलंकारग्रंथों में निर्दिष्ट संकीर्ण मार्गों का अवलंबन करना रामचंद्र शुक्ल जैसे बुद्धिवादी आलोचक के लिये संभव नहीं था। उन्नीसवीं शताब्दी में ही भारत में जिस मध्यवर्गीय चेतना का विकास होने लगा था और आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, देवसमाज, प्रार्थनासमाज आदि के सुधारवादी आंदोलन जिसकी सामाजिक परिणति थे, वह बीसवीं शताब्दी में और भी बलवती हो गई। उसी मध्यवर्गीय चेतना ने इस युग में मानवतावाद, लोकहितवाद, उपयोगितावाद आदि विचारों को जन्म दिया जिनके प्रतीकपुरुष महात्मा गाँधी थे। साहित्य में भी उन विचारों की अभिव्यक्ति स्वाभाविक थी। अतः शुक्लजी की आलोचना में भी लोकहितवाद मानदंड के रूप में स्थापित दिखाई पड़ता है। उन्होंने काव्य का मुख्य उद्देश्य लोकचित्त का परिष्कार माना है। लोकचित्त के परिष्कार के बिना लोकहित संभव नहीं है। साथ ही लोकहित का स्वरूपनिर्धारण लोकजीवन के साथ गहरे संपर्क तथा उसकी स्थिति के सम्यक् ज्ञान से ही हो सकता है। इसलिये शुक्ल जी ने लोकजीवन के साथ साहित्यकार के घनिष्ठ संपर्क पर बहुत अधिक बल दिया है। लोकमानस और लोकजीवन को शुक्ल जी व्यक्तिमानस और व्यक्तिजीवन से अभिन्न मानते हैं; फलतः वे पाश्चात्य ढंग के व्यक्तिवैचित्र्यवाद अथवा व्यक्तिवादी जीवनदर्शन के विरोधी हैं।

इस प्रकार रामचंद्र शुक्ल ने साहित्य को परखने का एक नवीन आदर्शवादी प्रतिमान स्थिर किया जो पाश्चात्य उपयोगितावादी मूल्यांकन का भारतीयकरण था। साधारणतः यह समझा जाता है कि रामचंद्र शुक्ल आइ० ए० रिचार्ड्स के आलोचना सिद्धांत से प्रभावित हुए हैं, पर यह धारणा नितांत भ्रममूलक है। रिचार्ड्स ने साहित्य के मनोवैज्ञानिक मूल्य को ही उसका प्रतिमान माना है। उसका सिद्धांत सभी कलाओं के लिये है और साहित्य को भी उसने एक कला ही माना है। इसके विपरीत शुक्ल जी साहित्य या काव्य को कला माननेवालों के

घोर विरोधी हैं। उनकी समीक्षा शुद्ध साहित्यिक समीक्षा है। रिचार्ड्स ने काव्य की रचनाप्रक्रिया पर भी पर्याप्त विचार किया है और कवि के अचेतन मन को काव्य का मूल उत्स माना है, पर शुक्ल जी ने इस संबंध में अधिक विचार नहीं किया है। रिचार्ड्स ने जीवनमूल्यों की विवेचना मनोविज्ञान के आधार पर की है और अपने मत की पुष्टि के लिये उसने नृतत्वशास्त्र, समाजशास्त्र और सौंदर्यशास्त्र का सहारा लिया है पर शुक्ल जी की समीक्षा का आधार मनोविज्ञान और नीतिशास्त्र (एथिक्स) है। इस तरह रिचार्ड्स और रामचंद्र शुक्ल की समीक्षा-पद्धतियों में बहुत अधिक असमानता है। पर उनमें कुछ समानता भी है जिसके आधार पर शुक्लजी को रिचार्ड्स से प्रभावित मान लिया गया है। शुक्लजी की समीक्षा का मूलाधार भी मनोविज्ञान ही है। इस दृष्टि से चिंतामणि के लोभ और प्रीति, क्रोध, उत्साह, श्रद्धाभक्ति आदि मनोवैज्ञानिक निबंध उनके समीक्षात्मक साहित्य के ही अंतर्गत आते हैं। इनके अतिरिक्त अपने आलोचनात्मक निबंधों और ग्रंथों में भी उन्होंने प्रतिभा, मन, बुद्धि, स्मृति, कल्पना, भावना, प्रेरणा आदि मनोवैज्ञानिक विषयों पर कहीं संक्षेप में और कहीं विस्तार से विचार किया है। रिचार्ड्स ने भी अपने 'साहित्यसमीक्षा के सिद्धांत, (प्रिंसिपुल्स आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म) नामक पुस्तक में आनंद, (प्लेज़र), भावना (इमोशन), स्मृति (मेमरी), दृष्टिकोण (ऐटिच्यूड) और कल्पना (इमैजिनेशन) जैसे मनोविज्ञान के विषयों पर अलग अलग अध्याय लिखे हैं तथा शेष पुस्तक में भी सर्वत्र उनकी वैचारिक भूमि मुख्यतः मनोवैज्ञानिक ही है किंतु दोनों का यह साम्य केवल विषयगत ही है। शुक्लजी ने मनोवैज्ञानिक विषयों का विवेचन शास्त्रीय आधार पर नहीं किया है, उसमें उनकी पकड़ सर्वथा मौलिक है और इसीलिये कहीं कहीं मनःशास्त्र के सिद्धांतों से वे पूर्णतः संमत भी नहीं हैं। पर रिचार्ड्स की स्थापनाएँ मनोविज्ञान के मान्य सिद्धांतों पर आधारित होने से पूर्णतः वैज्ञानिक हैं। दूसरी बात यह है कि शुक्ल जी ने मनोवैज्ञानिक विषयों की विवेचना मुख्यतः रससिद्धांत की व्याख्या के लिये की है और इस तरह रस-सिद्धांत को प्रथम बार एक पुष्ट वैज्ञानिक आधार प्रदान किया है। पर रिचार्ड्स ने मनोविज्ञान के आधार पर 'मनोवैज्ञानिक मूल्यवाद' का अपना मौलिक साहित्य-सिद्धांत उद्भावित किया है। शुक्लजी ने रससिद्धांत के अंतर्गत साधारणीकरण की व्याख्या में रिचार्ड्स के प्रेषणीयता के सिद्धांत से अपने मत की जो पुष्टि की है उसे भी शुक्लजी पर रिचार्ड्स का प्रभाव नहीं कहा जा सकता है।

इस तरह रिचार्ड्स और रामचंद्र शुक्ल दोनों की आलोचना का आधार मुख्यतः मनोविज्ञान है पर दोनों में अंतर यह है कि रिचार्ड्स ने साहित्य का मूल्य मनोविज्ञान की दृष्टि से आँका है और शुक्लजी ने साहित्य की दृष्टि से। रसमीमांसा में

भावों की व्याख्या और उनके वर्गीकरण में उनकी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की यह साहित्यिक पद्धति स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। साहित्यिक दृष्टि प्रधान न होने के कारण कहीं कहीं तो उन्होंने मनोवैज्ञानिकों से अपना मतभेद भी प्रकट किया है। भाव के विवेचन में उन्होंने भाव की तीन दशाएँ—भावदशा, स्थायीदशा और शीलदशा—बताते हुए लिखा है 'मनोविज्ञानियों ने 'स्थायी दशा' और 'शील दशा' के भेद की ओर ध्यान न देकर दोनों प्रकार की मानसिक दशाओं को एक ही में गिना दिया है। उन्होंने रति, बैर, धनतृष्णा, इंद्रियपरायणता, अभिमान इत्यादि सबको स्थायी भावों की कोटि में डाल दिया है। पर मैंने जिस आधार पर भेद करना आवश्यक समझा है उसका विवरण ऊपर दिया जा चुका है[1]।' इससे मनोविज्ञान में उनकी गहरी पैठ का पता चलता है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि शुक्ल जी मनोविज्ञान के आचार्य थे। वस्तुतः उन्होंने साहित्य की ओर से मनोविज्ञान में प्रवेश किया था, मनोविज्ञान की दिशा से साहित्य में नहीं आए थे। फलतः उनकी दृष्टि मौलिक और स्वतंत्र थी। उदाहरणार्थ उन्होंने 'भाव की जो परिभाषा दी है उसकी शब्दावली साहित्य की है, मनोविज्ञान की नहीं; जैसे—'मन के प्रत्येक वेग को भाव नहीं कह सकते, मन का वही वेग 'भाव' कहला सकता है जिसमें चेतना के भीतर आलंबन आदि प्रत्यय रूप से प्रतिष्ठित होंगे[2]।' शुक्ल जी ने साहित्य सिद्धांतों की विवेचना में मनोवैज्ञानिकों से उतनी ही सहायता ली है जितनी उन्हें अपेक्षित थी। इसी कारण मनोविज्ञान के अन्य आचार्यों के ग्रंथों का हवाला न देकर उन्होंने शैंड के 'शील के आधार' (फाउंडेशन आफ कैरेक्टर) नामक ग्रंथ का ही सबसे अधिक उल्लेख किया है। यद्यपि उन्होंने मनोविश्लेषण शास्त्र के चेतन मन और अचेतन मन के सिद्धांत को भी स्वीकार किया है[3] तथा सहजात वृत्ति (इंस्टीक्टस), संवेग (इम्पुलसेज), संवेदना, (सेन्सेशन), प्रत्यय (कांसेप्ट), अनुभूति (इक्सपीरियेंस), बुद्धि (इंटलेक्ट), इच्छा (डिजायर), स्मृति (मेमोरी), कल्पना (ओमेन्सीमेशन), स्वयंप्रभ ज्ञान (इंटुटन) आदि से संबंधित मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों को यथावत् स्वीकृत कर लिया है, पर उनकी व्याख्या में दूर तक नहीं गए हैं।

१ रसमीमांसा—रामचंद्र शुक्ल—प्रथम संस्करण—पृ० १८७।

२ वही, पृ० १८६।

३ 'भावों की प्रक्रिया की समीक्षा से पता चलता है कि उदय से अस्त तक भाव मंडल का कुछ भाग तो आश्रय की चेतना के प्रकाश में कान्शस में रहता है और कुछ अंतःसंज्ञा के क्षेत्र में छिपा रहता है।—वही, पृ० ६५।

साहित्य का मानवचरित्र से घनिष्ट संबंध होने के कारण उन्होंने शैंड के सिद्धांतों और परिभाषाओं अधिक ग्रहण किया है[1]। उनका भावविवेचन तो मुख्यतः शैंड की पुस्तक पर ही आधारित है।

साहित्य का मूल्य और रामचंद्र शुक्ल

पहले कहा जा चुका है कि रामचंद्र शुक्ल का दृष्टिकोण मर्यादावादी और नैतिक था। अतः उनकी दृष्टि में साहित्य का मूल्यनिर्धारक भी लोकमर्यादा या नीति ही है। लोकहित, लोकमंगल, लोकधर्म, शेष सृष्टि के साथ रागात्मक संबंध, लोकचित्त का परिष्कार, आनंदमगल की साधनावस्था आदि अनेक नामों और प्रसंगों द्वारा उन्होंने मूलतः उसी सामाजिक या मर्यादावादी नैतिकता के प्रश्न को बार बार उठाया है। प्राचीन भारतीय आलंकारिकों ने साहित्य का मूल्य आनंद को माना था, चाहे वह रसनिष्पत्ति द्वारा उपलब्ध आनंद हो चाहे अलंकार, रीति या वक्रोक्ति के चमत्कार द्वारा। शुक्लजी ने उस आनंद की परिभाषा बदल दी है और आनंद की दो अवस्थाएँ—साधनावस्था और सिद्धावस्था—बताकर प्रथम अवस्था का बीज भाव 'करुणा' और द्वितीय का बीज भाव 'प्रेम' माना है। करुणा द्वारा लोक की रक्षा होती है और प्रेम द्वारा इसका रंजन। करुणा और प्रेम दोनो ही लोकमंगलजनक भाव हैं। शुक्ल जी के शब्दों में 'भावों की छानबीन करने पर मंगल का विधान करनेवाले दो भाव ठहरते हैं- करुणा और प्रेम। करुणा की गति रक्षा की ओर होती है और प्रेम की रंजन की ओर। लोक में प्रथम साध्य रक्षा है। रंजन का अवसर उसके पीछे आता है[2]।' इस तरह शुक्ल जी ने रस से निष्पन्न आनंद को साधनावस्था और सिद्धावस्था दोनों में ही मंगलमय बताया है और यह सिद्ध किया है कि रस लोकमंगलकारी होता है क्योंकि वह लोकधर्म का साधक होता है। यही शुक्लजी की रस की नवीन उपयोगितावादी व्याख्या है जिसका आधार सामाजिक नैतिकता है। जैसा पहले कहा जा चुका है शुक्लजी द्वारा प्रतिपादित साहित्य का यह उपयोगितावादी मूल्य पाश्चात्य उपयोगितावाद का भारतीयकरण है। यूरोप में उन्नीसवीं शताब्दी में बैन्थम, आस्टिन, मिल आदि दार्शनिकों ने राजनीति और समाजव्यवस्था में उपयोगितावादी (युटिलिटैरियन) दृष्टि का होना आवश्यक बताया और 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम हित' का सिद्धांत प्रतिपादित किया। साहित्य में उपयोगितावाद 'शिक्षा-वाद' या उपदेशवाद (डाइरेक्टिसिज्म) के रूप में प्लेटो और होरेस के समय से ही चला आ रहा था पर उन्नीसवीं शताब्दी में रस्किन और टाल्सटाय ने

१ रसमीमांसा—पृ० १७८, १८४, १९४, १९५, १९८, २१२।

२ वही, पृ० ९७।

इसको धर्म के साथ संबद्ध कर दिया। उनके अनुसार कला का मुख्य उद्देश्य मानव की धर्मभावना को विकसित और पुष्ट करना तथा उसकी नैतिक चेतना को पूर्ण और परिष्कृत करना है; आनंद तो उसका गौण प्रयोजन या उपसँतति (बाइ प्राडक्ट) मात्र है। भारतीय आलंकारिकों ने भी काव्य का लक्ष्य चतुर्वर्गफल की प्राप्ति माना था। कभी कभी अधिक स्पष्टता लाने के लिये यश, अर्थ, सद्यःमुक्ति, व्यवहारज्ञान, कांतासंमित उपदेश को भी काव्य का प्रयोजन बताया गया, पर ये सभी चतुर्वर्गफल (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) के भीतर आ जाते हैं। इस तरह भारतीय दृष्टि से धर्म और मोक्ष साहित्य के लक्ष्य के रूप में पहले से मान्य चले आ रहे थे और इसी कारण समस्त भारतीय साहित्य उद्देश्य की दृष्टि से आदर्शवादी दिखाई पड़ता है। पर साथ ही आलंकारिकों ने शांत रस को नहीं, शृंगार रस को ही रसराज कहा है और संस्कृत साहित्य में लौकिकता की ही प्रमुखता है, धार्मिकता की नहीं।

भारतीय साहित्य और साहित्यशास्त्र में उद्देश्य और व्यवहारसंबंधी यह परस्परविरोधी बात क्यों दिखाई पड़ती है, इस प्रश्न का समाधान खोजना द्विवेदी युग के नैतिकतावादी साहित्यिकों और आलोचकों के लिये आवश्यक हो गया था। रामचंद्र शुक्ल ने पाश्चात्य उपयोगितावादी सिद्धांत के सहारे उसका उत्तर ढूँढ़ लिया। उनका उत्तर यह था कि काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष एक ही जीवन-प्रक्रिया की भिन्न भिन्न अवस्थाएँ हैं और एक दूसरे से अविच्छिन्न हैं, अतः प्रवृत्ति-मूलक जीवन का हित इन चारों के समन्वय में है। मोक्ष जीवन का लक्ष्य है, धर्म उसका साधक है और अर्थ और काम धर्म के साधक हैं। इसी लिये शुक्लजी कहते हैं 'धर्म है ब्रह्म के सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति जिसकी असीमता का आभास अखिल विश्वस्थिति में मिलता है। इस प्रवृत्ति का साक्षात्कार परिवार और समाज ऐसे छोटे क्षेत्रों से लेकर समस्त भूमंडल और अखिल विश्व तक के बीच किया जा सकता है। परिवार और समाज की रक्षा में, लोक के परिपालन में और समष्टिरूप में अखिल विश्व की शाश्वत स्थिति में सत् की इ ी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं।......ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति की अर्थात् धर्म की ऊँची नीची कई भूमियाँ लक्षित होती है, जैसे—गृहधर्म, कुलधर्म, समाजधर्म लोकधर्म और विश्वधर्म या पूर्णधर्म। किसी परिमित वर्ग के कल्याण से संबंध रखनेवाला धर्म उच्च कोटि का है। धर्म की उच्चता उसके लक्ष्य के व्यापकत्व के अनुसार समझी जाती है'[1]। आगे उन्होंने लिखा है—'अतः मोक्ष

[1] चिंतामणि—भाग १—पृ० २०७-२०८।

का—किसी ढंग के मोक्ष का—मार्ग धर्ममार्ग से बिलकुल अलग अलग नहीं जा सकता। धर्म का विकास इसी लोक के बीच हमारे परस्पर व्यवहार के भीतर होता है। हमारे परस्पर व्यवहारों का प्रेरक हमारा रागात्मक या भावात्मक हृदय होता है[1]।' इस उद्धरण से स्पष्ट है कि शुक्लजी ने धर्म का बहुत ही व्यापक अर्थ लिया है और उनकी यह परिभाषा धर्म की प्राचीन स्थूल मान्यताओं से भिन्न है। वस्तुतः धर्म से उनका तात्पर्य सामाजिक नैतिकता या मानवीयता से है जिसका उद्देश्य अधिकतम लोगों का कल्याण करना है। इस तरह उनका लोकहितवाद रस्किन और टाल्सटाय के धार्मिक उपयोगितावाद का भारतीय संस्कृति के अनुरूप नवीन रूपांतर है। उसके द्वारा एक ओर तो पाश्चात्य उपयोगितावादी दार्शनिकों के सामाजिक उपयोगितावाद के सिद्धांत का तथा रस्किन और टाल्सटाय के नैतिक आदर्शवाद समर्थन होता है, दूसरी ओर भारतीय संस्कृति और साहित्य में मान्य चतुर्वर्गफल के सिद्धांत की व्याख्या भी हो जाती है और साथ ही भारतीय साहित्य और साहित्यशास्त्र में प्रयोजनसंबंधी जो अंतर्विरोध प्रतीत होता है उसका भी समाधान हो जाता है।

यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि शुक्लजी ने रस्किन और टाल्सटाय का अंधभाव से अनुकरण नहीं किया है। साहित्य पर ऊपर से आरोपित धार्मिक, नैतिक या राजनीतिक उद्देश्यों का उन्होंने स्पष्ट-शब्दों में विरोध किया है। उनके अनुसार 'सुंदर और कुरूप काव्य में बस ये ही दो पक्ष हैं। भला बुरा, शुभ अशुभ पाप-पुण्य, मंगल अमंगल, उपयोगी अनुपयोगी ये सब शब्द काव्य के बाहर के हैं। ये नीति, धर्म, व्यवहार, अर्थशास्त्र आदि के शब्द हैं। शुद्ध काव्यक्षेत्र में न कोई बात भली कही जाती है, न बुरी, न शुभ न अशुभ; न उपयोगी न अनुपयोगी। सब बातें केवल दो रूपों में दिखाई जाती हैं—सुंदर और असुंदर[2]। शुक्लजी का यह कथन बाह्यतः कलावादियों के 'कला कला के लिये' के सिद्धांत जैसा प्रतीत होता है और लगता है कि वे यहाँ अपने नैतिक दृष्टिकोण को छोड़कर काव्य के सौंदर्य को ही उसका प्रतिमान मानते हैं। इस कथन में रस्किन और टाल्सटाय का, जो साहित्य को साधक और धर्म को साध्य मानते थे अथवा मिल आदि उपयोगितावादी दार्शनिकों का, जो समाज के सर्वाधिक हित के निमित्त साहित्य आदि का उपयोग करना चाहते थे, स्पष्ट विरोध दिखाई पड़ता है। पर इसमें शुक्ल जी के लोकमंगल के सिद्धांत का विरोध नहीं है क्योंकि वे साहित्य में सुंदर पक्ष

[1] चिंतामणि—भाग १—पृ २०१।
[2] वही; पृ० १६७।

उसी को मानते हैं जो लोकहितकारी या लोकानुरंजनकारी है। साहित्य का यह सुंदर पक्ष यदि धार्मिक का शुभ या मंगल और अर्थशास्त्री का उपयोगी तत्व भी है तो शुक्लजी को इसमें कोई आपत्ति नहीं है। इस तरह वे साहित्य के सौंदर्य मार्ग से उसी लक्ष्य तक पहुँचना चाहते हैं जहाँ धार्मिक शुभ मार्ग या नीति मार्ग से पहुँचता है। अंतर केवल दृष्टि की है।[1] रस्किन और टाल्सटाय की दृष्टि मुख्यतः धार्मिक है और शुक्लजी की शुद्ध साहित्यिक।

टाल्सटाय के मत का खंडन उन्होंने इसी आधार पर किया है। टाल्सटाय ने साहित्य का मुख्य लक्ष्य मानव मात्र में भ्रातृभावना का प्रसार बताया है। शुक्लजी टाल्सटाय के इस मत को शुद्ध साहित्यिक न मानकर सांप्रदायिक मानते हैं। क्योंकि टाल्सटाय के अनुसार कला का मूल्यांकन युगविशेष की धार्मिक चेतना के अनुसार होता है; यह धार्मिक चेतना ही जीवन का उच्चतर मूल्य है जो मानव को अन्य मानवों तथा ईश्वर से मिलती है। इस कैथलिक भावना का विरोध करते हुए शुक्लजी ने लिखा है—टाल्सटाय के अनुयायी प्रयत्न-पक्ष को लेते अवश्य हैं, पर केवल पीड़ितों की सेवाशुश्रूषा की दौड़धूप, आततायियों पर प्रभाव डालने के लिये साधुता के लोकोत्तर प्रदर्शन, त्याग, कष्टसहिष्णुता इत्यादि में ही उसका सौंदर्य स्वीकार करते हैं। साधुता की इस मृदुल गति को वे आध्यात्मिक शक्ति कहते हैं, पर भारतीय दृष्टि से हम इसे भी प्राकृतिक शक्ति—मनुष्य की अंतःप्रकृति की सात्विक विभूति मानते हैं।...अध्यात्म शब्द की, मेरी समझ में काव्य या कला के क्षेत्र में कहीं कोई जरूरत नहीं है।'[2] इस तरह वे कर्मसौंदर्य या प्रयत्नपक्ष के सौंदर्य में केवल करुणा और प्रेम की भावना को ही नहीं, उत्साह, क्रोध, घृणा, आदि परुष भावों का होना आवश्यक मानते हैं। इसी लिये टाल्सटाय और महात्मा गाँधी के अहिंसा मार्ग के वे पूर्णतः समर्थक नहीं थे, क्योंकि वे हृदयपरिवर्तन के साथ साथ अत्याचारियों के हिंसात्मक नाश में भी विश्वास करते थे। साहित्य के नव रसों में वीर रौद्र और बीभत्स रसों के समावेश के कारण शुक्लजी की इस नैतिक दृष्टि को बल मिला था और इसी दृष्टि के कारण वे अवतारों में कृष्ण से अधिक राम को आदर देते थे। उनकी नैतिकता में

[1] 'जिसे धार्मिक शुभ या मंगल कहता है कवि उसके सौंदर्य पक्ष पर आप भी मुग्ध रहता है और दूसरों को भी मुग्ध करता है। जिसे धर्मज्ञ अपनी दृष्टि के अनुसार शुभ या मंगल समझता है, उसी को कवि अपनी दृष्टि के अनुसार सुंदर कहता है।'—चिंतामणि, भा० १, पृ० १६७।

[2] रसमीमांसा, पृ० ७१।

नीति और सौंदर्य का, कोमलता और परुषता का, लौकिकता और आध्यात्मिकता का अद्भुत समन्वय हुआ है।

कलावादी या 'कला कला के लिये' का सिद्धांत माननेवाले भी नैतिकता, धर्म, राजनीति आदि का कला से कोई संबंध नहीं मानते। वाल्टर पेटर, ब्रैडले, स्पिगार्न आदि आलोचकों के अनुसार साहित्य कला का मूल्य वह सौंदर्य है जो कृति में स्वतंत्र रूप से स्थित है, उसकी स्थिति का कारण नीति, धर्म आदि साहित्येतर विषय नहीं हैं। इसलिये साहित्य और कला की सौंदर्यानुभूति को ही उनका मूल्य समझना चाहिए। शुक्लजी का इस संबंध में जो कथन पहले उद्धृत किया गया है उसमें भी काव्य के सुंदर और असुंदर ये दो ही पक्ष माने गए हैं और नीति धर्म आदि काव्यक्षेत्र के बाहर के शब्द माने गए हैं। पर शुक्लजी ने काव्य के सौंदर्य की जो व्याख्या की है वह कलावादियों की सौंदर्य की परिभाषा से बिलकुल भिन्न है। कलावादी सौंदर्यानुभूति को वास्तविक जीवनानुभूतियों से भिन्न और स्वतंत्र मानते हैं। प्रसिद्ध कलावादी आलोचक ब्रैडले का कहना है कि 'काव्य की सौंदर्यानुभूति स्वयं अपना साध्य है और उसका मूल्य उसी के भीतर निहित है, कहीं बाहर नहीं; उसी मूल्य के आधार पर उसका परीक्षण और स्वीकरण होना चाहिए. अतः केवल सौंदर्यानुभूतिगत मूल्य ही काव्य या कला का मूल्य है। किसी अन्य काव्येतर उद्देश्य की दृष्टि से काव्य का मूल्यांकन करना काव्य के मूल को घटा देना है, क्योंकि ऐसा करते समय उस मूल्य को उसके अपने परिवेश से हटा देना पड़ता है जिससे काव्य की प्रकृति ही बदल जा सकती है। काव्य प्रकृतया न तो वास्तविक जगत् का अंग है न उसका अनुकरण, इसके विपरीत वह अपने आप में पूर्ण, स्वतंत्र और स्वशासित एक अलग लोक ही है।'[1] पर रामचंद्र शुक्ल काव्यानुभूति के सौंदर्य को वास्तविक जीवन की अनुभूतियों के सौंदर्य से अभिन्न मानते हैं। इसी लिये उनकी सौंदर्यपरिभाषा कला-

१ फर्स्ट दिस इक्सपीरिएन्स इज एन ऐंड इटसेल्फ, इज वर्थ हैविंग आन इट्स ओन एकाउन्ट, हैज ऐन इंट्रिंजिक वैल्यू। नेक्स्ट इट्स पोइटिक वैल्यू इज दिस इंट्रिंजिक वर्थ एलोन।... द कंसीडरेशन ऑव अल्टेरियर एन्ड्स वेदर बाई द पोएट इन द एक्ट ऑव कंपोजीसन ऑर बाई द रीडर इन द एक्ट ऑव इक्सपीरिएंसिंग, टेन्ड्स टू लोअर पोइटिक वैल्यू। इट इज सो बिकाज इट टेन्ड्स टू चेंज द नेचर ऑव पोइट्री बाई टेकिंग इट आउट ऑव इट्स ओन एटमोसफेयर। फॉर इट्स नेचर इज टू बी नाट ए पार्ट, नार येट ए कापी ऑव द रीयल वर्ल्ड (ऐज वी कामनली अंडरस्टैंड दैट फ्रेज) बट टू बी ए वर्ल्ड बाइ इटसेल्फ इनडिपेंडेंट, कंप्लीट, आटोनामस।'—ए० सी० ब्रैडले—ऑक्सफोर्ड लेक्चर्स ऑन पोइट्री, पेज ५।

वादियों की सौंदर्यपरिभाषा से मेल नहीं खाती। यहाँ वे आइ० ए० रिचार्ड्स के स्वर में स्वर मिलाकर कहते हैं—'रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक् कोई अंतर्वृत्ति नहीं है, बल्कि उसी का एक उदात्त और अवदात स्वरूप है।...शब्द काव्य की सिद्धि के लिये वस्तु काव्य का अनुशीलन परम आवश्यक है।'[1] ठीक इसी तरह रिचार्ड्स भी कहता है—'काव्य जगत् किसी भी दृष्टि से यथार्थ जगत् से भिन्न अस्तित्व नहीं रखता; न तो उसके नियम कानून भिन्न हैं, न इसमें अलौकिक विशेषताएँ ही हैं'।[2] इस तरह रामचंद्र शुक्ल सौंदर्य की सत्ता वास्तविक जगत् की अनुभूतियों में भी मानते हैं। उनके अनुसार वहीं से वह सौंदर्य काव्य में भी गृहीत होता है।

सौंदर्य क्या है, इस प्रश्न का उत्तर शुक्लजी स्पष्ट शब्दों में यह देते हैं कि जैसे वीर कर्म से पृथक् वीरत्व कोई पदार्थ नहीं वैसे ही सुंदर वस्तु से पृथक् सौंदर्य कोई पदार्थ नहीं। उनके अनुसार वस्तु के सौंदर्य की अनुभूति उसी को होती है जो उस वस्तु की भावना में अपनी स्वतंत्र या पृथक् सत्ता को लीन कर देता है—'हमारी अंतस्सत्ता की यही तदाकारपरिणति सौंदर्य की अनुभूति है।... जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकारपरिणति जितनी ही अधिक होगी, उतनी ही वह वस्तु हमारे लिये सुंदर कही जायगी'।[3] इस संबंध में पहले तो वे कहते हैं कि 'सौंदर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है।' फिर तुरंत बाद ही सौंदर्य की सत्ता वस्तु से अभिन्न मानते हैं और अंत में कहते हैं—'इस विवेचन से स्पष्ट है कि भीतर बाहर का भेद व्यर्थ है। जो भीतर है, वही बाहर है'।[4] ये तीनों बातें आपाततः परस्परविरोधी प्रतीत होती हुई भी अविरोधी हैं, क्योंकि सौंदर्यानुभूति के लिये दो की सत्ता आवश्यक है, सुंदर वस्तु की और उसका अनुभव करनेवाले व्यक्ति की। दोनों में से किसी एक के अभाव में सौंदर्यानुभूति नहीं हो सकती। यदि वस्तु न होगी तो सौंदर्य की स्थिति नहीं होगी और यदि व्यक्ति का मन नहीं होगा तो उस सौंदर्य की अनुभूति कैसे होगी ? और ये दोनों सत्ताएँ असंपृक्त रहेंगी तो सौंदर्यानुभूति नहीं हो सकती। वस्तु के साथ व्यक्तिमन का तादात्म्य भाव स्थापित होने पर ही सौंदर्यानुभूति उत्पन्न होगी। इस तरह सौंदर्य वस्तुगत भी है और आत्मगत भी। यहाँ शुक्ल-जी ने कलावादियों के इस मत का खंडन किया है कि सौंदर्य वस्तुगत नहीं आत्मगत

[1] रसमीमांसा, पृष्ठ, २७५।
[2] प्रिंसीपल्स ऑव लिटरेरी क्रिटिसिज्म, पृ० ७८।
[3] चिंतामणि, प्रथम भाग, पृ० १६५।
[4] वही, पृ० १६५।

गत होता है। क्रोचे तो वस्तु को द्रव्यमात्र मानता है और सौंदर्य का साँचा व्यक्ति के मन के भीतर निहित बताता है। इस तरह उसके अनुसार सौंदर्य व्यक्ति-मन के स्वयंप्रभज्ञान या प्रमा की देन है, वस्तु से उसका कार्यकारण संबंध मात्र है। हीगेल भी उसे आध्यात्मिक वस्तु मानता है। शुक्लजी ने इन दोनों मतों का खंडन किया है। उनकी सौंदर्यपरिभाषा भाववादियों और वस्तुव दियों दोनों की परिभाषाओं के बीच की है। इसी लिये वे काव्य की सौंदर्यानुभूति को जगत् की सौंदर्यानुभूति से अभिन्न मानते हैं।

सौंदर्यसंबंधी इसी मान्यता पर शुक्लजी की आलोचना का विशाल भवन खड़ा हुआ है। वे सौंदर्य को बाह्य और आभ्यंतर दोनों मानकर उसके तीन भेद करते हैं—रूपसौंदर्य, भावसौंदर्य और कर्मसौंदर्य। रूपसौंदर्य से भावसौंदर्य और भावसौंदर्य से कर्मसौंदर्य अधिक उत्कृष्ट हैं क्योंकि उनमें क्रमशः एक से दूसरे में नैतिक चेतना का योग उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। जहाँ इन तीनों का सामंजस्य दिखाई पड़े, शुक्लजी के अनुसार वहाँ सौंदर्य चरम कोटि का होता है। राम में इन तीनों का सामंजस्य दिखाई पड़ता है; इसी कारण वे शुक्लजी की दृष्टि में लोकहृदय के प्रेम के सर्वोत्तम आलंबन हैं। इस प्रकार यद्यपि शुक्लजी धार्मिक, नैतिक, व्यावहारिक और अर्थशास्त्रीय उद्देश्यों को काव्यक्षेत्र से बहिष्कृत करने की सलाह देते हैं, पर जिस सौंदर्य को वे काव्य का शाश्वत मूल्य स्थिर करते हैं, अंततोगत्वा वह एक ऐसी उच्चस्तरीय नैतिकता से युक्त दिखाई पड़ता है जिसमें धर्मनीति, व्यवहारनीति समाजनीति, राजनीति और अर्थनीति सबका समाहार हो गया है। इस तरह उनके सौंदर्य-मूल्य और लोकहितवाद दोनों अंत में मिलकर एक हो जाते हैं। इस प्रकार के समाहार और समन्वय की शक्ति भारतीय और पाश्चात्य आलोचकों में से किसी में नहीं दिखाई पड़ती।

शुक्लजी की समीक्षा की सीमाएँ

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की प्रतिभा, समन्वयात्मक बुद्धि और मौलिक तथा सुचिंतित सिद्धांतों की इस विवेचना से इस बात में कोई संदेह नहीं रह जाता कि वे हिंदी में आधुनिक आलोचना के प्रथम मौलिक कल्पक और प्रतिष्ठापक थे। उन्होंने न केवल सही अर्थ में आधुनिक आलोचनापद्धति का प्रारंभ किया, बल्कि उसे इस ऊँचाई तक तक पहुँचा दिया कि भारतीय भाषाओं के साहित्य में हिंदी आलोचना उच्चतम पद प्राप्त कर सकी। अपनी अद्भुत तर्क शक्ति द्वारा उन्होंने प्राचीन और अर्वाचीन भारतीय तथा पाश्चात्य आचार्यों के उन सभी मतों का प्रबल विरोध किया जो उनके मत से नहीं मिलते थे। उनके इस विरोध में उनका पूर्वग्रह इतना प्रबल है कि वे विरोधी मतों के सत्पक्षों

की बिलकुल उपेक्षा कर जाते हैं। उनके समस्त आलोचनात्मक साहित्य में दृष्टिकोण की अद्भुत अन्विति दिखाई पड़ती है और वही दृष्टिकोण अपनी अटूट दृढ़ता के कारण उनका पूर्वग्रह बन गया है। यह दृष्टिकोण आधुनिक बोध से युक्त होता हुआ भी मूलतः मध्यकालीन है। सामाजिक मर्यादा, नैतिक दायित्व, लोकधर्म और लोकहित की चेतना आदि की उनकी सभी मान्यताएँ मध्यकालीन वैष्णव भक्ति, विशेष रूप से तुलसी की भक्तिचेतना से अनुप्रेरित हैं। फलतः वे भावात्मक और नैतिकता की एक ही कसौटी पर सभी प्रकार के साहित्य को कसते हैं। साहित्य के विविध रूप, भिन्न भिन्न प्रेरणा स्रोत और अनेकविध उद्देश्य होते हैं। अतः एक प्रकार के साहित्य के लिये निर्मित प्रतिमान दूसरे साहित्यप्रकारों के लिये भी हर स्थिति में उपयुक्त नहीं हो सकते। ब्रैडले के मत का खंडन करते हुए आइ० ए० रिचार्ड्स ने लिखा है—'कविता अनेक प्रकार की होती है और विभिन्न प्रकार की कविताओं के मूल्यांकन के लिये भिन्न भिन्न सिद्धांतों की आवश्यकता होती है। एक प्रकार की कविता ऐसी होती है जिसके मूल्यांकन में साहित्येतर उद्देश्यों का विचार करना अनिवार्य हो जाता है। ऐसी कविता का मूल्य अंशतः साहित्येतर उद्देश्यों के मूल्य पर ही आधारित होता है। दूसरे प्रकार की कविता ऐसी होती है जिसका मूल्य साहित्येतर उद्देश्यों पर बिलकुल निर्भर नहीं करता और कुछ कविताएँ ऐसी भी होती हैं जिनका मूल्यांकन अपेक्षाकृत कम मूल्यवाले साहित्येतर उद्देश्यों के आधार पर करने पर उनका मूल्य घट जाता है।'[1] इस दृष्टि से शुक्लजी के साहित्यिक मूल्यांकन का प्रतिमान एकांगी और एकदेशीय प्रतीत होता है।

शुक्लजी के इस पूर्वग्रहयुक्त दृष्टिकोण के कारण ही उनकी आलोचना में उदारता और व्यापकता नहीं दिखाई पड़ती। उनके मूल्यांन के प्रतिमान तुलसी के साहित्य के लिये तो सही हैं, पर जब वे ही निर्गुण धारा के कवियों के साहित्य पर अथवा आधुनिक युग के छायावादी और रहस्यवादी कवियों के काव्य पर लागू

[1] फ्यू क्रिटिक्स सीम एवर टु नोटिस इट—दैट पोएट्री इज आव मोर दैन वन काइंड, ऐंड दैट द डिफरेंट काइंड्स आर टु बी जज्ड बाई डिफरेंट प्रिंसीपल्स। देयर इज ए काइंड आव पोएट्री इंटु द जजमेंट आव हीच अल्टेरियर एंड्स डाइरेक्टली एंड इसेंटसियलीएंटर; ए काइंड पार्ट आव हूज वैल्यू इज डाइरेक्टली डेरिवेबुल फ्राम द वैल्यू आव द एंड्स विथ हिन इट इज एसोसियेटेड। देयर आर अदर काइंड्स, इंटु हिच अल्टेरियर एंड्स डू नाट एंटर इन एनी डिग्री, ऐंड देयर आर यट अदर काइंड्स हूज वैल्यू मे बी लोअर्ड बाई द इंट्रूसन आव एंड्स रिलेटिवली ट्रिवियल इन वैल्यू।—प्रिंसीपल्स आव लिटरेरी क्रिटिसिज्म, पेज ७७, पट्म एडीशन।

किए जाते हैं तो आलोच्य कृतियों के साथ अन्याय होने लगता है। ऐसे स्थलों पर शुक्लजी साहित्यिक मूल्यांकन की पद्धति छोड़कर साहित्येतर उद्देश्यों के मूल्यों की छानबीन करने लगते हैं। रसात्मकता को साहित्य का मूल्य मानकर चलने पर जब कोई काव्यकृति मूल्यवान् प्रतीत होने लगती है तो वे नैतिकता और लोकहित की दुहाई देकर उसका मूल्य कम सिद्ध करना चाहते हैं और जहाँ ये दोनों बातें मिल जाती हैं वहाँ निर्गुण सगुण और भारतीय अभारतीय का प्रश्न उठाकर तथा आलोच्य कृति को फारस या पश्चिम का अनुकरण बताकर उसपर प्रहार करने लगते हैं। इस तरह उनमें उस तटस्थता या निष्पक्षता की कमी मालूम पड़ती है जिसके द्वारा साहित्य के सिद्धांतों की वैज्ञानिक छानबीन और रचनात्मक साहित्य के आंतरिक मूल्यों का सही ढंग से उद्घाटन संभव होता है। पूर्वग्रहयुक्त दृष्टि के कारण कहीं कहीं तो उनकी समीक्षा के सैद्धांतिक और व्यावहारिक पक्षों में भी विरोध दिखाई पड़ता है। एक ओर तो वे लोकहित की बात करते हैं दूसरी ओर लोकमर्यादा की दुहाई देकर कबीर जैसे लोकहितवादी कवि की निंदा भी करते हैं। उनके मूल्यांकन के तटस्थ और वैज्ञानिक होने में उनकी वैयक्तिक अभिरुचि भी कम बाधक नहीं हुई है। प्रसाद की कामायनी में लोकहित का जो विश्वजनीन और उदात्त रूप है उसकी ओर ध्यान न देकर शुक्लजी ने उसकी मधुचर्या की अधिकता पर ही अधिक ध्यान दिया है। कामायनी एक रसात्मक काव्य है, इसे कोई अस्वीकृत नहीं करेगा, पर उसमें छायावादी अभिव्यंजना, लाक्षणिकता, व्यंजकता, प्रतीकात्मकता और सांकेतिकता की प्रवृत्ति की अधिकता देखकर शुक्लजी उसकी वैसी प्रशंसा न कर सके जैसी उन्होंने रामचरित मानस या पदमावत की है।

लोकधर्म और लोकहित के सिद्धांत को व्यापक पीठिका पर प्रतिष्ठित करते हुए भी शुक्लजी ने इसे आधुनिक युग के साहित्य विशेषकर उपन्यास और नाटक साहित्य पर घटित करने का अधिक प्रयत्न नहीं किया है। आधुनिक पूँजीवादी युग के वर्गवैषम्य, सामाजिक अन्याय और निम्नवर्ग के सीमाहीन दुःखों का निवारण भी उनके लोकहित की सीमा में आ सकता था पर अपने सिद्धांत के अनुरूप उन्होंने इस दिशा में साहित्यिकों को प्रेरणा देने की आवश्यकता नहीं समझी। रावण के अत्याचारों के विरुद्ध शस्त्र उठानेवाले राम के कर्मसौंदर्य पर वे जितना मुग्ध होते हैं, विदेशी शासकों तथा राजाओं और जमींदारों के अत्याचारों के विरुद्ध आंदोलन करनेवाले देशप्रेमियों के कर्मसौंदर्य के प्रति उतना नहीं आकृष्ट होते। मानस के पात्रों के शीलसौंदर्य पर रीझनेवाले शुक्लजी प्रसाद के नाटकों और प्रेमचंद के उपन्यासों के चरित्रों पर उतना नहीं रीझते,

क्योंकि वे चरित्र उत्थान पतन तथा ह्रास और विकास के स्वाभाविक मार्ग पर चलनेवाले यथार्थ पर आदर्शोन्मुख चरित्र हैं। शुक्लजी की कसौटी पर शुद्ध आदर्शवादी चरित्र ही खरे उतरते हैं। इस तरह उनका लोकहितवाद केवल मध्यकालीन आदर्शों और सामाजिक मर्यादाओं की पुनः प्रतिष्ठा के लिये खड़ा किया गया प्रतीत होता है। इसी कारण शुक्लजी का मन अतीत में जितना रमता है, उतना वर्तमान में नहीं। वे कहते हैं—'हृदय के लिये अतीत एक मुक्ति लोक है जहाँ वह अनेक प्रकार के बंधनों से छूटा रहता है और अपने शुद्ध रूप में विचरता है। वर्तमान हमें अंधा बनाए रहता है, अतीत बीच बीच में हमारी आँखें खोलता रहता है। मैं तो समझता हूँ कि जीवन का नित्य स्वरूप दिखानेवाला दर्पण मनुष्य के पीछे रहता है, आगे तो बराबर खिसकता हुआ दुर्भेद्य परदा रहता है। बीती बिसारने वाले 'आगे की सुध' रखने का दावा किया करें, परिणाम अशांति के अतिरिक्त और कुछ नहीं। वर्तमान के सँभालने और आगे की सुध रखने का डंका पीटनेवाले संसार में जितने अधिक होते जाते हैं, संघ शक्ति के प्रभाव से जीवन की उलझनें उतनी ही बढ़ती जाती है।'[1] इस उदाहरण से स्पष्ट है कि शुक्लजी का लोकहित का प्रतिमान अतीत पर ही लागू होता है, वर्तमान सामाजिक परिस्थितियों पर वे उसे लागू करना अनावश्यक समझते हैं। लोकहित का कोई प्रयत्न जब अतीत के वीर और आदर्श चरित्रों के जीवन में दिखाई पड़ता है तो शुक्लजी उसपर मुग्ध हो उठते हैं, पर वही प्रयत्न जब वर्तमान समाज में संघों और सभाओं द्वारा संघटित रूप से किया जाता है तो वे उसे अशांति और उलझन का कारण मानते हैं। यह उनकी मध्यकालीन मर्यादावादी दृष्टि का ही परिणाम था जो सामाजिक व्यवस्था को यथास्थित देखना ही पसंद करती थी; किंतु शुक्लजी की यह दृष्टि अंतिम दिनों में बदलने लगी थी। सन् १९३० ई० के बाद देश में जो अनेक प्रकार के राजनीतिक और आर्थिक आंदोलन प्रारंभ हुए और साहित्य में उनकी जैसी अभिव्यक्ति होने लगी उन सबके प्रभाव से वे अछूते नहीं रह सके। इसी लिये अपने हिंदी साहित्य के इतिहास के परिवर्द्धित और संशोधित संस्करण में उन्होंने पंत के 'युगांत' और 'युगवाणी' पर अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है—'अब वह दुःख, पीड़ा, अन्याय अत्याचार के अंधकार को फाड़कर मंगलज्योति फूटती देखना चाहता है—मंगल का अमंगल के साथ वह संघर्ष देखना चाहता है जो गत्यात्मक जगत् का कर्मसौंदर्य है.....'इस प्रकार कवि की वाणी में लोकमंगल की आशा और आकांक्षा

१ चिंतामणि, प्रथम भाग।

के साथ घोर 'परिवर्तनवाद' का स्वर भी भर रहा है[1]।' यद्यपि शुक्लजी ने अंत में सामाजिक परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव कर लिया था पर वे उसे एक 'वाद' के रूप में नहीं देखना चाहते थे क्योंकि 'वादों' को वे साहित्य के लिये अहितकर मानते थे। उनका कहना है कि 'जीवन के कई क्षेत्रों में जब एक साथ परिवर्तन के लिये पुकार सुनाई पड़ती है तब परिवर्तन एक 'वाद' का व्यापक रूप धारण करता है और बहुतों के लिये सब क्षेत्रों में स्वतः एक साध्य बन जाता है।'[2]

वस्तुतः शुक्लजी को आधुनिक युग में साहित्य, समाज और राजनीति के क्षेत्रों में विविध प्रकार के सैद्धांतिक वादों का प्रचलन बहुत पसंद नहीं था। साहित्य और कला के क्षेत्र में जल्दी जल्दी बदलनेवाले 'वादों' को तो वे चमत्कारवादी लोगों की फैशन की प्रवृत्ति मात्र मानते थे। उनके अनुसार 'काव्यक्षेत्र में किसी 'वाद' का प्रचार धीरे धीरे उसकी सारसत्ता को ही चर जाता है। कुछ दिनों में लोग कविता न लिखकर 'वाद' लिखने लगते हैं'।[3] इस कथन का स्पष्ट अर्थ यही है कि 'वादों' या आंदोलनों से साहित्य का विकास नहीं, ह्रास होता है। पर यूरोपीय देशों के साहित्य पर दृष्टिपात करने पर बात इसके बिलकुल विपरीत दिखाई पड़ती है। किसी साहित्य में नए आंदोलनों और सिद्धांतों का होना उसके विकासमान, गत्यात्मक और जीवंत होने का प्रमाण है। यूरोप में अधिकतर वादों का जन्म फ्रांस में हुआ, पर वहीं का साहित्य यूरोप में सर्वाधिक समृद्ध और उन्नत माना जाता है। वादों का जन्म अनायास केवल फैशन के रूप में नहीं होता। उनके पीछे कोई न कोई दार्शनिक, राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक या सौंदर्यशास्त्रीय सिद्धांत कारणरूप में अवश्य होता है। जिस देश में विचारकों, चिंतकों और दार्शनिकों की अधिकता होती है वहाँ 'वादों' का प्रचलन भी अधिक होता है। सामाजिक क्षेत्र में उथलपुथल, परिवर्तन और औद्योगिक विकास के कारण लोगों के मानसक्षितिज का विस्तार और बौद्धिक विकास भी तेजी से होता है। ऐसी स्थिति में बुद्धिजीवी वर्ग किसी भी प्रकार की 'यथास्थिति' से संतुष्ट नहीं रहता, उसकी साहित्यिक और कलात्मक अभिरुचि बदलती रहती है, पूर्ववर्ती कलाप्रवृत्तियाँ असंतोषप्रद, अपूर्ण और दोषपूर्ण प्रतीत होने लगती हैं, फलस्वरूप नई कलात्मक प्रवृत्तियों का उदय होता है जिन्हें विभिन्न

१ हिंदी साहित्य का इतिहास—परिवर्धित संस्करण, पृ० ६५४—पृ० ६५५।

२ वही, पृ० ५६५।

३ चिंतामणि—प्रथम भाग, पृ० २३७।

'वादों' का नाम दे दिया जाता है। इस तरह नए वाद आधुनिकता के अनिवार्य अंग हैं शुक्लजी की प्रवृत्ति इतनी अधिक आधुनिक नहीं थी कि वे नए साहित्यिक 'वादों' को सहानुभूति प्रदान करते। इसी लिये उन्होंने नवोदित छायावादी कविता की नवीनता को देखकर उसे पाश्चात्य अभिव्यंजनावाद, कलावाद आदि का अनुकरण सिद्ध करने का प्रयास किया। यही नहीं, लगे हाथों उन्होंने अंग्रेजी कविता के बिंबवादी (इमेजिस्ट), प्रतीकवादी,(सिंबोलिस्ट) अभिव्यंजनावादी (इक्सप्रेसेनिस्ट),संवेदनावादी (इंप्रेशनिस्ट) और नवीन मर्यादावादी (निओ क्लासिकलिस्ट) आंदोलनों की भी आलोचना कर डाली जिनका हिंदी कविता पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा था। छायावाद को समझने में भी उन्हें इसी प्रकार की भ्रांति हुई। उन्होंने छायावाद को अभिव्यंजना की एक शैली मात्र माना है। उनके अनुसार वह नवीन सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों के कारण क्रांतिकारी रूप लेकर नहीं उत्पन्न हुआ था, बल्कि केवल शैली की नवीन प्रणाली को लक्ष्य मानकर सामने आया था[1]। आधुनिक कवियों की रहस्यवादी कविताओं को भी वे नवीन आध्यात्मिक चेतना और दार्शनिक प्रेरणा का परिणाम न मानकर पाश्चात्य स्वच्छंदतावादी कवियों और रवींद्रनाथ ठाकुर का अनुकरण मात्र समझते थे। इससे आगे बढ़कर उन्होंने रहस्यवाद को आध्यात्मिक परदे में छिपा प्रणय वासना का उद्गार मान लिया।[2] इस तरह हिंदी साहित्य की समकालीन नवीन प्रवृत्तियों को शुक्लजी निष्पक्ष दृष्टि से नहीं देख सके। अपने पूर्वग्रहयुक्त दृष्टिकोण के कारण ही वे हिंदी की नवीन प्रवृत्तियों का सही मूल्यांकन करने में पूरे सफल नहीं रहे।

इन सीमाओं के होते हुए भी शुक्लजी का हिंदी आलोचना के क्षेत्र में अद्वितीय स्थान है। उनकी प्रखर प्रतिभा का प्रकाश जहाँ भी पड़ा है, सत्य का उद्घाटन किसी न किसी अंश तक अवश्य हुआ है। इसका प्रमाण उनके समूचे आलोचना साहित्य में भरा पड़ा है। वैसे तो शास्त्र और विज्ञान के क्षेत्र में कोई भी सिद्धांत या अन्वेषण अंतिम नहीं होता सभी मान्यताएँ कालक्रम से परिवर्तित, विकसित अथवा तिरोहित होती रहती हैं, पर शुक्लजी की बहुत सी मान्यताएँ ऐसी नहीं हैं जो सहज ही भुला दी जायँ; हिंदी आलोचना आज भी बहुत कुछ उन्हीं के पथ पर चलती आ रही है।

१ तात्पर्य यह कि छायावाद जिस आकांक्षा का परिणाम था उसका लक्ष्य केवल अभिव्यंजना की रोचक प्रणाली का विकास था। —हिंदी साहित्य का इतिहास पृ० ७८४।

२ वही—पृ० ६०२।

कुछ आलोचक तो उन्हीं के मतों की उद्धरणी करते हैं और कुछ उनके सूत्रों की व्याख्याएँ करके उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग को प्रशस्त बनाने का उपक्रम करते दिखाई पड़ते हैं। आधुनिकता की बढ़ती हुई प्रवृत्तियों के कारण उनके कुछ सिद्धांत आज अन्याय भी हो गए हैं। पर आश्चर्य की बात यह है कि उनके कुछ सिद्धांत सूत्र आधुनिकतावादी दृष्टि से और आधुनिक साहित्य के लिये जितने सही प्रतीत होते हैं, शायद पूर्ववर्ती साहित्य के लिये उतने उपयुक्त नहीं थे। वे सूत्र तो अपने आप में वैज्ञानिक हैं, पर उनकी शुक्लजी ने जो व्याख्या की है, वह आज की दृष्टि से स्वीकार्य नहीं हो सकती। उदाहरण के लिये केवल एक सूत्र लेकर देखा जा सकता है—'काव्य में अर्थग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, बिंबग्रहण अपेक्षित होता है। यह बिंबग्रहण निर्दिष्ट, गोचर और मूर्त विषय का ही हो सकता है'।[१] इस सूत्र को शुक्लजी ने अनेक स्थलों पर अनेक प्रकार से समझाया है। उनकी सभी व्याख्याओं का तात्पर्य यही है कि काव्य में विभाव ही प्रमुख होते हैं; अतः उनका ऐसा संश्लिष्ट चित्रण होना चाहिए कि पाठक का आलंबन के साथ तादात्म्य संबंध स्थापित हो सके। उन्हीं के शब्दों में—'विभाववस्तु चित्रमय होता है; अतः जहाँ वस्तु श्रोता या पाठक के भावों का आलंबन होती है वहाँ अकेला उसका पूर्ण चित्रण ही काव्य कहलाने में समर्थ हो सकता है[२]।' इस व्याख्या में शुक्लजी ने बिंबचित्रण का अर्थ वर्ण्य वस्तु का यथावत् और संश्लिष्ट चित्रण लिया है। काव्य में बिंबों की आवश्यकता पर आज के आधुनिकतावादी कवि और आलोचक भी बहुत जोर देते हैं। पर बिंबचित्रण से उनका तात्पर्य बाह्य वस्तुओं का स्थूल और यथावत् चित्रण नहीं है। बिंबचित्रण की क्रिया को वे कवि के चेतन मन की क्रिया नहीं मानते। उनके अनुसार बिंबों का मूल उत्स कवि का अचेतन मन है। अचेतन में अज्ञात रूप से पड़ी हुई दमित और वर्जित वासनाएँ प्रतीकात्मक बिंबों का रूप धारणकर काव्य में अभिव्यक्त होती हैं अथवा कवि का अर्धचेतन मन (प्रीकांसस माइंड) अनजाने ही मुक्त आसंग पद्धति द्वारा असंबद्ध वस्तुओं के बिंब उपस्थित करता है। इस तरह आधुनिक मनोविश्लेषणशास्त्रीय दृष्टि से काव्य में बिंबयोजना तो अनिवार्यतः होती है, पर वे बिंब यथार्थ और संश्लिष्ट नहीं, विश्लिष्ट, असंबद्ध, खंडित और प्रतीकात्मक होते हैं। शुक्लजी के अनुसार पाठक विभावगत बिंबों को ग्रहण करके उनसे रागात्मक संबंध स्थापित करता है। इस तरह साधारणीकरण की प्रक्रिया द्वारा रसनिष्पत्ति होती है। आधुनिकतावादी आलोचक साधारणी-

[१] चिंतामणि, प्रथम भाग, पृ० १४५।
[२] रसमीमांसा—पृ० ११६।

करण का सिद्धांत नहीं मानता; उसके अनुसार वे बिंब पाठक में विचारानुबंधन (एसोसिएशन आव आइडियाज) की पद्धति द्वारा उसके अवचेतन में संचित अनुभवों को जाग्रत (इवोक) करते तथा ऐंद्रिय उत्तेजना द्वारा उनमें आवेग उत्पन्न करके उसको अपनी ओर आकृष्ट करते अथवा उसमें एक तटस्थ मानसिक तृप्ति की स्थिति उत्पन्न करते हैं। वस्तुतः शुक्लजी की बिंबग्रहण की व्याख्या प्राचीन साहित्य के लिये विशेष रूप से प्राचीन भारतीय साहित्य के लिये तो सही है, पर आधुनिक साहित्य पर वह पूर्णतः लागू नहीं होती। हाँ, उनका मूल सूत्र अवश्य आधुनिक साहित्य के लिये भी पूर्णतया समीचीन प्रतीत होता है। उनके अन्य कई सिद्धांतसूत्रों के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है।

अन्य समन्वयवादी आलोचक

शुक्लजी के समसामयिक समालोचकों में बहुत कम ऐसे थे जिनमें समन्वय की शुक्लजी जैसी प्रतिभा वर्तमान थी। पुदुमलाल पुन्नालाल बख्शी और रामकृष्ण शुक्ल शिलीमुख ऐसे ही आलोचक हैं जिनमें शुक्लजी जैसी तर्कशक्ति और विश्लेषणबुद्धि तो नहीं है पर भारतीय और पाश्चात्य विचारधाराओं के समन्वय द्वारा संश्लिष्ट विचार उपस्थित करने की प्रवृत्ति है। बख्शीजी में शुक्लजी जैसी विश्वासों की दृढ़ता और अन्विति नहीं है, न तो शास्त्रीय पांडित्य और तार्किक शुष्कता ही है। इसके विपरीत उनमें रवींद्रनाथ ठाकुर जैसी भावप्रवणता और प्रवाहमयता है। शुक्लजी के समान वे भारतीय साहित्यशास्त्र के किसी एक मत से बँधे नहीं हैं; उनकी आलोचनाओं में उनका उन्मुक्त मन और स्वतंत्र विवेक सर्वत्र दिखाई पड़ता है। उन्होंने पाश्चात्य आलोचकों, दार्शनिकों और विचारकों के मतों को स्वतंत्रतापूर्वक ग्रहणकर उनकी परीक्षा और व्याख्या की है और उनके संबंध में भारतीय दृष्टि से अपना मत व्यक्त किया है। भारतीय और विदेशी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन उनकी समीक्षा का प्रमुख अंग है। उनके ग्रंथ 'विश्व साहित्य' में इसी प्रकार के निबंध संकलित हैं। इन्होंने पश्चिमी दार्शनिकों की भाँति काव्य को भी कला के अंतर्गत ही माना है और कला का मानव जीवन के साथ घनिष्ठ संबंध बताया है। उसी तरह इन्होंने पाश्चात्य आलोचकों और विचारकों की पद्धति का अनुसरण करके समाज और साहित्य के संबंध का विश्लेषण करके समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक आलोचना का भी प्रारंभ किया जो बाद में हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा प्रगतिवादी आलोचकों द्वारा विशेष रूप से विकसित की गई। 'विश्व साहित्य' के दो निबंध—साहित्य का विकास और साहित्य का संमिलन-समाजशास्त्रीय पद्धति को अपनाकर ही लिखे गए हैं पर अन्य निबंधों में उन्होंने तुलनात्मक समन्वय की पद्धति अपनाई है। यद्यपि विश्व-

साहित्य में बख्शीजी के मौलिक विचार कम ही दिखाई पड़ते हैं, पर व्याख्या और चिंतन की शक्ति उनमें है, जिसके द्वारा दूसरे विचारकों और आलोचकों की मान्यताओं को भी उन्होंने अपना बनाकर अपने ढंग से उपस्थित किया है। फिर भी उनके अधिकांश निबंध परिचयात्मक और भावणात्मक (रेटारिकल) ही हैं।

बख्शीजी के दूसरे आलोचनात्मक ग्रंथ 'हिंदी साहित्य विमर्श' में उनके विचारों में और भी अधिक प्रौढ़ता और गंभीरता आ गई है। इस ग्रंथ के प्रारंभिक चार निबंधोंमें उन्होंने ऐसे प्रगतिशील और तत्वपूर्ण विचारों की अभिव्यक्ति की है कि आश्चर्य होता है। उस पुनरुत्थान के युग में ऐसे विचारों का आदर होना संभव न था पर १६३० ई० के बाद हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उन्हीं की शैली का अनुसरण करके मानवतावादी विचारों की अभिव्यक्ति की।

शिलीमुख भी शुक्लजी के समसामयिक आलोचक हैं। यद्यपि इन्होंने शुक्ल युग में प्रेमचंद और प्रसाद के साहित्य के संबंध में व्यावहारिक आलोचना ही लिखीं, पर इनकी समीक्षा की विशेषता यह है कि व्यावहारिक आलोचनाओं में भी प्रारंभ से प्रतिमान स्थिर करने के लिये सिद्धांतों का विवेचन कर लेते हैं। इसी दृष्टि से इन्हें शुक्ल युग के सैद्धांतिक आलोचकों की श्रेणी में भी गिना जाता है। इनकी आलोचनापद्धति भी समन्वयात्मक ही है। इन्होंने आलोचना के सैद्धांतिक और प्रयोगात्मक पक्ष के समन्वय पर विशेष ध्यान दिया है। साथ ही साहित्य-सिद्धांतों के विवेचन में भी इन्होंने भारतीय और पाश्चात्य दृष्टियों को समन्वित करके एक नवीन विचारसरणि निर्मित की है। इनमें मौलिकता बहुत अधिक थी, पर उसका जैसा विकास होना चाहिए वैसा न हो सका जिसके कारण हिंदी आलोचना में ये अपना स्थान ऊँचा न बना सके। इनकी प्रारंभिक आलोचना पुस्तकें 'प्रसाद की नाट्यकला, सुकवि समीक्षा, आलोचना समुच्चय' आदि हैं। इनके १६४० ई० के पूर्व के लिखे गए निबंधों का संकलन बाद में प्रकाशित हुआ है। इन ग्रंथों के संबंध में व्यावहारिक आलोचना के प्रसंग में विचार किया जायगा।

रामचंद्र शुक्ल और श्यामसुंदर दास की बौद्धिक छाया में रहकर जिन छात्रों ने हिंदू विश्वविद्यालय में हिंदी साहित्य का अध्ययन किया उनमें से कुछ आगे चलकर अत्यंत प्रभावशाली आलोचक हुए। सन् १६४० ई० के पूर्व तो उनका आलोचनात्मक व्यक्तित्व उभर ही रहा था, पर उनकी प्रवृत्तियों और दृष्टिकोण का निर्माण उसी समय होने लगा था जो उनकी तत्कालीन आलोचनात्मक कृतियों में देखा जा सकता है। ऐसे आलोचकों में विश्वनाथप्रसाद मिश्र जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, नंददुलारे वाजपेयी, पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, कृष्णशंकर-

शुक्ल, लक्ष्मीनारायण सुधांशु और जनार्दन प्रसाद झा द्विज, प्रमुख हैं। इनमें से नंददुलारे वाजपेयी पर शुक्लजी की समीक्षापद्धति और मान्यताओं का उतना प्रभाव नहीं था जितना प्रसाद, निराला आदि छायावादी कवियों की विचारधारा का। साथ ही उनकी प्रवृत्ति इतनी स्वतंत्र थी कि वे शुक्लजी की मर्यादावादी मान्यताओं को स्वीकार नहीं कर सकते थे। शेष व्यक्तियों में से कुछ ने तो श्यामसुंदर दास की पद्धति अपनाकर शैक्षणिक आलोचना का मार्ग प्रशस्त किया, कुछ ने शुक्लजी और श्यामसुंदरदास की शोधवृत्ति को अपनाया, कुछ ने शुक्लजी के पदचिह्नों पर सच्चे शिष्य की भाँति चलने का व्रत लिया और कुछ उनकी समन्वयात्मक समीक्षापद्धति की सीमा में रहकर भी उनकी विचारभूमि से हटकर स्वतंत्र मार्ग पर चलते रहे। डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा की शैक्षणिक समन्वयपद्धति की बात पहले कही जा चुकी है। डा० बड़थ्वाल शोधवृत्तिवाले आलोचक थे; अतः सैद्धांतिक विवेचना उन्होंने बहुत कम की है, ग्रंथसंपादन और काव्यप्रवृत्तियों के मूल स्रोतों का अन्वेषण ही उन्होंने अधिक किया है। साहित्यिक सिद्धांतों की जगह दार्शनिक सिद्धांतों के विवेचन में उनकी वृत्ति अधिक रमी है। कृष्णशंकर शुक्ल, जनार्दन प्रसाद झा द्विज और केसरीनारायण शुक्ल ने शुक्लजी की पद्धति पर ही व्यावहारिक आलोचनाएँ लिखीं; विश्वनाथप्रसाद मिश्र पर लाला भगवानदीन और रामचंद्र शुक्ल का समान प्रभाव था। इस कारण उनमें एक ओर तो लालाजी की भाँति साहित्यशास्त्र के परिचयात्मक ग्रंथ और टीकाएँ लिखने तथा रीतिकालीन कवियों के ग्रंथों का संपादन करने की प्रवृत्ति थी, दूसरी ओर शुक्ल जी की तरह शास्त्रीय और पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक पद्धतियों का समन्वय करके व्यावहारिक आलोचना लिखने की ओर भी रुचि थी। इनकी इन दोनों प्रवृत्तियों का समुचित विकास शुक्लोत्तर युग में हुआ है। इस तरह इन लोगों में से केवल लक्ष्मीनारायण सुधांशु ही ऐसे आलोचक हैं जिन्होंने शुक्ल युग में ही शुक्लजी के संश्लेषणात्मक समन्वय की पद्धति को अपनाकर, पर उनके विचारों से अपने को यथासंभव स्वतंत्र रखते हुए सैद्धांतिक समीक्षा लिखी।

लक्ष्मीनारायण सुधांशु

शुक्ल युग में सैद्धांतिक आलोचना लिखनेवालों में शुक्लजी के बाद सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान सुधांशुजी का ही है। 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' (सन् १९३६ ई०) उनकी प्रथम आलोचनात्मक कृति है जिसकी रचना डा० श्यामसुंदरदास की प्रेरणा से हुई थी। उस समय तक रामचंद्र शुक्ल के ग्रंथ 'काव्य में रहस्यवाद' और 'हिंदी साहित्य का इतिहास' प्रकाशित हो चुके थे जिनमें उन्होंने अभिव्यंजना की कटु आलोचना की थी। अभिव्यंजनावाद के संबंध में

शुक्लजी का यह स्पष्ट मत था कि 'अभिव्यंजनावाद वस्तु या प्रभाव का विचार छोड़कर केवल वाग्वैचित्र्य को पकड़कर चला है, पर वाग्वैचित्र्य का हृदय की गंभीर वृत्तियों से कोई संबंध नहीं।'[१] साथ ही उनकी यह भी धारणा थी कि 'योरप का अभिव्यंजनावाद हमारे यहाँ के पुराने वक्रोक्तिवाद—वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्—का ही नया रूप या विलायती उत्थान है।'[२] वे यह भी मानते थे कि 'छायावाद' समझकर जो कविताएँ हिंदी में लिखी जाती हैं उनमें से अधिकांश का छायावाद से या रहस्यवाद से कोई संबंध नहीं होता। उनमें से कुछ तो विलायती 'अभिव्यंजनावाद' के आदेश पर रची हुई बँगला कविताओं की नकल पर और कुछ अँग्रेजी कविताओं के लाक्षणिक चमत्कारपूर्ण वाक्य शब्द प्रतिशब्द उठाकर जोड़े जाते हैं।'[३] शुक्लजी के इन्हीं मतों का खंडन करने अथवा उनका परीक्षण करने की दृष्टि से ही संभवतः इस ग्रंथ का निर्माण हुआ था। इसकी भूमिका में ही सुधांशुजी ने हिंदी साहित्य पर पाश्चात्य प्रभाव को 'स्वास्थ्यवर्धक' बताकर शुक्लजी की अनुकरणवाली धारणा का विरोध किया है, यद्यपि अंशतः उस बात को उन्होंने भी स्वीकृत किया है कि 'हिंदी काव्य में जब अनुकरणप्रियता बढ़ने लगी तब कविगण भाषा की शक्ति से कभी कभी अधिक काम लेने लगे।'[४]

'काव्य में अभिव्यंजनावाद' में लेखक का मुख्य उद्देश्य क्रोचे के सौंदर्य शास्त्रीय सिद्धांतों अथवा अँगरेजी की प्रभाववादी आलोचना की व्याख्या करना नहीं बल्कि अभिव्यंजना संबंधी भारतीय सिद्धांतों का क्रोचे के सिद्धांतों के साथ समन्वय करना है। इस कारण भूमिका में उन्होंने लिखा है कि 'क्रोचे के सिद्धांतों में जो बातें भारतीयता के निकट प्रतीत हुईं उनपर मैंने अधिक ध्यान रखने की कोशिश की है; किंतु अपनी भाषा तथा विचार की सांस्कृतिक विभिन्नता के सिद्धांत की चर्चा करने की जहाँ गुंजाइश न थी वहाँ मैंने उसे छोड़ दिया है।' इस तरह यह पाश्चात्य अभिव्यंजनावाद की परिचयात्मक व्याख्या करनेवाला ग्रंथ नहीं है; इसके विपरीत इसमें काव्य में अभिव्यंजना के स्वरूप की भारतीय और पाश्चात्य अभिव्यंजनावादी दोनों दृष्टियों से व्याख्या की गई है। ग्रंथ के प्रारंभ में ही उन्होंने काव्य के संबंध में यह स्थापना की है कि काव्य का मुख्य साधक तत्व कल्पना है, बुद्धि नहीं और कल्पना सहजज्ञान (सहजानुभूति) ही है;

[१] काव्य में रहस्यवाद—चिंतामणि, भाग २—पृ० १०५।
[२] वही, पृ० १०७।
[३] वही, पृ० १०८।
[४] काव्य में अभिव्यंजनावाद—प्रथम संस्करण की भूमिका।

इस कारण 'काव्य के लियेसहजानुभूति (इंट्यूशन) ही सर्वस्व है; उसमें बुद्धि का व्यायाम हो जाने पर वह काव्यकार और पाठक दोनों के लिये समस्या उपस्थित कर देता है।' उनके अनुसार सहजानुभूति कल्पना का वह रूप है जो कवि की आत्मा में काव्य वस्तु का बिंब अनायास उपस्थित कर देता है। बुद्धि द्वारा रचित काव्य विचारप्रधान और सहजानुभूतिवाला काव्य बिंबप्रधान होता है। इस कारण रससंचार करने की शक्ति सहजानुभूतिजन्य काव्य में ही होती है। इस प्रकार सुधांशुजी ने अपनी स्थापना में ही क्रोचे के सहाजानुभूति के सिद्धांत और शुक्लजी के बिंबग्रहण द्वारा साधारणीकरण या रसनिष्पत्ति के सिद्धांतों का इस तरह समन्वय कर दिया है कि दोनों में कोई तात्विक विरोध नहीं रह जाता।

रामचंद्र शुक्ल ने क्रोचे के सिद्धांत का खंडन मुख्यतः इस धारणा के आधार पर किया है कि वह कलाकृति के रूपाकार (फार्म) को ही सब कुछ मानता है भाव या वस्तु को बिलकुल महत्व नहीं देता[1]। शुक्लजी की यह धारणा इतनी प्रचलित हो गई थी कि अधिकतर आलोचक क्रोचे के मूल ग्रंथ का अध्ययन किए बिना ही आँख मूँदकर शुक्लजी की बात दुहराने लगे थे। सुधांशुजी ने वास्तविकता को प्रकटकर हिंदी आलोचना के क्षेत्र में बहुत महत्व का कार्य किया है उन्होंने प्रमाणित किया है कि काव्य में विचार और सहजानुभूति मिले रहते हैं; क्रोचे ने सहजानुभूति के आध्यात्मिक व्यापार में वस्तु के महत्व को स्वीकार किया है। यद्यपि उसने रूपाकार को सर्वाधिक महत्व दिया है, पर साथ ही यह भी माना है कि बिना वस्तु के सहजानुभूतिजन्य बिंबों या रूपाकारों का निर्माण हो ही नहीं सकता। शुक्लजी कहते हैं कि 'क्रोचे ने भावों या मनोविकारों तक को काव्य की उक्ति का विधायक तत्व नहीं माना है' पर सुधांशुजी ने बताया है कि क्रोचे के अनुसार सहजानुभूति या सहजोपलब्ध ज्ञान व्यक्ति की अंतर्वृत्तियों पर निर्भर करता है। वस्तुतः शुक्लजी मुख्य रूप से अभिधावादी थे, वे वस्तु के संश्लिष्ट चित्रण को ही काव्य मानते थे चाहे उसमें कल्पना का योग हो या न हो। उन्होंने अनेक स्थलों पर यह मत प्रतिपादित किया है कि यह प्रत्यक्ष वस्तु जगत् भी काव्य ही है; अतः इस बाह्य जगत् को आलंबन बनाकर जब उसका संश्लिष्ट बिंब, जैसा का तैसा

[1] 'इटली निवासी क्रोचे ने अभिव्यंजनावाद के निरूपण में बड़े कठोर आग्रह के साथ कला की अनुभूति को ज्ञान या बोधस्वरूप ही माना है। उन्होंने उसे स्वयंप्रकाश ज्ञान (इंट्यूशन), प्रत्यक्ष ज्ञान तथा बुद्धिव्यवसायसिद्ध या विचारप्रसूत ज्ञान से भिन्न केवल कल्पना में आई हुई वस्तुव्यापारयोजना का ज्ञानमात्र माना है। वे इस ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान और विचारप्रसूत ज्ञान दोनों से भिन्न मानते हैं।'—साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद—चिंतामणि, भाग १, पृ० २३६—४०।

उपस्थित कर दिया जाय तो वह काव्य हो जायगा। इसके विपरीत क्रोचे अभिव्यं-जनावादी या भारतीय साहित्यशास्त्र की शब्दावली में 'व्यंजनावादी' था। उसके अनुसार काव्य या कला की आत्मा में जो अभिव्यक्ति होती है उसमें बाह्य वस्तु या मन पर पड़े उसके प्रभाव केवल द्रव्य रूप में होते हैं, आत्मा के भीतर जो प्रातिभ कलात्मक साँचा है उसी में ढलकर वस्तु और भाव कलारूप धारण करते हैं। इससे स्पष्ट है कि क्रोचे बाह्य वस्तुजगत् तथा मन के भावों को काव्य की सामग्री तो मानता है, पर स्वयं उन्हें ही काव्य नहीं मानता। इसी दृष्टिभेद तथा अपने मत के कठोर आग्रह के कारण शुक्लजी ने क्रोचे के मतों को तोड़-मरोड़ कर उपस्थित किया है अथवा मनमाने ढंग से उनकी व्याख्या की है ताकि मनोनुकूल उनका खंडन कर सकें। 'काव्यवस्तु का तिरस्कार करना अभिव्यंजनावाद का कदापि लक्ष्य नहीं है। जिस रूप में अभिव्यंजना होती है उससे भिन्न अर्थ आदि का विचार कला में अनावश्यक है।'''यदि सहजानुभूति हो तो अभिव्यंजनावादी भावव्यंजना और वस्तुव्यंजना दोनों में काव्यत्व मानते हैं'।[1]

शुक्लजी रसवादी होने के कारण भाव और विभाव (वस्तु पक्ष) पर बहुत अधिक बल देते हैं और अभिव्यंजना की शैली को उतना महत्त्व नहीं देते। इसका कारण यह है कि वे काव्य के भाव पक्ष और कला पक्ष को अलग अलग करके देखते हैं। पर अभिव्यंजनावाद के अनुसार दोनों पक्ष-अनुभूति और अभि-व्यंजना-अभिन्न हैं। अनुभूति (वस्तु या भाव) द्रव्य है और उसी को विशिष्ट रूपाकार में सहजानुभूति आत्मा में अभिव्यक्त करती है। यह आन्तरिक अभिव्यक्ति ही कला है। बाह्याभिव्यंजन तो उस आन्तरिक अभिव्यक्तिकी अनुकृति मात्र है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सुधांशुजी लिखते हैं—'ये दोनों वस्तुतः दो नहीं, एक ही हैं—एक अंतर् है, दूसरा बाह्य। एक से दूसरे का विरोध नहीं होता, प्रत्युत् अंतर् बाह्य के साथ तादात्म्य ही होना चाहता है। वस्तु या भाव को जब इच्छित आकृति प्राप्त हो जाती है तब वह स्वतः अभिव्यंजित हो जाती है।'[2]

शुक्लजी काव्य में वस्तु या वास्तविक जीवन को इतना महत्त्व देते थे कि वे वस्तु के यथातथ्य चित्रण को भी काव्य मानने को तैयार थे। उनके अनुसार जिस मर्मस्पर्शिणी वस्तु - व्यापार - योजना का ज्ञानेंद्रियों द्वारा या कल्पना के सहारे हमने साक्षात्कार किया हो उसे अपना प्रभाव उत्पन्न करने के लिये औरों

१ काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ० ४७—४८।
२ वही, पृ० १७।

तक ठीक ठीक पहुँचाकर यदि हम अलग हो जायँ तो कविकर्म कर चुके।'[1] सुधांशुजी शुक्लजी के इस कथन से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार वस्तु का यथातथ्य चित्रण अर्थात् अभिधात्मक वर्णन काव्य नहीं हो सकता। वे कहते हैं, 'जो दृश्य या तथ्य जैसा है उसको ठीक वैसा ही व्यक्त करना काव्य नहीं है।... प्रकृति में जो प्रत्यक्ष है वही काव्य में परोक्ष हो जाता है; अतएव इस परोक्ष को फिर से प्रत्यक्ष बनाने के लिये सामान्य अनुकृति से काम नहीं चल सकता। जो अपना भाव है उसे दूसरों का भाव बनाने के लिये साधारण ढंग से कृतकार्यता नहीं हो सकती।'[2] अतः वे यह मानते हैं कि 'बाह्य जगत् के दृश्यों को देखकर हमारे चित्त पर जो प्रभाव पड़ता है उससे प्रभावित होकर हम अपने अंतर्जगत् में कल्पना की सहायता से उसको व्यंजित करते हैं।...काव्य में हम अपनी कल्पना और भावना के उत्कर्ष के लिये सत्य को अविकल रूप में ग्रहण नहीं कर सकते।'[3] इसी तरह अन्य स्थलों पर भी सुधांशुजी ने शुक्लजी की मान्यताओं से अपनी असहमति प्रकट की है। शुक्लजी की मान्यता थी कि अभिव्यंजनावाद केवल वाग्वैचित्र्य को लेकर चलता है, सुधांशुजी ने इस भ्रम का निराकरण करते हुए बताया है कि अभिव्यंजना का अर्थ केवल इतना ही है कि मूल वस्तु में काव्यत्व नहीं रहता, उसकी सच्ची व्यंजना में काव्यत्व मानना चाहिए।' इस तरह उन्होंने सिद्ध किया है कि अभिव्यंजनावाद वाग्वैचित्र्यवाद नहीं है। इसके विपरीत भारतीय साहित्यशास्त्र में मान्य व्यंजना वृत्ति के सिद्धांत से उसकी तुलना की जा सकती है जिसमें 'अभिधा द्वारा सीधे कथन में काव्यत्व न मानकर व्यंजक वाक्य में उसकी अवस्थिति मानी जाती है।'[4] वाग्वैचित्र्य से शुक्लजी का तात्पर्य वक्रोक्ति या वाग्भंगी-भणिति से था और इसी लिये वे अभिव्यंजनावाद को भारतीय वक्रोक्तिवाद का 'विलायती उत्थान' मानते थे। सुधांशुजी ने इस धारणा को भी भ्रमपूर्ण बताया है और कहा है कि 'वक्रोक्तिवाद' की प्रकृति अलंकार की ओर विशेष तत्पर दिखाई देती है, लेकिन अभिव्यंजनावाद का बाह्य रूप से अलंकार के साथ कोई संबंध नहीं है। अलंकार अनुगामी होकर अभिव्यंजना के पीछे चल सकता है,...जिस उक्ति से किसी दृश्य का मनोरम बिंबग्रहण हो वह वक्रताहीन रहने पर भी अभिव्यंजनावाद की चीज है। वक्रोक्तिवाद में स्वभावोक्ति को स्थान नहीं दिया गया है।'[5] इस

१ काव्य में रहस्यवाद—चिंतामणि, भाग २— पृ० १११।
२ काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ० ३२।
३ वही, पृ० २८।
४ वही, पृ० ५०।
५ वही, पृ० ५०।

तरह सुधांशुजी ने शुक्लजी के बिंबग्रहण के सिद्धांत और अभिव्यंजनावाद की सहजानुभूति की बिंबात्मक अभिव्यक्ति में कोई तात्विक अंतर नहीं माना है। शुक्लजी ने स्वयं यह बात बार बार कही है कि काव्य का विषय सदा विशेष होता है, सामान्य नहीं। एक स्थान पर उन्होंने अपने इस मत की पुष्टि क्रोचे के सिद्धांत का उल्लेख करके इस प्रकार की है—'अनेक व्यक्तियों के रूप गुण आदि के विवेचन द्वारा कोई वर्ग या जाति ठहराना, बहुत सी बातों को लेकर कोई सामान्य सिद्धांत प्रतिपादित करना, यह सब तर्क और विज्ञान का काम है—निश्चयात्मिका बुद्धि का व्यवसाय है। काव्य का काम है, कल्पना में बिंब (इमेज) या मूर्त भावना उपस्थित करना, बुद्धि के सामने कोई विचार (कंसेप्ट) लाना नहीं। बिंब जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा, सामान्य या जाति का नहीं।'[1] यह पूरी मान्यता क्रोचे की ही है। शुक्लजी ने इस बात को छिपाया भी नहीं है, बल्कि पादटिप्पणी में क्रोचे के कला के बोध पक्ष और तर्क के बोध पक्षवाले विभाजन का उल्लेख कर दिया है। संभवतः बिंबग्रहण का सिद्धांत शुक्लजी को अभिव्यंजनावाद से ही मिला था जिसे उन्होंने रसविवेचन में साधारणीकरण के भारतीय सिद्धांत के अंतर्गत समेट लिया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सुधांशुजी ने अत्यंत निष्पक्ष और तटस्थ भाव से अभिव्यंजनावाद की व्याख्या की है और उसका पर्याप्त समर्थन भी किया है। पर कहीं कहीं उन्होंने शुक्लजी के स्वर में स्वर मिलाकर उसकी आलोचना भी की है। अभिव्यंजनावाद के नाम पर वाग्वैचित्र्य का जाल फैलानेवालों की निंदा करते हुए उन्होंने लिखा है—'अभिव्यंजनावाद में वाग्वैचित्र्य को जितना स्थान मिला है उससे अधिक कलाकारों ने उसके नाम पर वाग्विस्तार किया है। वाग्वैचित्र्य हृदय की गंभीर वृत्तियों से वस्तुतः संबंध नहीं रखता।'[2] इसी तरह अभिव्यंजनावाद से ही उद्भूत प्रभाववादी आलोचना की भी निंदा की है। ब्रैडले के 'कला कला के लिये' के सिद्धांत का विरोध करते हुए उन्होंने कला का सोद्देश्य होना आवश्यक बताया है। शुक्लजी की भाँति वे भी कला का उद्देश्य लोकहित मानते तथा उसे ही समीक्षा का मानदंड बताते हैं। इस मान्यता के कारण वे कला का जीवन से अविच्छिन्न संबंध मानते हैं।[3] उनके अनुसार स्वांतःसुखाय काव्यरचना करनेवाले भी जनसमाज को ध्यान में रखते हैं क्योंकि

[1] रसमीमांसा, पृ० ३१०।
[2] काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ० ५०।
[3] वही, पृ० १७।

काव्य को दूसरों तक संप्रेषित करना होता है। शुक्लजी ने रवींद्रनाथ ठाकुर को भी कलावादी ही माना है, पर सुधांशुजी ने इस मत का खंडन करते हुए यह सिद्ध किया है कि रवि बाबू कलावादी नहीं, जीवन सौंदर्यवादी थे और कला को सोद्देश्य मानते थे।

कई और बातों के संबंध में भी सुधांशुजी शुक्लजी का पूर्ण समर्थन करते हैं। अभिव्यंजनावाद का समर्थन करते हुए भी वे मूलतः शुक्लजी की तरह रस-वादी ही हैं। अपने ग्रंथ के तीसरे अध्याय में रसानुभूति के तत्वों की व्याख्या करते हुए उन्होंने साधारणीकरण, सामाजिक नैतिकता, आलंबन धर्म, तादात्म्य और शीलदर्शन, धर्म और पाप, रसानुभूति के स्वरूप, प्रस्तुत विधान आदि की विवेचना शुक्लजी के अनुसार ही की है। शुक्लजी के समान सुधांशु जी भी काव्य के दो पक्ष-भाव पक्ष और कला पक्ष मानकर चले हैं और ऐसे अलंकारों का विरोध किया है जो भाव का उत्कर्ष नहीं बढ़ाते, बल्कि केवल चमत्कार उत्पन्न करते हैं। उन्होंने अलंकारों की अधिकता के कारणों की भी बड़े विद्वत्तापूर्ण ढंग से विवेचना की है और छायावादी कवियों की कविताओं से उदाहरण देकर स्वाभाविक और भावोत्कर्षक अलंकारों के प्रयोग का महत्व प्रतिपादित किया है। इस प्रसंग में उन्होंने भी शुक्लजी की भाँति अप्रस्तुत योजना में कल्पना की अतिशयता की निंदा की है और उसका अनुभूति की वशवर्तिनी होना आवश्यक माना है। उनके अनुसार 'हृदय की अनुभूति गंभीर होती है, अतः गंभीर भावों से लदे हुए अलंकारों में जो गंभीरता होगी वह हवाई जहाज की तरह उड़नेवाली आधारहीन कल्पना के बल पर निर्मित अलंकारों में संभव नहीं।'[1] शुक्ल जी के समान उन्होंने भी माना है कि कल्पना का उपयोग केवल अप्रस्तुत विधान में ही नहीं, प्रस्तुत के चित्रण में भी होना चाहिए।

किंतु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि सुधांशुजी सभी बातों में शुक्लजी के अनुयायी हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है, अभिव्यंजनावाद के संबंध में उन्होंने शुक्लजी धारणाओं का खंडन किया है। प्रतीकविधान तथा अमूर्त के मूर्तविधान की व्याख्या उन्होंने बहुत कुछ स्वतंत्र ढंग से की है। यद्यपि शुक्लजी ने भी 'काव्य में रहस्यवाद' में प्रतीकयोजना पर विचार किया है, पर सुधांशुजी ने प्रतीक-योजना का विचार छायावादी कविता को आधार बनाकर किया है और इस प्रकार की कविताओं का समर्थन किया है। उसी तरह अमूर्त के मूर्तविधान के संबंध में विचार करते समय भी उन्होंने छायावादी कविता की लाक्षणिकता और व्यंजकता

[1] काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ० १६१।

पर पर्याप्त विचार किया है। इस समस्त विवेचना में उनकी सूक्ष्म दृष्टि, गहरी पैठ और मौलिक उद्भावनाएँ दिखाई पड़ती हैं। काव्य की रचनाप्रक्रिया, काव्य में कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति तथा सौंदर्यानुभूति और काव्यानुभूति की एकता के संबंध में उनके विचार सर्वथा मौलिक हैं। रचनाप्रक्रिया के संबंध में शुक्लजी ने कहीं विस्तार से विवेचना नहीं की है और जो कुछ उस संबंध में कहा है उसका आशय यही है कि कवि सचेतावस्था में सोच समझकर काव्यरचना करता है। पर सुधांशुजी यह मानते हैं कि 'कलानिर्माण के लिये न तो पूर्ण चेतनता आपेक्षित है और न अचेतनता। यह एक ऐसी अवस्था है जिसमें कलाकार की समस्त शक्ति, प्रवृत्ति, मनोवेग एक ही दिशा में काम करते हैं।'[1] यह सिद्धांत रचनाप्रक्रिया से संबंधित मनोविश्लेषणशास्त्रीय और रीतिवादी (क्लासिकल) दोनों मान्यताओं से भिन्न है। मनोविश्लेषणशास्त्र के अनुसार काव्यरचना अचेतन मन का व्यापार है और रीतिवादियों के अनुसार चेतन मन का सचेत व्यापार। वस्तुत यहाँ सुधांशुजी ने पाश्चात्य स्वच्छंदतावादी कवियों की भाँति तन्मयता का सिद्धांत प्रतिपादित किया है। रचनाप्रक्रिया की इस मनोदशा को आधुनिक आलोचक पूर्वचेतन मन (प्री कांशिअस माइंड) का व्यापार कहते हैं जो चेतन और अचेतन मन के बीच की असाधारण मनोदशा है।

इस प्रकार सुधांशुजी सच्चे अर्थ में संश्लेषणात्मक समन्वयवादी आलोचक हैं। उन्होंने आधुनिक काव्य को ध्यान में रखकर तथा पूर्वग्रहरहित होकर पाश्चात्य और भारतीय काव्यसिद्धांतों के ग्राह्य तत्वों को अपनाया तथा उनके संश्लेषण और सामंजस्य द्वारा शुक्लजी की समीक्षापद्धति को आगे बढ़ाया है। उनकी दूसरी आलोचनात्मक कृति 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धांत' में, जिसका प्रकाशन हमारे आलोच्य काल के बाद हुआ, उनके परिपक्व और विकसित आलोचनात्मक व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं। यदि राजनीति ने उनके जीवन पर अनपेक्षित अधिकार न कर लिया होता तो निश्चय ही सैद्धांतिक आलोचना के क्षेत्र में आज उनका अद्वितीय स्थान होता। उनके प्रथम आलोचनात्मक ग्रंथ में ही उक्त संभावना के बीज वर्तमान थे।

(ग) स्वच्छंदतावादी आलोचना

छायावादी कवि आलोचक—छायावाद युग में जिस प्रकार काव्य कला संबंधी धारणाएँ और प्रतिमान बदल गए और काव्यशास्त्र तथा परंपरागत मान्य-

[1] काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ० ४१।

तांओं के बंधन को तोड़कर आत्मानुभूति की स्वच्छंद अभिव्यक्ति को लेकर कविता आगे बढ़ी, उसी प्रकार आलोचना के क्षेत्र में भी काव्यशास्त्रसंमत अथवा पूर्वमान्य आलोचनात्मक प्रतिमानों को आधुनिक साहित्यिक चेतना के मूल्यांकन में असमर्थ समझकर स्वच्छंद चिंतनप्रधान आलोचना का प्रारंभ और विकास हुआ। इस प्रकार की आलोचना का प्रारंभ मुख्यतः छायावादी कवियों द्वारा अपनी काव्यकृतियों की भूमिकाओं में व्यक्त किए गए काव्य-कला-संबंधी विचारों से हुआ। इन कवियों को छायावाद की नई काव्यचेतना के विरोधी आलोचकों को उत्तर देने के लिये और साथ ही अपनी रचनाओं की विशेषताओं को स्पष्ट करने के लिये ये भूमिकाएँ लिखनी पड़ीं। इन भूमिकाओं में काव्यसौंदर्य तथा भाषाशिल्प संबंधी नए प्रतिमानों की स्थापना के साथ साथ काव्यबोध और प्रेषणीयता के नए स्तरों की ओर पहली बार इन कवियों ने ध्यान आकृष्ट किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि सौंदर्यबोध और कलात्मक रुचि संबंधी ये नवीन धारणाएँ इन कवियों की स्वतंत्र रचनात्मक प्रतिभा और काव्य की रचनात्मक प्रक्रिया पर आधारित थीं, अतः इनमें किसी भी प्रकार के शास्त्रीय बंधन और रूढ़ि का आग्रह न होकर स्वोपलब्ध विचारों की प्रधानता थी। किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि इस प्रकार की स्वच्छंद आलोचनापद्धति छायावादी कवियों की बिलकुल मौलिक देन थी। वस्तुतः साहित्य में जहाँ और जब भी स्वच्छंदतावादी काव्यप्रवृत्ति आई है, आलोचना की स्वानुभूतिपूर्ण स्वच्छंद पद्धति का प्रारंभ हुआ है। अँगरेजी के स्वच्छंदतावादी कवियों द्वारा व्यक्त किए गए काव्यसंबंधी विचारों को उदाहरण रूप में लिया जा सकता है। हिंदी में भी स्वच्छंदतावादी आलोचना के विकास का यही कारण है। हिंदी के छायावादी कवियों द्वारा लिखी गई आलोचनाओं के स्वच्छंद होने का केवल इतना ही अर्थ है कि इनमें किसी शास्त्र, नियम, परंपरा या निर्दिष्ट सिद्धांत को आधार नहीं बनाया गया है। आलोचकों की स्वच्छंद पद्धति का यह भी अर्थ नहीं है कि काव्यसंबंधी भारतीय अथवा पाश्चात्य शास्त्रीय सिद्धांतों और पूर्व मान्यताओं की बिलकुल उपेक्षा कर दी जाय। इसके विपरीत ये मान्यताएँ सामूहिक उपलब्धि के रूप में आवश्यकता के अनुसार विवेचन विश्लेषण की प्रक्रिया में सहायक होती या हो सकती हैं और आलोचक के स्वतंत्र समीक्षात्मक दृष्टिकोण को संश्लिष्ट रूप में प्रभावित कर सकती हैं।

सुमित्रानंदन पंत—ऐतिहासिक दृष्टि से आलोचना की इस स्वच्छंद पद्धति का प्रारंभ सुमित्रानंदन पंत द्वारा १९२६ ई० में लिखी गई 'पल्लव' की समीक्षात्मक भूमिका से होता है। इस भूमिका में पंतजी ने मुख्य रूप से काव्य-शिल्प के संबंध में ही विचार किया है, किंतु रीतिकालीन काव्य और रीतिबद्ध समीक्षा सिद्धांतों के संबंध में जो धारणाएँ उन्होंने व्यक्त की हैं, उनसे काव्य

के आंतरिक मूल्यों के संबंध में भी अप्रत्यक्ष रूप से उनके विचार मालूम हो जाते हैं। 'एक ही के भीतर बीस डिब्बेवाले खिलौनों की तरह एक ही के अंदर सहस्र नायिकाओं के स्वरूप' दिखलानेवाली रूढ़िबद्ध रीतिकालीन कविता की संकीर्णता और उसके प्रशंसकों की नवीन सौंदर्यबोध को ग्रहण कर सकने में असमर्थ संसारगत विकृत काव्यरुचि का उद्घाटन करके पंतजी ने काव्य के आंतरिक सौंदर्य के मूल्यांकन के लिये निर्दिष्ट सिद्धांतों को छोड़कर स्वतंत्र रूप से नवीन समीक्षापद्धति की आवश्यकता की ओर आलोचकों का ध्यान आकृष्ट किया। सत्साहित्य की रचना के लिये युगानुरूप आलोचना की नवीन पद्धति को आवश्यक बतलाते हुए उन्होंने लिखा है कि 'जब तक समालोचना का समयानुकूल रूपांतर न हो, यह विश्वभारती के आधुनिक, विकसित तथा परिष्कृत स्वरों में न अनुवादित हो जाय, तब तक हिंदी में सत्साहित्य की सृष्टि भी नहीं हो सकती'।

इस आवश्यता को ही ध्यान में रखकर उन्होंने काव्यशिल्प के संबंध में हिंदी में पहली बार स्वतंत्र रूप से विस्तार के साथ विचार किया। काव्य में भाव और अभिव्यंजना के सामंजस्य को पहली बार इतने वैज्ञानिक ढंग से स्पष्ट किया गया। कवि होने के कारण पंतजी ने काव्य की रचनाप्रक्रिया के आधार पर काव्य के शिल्पविधान के संबंध में विचार किया, इसलिये भाषा, छंद, लय आदि को लेकर काव्यशिल्प की अंतरात्मा का जितनी गहराई और सूक्ष्मता से सोदाहरण विवेचन इस भूमिका में प्रस्तुत किया गया, वैसा अन्य कोई शुद्ध आलोचक नहीं कर सका—और कर सकता था, इसमें भी संदेह है। इस संबंध में पंत जी की प्रमुख स्थापनाएँ हैं—

(१) कविता की भाषा चित्रात्मक होनी चाहिए, अर्थात् काव्य में भावों के अनुरूप चित्रों और रागों की योजना होनी चाहिए।

(२) कविता में शब्द तथा अर्थ की अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं रहती, वे दोनों भाव की अभिव्यक्ति में डूब जाते हैं।

(३) हिंदी का संगीत केवल मात्रिक छंदों ही में अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की संपूर्णता प्राप्त कर सकता, उन्हीं के द्वारा उसमें सौंदर्य की रक्षा की जा सकती है।

(४) काव्यसंगीत के मूल तंतु स्वर हैं, न कि व्यंजन।

(५) भाव तथा भाषा का सामंजस्य मुक्त छंद में अधिक पूर्णता के साथ निभाया जा सकता है। मुक्त छंद में लिखी गई कविता में अंगों के गठन की ओर विशेष ध्यान रखना पड़ता है।

(६) छंद का राग भाषा के राग पर निर्भर रहता है, इसलिये दोनों में स्वरैक्य होना चाहिए।

इस प्रकार अपनी सूक्ष्म विश्लेषणात्मक प्रतिभा द्वारा पंतजी ने काव्य के शिल्पविधान पर विचार करने की नवीन पद्धति का ही प्रारंभ नहीं किया, बल्कि उनके शिल्पी कवि आलोचक ने कविता की रचनाप्रक्रिया को ध्यान में रखकर आधुनिक कविता के आलोचकों को कलात्मक मूल्यों के आकलन के लिये अनेक स्वानुभूत मौलिक और महत्वपूर्ण सूत्र दिए। पंतजी की काव्यकला के विवेचन में तो आलोचकों ने इन सूत्रों को ग्रहण किया ही, अन्य छायावादी कविताओं के विवेचन के लिये भी इनका पर्याप्त उपयोग किया गया।

जयशंकर प्रसाद

पंतजी के बाद अपेक्षाकृत अधिक सुव्यवस्थित और तर्कपूर्ण आलोचनात्मक प्रतिभा प्रसादजी में दिखलाई पड़ती है। भारतीय और पाश्चात्य साहित्य का प्रसादजी ने गहन अध्ययन किया था; अतः उनकी आलोचना में भारतीय और पाश्चात्य साहित्यशास्त्र और दर्शन की महत्वपूर्ण उपलब्धियों को अपने मतों और सिद्धांतों की पुष्टि के लिये आवश्यकतानुसार प्रमाण रूप में प्रायः उपस्थित किया गया है। साहित्यशास्त्र और दार्शनिक विचार परंपरा के प्रायः उल्लेख और उद्धरण से यह भ्रम हो सकता है कि प्रसादजी किसी न किसी रूप में आलोचना की शास्त्रीय परंपरा के ही समर्थक थे। किंतु आलोचना की शास्त्रीय पद्धति और इस पद्धति में मौलिक अंतर यह है कि इसमें साहित्यशास्त्र को कसौटी न मानकर साहित्यिक मूल्याकन के व्यापक प्रतिमान को स्थिर करने और काव्यकला संबंधी नवीन मान्यताओं को परंपरा के संदर्भ में देखने के महत्वपूर्ण साधन के रूप में ग्रहण किया गया है। इस विशेषता के कारण प्रसादजी एक ओर जहाँ शास्त्रीय या समन्वयवादी आलोचकों से अलग खड़े दिखलाई पड़ते हैं वहीं दूसरी ओर उनकी आलोचना अन्य छायावादी कवि आलोचकों से भी भिन्न स्तर की है। यद्यपि प्रसादजी के आलोचनात्मक प्रतिमान मूलतः स्वच्छंदतावादी ही माने जायँगे, किंतु आलोचना की यह स्वच्छंद पद्धति शुद्ध स्वानुभूतिमूलक नहीं, बल्कि शास्त्रज्ञानयुक्त स्वतंत्र चिंतन पर आधारित है।

'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' इस काल की प्रसादजी की महत्वपूर्ण आलोचनात्मक कृति है। इस पुस्तक में उन्होंने काव्य और कला, रहस्यवाद, रस, नाटकों में रस का प्रयोग, नाटकों का प्रारंभ, रंगमंच, आरंभिक पाठ्यकाव्य तथा यथार्थवाद और छायावाद के संबंध में पांडित्यपूर्ण ढंग से विचार किया है। इनमें काव्य और कला शीर्षक निबंध हिंदी की सैद्धांतिक आलोचना को प्रसादजी की एक महत्वपूर्ण देन है। उस समय काव्य को कला के अंतर्गत

रखकर कला के मूर्त अमूर्त भेदों के आधार पर विभिन्न ललित कलाओं की श्रेष्ठता और महत्व बतलाने का फैशन सा चल गया था। प्रसादजी ने मूर्त और अमूर्त के आधार पर साहित्यकला के महत्व प्रतिपादन को भ्रांतिपूर्ण बतलाया। उनके अनुसार अन्य विशेषताओं से युक्त न होकर केवल मूर्त रूप के कारण कोई कला श्रेष्ठ नहीं हो जाती और सामान्य कोटि की मूर्त कलात्मक कृतियों से उच्च कोटि की अमूर्त कलाकृति केवल इसलिये कम महत्वपूर्ण नहीं है कि वह अमूर्त है। इसलिये अन्य सूक्ष्मताओं और विशेषताओं का निदर्शन न करके केवल मूर्त और अमूर्त के भेद से साहित्यकला की महत्ता नहीं स्थापित की जा सकती। इस संबंध में प्रसादजी की ध्यान देने योग्य महत्वपूर्ण स्थापना यह है कि 'सौंदर्यबोध बिना रूप के हो ही नहीं सकता। सौंदर्य की अनुभूति के साथ ही साथ हम अपने संवेदन को आकार देने के लिये, उनका प्रतीक बनाने के लिये बाध्य हैं।' क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की उस समय बहुत चर्चा थी; शुक्लजी ने रहस्यवादी छायावादी कविताओं को अभिव्यंजनावाद से प्रभावित बतलाया था। यद्यपि काव्यकला के स्वरूप और सौंदर्यबोध के संबंध में प्रसादजी की मान्यताएँ और निष्कर्ष बहुत कुछ उनकी स्वतंत्र दार्शनिक प्रतिभा से उद्भूत हैं, जिसमें शैवागम दर्शन से विशेष रूप से प्रेरणा ली गई है, किंतु अभिव्यंजनावादी काव्यसिद्धांतों को भी किन्हीं अंशों तक प्रसादजी ने अपना समर्थन दिया है यह उनके कई सूत्रों से स्पष्ट पता चलता है। प्रसादजी की काव्यकला के संबंध में निम्नलिखित स्थापनाएँ कई दृष्टियों से विशेष महत्वपूर्ण हैं—

(१) काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका संबंध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा है।

(२) व्यंजना वस्तुतः अनुभूतिमयी प्रतिभा का स्वयं परिणाम है, क्योंकि सुंदर अनुभूति का विकास सौंदर्यपूर्ण होगा ही। कवि की अनुभूति को उसके परिणाम में हम अभिव्यक्त देखते हैं।

संकल्पात्मक मूल अनुभूति को स्पष्ट करते हुए प्रसादजी ने लिखा है—'आत्मा की मननशक्ति की वह असाधारण अवस्था जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य में संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है।'

अभिव्यंजनावादी भी कला को आत्मा की क्रिया मानता है। वह ज्ञान की दो कोटियाँ सहज ज्ञान (इंटीश्यू नालेज) और तर्क ज्ञान मानकर कला को सहज ज्ञान का परिणाम मानता है। तर्क ज्ञान का संबंध शास्त्र और विज्ञान से है। क्रोचे के अनुसार सहज ज्ञान बिंब के रूप में उपस्थित होता है। प्रसादजी भी

कलासंबंधी संकल्पात्मक अनुभूति को 'रचनात्मक ज्ञानधारा' मानते हैं। साथ ही सौंदर्यबोध के मूर्तरूप ग्रहण की अनिवार्यता को भी स्वीकार करते हैं। अतः क्रोचे की तरह ही प्रसादजी भी अनुभूति और अभिव्यक्ति या वस्तु और कला का भेद उचित नहीं समझते, वे दोनों को अन्योन्याश्रित और अभिन्न मानते हैं। जैसा कि उनकी दूसरी स्थापना से स्पष्ट है वे व्यंजना को अनुभूतिमयी प्रतिभा का स्वयंपरिणाम मानते हैं। इस कथन की व्याख्या करते हुए उन्होंने यह मत व्यक्त किया है कि 'अनुभूति और अभिव्यक्ति के अंतरालवर्ती संबंध को जोड़ने के लिये हम चाहें तो कला का नाम ले सकते हैं और कला के प्रति अधिक पक्षपातपूर्ण विचार करने पर यह कोई कह सकता है कि अलंकार, वक्रोक्ति और रीति और कथानक इत्यादि में कला की सत्ता मान लेनी चाहिए, किंतु मेरा मत है कि यह समय समय की मान्यता और धारणाएँ हैं। प्रतिभा का किसी कौशलविशेष पर कभी झुकाव हुआ होगा। इसी अभिव्यक्ति के बाह्य रूप को कला के नाम से काव्य में पकड़ रखने की साहित्य में प्रथा सी चल पड़ी है।' अभिव्यंजनावादी भी कलासंबंधी इन बाह्य भेदों को अनावश्यक समझता है और वह भी कला को मूल अभिव्यंजना का बाह्य रूप मानता है।

इस प्रकार प्रसादजी ने अभिव्यंजनावाद की मूल स्थापनाओं को अपने ढंग से मान्यता प्रदान की है, किंतु उन्होंने उसको 'कलावाद' नहीं माना है। वस्तुतः क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की ही प्रसादजी ने अपनी व्याख्या दी है और इस मत का खंडन किया है कि अभिव्यंजनावाद आत्मानुभूति के स्थान पर उक्ति-वैचित्र्य को प्रधानता देता है। क्रोचे ने कहीं भी वस्तु की उपेक्षा नहीं की है, इसके विपरीत आत्मा में निर्मित होनेवाले रूपाकारों का आधार वह बाह्य वस्तुओं को ही मानता है जो रूपायित होकर बाहर व्यक्त होते हैं। अतः प्रसादजी अनुभूति की अप्रधानता की बात ही निराधार समझते हैं, क्योंकि 'रूप के आवरण में जो वस्तु संनिहित है, वही तो प्रधान होगी।'

जैसा कि पहले संकेत किया गया, प्रसादजी की ये रचनाएँ पाश्चात्य अभिव्यंजनावादी सिद्धांतों और शैवागम के प्रत्यभिज्ञा दर्शन के समन्वित प्रभाव का परिणाम हैं। बल्कि यह कहना अधिक सही होगा कि इस दर्शन के आलोक में अभिव्यंजनावाद को अपेक्षाकृत अधिक सांस्कृतिक और भारतीय व्याख्या देकर प्रसादजी ने इसका विशदीकरण किया है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में भी सत्य का ज्ञान अतींद्रिय और प्रातिभ माना गया है किंतु प्रातिभ विवेक का अर्थ मन और बुद्धि का त्याग नहीं है। उनके त्याग से तो ज्ञान की उपलब्धि हो ही नहीं सकती। अतः विवेक का अर्थ सब भावों को शुद्ध बनाना है। इस ज्ञान दशा में विकल्पात्मक अनुभूति संकुचित हो जाती है और निश्चयात्मक या संकल्पात्मक बुद्धि प्रकाशित होती है। यही जीवन्मुक्ति या चिदानंदलाभ की

स्थिति है, क्योंकि इसमें आत्मस्वरूप शिवत्व का प्रत्यभिज्ञान हो जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रसादजी की 'आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति' का मूल स्रोत यह प्रत्यभिज्ञा दर्शन ही है, क्योंकि इस अनुभूति को उन्होंने आत्मा की मनन शक्ति की उस असाधारण अवस्था का परिणाम कहा है जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में ग्रहण कर लेती है। इस प्रकार प्रसादजी के अनुसार काव्य वह अनुभूति है जो आत्मा की मनन शक्ति की असाधारण अवस्था से संबंध रखती है और जिसमें श्रेय (शिव), सत्य और चारुत्व (सौंदर्य) तीनों का 'सहसा ग्रहण' होता है अर्थात् इनका अतींद्रिय या प्रातिभ ज्ञान होता है। प्रसादजी द्वारा दी गई असाधारण अवस्था तथा सत्य और श्रेय ज्ञान की व्याख्या को ध्यान में रखने पर बात और अधिक स्पष्ट हो जायगी। असाधारण अवस्था युगों की समष्टि अनुभूतियों में अंतर्निहित रहती है, क्योंकि सत्य अथवा श्रेय ज्ञान कोई व्यक्तिगत सत्ता नहीं, वह एक शाश्वत चेतनता है, या चिन्मयी ज्ञानधारा है, जो व्यक्तिगत स्थानीय केंद्रों के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है। यही कारण है कि प्रसादजी मानते हैं कि 'काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा रहस्यवाद है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि प्रसादजी इस निबंध में सौंदर्यबोधात्मक रुचि तथा काव्य के स्वरूप और उसकी रचनाप्रक्रिया के विवेचन विश्लेषण में बहुत गहराई तक गए हैं और काव्यानुभूति के विशिष्ट क्षणों की उनकी व्याख्या न केवल उस काल की स्वच्छंदतावादी कविताओं की रचना की आंतरिक प्रक्रिया को समझने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, बल्कि काव्यरचना के मूल स्वरूप को समझने के लिये भी अनेक महत्वपूर्ण सूत्र प्रदान करती है जिसपर आज भी गहराई से विचार करने की आवश्यकता है।

प्रसादजी के अन्य निबंध मुख्यतः शोधात्मक हैं। इन निबंधों से पता चलता है कि उन्होंने भारतीय साहित्य और दर्शन का गहरा अध्ययन ही नहीं किया था, बल्कि उसे पूरी तरह आत्मसात् कर लिया था। उनका रंगमंच शीर्षक निबंध रंगमंच संबंधी पारिभाषिक शास्त्रीय शब्दों के मूल अर्थ और नाट्यशालाओं के प्राचीन रूप को समझने के लिये बहुत महत्वपूर्ण है। रहस्यवाद शीर्षक निबंध भी शोधात्मक ही माना जायगा, क्योंकि इसमें रहस्यवाद को विजातीय और विदेशी माननेवालों के मत का खंडन करने के लिये रहस्यवाद की अत्यंत प्राचीन भारतीय परंपरा की खोज की गई है। वस्तुतः शुक्लजी के रहस्यवाद का उत्तर देने के लिये प्रसादजी ने यह निबंध लिखा था। रहस्यवाद की दार्शनिक परंपरा के अध्ययन की दृष्टि से यह निबंध निश्चित रूप से बहुत महत्वपूर्ण है, किंतु आधुनिक रहस्यवाद को शुद्ध भारतीय परंपरा की देन सिद्ध करने के लिये लिखे गए

दार्शनिक शोधपूर्ण निबंध के पीछे शुक्लजी के मत के खंडन का उद्देश्य और भारतीयता का आग्रह स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ता है। स्वच्छंद सैद्धांतिक विवेचन की दृष्टि से 'यथार्थवाद और छायावाद' निबंध विशेष महत्वपूर्ण है। प्रसाद-जी द्वारा की गई यथार्थवाद और छायावाद की परिभाषा बहुत कुछ आज भी उसी रूप में मान्य हो सकती है; किंतु छायावाद को प्राचीन साहित्य में ढूँढ़ने का प्रयत्न यहाँ भी उनके 'भारतीयता के अत्यधिक आग्रह को प्रकट करता है।' प्रसाद-जी का भारतीयता और भारतीय संस्कृति के प्रति अत्यंत निष्ठावान् कवि आलोचक छायावाद को जिसमें उनका कृतित्व भी आता था, किसी भी रूप में पाश्चात्य साहित्य का अनुकरण या प्रभाव नहीं मान सकता था, अतः उन्होंने ध्वनि और वक्रोक्ति के भीतर छायावाद का प्राचीन रूप भी ढूँढ़ निकाला। किंतु थोड़ा अतिरेक होते हुए भी छायावाद और रहस्यवाद के संबंध में प्रसादजी द्वारा दी गई इस पूर्वपरंपरा के ज्ञान की महत्वपूर्ण उपलब्धि इस बात में है कि इन दोनों काव्यप्रवृत्तियों को भारतीय परंपरा से अलग शुद्ध अनुकरण समझने की भ्रांति बहुत कुछ दूर हुई।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि प्रसादजी की इन समीक्षाओं के पीछे 'आनंदवाद' का सुचिंतित जीवनदर्शन है। यही कारण है कि उनकी समीक्षाओं, विचारों की एकसूत्रता दिखलाई पड़ती है। संपूर्ण भारतीय साहित्य को इसी आधार पर उन्होंने आनंदवादी और विवेकवादी इन दो कोटियों में रखा है। भारतीय रससिद्धांत को उन्होंने आगमों की आनंदवादी परंपरा की देन और आनंदवादी जीवनदर्शन की महत्वपूर्ण उपलब्धि माना है। अलंकार, रीति, वक्रोक्ति उनके विचार से विवेकवादियों द्वारा रसवाद के विरोध में खड़े किए गए। रससिद्धांत काव्य की उस लोकधारा में निर्मित हुआ जो आनंद-साधना में आस्था रखती थी। आनंदवाद या रसवाद आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति से संबंध रखता है और रीति, वक्रोक्ति आदि को प्रधानता देनेवाले आलंकारिकों का संप्रदाय विकल्पात्मक मननधारा की उपज है जिनके आधार पर आलोचनाशास्त्र का निर्माण हुआ। प्रसादजी के अनुसार संकल्पात्मक अनुभूति की वस्तु रस का प्रलोभन इन आलंकारिकों को अभिनव गुप्त से मिला। आनंद वर्धन ने अपने ध्वनि सिद्धांत में 'आगमानुयायी आनंद सिद्धांत के रस को तार्किक अलंकार मत से संबद्ध किया। किंतु माहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त ने इन्हीं की व्याख्या करते हुए अभेदमय आनंदपथवाले शैवाद्वैत के अनुसार साहित्य में रस की व्याख्या की। इसी तरह रहस्यवाद को भी प्रसादजी आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति और आनंदवादी काव्य को प्रमुख धारा मानते हैं। भारतीय रहस्यवादी दर्शन की इस आनंदवादी धारा की पूर्वपरंपरा देते हुए उन्होंने

आधुनिक रहस्यवाद को इस आनंदवादी रहस्यवाद का ही साहित्य में स्वाभाविक प्रतिफलन या विकास माना है। उनके अनुसार 'वर्तमान हिंदी में इस अद्वैत रहस्यवाद की सौंदर्यमयी व्यंजना होने लगी है, वह साहित्य में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है। इसमें अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौंदर्य के द्वारा अहम् का इदम् से समन्वय करने का सुंदर प्रयत्न है।' कहने की आवश्यकता नहीं कि वर्तमान रहस्यवाद को आनंदवादी दार्शनिक रहस्यवाद का साहित्यिक प्रतिफलन न माननेवाले आलोचक भी रहस्यवाद की इस निर्भ्रांत और स्पष्ट परिभाषा से असहमत नहीं हो सकते। एक वाक्य में रहस्यवाद की इतनी पूर्ण परिभाषा कदाचित् ही अन्यत्र कहीं देखने को मिले।

जैसा कि प्रारंभ में कहा गया प्रसादजी के आलोचनात्मक प्रतिमान और उनके आधार पर साहित्य का विवेचन और मूल्यांकन उनकी मौलिक प्रतिभा की देन हैं जिसमें शास्त्र-ज्ञान-युक्त स्वतंत्र चिंतन प्रधान रूप से दिखलाई पड़ता है। साहित्यदर्शन के सैद्धांतिक और ऐतिहासिक दोनों पक्षों की यह आध्यात्मिक आनंदवादी व्याख्या हिंदी समीक्षा को प्रसादजी की मौलिक देन है। भारतीय रहस्यवाद और रसवाद इस व्याख्या के अनुसार आध्यात्मिक आनंदवाद की मूल धाराएँ हैं और प्रसादजी के विवेचन से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि इस धारा का साहित्य ही श्रेष्ठ साहित्य है। यद्यपि हिंदी आलोचना में प्रसादजी का यह साहित्यदर्शन ग्रहण नहीं किया गया, किंतु इस विवेचन के प्रसंग में आनुषंगिक रूप से व्यक्त किए गए बहुत से विचारों को उस काल के आलोचकों ने अपनी समीक्षाओं में अंतर्भुक्त कर लिया। इस प्रकार प्रसादजी की बहुमुखी प्रतिभा ने आधुनिक हिंदी को न केवल उच्चकोटि का रचनात्मक साहित्य दिया, बल्कि इस युग की काव्यचेतना को समझने और भारतीय सांस्कृतिक परंपरा के संदर्भ में उसे देखने और समझने के लिये विचारोत्तेजक सामग्री दी।

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

निराला ने यद्यपि आलोचनाएँ बहुत अधिक लिखी हैं किंतु उनकी आलोचनात्मक प्रतिभा विश्लेषणात्मक अधिक है। साहित्यिक रचनाओं के विश्लेषण विवेचन में उनकी रुचि जितनी दिखलाई पड़ती है, उतनी सिद्धांत विवेचन में नहीं। साथ ही प्रसाद की तरह किसी विषय के विवेचन में निरालाजी दूर तक नहीं गए हैं। कई आलोचनाएँ समसामयिक साहित्यिक विवादों को लेकर लिखी गई हैं जिनमें अपने काव्य या व्यक्तित्व के संबंध में किए गए आक्षेपों—प्रायः कटु, व्यक्तिगत और अमर्यादित आक्षेपों—के उत्तर के रूप में लिखी हैं, इसलिये संयम रखने का प्रयत्न करने पर भी निराला की आलोचना अनेक स्थलों पर व्यक्तिगत हो गई है। किंतु इन व्यावहारिक विश्लेषणात्मक

समीक्षाओं में प्रायः ऐसे मौलिक विचारसूत्र मिलते हैं जिनके आधार पर उनके काव्यगत मान्यताओं को समझा जा सकता है। इनमें से कुछ सूत्र अपनी व्याख्या में काव्य-कला-संबंधी महत्वपूर्ण सिद्धांतों को जन्म देने की क्षमता रखते हैं। उदाहरण के लिये 'विद्यापति और 'चंडिदास' शीर्षक निबंध में इन कवियों के काव्य सौंदर्य का विवेचन करते हुए निराला ने लिखा है कि 'कवि की यह बहुत बड़ी शक्ति है कि वह विषय से अपनी सत्ता को पृथक् रखकर उसका विश्लेषण भी करे, और फिर इच्छानुसार उससे मिलकर एक भी हो जाय।' लेखक की वैयक्तिक निर्वैयक्तिकता (पर्सनल इमपर्सनलिज्म) का आजकल बहुत उल्लेख किया जाता है। निराला ने जो बात सूत्र रूप में कही है, वही टी० एस० इलियट जैसे आलोचक द्वारा कही जाने पर वर्तमान युग में कलाविवेचन का प्रमुख सिद्धांत बन गई है। कला की पूर्णता और कलाकार की शक्ति वहीं दिखलाई पड़ती है जहाँ वह वस्तु का भोग करते हुए भी उससे निर्लिप्त और निर्लिप्त होते हुए भी उसका भोग करता है। इसी तरह कला शिल्प और भाषा के संबंध में निराला ने कई महत्वपूर्ण सूत्र दिए हैं। 'काव्य में रूप और अरूप' के संबंध में विचार करते हुए निराला ने 'अप्रतिहत मूर्तिप्रेम' को ही कला की जन्मदात्री माना है। उनके अनुसार 'जो भावनापूर्ण सर्वांगसुंदर मूर्ति खींचने में जितना कृतिविज्ञ है, वह उतना बड़ा कलाकार है।' इन सूत्रों में 'अप्रतिहत' और 'भावनापूर्ण सर्वांगसुंदर' शब्द विशेष महत्व के हैं। खंडित बिंब को निराला कला की अपूर्णता मानते हैं। 'मेरे गीत और कला' शीर्षक निबंध में इन सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या भी निराला ने की है। कलात्मक सौंदर्य के संबंध में निराला का महत्वपूर्ण सिद्धांत सूत्र है 'कला केवल वर्ण, शब्द, छंद, अनुप्रास, रस, अलंकार या ध्वनि की सुंदरता नहीं, किंतु इन सभी से संबद्ध सौंदर्य की पूर्ण सीमा है।' अतः किसी रचना का कलासौंदर्य उसके संपूर्ण रूप में निहित रहता है, उसके किसी एक अंश में नहीं। उस समय हिंदी के आलोचक प्रायः किसी रचना का सौंदर्य टुकड़ों में देखा करते थे और उसी पर वाह वाह करते थे। निराला ने ऐसे ही आलोचकों का भ्रम दूर करने के लिये कला के संबंध में सव्याख्या इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया और बतलाया कि उनकी रचनाओं में खंडसौंदर्य ढूँढ़नेवाले ऐसी ही कला के आदी आलोचकों को उनकी रचनाओं में कला का अभाव दिखलाई पड़ता है। कारण यह है कि 'इनकी कला संपूर्ण रूप में है, खंड में नहीं।' निराला ने विवेचन करके बतलाया भी कि 'खंडार्थ में पंतजी की कला बहुत ही बन पड़ी है, और पंत के प्रशंसकों की दृष्टि इन्हीं खडरूपों में बँध गई है। पंत में, सब जगह एक एक उपमा, रूपक या उत्प्रेक्षा काव्य को कला में परिणत करने के लिये है और इसे ही उनके आलोचकों ने अपूर्व कला समझ लिया है।' कारण यह था कि ये आलोचक 'कला को संपूर्ण रूप में देखने के आदी न थे।'

काव्यशिल्प की दृष्टि से मुक्त छंद और हिंदी के व्यंजन संगीत के संबंध में निरालाजी द्वारा व्यक्त किए गए विचार आधुनिक हिंदी समीक्षा को उनकी महत्वपूर्ण देन हैं। मुक्त छंद को उन्होंने भावों की स्वतंत्र और मुक्त अभिव्यक्ति के लिये आवश्यक माना है क्योंकि 'भावों की मुक्ति छंद की भी मुक्ति चाहती है'। छायावादी कवियों में निरालाजी काव्य में भाव और छंद दोनों की स्वच्छंदता और मौलिकता के प्रमुख समर्थक हैं। निराला द्वारा दी गई मुक्त छंद की परिभाषा से ही उनकी तत्वनिरूपिणी समीक्षात्मक प्रतिभा का पता चल जाता है। 'मुक्त छंद तो वह है जो छंद की भूमि में रहकर मुक्त है तथा जिसकी विषम गति में भी एक ही साम्य का अपार सौंदर्य झलकता है।' एक वाक्य में मुक्त छंद की इतनी पूर्ण परिभाषा आज भी अन्यत्र शायद ही मिले। वर्ण संगीत के संबंध में निराला का मत है कि संस्कृत का वर्ण संगीत हिंदी की प्रकृति के अनुकूल नहीं है। श, ण, व और स, न, ब के वर्ण संगीत के तुलनात्मक विवेचन द्वारा उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि 'संस्कृत का श, ण, व ब्रजभाषा के जीवन के अनुरूप नहीं, खड़ी बोली के जीवन में भी उनका स्थान विशेष महत्वपूर्ण नहीं।'

इस प्रकार निराला ने मुख्यतः काव्य के कला पक्ष पर ही विचार किया है और ये विचार भी उनकी व्यावहारिक समीक्षाओं में बिखरे हुए हैं। सामान्यतया काव्य के संबंध में निराला ने प्रसाद के विचारों का ही समर्थन किया है। प्रसाद की तरह निराला भी 'रहस्यवाद को ही सर्वोच्च साहित्य' मानते हैं और उनकी धारणा है कि 'आर्य संस्कृति इसी रहस्यवाद पर प्रतिष्ठित है।'

महादेवी वर्मा

महादेवी वर्मा ने अपनी काव्य पुस्तकों की भूमिकाओं में काव्यकला तथा तत्कालीन काव्यप्रवृत्तियों के संबंध में विस्तार के साथ अपने विचार व्यक्त किए हैं। गंगाप्रसाद पांडेय ने इन भूमिकाओं तथा कुछ अन्य निबंधों को लेकर 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' नामक पुस्तक में विषयानुक्रम से उनके समीक्षात्मक विचारों को एकत्र कर दिया है। यद्यपि यह पुस्तक अप्रैल १९५४ ई० में प्रकाशित हुई है, किंतु इसके अधिकांश निबंध १९४० के पूर्व लिखे गए थे। ये निबंध इस बात के प्रमाण हैं कि महादेवी में रचनात्मक प्रतिभा भी उच्चकोटि की है। इन निबंधों में व्यक्त किए गए विचार न तो शास्त्रबद्ध है और न शास्त्रसिद्ध। चिंतन के क्षणों में साहित्य-रचना के अनुभवों के आधार पर स्वानुभूत और स्वोपलब्ध विचारों को ही महादेवी ने अपने समीक्षात्मक सिद्धांतों और प्रतिमानों का आधार बनाया है। यही कारण है कि इनकी समीक्षाओं में विचारों की तार्किक अन्विति (लॉजिकल यूनिट) उतनी नहीं मिलती जितनी गहरे अनुभूतिजन्य चिंतन की भावात्मक परिणति।

परिणामस्वरूप उनकी आलोचना अन्य छायावादी कवि आलोचकों की अपेक्षा अधिक काव्यात्मक और भावात्मक प्रसार से युक्त तथा शैली अलंकृत और चित्रात्मक हो गई है। कहीं कहीं तो उनकी चिताधारा इतनी काव्यात्मक और भावपूर्ण हो गई है कि विचारसूत्र बिखर गए हैं और उन्हें अन्वित करने का कार्य पाठक को करना पड़ता है। किंतु अनुभूति और चिंतन का परिणाम होने के कारण महादेवी के इन विचारों ने हिंदी में आलोचना की स्वच्छंद पद्धति के विकास में महत्वपूर्ण योग प्रदान किया।

महादेवी ने अपने युग की काव्यप्रवृत्तियों तथा विभिन्न साहित्यिक मतवादों पर विचार करने के साथ ही अपने समीक्षात्मक मानों को स्पष्ट करने के लिये काव्यकला के संबंध में अपने सैद्धांतिक पक्ष को भी उपस्थित किया है। उपर्युक्त पुस्तक के काव्यकला शीर्षक निबंध में उन्होंने कला की उत्पत्ति, काव्य का स्वरूप और उद्देश्य आदि के संबध में मौलिक ढंग से विचार किया है। उनके अनुसार 'बहिर्जगत् से अंतर्जगत् तक फैले और ज्ञान तथा भाव क्षेत्र में समान रूप से व्याप्त सत्य की सहज अभिव्यक्ति के लिये माध्यम खोजते खोजते ही मनुष्य ने काव्य और कलाओं का आविष्कार कर लिया होगा।'[1] किंतु ज्ञानोपलब्ध सत्य की नहीं, बल्कि अनुभूत सत्य की अभिव्यक्ति कला का साध्य होता है। महादेवी ने काव्य को सर्वश्रेष्ठ कला माना है जिसका उद्देश्य उनके अनुसार अनुभूत सत्य को सौंदर्यपूर्ण ढंग से अभिव्यक्त करना है। अतः काव्यकला द्वारा जिस सत्य की अभिव्यक्ति होती है वह 'जीवन की परिधि में सौंदर्य के माध्यम द्वारा व्यक्त अखंड सत्य' होता है। इस अखंड सत्य की अनुभूति विशिष्ट क्षणों में होती है; 'वास्तव में जीवन की गहराई की अनुभूति के कुछ क्षण ही होते हैं, वर्ष नहीं'। इस प्रकार महादेवी द्वारा दिए गए सूत्रों के अनुसार काव्य का उद्देश्य विशिष्ट क्षण में उपलब्ध अनुभूतिजन्य सत्य की सौंदर्यपूर्ण अभिव्यक्ति है। सौंदर्यपूर्ण अभिव्यक्ति से महादेवी का अभिप्राय उन काव्य-गुणों से है जिनके कारण कवि के अनुभूत सत्य संवेदनीय हो सके और वह कवि की व्यक्तिगत अनुभूति न रहकर पाठक की भी अनुभूति बन जाय। स्पष्ट है कि महादेवी काव्य में अनुभूति पर विशेष बल देती हैं और उसे शुद्ध हृदय का व्यापार मानती हैं। बुद्धि का योग इसमें हो सकता है किंतु वह हृदय का अनुशासन स्वीकार करके ही काव्य में स्थान पा सकती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि महादेवी के ये विचार छायावादी कविता, विशेष रूप

[1] महादेवी का विवेचनात्मक गद्य—पृ० ५।

से गीति काव्य के सृजनात्मक अनुभव से प्राप्त हुए हैं और इस प्रकार की वैयक्तिक अनुभूतियों तथा विशिष्ट क्षणों को स्वच्छंदतावादी कविता में ही विशेष महत्व दिया गया है।

सैद्धांतिक समीक्षा की दृष्टि से दूसरा उल्लेखनीय निबंध है 'यथार्थ और आदर्श'। इस निबंध में महादेवी ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि काव्य में यथार्थ और आदर्श एक दूसरे के विरोधी नहीं बल्कि पूरक हैं। भारतीय साहित्य से उदाहरण देकर उन्होंने अपने इस मत की पुष्टि भी की है। उनके अनुसार जिन युगों में हमारी यथार्थ दृष्टि को स्वप्न सृष्टि से आकार मिला है और स्वप्न दृष्टि को यथार्थ सृष्टि से सजीवता, उन्हीं युगों में हमारा सृजनात्मक विकास संभव हो सका है।' वस्तुतः महादेवी उसी यथार्थ को काव्य में ग्राह्य समझती हैं जो जीवन की आदर्शात्मक परिकल्पना से युक्त होकर काव्य में आता है। अतः कलाकार के लिये 'यथार्थ का ज्ञान ही नहीं, संभाव्य यथार्थ अर्थात् आदर्श का भावना की आवश्यक' होता है।

'छायावाद' और 'रहस्यवाद' में महादेवी ने प्रसाद की विचारपरंपरा को ही आगे बढ़ाया है। छायावाद और रहस्यवाद के स्वरूप और उसकी विशेषताओं का परिचय देने के लिये महादेवी ने भारतीय साहित्य और दर्शन की परंपरागत उपलब्धियों का प्रसाद जी से अधिक व्यापक पैमाने पर, अनेक उदाहरण देकर समझाने का प्रयास किया है। आधुनिक काव्यगत प्रवृत्तियों तथा काव्यरूपों के संबंध में भी महादेवी ने काव्यात्मक ढंग से ही विचार किया है, इसलिये उसमें अन्विति के स्थान पर स्फीति अधिक है। किंतु इस भावात्मक विवेचन की विशेषता यह है कि इसमें भावनाओं के प्रवाह के बीच बीच में विचारोत्तेजक सूत्र प्रायः मिल जाते हैं। निराला की तरह लेखिका के ये बिखरे हुए विचारसूत्र ही उनकी हिंदी की स्वच्छंदतावादी समीक्षा को देन माने जायँगे।

(२) स्वच्छंदतावादी आलोचक

आत्मानुभूति की स्वच्छंद अभिव्यक्ति करनेवाले छायावादी कवियों ने अपने रचनात्मक कृतित्व को आलोचनात्मक भूमिकाओं और निबंधों द्वारा समाज में मान्यता दिलाने के जो प्रयत्न किए उनके समानांतर कुछ आलोचकों ने भी छायावादी काव्यधारा की मूलवर्तिनी प्रवृत्तियों और प्रेरणाओं के अध्ययन के आधार पर स्वच्छंद समीक्षापद्धति का विकास किया। ये आलोचक केवल छायावादी कविता के मर्मोद्घाटक ही नहीं थे। इन्होंने परंपरागत भारतीय साहित्यशास्त्र तथा पाश्चात्य समीक्षा के विभिन्न सिद्धांतों का गंभीर अध्ययन करके निर्मम भाव से युगीन साहित्य के लिये अनुपयुक्त साहित्यिक प्रतिमानों

का परित्याग किया और ग्राह्य प्रतिमानों और मूल्यों को स्वीकृतकर उनके आधार पर नवीन साहित्यिक प्रतिमानों और मूल्यों की प्रतिष्ठा की। पुराने खेवे के कुछ आलोचकों—पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, गुलाब राय, मिश्रबंधु आदि ने भी छायावादी कवियों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की थी; पर वह कोरी सहानुभूति ही थी। उन्होंने छायावादी कविता का गंभीर विवेचन कर उसका समर्थन नहीं किया था। यह कार्य सन् १९३० ई० के बाद नंददुलारे वाजपेयी, रामनाथलाल सुमन, शांतिप्रिय द्विवेदी, डा० नगेंद्र आदि नवोदित आलोचकों ने किया जो नए युग की नवीन प्रवृत्तियों के पोषक और उद्घोषक बनकर आलोचना के क्षेत्र में उतरे थे।

छायावादयुगीन साहित्य विशेष रूप से छायावादी काव्य तथा नवीन व्यक्तिवादी गद्य साहित्य और इस नई स्वच्छंदतावादी तथा सौंदर्यवादी आलोचना में बिंबप्रतिबिंब संबंध दिखाई पड़ता है। युग की नवीन प्रवृत्तियों का प्रतिफलन पहले रचनात्मक साहित्य में होता है और फिर उस साहित्य को आधार बनाकर उन प्रवृत्तियों को विश्लेषण तथा उस साहित्य का मूल्यांकन आलोचनात्मक साहित्य में किया जाता है। यही आलोचना का स्वाभाविक मार्ग है। छायावाद युग के नवीन साहित्य को दुर्भाग्यवश रामचंद्र शुक्ल के रूप में एक ऐसा महान् और दिग्गज आलोचक मिला, जिनकी दृष्टि सुदूर अतीत की ओर ही अधिक थी, उन्हें वर्तमान में न तो रुचि थी और न उन्हें समुचित रूप से ग्रहण करने का उत्साह ही था। इस कारण प्राचीन परंपरा के शास्त्रीय और द्विवेदीयुगीन नैतिकतावादी आलोचकों की तरह शुक्लजी ने भी नए साहित्य, विशेषरूप से छायावादी कविता की प्रारंभ में कटु-आलोचना की। इन विरोधों और आघातों के बीच भी छायावाद, रहस्यवाद, यथार्थवाद, व्यक्तिवाद आदि साहित्यिक प्रवृत्तियों की शक्ति बढ़ती ही गई। अतः इन प्रवृत्तियों का समर्थन करनेवाली आलोचना का प्रादुर्भाव होना भी स्वाभाविक एवं अवश्यंभावी था। बाद में रामचंद्र शुक्ल से भी छायावादी कविता को जो आंशिक समर्थन मिला, वह उनके स्वाभाविक उत्साह का परिणाम नहीं, बल्कि कर्तव्यनिर्वाह मात्र था। आदर्शवादी नैतिकता और रसवादी दृष्टि को काव्य का शाश्वत प्रतिमान मानकर चलनेवाले शुक्लजी जैसे आलोचक से यह आशा रखना कि वे छायावाद का सही और निष्पक्ष मूल्यांकन कर सकेंगे, व्यर्थ ही था। इस तरह नए साहित्य के लिये नए प्रतिमानों की खोज और उनके आधार पर साहित्य के मूल्यांकन की नवीन पद्धति का प्रारंभ जिन लोगों द्वारा हुआ वे शुक्लजी के समीक्षामार्ग से पर्याप्त अलग हटे हुए तथा कुछ अर्थों में उस मार्ग के विरोधी भी थे। इस नई आलोचना में तत्कालीन नए साहित्य का सैद्धांतिक पक्ष

उपस्थित किया गया है। इसी अर्थ में इस स्वच्छंदतावादी आलोचना और तत्कालीन नए साहित्य के बीच बिंबप्रतिबिंब संबंध की बात कही गई है।

पहले कहा जा चुका है कि छायावादी कवियों ने अपनी भूमिकाओं और आलोचनात्मक निर्देशों में अपने काव्य में अंतर्निहित मूल्यों को उद्घाटित करने का स्वयं प्रयत्न किया; किंतु कवि कवि है और आलोचक आलोचक। कवियों द्वारा लिखित आलोचना में सैद्धांतिक विवेचन की वह तर्कपूर्ण और वैज्ञानिक पद्धति नहीं मिल सकती, जो विशुद्ध आलोचकों की आलोचना में होती है। इन छायावादी कवियों की आलोचना से छायावादी कविता की नवीन भावात्मक चेतना और सौंदर्य दृष्टि का तथा उसकी विद्रोही और रूढ़िविरोधी प्रवृत्ति का तो पता चलता है, पर छायावाद और नवीन गद्य-साहित्य के मूल्यांकन के लिये नवीन सिद्धांतों और प्रतिमानों का निर्देश उनमें बहुत कम है। यह कार्य नवयुवक स्वच्छंदतावादी-सौंदर्यवादी आलोचकों ने किया। उनकी इस आलोचनात्मक प्रतिभा का प्रकाशन पहले तो व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में हुआ; बाद में उनमें ज्यों ज्यों परिपक्वता और प्रौढ़ता आती गई, उनकी प्रवृत्ति सैद्धांतिक आलोचना की ओर बढ़ती गई। प्रारंभ में ये सभी आलोचक विशुद्ध रूप से सौंदर्यवादी और बहुत कुछ कलावादी थे, पर उत्तरोत्तर उनमें अध्ययन की गंभीरता के साथ साथ मतवादी धारणाएँ घर करती गईं; किसी ने रसवाद का पल्ला पकड़ा, तो किसी ने मनोविश्लेषण या समाजदर्शन का। पर इनमें से किसी भी आलोचक ने किसी एक मतवाद को पूर्वग्रह या शाश्वत प्रतिमान के रूप में नहीं ग्रहण किया। सबके विचारों और मान्यताओं में समय समय पर परिवर्तन भी होते रहे हैं पर उनके विकासशील आलोचनात्मक व्यक्तित्व की एक विशेषता यह रही है कि वे साहित्य के आंतरिक सौंदर्य के समर्थक आदि से अंत तक बने रहे हैं। साहित्य का मूल्यांकन उसके बाह्य और स्थूल उपादानों के आधार पर करने का उन्होंने सदा विरोध किया। यद्यपि अपनी अपनी प्रतिभा, रुचि और अध्ययन के अनुरूप सभी स्वच्छंदतावादी आलोचकों के अलग अलग रास्ते हैं, फिर भी उपर्युक्त दृष्टिसाम्य के कारण वे सभी एक श्रेणी—स्वच्छंदतावादी सौंदर्यवादी आलोचकों की श्रेणी—में रखे जाते हैं। इस श्रेणी के आलोचकों को भी सुविधा के लिये दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—विश्लेषणात्मक स्वच्छंदतावादी आलोचक और प्रभाववादात्मक स्वच्छंदतावादी आलोचक। नंददुलारे वाजपेयी, नगेंद्र आदि प्रथम वर्ग के और शांतिप्रिय-द्विवेदी, गंगाप्रसाद पांडेय आदि द्वितीय वर्ग के आलोचक हैं। कुछ आलोचक ऐसे भी हैं जिनमें विश्लेषणात्मक और प्रभावात्मक दोनों पद्धतियों का संमिश्रण मिलता है। रामकुमार वर्मा और जानकीवल्लभ शास्त्री इसी वर्ग के आलोचक हैं। नंददुलारे वाजपेयी ने हजारीप्रसाद द्विवेदी और लक्ष्मीनारायण सुधांशु को भी

स्वच्छंदतावादी या सौष्ठववादी आलोचक ही माना है। पर गहराई से विचार करने पर पता चलेगा कि द्विवेदीजी वस्तुतः समाजशास्त्रीय अथवा मानवतावादी आलोचकों की श्रेणी में आते हैं और सुधांशुजी शुक्लजी की समन्वयात्मक समीक्षा-धारा के आलोचक हैं।[1] वाजपेयीजी ने तो इन सभी आलोचकों और अपने को भी शुक्लजी की समीक्षाधारा का ही आलोचक कहा है।[2] इस तरह उन्होंने स्वच्छंदतावादी समीक्षाधारा का अलग अस्तित्व ही अस्वीकार कर दिया है। पर वस्तुतः इन दोनों धाराओं के दृष्टिकोण और मान्यताओं का अंतर इतना स्पष्ट है कि उन्हें एक ही नहीं माना जा सकता। वाजपेयीजी की यह मान्यता उस समय की है जब कि वे अपने सौंदर्यवादी और विद्रोही स्वरूप को छोड़कर बहुत कुछ शुक्लजी के अनुगामी हो चुके थे। अतः यह उनकी निजी धारणा मात्र है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि इन आलोचकों में से अधिकांश के दृष्टिकोण में उत्तरोत्तर परिवर्तन होता गया, पर हमारे आलोच्य काल में वे सभी स्वच्छंदतावाद के समर्थक और व्याख्याता थे, यह बात निर्भ्रांत है। इन लोगों में से कुछ ने ही अलग से सैद्धांतिक आलोचना लिखी है। बाकी लोगों ने या तो केवल व्यावहारिक समीक्षाएँ लिखीं, सैद्धांतिक विवेचन की ओर गए ही नहीं, या व्यावहारिक आलोचना के बीच बीच में ही सैद्धांतिक विवेचन भी करते गए हैं। आलोच्य काल में केवल शांतिप्रिय द्विवेदी और नगेंद्र ने आलोचना के सैद्धांतिक पक्षों को लेकर अलग से कुछ निबंध लिखे थे। नंददुलारे वाजपेयी ने व्यावहारिक आलोचना के बीच बीच में सैद्धांतिक पक्षों की विवेचना की थी और रामनाथ सुमन, गंगाप्रसाद पांडेय, जानकीवल्लभ शास्त्री आदि ने केवल छायावादी कवियों की कृतियों की व्यावहारिक समीक्षाएँ लिखी थीं। केवल व्यावहारिक आलोचना लिखनेवाले स्वच्छंदतावादी आलोचकों के संबंध में बाद में यथास्थान विचार किया जायगा।

नंददुलारे वाजपेयी

सन् १९४० ई० के पूर्व नंददुलारे वाजपेयी ने कुछ कवियों और गद्य-लेखकों के संबंध में केवल व्यावहारिक समीक्षाएँ लिखी थीं। इन समीक्षात्मक

[1] नया साहित्य : नये प्रश्न—पृष्ठ, २७, (प्रथम संस्करण सन् १९५५)।

[2] 'कतिपय नए इतिहासकारों ने शुक्लधारा के पश्चात् समीक्षा की एक स्वच्छंदतावादी, सौष्ठववादी या सांस्कृतिक धारा का भी नामोल्लेख किया है, पर इसे भी शुक्ल धारा का ही एक नया प्रवर्तन या विकास मानना अधिक उपयुक्त होगा।'—वही; पृष्ठ ४१।

निबंधों का संकलन उनके दो ग्रंथों 'हिंदी साहित्य बीसवीं शताब्दी' (सन् १९४२ ई०) और जयशंकरप्रसाद (सन् १९४० ई०) में हुआ है। इन दोनों ग्रंथों के अधिकांश निबंध १९३० ई० से १९४० ई० तक के बीच विभिन्न समयों के लिखे हैं। इन निबंधों में वाजपेयीजी की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा, गहरी पकड़ और तीक्ष्ण विश्लेषण-बुद्धि के दर्शन होते हैं। एक स्वच्छंद और विचारशील आलोचक के रूप में उनकी प्रतिष्ठा इन्हीं निबंधों के कारण हुई। इनमें से, वाजपेयीजी की प्रारंभिक साहित्यिक मान्यताओं को समझने की दृष्टि से महत्वपूर्ण आचार्य शुक्ल से संबंधित तीन निबंध हैं। इनमें वाजपेयीजी ने जो विचार व्यक्त किए हैं उनसे यह प्रमाणित हो जाता है कि उन्होंने एक सौंदर्यवादी आलोचक के रूप में ही आलोचना के क्षेत्र में प्रवेश किया था। शुक्लजी के साहित्यिक प्रतिमानों पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है—'साहित्य, काव्य अथवा किसी भी कलाकृति की समीक्षा में जो बात हमें सदैव स्मरण रखनी चाहिए, किंतु जिसे शुक्लजी ने बार बार भुला दिया है, यह है कि हम किसी पूर्वनिश्चित दार्शनिक अथवा साहित्यिक सिद्धांत को लेकर उसके आधार पर कला की परख नहीं कर सकते। सभी सिद्धांत सीमित हैं किंतु कला के लिये कोई भी सीमा नहीं है। कई बंधन नहीं है जिसके अंतर्गत आप उसे बाँधने की चेष्टा करें। (सिर्फ सौंदर्य ही उसकी सीमा या बंधन है। किंतु उस सौंदर्य की परख किन्हीं सुनिश्चित सीमाओं में नहीं की जा सकती।) इस कार्य में उसका व्यापक अध्ययन, उसकी सूक्ष्म सौंदर्यदृष्टि और उसकी सिद्धांतनिरपेक्षता ही उसका साथ दे सकती है, सिद्धांत तो उसमें बाधक ही बन सकते हैं।'[1]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि वाजपेयीजी क्रोचे के अभिव्यंजनावाद और ब्रैडले आदि की कलावादी समीक्षा-पद्धति से प्रभावित हैं। शुक्लजी के संबंध में विचार करते हुए बताया जा चुका है कि ब्रैडले भी काव्य की सौंदर्यानुभूति को ही काव्य का लक्ष्य मानता है, और किसी काव्येतर उद्देश्य, सिद्धांत या मूल्य को साहित्यिक प्रतिमान बनाने का विरोध करता है। क्रोचे के अनुसार भी काव्य सहजानुभूति की बाह्य अभिव्यक्ति है, अतः उसका परीक्षण काव्य में निहित सहजानुभूति के अतिरिक्त अन्य किसी सिद्धांत के आधार पर नहीं होना चाहिए। सच पूछा जाय तो छायावादी कविता का मूल्यांकन सौंदर्यवादी प्रतिमान से ही संभव था क्योंकि उसकी रचना भी सौंदर्यानुभूति के उच्छ्वसित आवेग की सहज अभिव्यक्ति के रूप में ही होती थी। उसके मूल में आध्यात्मिक और सर्वात्मवादी

[1] हिंदी साहित्य बीसवीं शताब्दी, पृष्ठ ८३; इंडियन बुकडिपो का १९४५ ई० का संस्करण।

प्रेरणा तो अवश्य वर्तमान थी, पर किसी साहित्यिक या दार्शनिक या राजनीतिक मतवाद के आग्रह से या स्थूल नैतिक प्रयोजन की सिद्धि के लिये छायावादी काव्य नहीं लिखा जाता था। अतः ऐसे काव्य का शुक्लजी के रसवादी और लोकहित-वादी प्रतिमानों से सही मूल्यांकन संभव नहीं था। इसी कारण वाजपेयीजी ने छायावादी काव्य तथा नवीन कथासाहित्य की शुद्ध सौंदर्यबोधात्मक मूल्यों की दृष्टि से आलोचना करने का कार्य प्रारंभ किया।

उनके सौंदर्यवादी दृष्टिकोण का निराला की 'गीतिका' की उनके द्वारा लिखित भूमिका भी है जिसमें उन्होंने काव्य-सौंदर्य और जीवन सौंदर्य को अभिन्न माना है। उनके अनुसार कवि जीवन-सौंदर्य की कला हमारे हृदयों में खिलाता है। उन्होंने अपने सौंदर्यवादी साहित्यिक सिद्धांत की घोषणा इस प्रकार की है– 'सौंदर्य ही चेतना है, चेतना ही जीवन है; अतएव काव्य कला का उद्देश्य सौंदर्य का ही उन्मेष करना है[1]।' इस तरह वाजपेयीजी सौंदर्यानुभूति को ही काव्य की प्रमुख प्रेरणा और सौंदर्याभिव्यक्ति को उसका प्रमुख प्रयोजन मानते हैं; किंतु वाजपेयीजी के अनुसार सौंदर्य की अभिव्यंजना काव्य का मध्यवर्ती लक्ष्य है, उसका अंतिम लक्ष्य तो 'सचेतन जीवन परमाणुओं को संघटित करना और उन्हें दृढ़ बनाना है[2]।' यहाँ आकर वाजपेयीजी का मार्ग ब्रैडले, स्पिंगार्न आदि कलावादी आलोचकों से भिन्न हो जाता है। उक्त कलावादी आलोचक कला का लक्ष्य कला ही मानते हैं और जीवन का उससे अधिक संबंध नहीं स्वीकार करते। पर वाजपेयीजी जीवन की वास्तविकता को काव्य का उपकरण, सचेत जीवन परिमाणुओं को संघटित करना तथा उन्हें दृढ़ बनाना उसका उच्च लक्ष्य मानते है। उनके अनुसार 'इसके लिये प्रत्येक कवि को अपने युग की प्रगतियों से परिचित होना और रचनात्मिका शक्तियों का संग्रह करना पड़ता है। जिसने देश और काल के तत्वों को जितना ही समझा है उसने इन दोनों पर उतनी ही प्रभावशाली रीति से शासन किया है। उच्च और प्रशस्त कल्पनाएँ, परिश्रम-लब्ध विद्या और काव्ययोग्यता उच्च साहित्यसृष्टि का हेतु बन सकता है; किंतु देश और काल की निहित शक्तियों से परिचय न होने से एक अंग फिर भी शून्य ही रहेगा। हमारी दार्शनिक या बौद्धिक शिक्षा तथा साधना भी काव्य के लिये अत्यंत उपयोगिनी हो सकती है, किंतु इससे भी साहित्य के चरम उद्देश्य

[1] हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृष्ठ १४९।
[2] वही—पृष्ठ १४९।

की सिद्धि नहीं हो सकती। इन सबकी सहायता से मूर्तिमती होनेवाली जीवन-सौंदर्य की प्रतिभा ही प्रत्येक कवि की अपनी देन है[1]।'

इस प्रकार वाजपेयीजी भी शुक्लजी की तरह जीवनसौंदर्य और काव्य-सौंदर्य में कोई अंतर नहीं मानते। पर वाजपेयीजी की जीवनसौंदर्य संबंधी मान्यता शुक्लजी की मन्यता से नितांत भिन्न है। शुक्लजी सौंदर्य को रूप सौंदर्य, भाव सौंदर्य और कर्म सौंदर्य के वर्गों में विभाजितकर उसे स्थूल नैतिक आदर्शों की कसौटी पर कसते हैं, पर वाजपेयीजी की सौंदर्य दृष्टि अत्यंत सूक्ष्म है। वे सौंदर्य को 'व्यापक जीवन धारा का सौंदर्य' कहते हैं जो अंतर और बाह्य, व्यष्टि और समष्टि, सूक्ष्म और स्थूल, प्रतिभा और अभ्यास, अंतर्दृष्टि और शास्त्रज्ञान सबकी संश्लिष्ट चेतना है। प्रसादजी ने जिसे 'चेतना का उज्वल वरदान' कहा है संभवतः वाजपेयीजी की सौंदर्यचेतना भी उससे अधिक भिन्न नहीं है। प्रसादजी का सौंदर्य तत्व शैवागम के प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार विशुद्ध आध्यात्मिक है और स्वतः प्रत्यभिज्ञात होनेवाला 'आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति का चारुत्व' है और वाजपेयीजी का सौंदर्यतत्व लौकिकता और आध्यात्मिकता के मध्यवर्ती बिंदु पर स्थित उच्च मनोभूमिका की सूक्ष्म उपलब्धि है। सौंदर्यसंबंधी इसी दृष्टिभेद के कारण वाजपेयीजी शुक्लजी की अधिकांश साहित्यिक मान्यताओं के विरोधी हैं। वे यह मानते हैं कि काव्य में उपादान का नहीं, निर्माण का महत्व है, क्योंकि सौंदर्य उपादान में नहीं, निर्माण में होता है[2]। इसके विपरीत शुक्लजी उपादान में ही सौंदर्य मानते हैं। उनके अनुसार लोकहितकारी आदर्श चरित्रों के निर्माण, प्रकृति के सुंदर असुंदर रूपों की संश्लिष्ट योजना, लोकानुरंजक और लोकमंगलकारी भावों के चित्रण में ही काव्य का सौंदर्य निहित है। इसी लिये वे काव्य में विभाव को ही प्रमुख मानते तथा आलंबन या प्रस्तुत के सम्यक् चित्रण को भी रसनिष्पत्ति का हेतु मान लेते हैं। उनका नीतिवादी जीवन-दर्शन भी काव्य का उपादान ही है जिसे शुक्लजी काव्य की कसौटी बनाकर चले हैं। ये सभी काव्य के स्थूल उपादान हैं और वाजपेयीजी इन्हें काव्य के लिये आवश्यक मानते हुए भी सौंदर्य को इन सबसे उच्चतर भूमिका में स्थित मानते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ भी वाजपेयीजी अभिव्यंजनावाद से ही प्रभावित हैं, क्योंकि क्रोचे भी निर्माण अर्थात् अभिव्यंजना को ही कला, तथा वस्तु, भाव आदि को द्रव्य अर्थात् कला का उपादान मानता है। जो भी हो, वाजपेयीजी की यह

[1] हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृष्ठ १४६ ।
[2] वही—पृष्ठ २०० ।

मान्यता शुक्लजी की काव्यसंबंधी मान्यता से भिन्न और छायावादी काव्य के मूल्यांकन के लिये अधिक उपयुक्त है।

'हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' में वाजपेयीजी की आलोचना दृष्टि पूर्णतः आधुनिक है, शुक्लजी की तरह पुनरुत्थानवादी और मध्यकालीन आदर्शों पर आधारित नहीं। यह आधुनिकता उनमें छायावादी काव्य के संस्कारों के कारण तो आई ही है, पाश्चात्य समीक्षा और ज्ञान विज्ञान के क्षेत्रों की नवीनतम उपलब्धियों के अध्ययन से भी अधीत हुई प्रतीत होती है। आधुनिकतावादी होने के कारण ही उन्होंने शुक्लजीवाले निबंध में अलंकार मत के साथ साथ रस सिद्धांत को भी आधुनिक साहित्य के मूल्यांकन में अक्षम मानकर उसका विरोध किया है। संभवतः उन दिनों किसी भी भारतीय साहित्यशास्त्रीय मतवाद में उनकी आस्था नहीं थी। इसी कारण उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा है—"ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर भी यह प्रकट होगा कि संस्कृत के सभी साहित्यिक संप्रदायों के मूल में न तो कोई महान् आत्मा है, न कोई आदर्शोन्मुख महती प्रेरणा[१]।' वाजपेयीजी ने प्रतिक्रिया के रूप में नहीं, बल्कि बहुत सोच विचारकर यह बात कही है; क्योंकि संस्कृत साहित्यशास्त्र में स्थूल वर्गीकरण की क्षमता चाहे जितनी हो काव्य की अंतरात्मा का उद्घाटन उसमें सचमुच नहीं हुआ है। फलतः वाजपेयीजी के ही शब्दों में 'जब रूपकों का रसवाद अपने संपूर्ण सरंजाम के साथ काव्य में लाकर चरितार्थ किया गया तब ता साहित्यसमीक्षा और भी विलक्षण हो गई। सारा काव्यविवेचन शब्द और अर्थ में सीमित हो गया। पिछले जमाने के साहित्य-शास्त्रियों ने अपने को कवि कहने में जिस धृष्ट मनोवृत्ति का परिचय दिया, हमारी रस-समीक्षा-पद्धति उसका विरोध नही कर सकी[२]।' वाजपेयीजी के कहने का तात्पर्य इतना ही है कि रस सिद्धांत हो चाहे ध्वनि सिद्धांत, व्यवहार में वे काव्यसौंदर्य को पहचानने में अधिक सहायक नहीं होते और न उन्हें प्रतिमान बनाकर सत्काव्य और असत्काव्य के बीच अंतर ही किया जा सकता है। इसी मन्यता के आधार पर वाजपेयीजी ने शुक्लजी के रसवाद का खंडन किया है क्योंकि उनके अनुसार रसवाद का अलौकिकता का आधार एक पाखंड मात्र है जिसने साहित्य का बड़ा अनिष्ट किया है।

आधुनिकतावादी होने के कारण वाजपेयीजी किसी भी भारतीय मतवाद को केवल इसी कारण स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं कि वह भारतीय है और

[१] हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृष्ठ ७० ।
[२] वही—पृष्ठ ७१ ।

न वे पाश्चात्य समीक्षा सिद्धांतों को केवल इसलिये अस्वीकार करते हैं कि वे विदेशी या अभारतीय हैं। वे समीक्षा को एक विज्ञान मानते हैं। विज्ञान किसी एक देश का नहीं होता; वह प्राचीन सिद्धांतों को नवीन आविष्कारों के संदर्भ में तर्क और प्रयोग की कसौटी पर कसकर स्वीकार या अस्वीकार करता है। वाजपेयीजी भी इसी आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति में विश्वास करते हैं। यह वैज्ञानिक दृष्टि उन्हें निस्संदेह पश्चिम से ही प्राप्त हुई है और इस बात को वे स्वीकार भी करते हैं। अतः वे समीक्षा के क्षेत्र में समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण शास्त्र और सौंदर्यशास्त्र की उपलब्धियों का उपयोग करना आवश्यक मानते हैं। इस तरह उनके द्वारा प्रतिपादित 'कवि के मस्तिष्क एवं कला का क्रमबद्ध विकास जानने, उसके व्यक्तित्व एवं परिस्थितियों से परिचित होने की और उसकी कृति का एक संश्लिष्ट चित्र खींचने की चेष्टा' व्यावहारिक समीक्षा की मनोवैज्ञानिक पद्धति है। वह पद्धति जिसमें 'सामयिक जीवन का अध्ययन किया जाता, युग के प्रधान आदर्शों और समस्याओं का पता लगाया जाता और साहित्य पर उसके प्रभाव का अन्वेषण और निरीक्षण किया जाता है' समाजशास्त्रीय समीक्षापद्धति है; साथ ही 'मनोविश्लेषणशास्त्र ज्यों ज्यों प्रौढ़ होता जा रहा है त्यों त्यों वह काव्य-विवेचन में अधिक उपयोगी प्रमाणित हो रहा है।'[1] वाजपेयीजी ने इन सभी पाश्चात्य समीक्षापद्धतियों को हिंदी आलोचना में ग्रहण करने के समर्थक प्रतीत होते हैं। वे अभिव्यंजनावाद का भी समर्थन और शुक्लजी की तत्संबंधी धारणा का खंडन इन शब्दों में करते हैं—'शुक्लजी क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का विरोध करते हैं और कला के लिये कला' सिद्धांत की खिल्ली उड़ाते हैं जब कि क्रोचे और ब्रैडले जैसे कलावादियों ने अभिव्यंजना या कलावाद के मूल में उत्कृष्टतम मानसिक तत्व और प्रतिभा का अध्याहार कर दिया है[2]।' इस प्रकार वाजपेयीजी की साहित्यिक मान्यताएँ उस समय के नवीनतम पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धांतों से किस सीमा तक अनुप्रेरित और प्रभावित थीं यह कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

आधुनिकतावादी और वैज्ञानिक दृष्टि स्वभावतः तटस्थ और पूर्वग्रहरहित होती है। इसी कारण वाजपेयीजी ने अपनी प्रारंभिक आलोचनाओं में आलोचक का तटस्थ और पूर्वग्रहरहित होना आवश्यक माना है और स्थान स्थान पर शुक्लजी की पक्षपातपूर्ण तथा पूर्वग्रहयुक्त आलोचनात्मक दृष्टि का विरोध किया

[1] हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृष्ठ ७२।
[2] वही—पृष्ठ ७१।

है। रामचंद्र शुक्ल का स्थूल नैतिकतावादी आदर्शवाद ही वह पूर्वग्रह था जो सभी प्रकार के श्रेष्ठ काव्य की समीक्षा के सही मूल्यांकन में साधक नहीं हो पाता था। इसी लिये वाजपेयीजी ने पूर्वग्रह या टेक के रूप में गृहीत आदर्शवाद को साहित्य के लिये हितकर नहीं माना है। प्रेमचंद के उपन्यासों में उन्हें कलात्मकता का अभाव इसी लिये दिखाई पड़ता है कि उसमें स्थूल आदर्शवाद का अतिरेक है। पर शुक्लजी और प्रेमचंद के आदर्शों में अंतर है यद्यपि पूर्वग्रही दोनों ही हैं। शुक्लजी का आदर्शवाद अतीतोन्मुख या पुनरुत्थानवादी है जब कि प्रेमचंद का आदर्शवाद सामयिक और राजनीतिक है। स्थूल दोनों ही हैं क्योंकि दोनों में सूक्ष्म और गंभीर जीवनदर्शन का अभाव है[1]। वस्तुतः वाजपेयी जी कोरे आदर्शवाद की जगह प्रेरणा देनेवाले गंभीर जीवनदर्शन को रचनात्मक साहित्यकार और आलोचक दोनों ही के लिये आवश्यक मानते हैं। छायावादी कवि विशेष रूप से प्रसाद और निराला, इसी कारण उन्हें अधिक प्रिय हैं कि उनके काव्य में एक स्वानुभूत जीवनदर्शन मिलता है जो उधार लिया हुआ, कृत्रिम और बाह्यारोपित नहीं है। शुक्लजी छायावादी कविता के इस सूक्ष्म, स्वानुभूतिमूलक जीवनदर्शन को इसी लिये नहीं देख सके कि उनके स्थूल आदर्शवाद ने उनकी आलोचना दृष्टि को आच्छादित कर लिया था। मध्यकालीन सांप्रदायिक अथवा धार्मिक काव्य के लिये भले ही उनका प्रतिमान उपयुक्त हो, पर वर्तमान छायावादी और रहस्यवादी कविता की गहरी स्वानुभूति का स्पर्श करने में वह प्रतिमान अक्षम था[2]। उसी स्थूल आदर्शवादी दृष्टि के कारण शुक्लजी प्रबंधकाव्यों, विशेष रूप से आदर्श चरित्रवाले प्रबंधों में जितनी रसात्मकता पाते थे उतनी गीति कविता में नहीं अथवा तुलसी में जितना जीवनसौंदर्य देखते थे उतना सूर में नहीं। उनकी उस प्रवृत्ति से क्षुब्ध होकर वाजपेयीजी ने लिखा है, 'उपर्युक्त अद्भुत आलोचकों के कारण हिंदी काव्य जगत् में अत्यंत हानिकारिणी विचार परंपरा स्थिर होती जा रही है। जहाँ कोई सौंदर्य नहीं वहाँ अंतःसौंदर्य देखा जाता है। जहाँ सौंदर्य है उसकी अवहेलना की जाती है[3]।'

[1] 'मूल तत्व यह है कि प्रेमचंद का कोई स्वतंत्र स्वानुभूत दर्शन नहीं है। केवल सामयिकता का आदर्श है।'—हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृष्ठ ८६।

[2] 'इस छायावाद को हम पंडित रामचंद्र शुक्लजी के कथनानुसार केवल अभिव्यक्ति की एक लाक्षणिक प्रणालीविशेष नहीं मान सकेंगे। इसमें एक नूतन सांस्कृतिक मनोभावना का उद्गम है और एक स्वतंत्र दर्शन की नियोजना भी। पूर्ववर्ती काव्य से इसका स्पष्टतः पृथक् अस्तित्व और महत्ता है।' —वही, पृष्ठ १११।

[3] जयशंकर प्रसाद, परिवर्धित संस्करण, पृष्ठ ९५।

उपर्युक्त समस्त विवेचन वाजपेयीजी के दो ग्रंथों—हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी और जयशंकर प्रसाद के आधार पर किया गया है जिनके अधिकतर निबंध सन् १६४० ई० के पहले के लिखे हुए हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि १६४० ई० के पूर्व वाजपेयीजी भारतीय साहित्यशास्त्र के रूढ़िवादी समीक्षासिद्धांतों के विरोधी और पाश्चात्य समीक्षापद्धतियों के समर्थक थे; किंतु उनकी यह मान्यता कालक्रम के अनुसार उत्तरोत्तर बदलती गई। वाजपेयीजी का आलोचनात्मक व्यक्तित्व विकसनशील रहा है। इसी कारण प्रारंभ में उनकी आलोचना का स्वर जितना विद्रोही और सौंदर्यानुप्राणित था उतना बाद में नहीं रह गया। सन् १६४० ई० के आसपास से ही उनके विचारों में परिवर्तन दिखाई पड़ने लगता है। उनका अंचल को 'क्रांतिदूत' और 'क्रांति का स्रष्टा' कहनेवाला आलोचक निश्चय ही प्रसाद और निराला के उदात्त और गरिमामय स्वरूपों का उद्घाटन करनेवाले आलोचक से कुछ भिन्न हो गया था। उसी तरह रस सिद्धांत का विरोध करनेवाले सौंदर्यवादी वाजपेयीजी सन् १६५० ई० में 'कामायनी विवेचन' में कामायनी का मूल्यांकन रस, वस्तुवर्णन और भावचित्रण, ध्वनि आदि भारतीय शास्त्रीय सिद्धांतों के आधार पर करने लगते हैं। प्रारंभ में तटस्थता पूर्वग्रहहीनता को आलोचक का नित्य धर्म माननेवाले वाजपेयीजी बाद में किस तरह स्वयं शुक्लजी के अनुयायी बन गए, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। 'हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' की भूमिका (विज्ञप्ति) में उन्होंने अपनी आलोचना की 'चेष्टाओं' के जो सात सूत्र दिए हैं उसमें रीतियों, शैलियों और रचना के बाह्यांगों, समय, समाज तथा उनकी प्रेरणाओं और कवि के दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारों के अध्ययन को संमिलित किया जाना उनके १६४० ई० के बाद की परिवर्तित आलोचनात्मक दृष्टि का परिचायक है[१]। इस परिवर्तन के होते हुए भी वाजपेयीजी की प्रारंभिक आलोचनाओं का महत्व कम नहीं हो जाता क्योंकि छायावाद और नवीन गद्य साहित्य के सौंदर्यवादी और स्वच्छंदतावादी जीवनमूल्यों का सैद्धांतिक विवेचन हिंदी में प्रथम बार उन्हीं में किया गया था।

डा० नगेंद्र

शुक्ल युग के नवोदित सौंदर्यवादी आलोचकों में डा० नगेंद्र का स्थान प्रमुख है। उन्होंने अपनी व्यावहारिक समीक्षा की पुस्तक 'सुमित्रानंदन पंत' (सन् १६३८ ई०) के साथ हिंदी आलोचना के क्षेत्र में प्रवेश किया था। उस काल में उन्होंने सैद्धांतिक आलोचना से संबंधित जो फुटकल निबंध लिखे उनका संकलन उनकी पुस्तक 'विचार और अनुभूति' (सन् १६४४ ई०) में हुआ है।

[१] यह भूमिका सन् १६४२ ई० में लिखी गई थी।

इस पुस्तक के अधिकतर निबंधों में व्यावहारिक आलोचना की गई है। कुछ ही निबंध ऐसे हैं जिनमें सैद्धांतिक विवेचना की गई है। इन निबंधों में नगेंद्र के तत्कालीन उत्साहशील नवीनतावादी आलोचक के दर्शन होते हैं। उस समय उनपर नवीन पाश्चात्य समीक्षासिद्धांतों का इतना अधिक प्रभाव था कि उनके आज के आलोचक की उस काल के आलोचक से तुलना करना भी कठिन हो जाता है। उस समय के नगेंद्र मुख्यतः मनोविश्लेषणशास्त्रीय आलोचक थे, यद्यपि उन्होंने सामान्य मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, सौंदर्यशास्त्र और भारतीय रस-सिद्धांत को भी मनोविश्लेषणात्मक सिद्धांतों के साथ समन्वित करने का प्रयास किया है। इन सभी सिद्धांतों का उन्होंने इस प्रकार मेलजोल कराया है कि यह कहना कठिन हो जाता है कि वे स्वयं वास्तव में किस सिद्धांत को मानते हैं। कहीं तो वे शुद्ध रूप से फ्रायड, एडलर और युंग के अनुयायी प्रतीत होते हैं, कहीं अभिव्यंजनावादी और कलावादी प्रतीत होते हैं, कहीं आत्माभिव्यंजना पर सर्वाधिक बल देनेवाले स्वच्छंदतावादी और कहीं सौंदर्यवादी तथा रसवादी मालूम पड़ते हैं। उनकी उपपत्तियाँ मुख्यतः काव्य की प्रेरणा या हेतु, प्रयोजन या उद्देश्य, रचनाप्रक्रिया, और काव्य के तत्वों के संबंध में हैं। अतः उन्हीं के संबंध में यहाँ विचार किया जायगा।

काव्य की प्रेरणा के संबंध में उन्होंने एक कल्पित परिसंवाद लिखा है जिसके पात्र एक जिज्ञासु सुंदरी, एक युवक कवि और एक आचार्य हैं। सुंदरी की जिज्ञासा पर आचार्य ने काव्यप्रेरणा संबंधी भारतीय और पाश्चात्य सिद्धांतों का विवेचन करने के बाद अपना जो मत व्यक्त किया है वस्तुतः वही नगेंद्र का भी मत है क्योंकि उन्होंने अपने को ही आचार्य के रूप में कल्पित किया है। उनके अनुसार संस्कृत साहित्यशास्त्र में काव्यहेतुओं—प्रतिभा (शक्ति), निपुणता और अभ्यास और काव्यप्रयोजनों—यश, धन, व्यवहारज्ञान, सद्यःमुक्ति, शिवेतर-क्षय और कांतासम्मित उपदेश की जो विवेचना की गई है, वह अपूर्ण और ऊपरी है, क्योंकि 'संस्कृत शास्त्र के तत्ववेत्ता ने जितना परिश्रम रसग्राही पाठक की मनस्थिति का विश्लेषण करने में किया है उसका एक सूक्ष्मांश भी रस-स्रजेता के मनोविश्लेषण पर खर्च नहीं किया[1]।' पाश्चात्य सिद्धांतों में उन्होंने अरस्तू के अनुकृतिवाद, हीगेल के सौंदर्यानुभूतिजन्य आनंदवाद और क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की विवेचना करके उन्हें मूलग्राही नहीं, पल्लवग्राही या शाखाग्राही बताया है और मनोविश्लेषक आचार्यों के सिद्धांतों—फ्रायड के काम सिद्धांत, एडलर के क्षतिपूर्ति सिद्धांत और युंग के जीवनेच्छा सिद्धांत—को काव्यप्रेरणा संबंधी मूल

[1] विचार और अनुभूति—प्रथम संस्करण, पृष्ठ ५।

सत्य के अधिक निकट बताया है। अंत में उन्होंने अपना जो मत व्यक्त किया है वह मौलिक नहीं—पाश्चात्य सिद्धांतों का संमिश्रण प्रतीत होता है। उन्होंने यह बात स्वीकार भी की है 'अच्छा मेरा अपना मंतव्य सुनो। यह तो मैं तुमसे पहले ही कह दूँ कि मेरा मंतव्य कोई सर्वथा स्वतंत्र मंतव्य नहीं है उपर्युक्त सिद्धांतों से पृथक् उसका अस्तित्व नहीं और न हो ही सकता है[1]।' इस तरह पाश्चात्य सिद्धातों के आधार पर उन्होंने जो मत व्यक्त किया है उसका निष्कर्ष यह है कि आत्माभिव्यक्ति अर्थात् व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति ही काव्य की मूल प्रेरणा है जो कवि के 'अंतरंग अर्थात् उसके भीतर होनेवाले आत्म और अनात्म के संघर्ष से उद्भूत होती है। हमारे आत्म का निर्माण जिन प्रवृत्तियों से होता है उनमें काम वृत्ति का प्राधान्य है, अतएव हमारे व्यक्तित्व में होनेवाला आत्म और अनात्म का संघर्ष मुख्यतः काममय है और चूँकि ललित साहित्य तो मूलतः रसात्मक होता है, उसकी प्रेरणा में काम वृत्ति की प्रमुखता असंदिग्ध है[2]।' स्पष्ट ही यह मत मनोविश्लेषणशास्त्रियों का है, इसमें नगेंद्रजी का अपना कुछ नहीं है। फ्रायड जीवन की मूल प्रवृत्ति काम को मानता है। उसके अनुसार दमित वर्जित काम इच्छाओं की अभिव्यक्ति प्रच्छन्न रूप में काव्यकला आदि में होती है और उन्हीं से व्यक्तित्व का निर्माण भी होता है। एडलर के अनुसार व्यक्तित्व का निर्माण हीनताग्रंथि के कारण उत्पन्न क्षति की पूर्ति के लिये किए गए जीवन प्रयत्नों द्वारा होता है और काव्य भी क्षतिपूर्ति का ही एक साधना है। हीनता की ग्रंथि या बोध व्यक्ति के परिवेश के साथ होनेवाले संघर्ष में होता है। नगेंद्र ने इन दोनों सिद्धांतों की कुछ बातों को लेकर और उसके साथ 'आत्माभिव्यक्ति की अनिवार्यता' के स्वच्छंदतावादी सौंदर्यवादी सिद्धांत को मिलाकर यह नया मत उपस्थित कर दिया है।

फ्रायड और एडलर काव्य या कला को कवि की सचेत रूप में आत्माभिव्यक्ति नहीं मानते, बल्कि अचेतन मन का व्यापार मानते हैं। नगेंद्रजी की 'व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति' या आत्माभिव्यक्ति चेतन मन की क्रिया प्रतीत होती है; क्योंकि कवि के चेतन मन को ही उन रागद्वेषों को 'अभिव्यक्त करने की उत्कट आवश्यकता होती है जिनका संबंध अभाव से है[3]।' यहाँ नगेंद्र यह भी कहते हैं कि साहित्य विशिष्ट व्यक्तित्व की विशिष्ट क्षणों में हुई विशिष्ट अभिव्यक्ति

[1] विचार और अनुभूति, पृष्ठ ९।
[2] वही—पृष्ठ १०।
[3] वही—पृष्ठ १०।

है। व्यक्तित्व की विशिष्टता से उनका तात्पर्य राग द्वेष की असाधारण तीव्रता अर्थात् अत्यधिक भावुकता या संवेदनशीलता से है। पर इसे भी वे फ्रायड के सिद्धांत से जोड़कर अंतश्चेतन (अचेतन मन) और निरीक्षक चेतन (इगो) के बीच होनेवाले संघर्ष की उत्कृष्टता सिद्ध कर देते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि काव्यप्रेरणा संबंधी उनकी मान्यता प्रायः सर्वांशतः मनोविश्लेषणशास्त्रीय सिद्धांतों पर आधारित है।

किंतु काव्यप्रेरणा ही नहीं, काव्यप्रयोजन, काव्य-सृजन-प्रक्रिया और मूल स्रोत के संबंध में भी उनकी धारणाएँ मनोविश्लेषणशास्त्रीय सिद्धांतों पर ही आधारित हैं। वे साहित्य को जीवन की अंतर्मुखी साधना मानते हैं। उनके अनुसार 'स्वभाव से ही साहित्यकार में अंतर्मुखी वृत्ति का ही प्राधान्य रहता है। वह जितना महान् होगा उसका अहम् उतना ही तीव्र और बलिष्ठ होगा जिसका पूर्णतः सामाजीकरण असंभव नहीं तो दुष्कर अवश्य हो जायगा।...साहित्य में जो महान् है वह...दुर्दमनीय अहम् का ही विस्फोट है[1]।' यों तो अहम् का अर्थ भारतीय दर्शन के क्षेत्र में मायाबद्ध आत्मन् (अहंकार) और सामान्य व्यवहार में मिथ्याभिमान होता है, पर फ्रायड के अनुसार अहम् (इगो) व्यक्ति के सचेत मन का वह नियामक तत्व है जो अचेतन मन के इदम् (इद्) तत्व का व्यक्त या संघटित रूप है और जिसका काम दमित कामेच्छाओं को बाहर निकलने से रोकना या समाज द्वारा वर्जित इच्छाओं की पूर्ति में अवरोध उत्पन्न करना होता है। वह जगत् और व्यक्ति के अचेतन मन के बीच मध्यस्थ का काम करता है, अर्थात् जगत् को इदम् की वासनाओं के अनुरूप मोड़ने तथा इदम् की वासनाओं को जगत् की वास्तविकता के अनुरूप संशोधित करने का प्रयत्न करता है। इस तरह अहम् मन का बौद्धिक और व्यावहारिक पक्ष है। निश्चय ही नगेंद्र ने अहम् शब्द का प्रयोग इस अर्थ में न कर इदम् के लिये किया है, क्योंकि इदम् ही अपने भीतर संचित दमित वासनाओं को बाहर अभिव्यक्त करने के लिये चेतन मन से संघर्ष करता रहता है। अतः विस्फोट तो इदम् का ही संभव है, अहम् का नहीं। अहम् नियंत्रक और अवरोधक है, इदम् अवरुद्ध कामवृत्ति की अभिव्यक्ति के लिये संघर्ष करनेवाला विद्रोही है। अवरोधों और वर्जनाओं का अतिरेक होने पर इदम् का विस्फोट पागलपन, स्नायविक रोग, आदि के रूप में होता है। नगेन्द्रजी ने जिसे अहम् कहा है वह संभवतः फ्रायड का 'इदम्' ही है।[2] क्योंकि अहम्

[1] विचार और अनुभूति, पृष्ठ ६६।

[2] हिंदी की प्रगतिवादी और प्रयोगवादी समीक्षा में इस 'अहम्' शब्द का प्रयोग मनमाने ढंग से होता आ रहा है। कोई इसे 'इगो' और कोई 'इड' के अर्थ में प्रयुक्त करता है। इससे तात्पर्यबोध में बहुत बाधा होती है।

का विस्फोट तो होता ही नहीं है। इस तरह 'अहम् के विस्फोट' से नगेंद्र का आशय यह है कि अचेतन मन में संचित दमित कामवृत्तियाँ स्वप्न, पागलपन आदि की तरह चेतन मन के अवरोधों को छिन्नभिन्न करके प्रतीकात्मक या प्रच्छन्न रूप में काव्य में अभिव्यक्त होती हैं और ऐसा ही साहित्य महान् साहित्य होता है। अहम् जब इदम् की वासनाओं और जगत् की वास्तविकता के बीच सामंजस्य नहीं करा पाता है तभी इदम् (अचेतन मन) की कामवृत्तियों का विस्फोट होता है। निष्कर्ष यह कि काव्य की रचनाप्रक्रिया के संबंध में नगेंद्र का मत फ्रायड के सिद्धांतों का अनुवर्ती है। फ्रायड और एडलर भी साहित्यकार का अंतर्मुखी होना आवश्यक मानते हैं।

नगेंद्र की एक अन्य स्थापना यह है कि छायावादी काव्य मूलतः कुंठा से अनुप्रेरित है और कुंठा प्रथम श्रेणी के काव्य को जन्म नहीं दे सकती; इसलिये छायावादी काव्य प्रथम श्रेणी का काव्य नहीं है। फिर भी वे कहते हैं कि 'संसार का अधिकांश काव्य कुंठाजात ही तो है। उसकी तीव्रता उसके वैभवविलास का जन्म प्रायः कुंठा से ही होता है[1] ।' अन्यत्र नंददुलारे वाजपेयी की समीक्षा की त्रुटि बताते हुए वे कहते हैं कि 'इस युग की सामाजिक कुंठाओं का विशेषरूप से सेक्स संबंधी कुंठाओं का प्रभाव यह उचित मात्रा में स्वीकार न कर सके[3] ।' इस तरह कुंठाओं—चाहे वे सामाजिक हों या वैयक्तिक—को नगेंद्र जी काव्य का एक प्रमुख हेतु या प्रेरणा स्रोत मानते हैं। पर उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया है कि कुंठा से उनका तात्पर्य क्या है और उसका प्रभाव साहित्य पर कैसे पड़ता है। मनोविश्लेषण शास्त्र के अनुसार नैतिक और सामाजिक निषेधों या वर्जनाओं के कारण मन में अनेक प्रकार की ग्रंथियाँ बन जाती हैं। उन्हीं को हिंदी में कुंठा (कम्प्लेक्स) कहा जाता है। ये कुंठाएँ चरित्र के पतन, अपराध कार्य और स्नायविक रोगों का कारण तो बनती ही हैं, उदात्तीकरण (सब्लीमेशन) द्वारा ये साहित्य और कला की हेतु भी बनती हैं। साहित्यसर्जना द्वारा कुंठाओं अवरोधों का रेचन और निरसन होता है और स्नायविक तनाव दूर होता है जिससे कवि कलाकार के चरित्र में भी साधारणता (नारमैलिटी) और उदात्तता आती है। एडलर के अनुसार व्यक्ति का अहम् (इगो) अपने चतुर्दिक के पारिपार्श्विक अवरोधों के बीच अपने को स्थापित (एसर्ट) करना चाहता है। इस संघर्ष में उसे जो असफलता मिलती है उससे हीनता की ग्रंथि या कुंठा बनती है। इस कुंठा की भावना से मुक्ति पाने के लिये साहित्य और कला की सर्जना होती है। इस तरह

[1] विचार और अनुभूति, पृष्ठ ६०।
[2] वही, पृ० १०५।

साहित्य हीनता की कुंठा से बचने या उसे छिपाने का एक महत्वपूर्ण उपाय है। छायावादी कविता को कुंठाओं से उद्भूत बताने में नगेंद्र का अभिप्राय यह है कि यदि छायावादी कवियों के व्यक्तिगत जीवन और उनके सामाजिक परिवेश का अध्ययन किया जाय तो उनके मन की दमित कामजन्य इडिपस कुंठा या आत्म-स्थापना के संघर्ष से उत्पन्न हीनता कुंठा को उनकी काव्यसर्जना के मूल स्रोत के रूप में देखा जा सकता है।

नगेंद्र की इन्हीं मान्यताओं के कारण बहुत से लोगों ने उन्हें मनोविश्लेषणशास्त्रीय आलोचक माना है पर वस्तुतः उनकी आलोचनात्मक मान्यताएँ यहीं समाप्त नहीं हो जातीं। इन मान्यताओं के साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि कलाकृतियों का सापेक्षिक महत्व उनकी आनंददायिनी शक्ति पर आश्रित है'[1] और जो आनंददायक है वह उपयोगी है ही, इस बात को भूलकर आलोचक प्रायः सुंदर से सुंदर साहित्य के प्रति अन्याय कर बैठता है।'[2] 'अतएव काव्य की कसौटी है उसकी शुद्ध आनंददायिनी शक्ति जिसे अपने शास्त्रकारों ने रस कहा है। रस का अर्थ व्यापक रूप में आनंद से चलकर जीवन पोषक तत्व तक है।'[3] इस तरह नगेंद्र रसवादी प्रतीत होते हैं। उपर्युक्त कथन में उन्होंने पाश्चात्य आनंदवादी कलासिद्धांत (हेडोनिस्टिक थीअरी ऑफ आर्ट) का भारतीय रससिद्धांत के साथ समन्वय किया है और हीगेल के सौंदर्य दर्शन को, जो सौंदर्य को अनिवार्यतः शिव और सत्य भी मानता है, भी उसी में समेट लिया है। इसी तरह वे रसात्मक आनंद को ही साहित्य का अंतिम उद्देश्य का प्रयोजन मानते हैं। वे रसानुभूति के संबंध में भारतीय साधारणीकरण के सिद्धांत और रसाभिव्यक्ति को संबंध में क्रोचे के अभिव्यंजनावाद तथा रोमैंटिक सौंदर्यवादी आलोचकों के आत्माभिव्यंजना के सिद्धांत के अनुयायी प्रतीत होते हैं। साधारणीकरण के संबंध में प्राचीन आचार्यों के समान वे भी यह स्वीकार करते हैं कि सहृदय या 'अधिकारी भोक्ता' में ही रसानुभूति होती है और अधिकारी भोक्ता वही है जो संवेदनशील और संस्कृत शिक्षित रुचिवाला हो। अतः काव्य जन-साधारण की वस्तु नहीं है, वह काव्य के विशेषज्ञों यानी सहृदयों के लिये ही है। समीक्षक का भी रसग्राही सहृदय होना चाहिए, तभी वह आननंददायिनी शक्ति का महत्व आँक सकेगा। समीक्षक के लिये नगेंद्र ने इतना संकेत और दे दिया है कि कलाकृति में कर्ता के

[1] विचार और अनुभूति, पृ० १२।
[2] वही, पृ० १२।
[3] वही, पृ० १२।

व्यक्तित्व का अनुवाद होना चाहिए और उसका व्यक्तित्व प्राणवान् होना चाहिए। इस प्रकार नगेंद्र के अनुसार कला या काव्य का मूल्य उसके अंतिम लक्ष्य आनंद, उसके साधन—निष्कपट, तीव्र एवं संपूर्ण आत्माभिव्यक्ति और उसके उपादान प्राणवान व्यक्तित्व—पर निर्भर करता है। यह मान्यता निश्चय ही नगेंद्र को रसवादी सिद्ध करती है। उन्होंने अपने इस मत की घोषणा भी इन शब्दों में कर दी है—'अतः साहित्य की आत्मा है रस और इसी रस की परीक्षा करना आलोचक का कर्तव्य है।'

किंतु आत्माभिव्यक्ति का सौंदर्यवादी स्वच्छंदतावादी सिद्धांत उनकी इस मान्यता का अभिन्न अंग है। शुक्लयुग के बाद वे उत्तरोत्तर भारतीय ढंग के 'शुद्ध रसवादी' होते गए। प्रारंभ में उन्होंने रसवादी शुक्लजी का इसलिये विरोध किया था कि उनकी आलोचना दृष्टि वस्तुसीमित थी और 'वस्तु और अभिव्यंजना में अंतर मानकर चलती थी'[1]।' इसी कारण उस समय वे प्रभाववादी, शास्त्रीय और वैज्ञानिक समीक्षा पद्धतियों का समन्वय आवश्यक मानते थे[2]। प्रभाववादी पद्धति के अनुसार वे आलोचक का कर्तव्य मानते थे 'आलोच्य वस्तु के माध्यम से अपने को अभिव्यक्त करना जिसके बल पर ही आलोचना साहित्य पद को प्राप्त कर सकती है[3]।' पर बाद में वे प्रभाववादी और वैज्ञानिक पद्धतियों को छोड़कर शुद्ध शास्त्रीय (भारतीय और पाश्चात्य) पद्धति को ही अपनाकर चलने लगे, क्योंकि उन तीनों का समन्वय वस्तुतः असंभव ही है। अपनी मान्यताओं को शास्त्रसम्मत बनाने की प्रवृत्ति उनमें प्रारंभ से ही वर्तमान थी; इसी लिये उन्होंने 'साहित्य की समीक्षा' शीर्षक निबंध में धर्म के चार लक्षणों—आत्मनः प्रिय, सदाचार, स्मृति और वेद के आधार पर साहित्य की परीक्षा करने की विधि बताई थी, परंतु वस्तुतः पुरानी शास्त्रीय शब्दावली के सहारे उन्होंने प्रभाव (आत्मनः प्रिय, सामाजिक हित (सदाचार), विधान या राष्ट्रनियम (स्मृति) और शाश्वत ज्ञान (वेद) को ही साहित्यपरीक्षा का आधार बताया था, किंतु उनकी यह सलाह दूसरों के लिये ही थी। स्वयं तो उस समय भी रसवादी, अभिव्यंजनावादी और मनोविश्लेषणवादी पद्धति को लेकर चलते रहे और अब तो उन्होंने आलोचना के शुद्ध शास्त्रीय या रीतिवादी मार्ग को ही अपना लिया है, अन्य सभी पद्धतियों से एक प्रकार से संबंधविच्छेद ही कर लिया है।

[1] विचार और अनुभूति, पृष्ठ १४।
[2] वही, पृष्ठ ५६।
[3] वही, पृष्ठ १६।
[4] वही, पृष्ठ १७।

शांतिप्रिय द्विवेदी

पहले कहा जा चुका है कि स्वच्छंदतावादी सौंदर्यवादी आलोचकों का एक वर्ग ऐसा था जिसने विश्लेषणात्मक शैली न अपनाकर प्रभावात्मक और काव्यात्मक शैली अपनाई थी। शांतिप्रिय द्विवेदी इस वर्ग के प्रतिनिधि आलोचक हैं। रामकुमार वर्मा, रामनाथलाल सुमन, जानकीवल्लभ शास्त्री और गंगाप्रसाद पांडेय ने भी इसी पद्धति को अपनाकर अधिकतर व्यावहारिक आलोचनाएँ लिखी थीं। इन सबने छायावादी काव्यधारा के कवि रूपमें साहित्यक्षेत्र में प्रवेश किया था और आलोचना के क्षेत्र में बाद में आए थे। उनमें से कुछ तो बाद में काव्यरचना छोड़कर केवल आलोचक ही रह गए और कुछ का दोनों रूप साथ साथ चल रहा है। छायावादी कविता के अंतरंग से पूर्णतः परिचित होने के कारण इनका दृष्टिकोण तो सौंदर्यवादी और रूढ़िविरोधी था, पर मूलतः कवि होने के कारण इनकी शैली में काव्यात्मकता अधिक दिखाई पड़ती है। इन्हें प्रभावात्मक इसी अर्थमें कहा गया है कि इन्होंने शास्त्रीय या वैज्ञानिक आधार पर आधुनिक कविता का मूल्यांकन नहीं किया, बल्कि आलोच्य काव्य या प्रवृत्ति से प्रभावित होकर तब उसकी विशेषताओं को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया है। इसी कारण व्यावहारिक आलोचना में इन सबने अपनी रुचि के अनुकूल किसी न किसी रहस्यवादी या छायावादी कवि या कथाकार को अपना आदर्श प्रतिमान बना लिया। रामकुमार वर्मा ने कबीर को चुना तो शांतिप्रिय द्विवेदी ने सुमित्रानंदन पंत और शरच्चंद्र को। जानकीवल्लभ शास्त्री ने निराला को अपना आलोच्य प्रतिमान माना तो गंगाप्रसाद पांडेय ने निराला और महादेवी दोनों को। रामनाथ सुमन ने प्रसाद तक ही अपने को सीमित रखा। अपनी रुचि के कवियों से प्रभावित होने के कारण उनकी आलोचनात्मक दृष्टि उसी प्रकार तटस्थ नहीं रह सकी है, जैसे रामचंद्र शुक्ल की दृष्टि तुलसी से प्रभावित होने कारण निष्पक्ष नहीं थी।

किंतु शांतिप्रिय द्विवेदी इस वर्ग के अन्य आलोचकों से इस अर्थ में भिन्न हैं कि उनकी आलोचना में भावात्मकता या काव्यात्मकता सबसे अधिक है। इस काव्यात्मकता के कारण ही शांतिप्रिय द्विवेदी को इस भयानक भ्रम का शिकार होना पड़ा है कि वे प्रभाववादी आलोचक हैं। रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास में शांतिप्रिय द्विवेदी को प्रभाववादी आलोचक तो नहीं कहा है, पर उनके बारे में एक बहुत ही गूढ़ार्थक वाक्य यह लिखा है—'पं० शांतिप्रिय द्विवेदी ने 'हमारे साहित्य निर्माता' नाम की एक पुस्तक लिखकर हिंदी के कई वर्तमान कवियों की प्रवृत्तियों और विशेषताओं का अपने ढंग पर अच्छा आभास दिया है।' इसके ठीक बाद ही शुक्लजी ने प्रभावाभिव्यंजक की कई पृष्ठों में कटु आलोचना

की है। उस आलोचना के कुछ वाक्य ये हैं—'ठीक ठिकाने से चलनेवाली समीक्षाओं को देख जितना संतोष होता है, किसी कवि की समीक्षा के नाम पर उसकी रचना से सर्वथा असंबद्ध चित्रमयी कल्पना और भावुकता की सजावट देख उतनी ग्लानि होती है। ······इस प्रकार की समीक्षा में, कवि ने क्या कहा है, उसका ठीक भाव या आशय क्या है, यह समझने या समझाने की आवश्यकता नहीं; आवश्यक इतना ही है कि उसकी किसी रचना का जिसके हृदय पर जो प्रभाव पड़े उसका वह सुंदरता और अनूठेपन के साथ वर्णन कर दे।"[1] हो सकता है, इस कथन में शुक्लजी का संकेत शांतिप्रिय द्विवेदी की ओर भी हो, पर बाद के आलोचकों—विशेषकर विश्वविद्यालयों के वर्गीकरणप्रिय प्राध्यापक आलोचकों- ने यह निश्चित रूप से मान लिया कि शांतिप्रिय द्विवेदी प्रभाववादी या शुक्लजी के शब्दों में प्रभावाभिव्यंजक इम्प्रेसॉनिस्ट आलोचक हैं।

किंतु यह अत्यंत भ्रममूलक और शांतिप्रियजी की कृतियों को बिना पढ़े ही केवल प्रलाप के रूप में मान्य धारणा है। वस्तुतः शांतिप्रिय द्विवेदी न तो पाश्चात्य आलोचना में मान्य प्रभाववादी पद्धति के आलोचक हैं और न शुक्लजी ने प्रभावाभिव्यंजनावाद की जो व्याख्या की है उसी पद्धति के अनुयायी हैं। उनकी आलोचना आलोच्य वस्तु से असंबद्ध कहीं नहीं है। हाँ, काव्यात्मक अवश्य है; पर केवल काव्यात्मक या भावात्मक होने से ही आलोचना प्रभावात्मक नहीं हो जाती। प्रभावात्मक समीक्षापद्धति अभिव्यंजनावाद का ही आलोचनात्मक प्रयोग है जिसमें आलोचना स्वयं आलोच्य वस्तु से विच्छिन्न एक स्वतंत्र रचनात्मक कृति का रूप धारण कर लेती है। भावात्मक निबंधों की तरह प्रभाववादी आलोचना में भी विवेच्य विषय के विश्लेषण, परीक्षण और मूल्यांकन की ओर उतनी प्रवृत्ति नहीं होती जितनी उस विषय या आलोच्य कृति के अपने मन पर पड़े प्रभाव को उद्गार रूप में व्यक्त करने की प्रवृत्ति होती है। इस तरह प्रभाववादी आलोचना मुख्यतः प्रशंसात्मक और रचनात्मक होती है। यों तो प्रत्येक आलोचक कहीं न कहीं प्रभाववादी अवश्य हो जाता है और स्वयं शुक्लजी की आलोचना में ऐसे स्थल हैं, पर विश्लेषणात्मक और व्याख्यात्मक समीक्षक उन प्रभावों का बौद्धिकीकरण करता और उन्हें तर्कपूर्ण संगति देता है। इसके विपरीत प्रभाववादी आलोचक मन पर पड़े प्रभावों को उनके मूल अविकृत रूप में ही अभिव्यक्त करता है और ऐसा करने में भावात्मकता स्वभावतः आ जाती है। शांतिप्रिय द्विवेदी की समीक्षा में भावात्मक शैली तो है पर प्रभावों की अभिव्यक्ति तर्क-

[1] हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५१७—५१८।

पूर्ण और व्याख्यात्मक है। मन पर पड़े प्रभावों को आलोच्य वस्तु से असंबद्ध करके उन्होंने नहीं व्यक्त किया है। इसलिये अधिक से अधिक उन्हें प्रभावात्मक या भावात्मक स्वच्छंदतावादी समीक्षक कहा जा सकता है। सौंदर्यवादी स्वच्छंदतावादी आलोचक कभी कभी आलोच्य कृति के सौंदर्य के मर्मोद्घाटन के लिये भावाविष्ट होकर काव्यात्मक पद्धति का सहारा लेते हैं पर इतने से ही उन्हें प्रभाववादी नहीं कहा जाता। शांतिप्रिय द्विवेदी का कवि रूप उनकी समीक्षा में भी प्रमुख रहता है जिससे उनके भावात्मक उद्‌गार प्रायः प्रकट हो जाया करते हैं। इस बात को उन्होंने स्वयं सामायिकी के 'शुक्लजी का कृतित्व' शीर्षक निबंध में इस प्रकार कहा है—'अनुभूतिवाद (छायावाद, रहस्यवाद) के लिये वैधानिक समीक्षा की ही नहीं, प्राभाविक समालोचना की भी आवश्यकता है। प्राभाविक समालोचना टेकनिकल नहीं, आइडियल है। वह कवि की अनुभूति पाठक में जगाती है, उसे भी कवि बनाती है।...हाँ ऐसी आलोचना में कवि की अनुभूति से समालोचक की अभिन्नता होनी चाहिए निजी आरोपण नहीं।'

उपर्युक्त कथन द्वारा शांतिप्रियजी ने स्वयं प्रभाववादी समीक्षापद्धति से अपनी समीक्षापद्धति का अंतर इतना स्पष्ट कर दिया है कि उसे और अधिक बताने की आवश्यकता नहीं रह जाती। प्रभाववादी आलोचक आलोच्य कृति पर अपनी भावनाओं का आरोपण करता है और भावात्मक (प्राभाविक) पद्धति में आलोचक आलोच्य कवि के साथ तादात्म्य स्थापितकर उसकी अनुभूतियों को पाठकों तक संप्रेषित या साधारणीकृत करता है। वह मत डॉ॰ नगेंद्र के इस सिद्धांत से मिलता है— 'स्वभावतः साहित्य के अन्य अंगों की भाँति समालोचना में भी साधारणीकरण को मैं अनिवार्य मानता हूँ। अर्थात् आलोचक एक विशेष रसग्राही पाठक है और आलोचना उस गृहीत रस को सर्वसुलभ करने का प्रयत्न। इस प्रयत्न में आलोच्य कृति के सहारे आलोचक जितनी सचाई और सफाई के साथ अपने को व्यक्त कर सकेगा उतना ही उसकी आलोचना का मूल्य होगा।'[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि शांतिप्रिय की आलोचना में रसग्राहिता और तज्जन्य काव्यात्मक शैली वर्तमान है और इस दृष्टि से उनकी आलोचना का मूल्य बहुत अधिक है। सचाई भी इसमें पर्याप्त मात्रा में है, पर सफाई की कुछ कमी अवश्य है। उस कमी का कारण शांतिप्रिय का प्रतिकूल परिस्थितियों और सामाजिक असुविधाओं से विवश

[1] विचार और अनुभूति, पृष्ठ १८।

होकर पाश्चात्य और भारतीय साहित्य सिद्धांतों और दर्शनों के गंभीर अध्ययन से वंचित रहना है। यदि उनको भी वे सुविधाएँ मिली होतीं तो उनकी समीक्षा-पद्धति कुछ और ही हुई होती और तब डा० नगेंद्र को यह आक्षेप करने का अवसर न मिलता कि 'लिरिकल होने के कारण शांतिप्रियजी की भावनाएँ तरल हैं; यह उनकी शक्ति है। उनके विचार भी उतने ही तरह हैं; यह उनकी सीमा है। इसलिये शांतिप्रियजी आधुनिक युग के काव्य - विशेषकर छायावाद के रस का आस्वादन तो करा सके, लेकिन उसका स्वरूप स्पष्ट नहीं कर सके।' इस कथन का तात्पर्य यह है कि शांतिप्रियजी की आलोचना भावात्मक अधिक और विचारात्मक कम है। यह कथन आंशिक रूप से सत्य हो सकता है; पर पूर्णतः सत्य नहीं है। इसके लिये शांतिप्रियजी के ग्रंथों का पर्यवेक्षण आवश्यक है।

आलोच्य काल में शांतिप्रिय के पाँच आलोचनात्मक ग्रंथ– हमारे साहित्य निर्माता (सन् १ ३४), कवि और काव्य (सन् १९३६), साहित्यिकी (सन् १९३८) संचारिणी (सन् १९३९) और युग और साहित्य (सन् १९४०)—प्रकाशित हुए थे इनमें से प्रथम केवल व्यावहारिक आलोचना का ग्रंथ है और शेष ग्रंथों में व्यावहारिक और आलोचनात्मक निबंध संकलित हैं। इनमें युग और साहित्य के अतिरिक्त अन्य सभी ग्रंथो में लेखक की दृष्टि विशुद्ध रूप से सौंदर्य-मूलक स्वछंदतावादी है। युग और साहित्य में शांतिप्रिय पंत के प्रगतिशील विचारों से प्रभावित होकर समन्वयात्मक प्रगतिवादी हो गए हैं, पर उसमें भी उनका सौंदर्यबोधात्मक दृष्टिकोण अधिक बदला नहीं है। सौंदर्यसंबंधी उनकी धारणा अँगरेजी के रोमांटिक और हिंदी के छायावादी कवियों जैसी ही है। छाया-वादी कवियों विशेषकर प्रसाद की सौंदर्यभावना आध्यात्मिक अधिक है, भौतिक कम। शांतिप्रिय भी सौंदर्य को वस्तु में नहीं द्रष्टा के मन में अवस्थित मानते हैं। उनके अनुसार 'यह सौंदर्य केवल आँखों की दृश्य वस्तु नहीं, हमारी कल्याण-मयी चेतना का चुनाव है। जब हम चेतना के उज्ज्वल प्रकाश में सौंदर्य का निरीक्षण करेंगे तब हमारी आँखें ऐसी ही दिव्य छवि खोज सकेंगी। यह सौंदर्य-सृष्टि केवल कवि की ही आँखों में नहीं, बल्कि यह विश्व की एक जीवनदायिनी सत्ता है'[१]। स्पष्ट ही यह आध्यात्मिक सौंदर्यदृष्टि है जो छायावादी कविता की मूल प्रेरणा रही है। किंतु उनकी दृष्टि में आध्यात्मिक सौंदर्य का आधार भी वस्तु जगत् ही है, कोई अन्य अभौतिक लोक नहीं। इसी लिये शांतिप्रिय जी 'कला को साध्य नहीं, साधन मानते हैं। कला का लक्ष्य जीवन के 'सत्य' और शिव को

[१] साहित्यिकी, प्रथम संस्करण, पृ० ४६।

सुंदर बनाकर उपस्थित करना है। कला बाह्य अभिव्यक्ति है जो जीवन को ही अभिव्यक्त करती है। यह धारणा कलावादियों और अभिव्यंजनावादी क्रोचे की मान्यता से बिलकुल भिन्न है।[1] वस्तुतः शांतिप्रिय का सौंदर्यबोध वस्तु और चेतना दोनों के सामंजस्य और अन्वितिपूर्ण प्रभाव को प्राथमिकता देता है। वे कहते हैं—'चेतना के कारण ही तो जीवन बना हुआ है और जीवन के कारण ही कला रसमय और सहृदयसंवेद्य बनी हुई है। तब, कला जीवन से विच्छिन्न कैसे हो सकती है।'[2] इस तरह उन्होंने कला के स्वतंत्र अस्तित्व के कलावादी सिद्धांत का खण्डन किया है।

शांतिप्रियजी कविता को कवि की तन्मय और ऐकांतिक मनोदशा में अपने आप निकल पड़नेवाला सरस उद्गार मानते हैं।[3] उनके अनुसार कविता 'अंतर्जगत् की वाणी', 'भावनाओं का सुघरतम रूप' और 'हमारे' हृदय की साँस' है। इस तरह वे कविता को आत्मव्यंजक मानते हैं, वस्तुव्यंजक नहीं। उनकी यह धारणा छायावादी कविता के विशेषताओं से प्रभावित होकर निर्मित हुई है। छायावादी कवियों की तरह शांतिप्रिय भी वस्तुजगत् और भाव जगत् में भाव जगत् (अंतर्जगत) को कविता की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं और कहते हैं – 'वस्तु जगत् विचारों और स्थूल अनुभवों को जन्म देता है जो लोक व्यवहार की वस्तु है। अंतर्जगत् भावों और सूक्ष्मतम अनुभूतियों की उद्भावना करता है जो मनुष्य के मानसिक उपचार के लिये रसायन है'।[4] इस प्रकार वे कविता की उपयोगिता यह मानते हैं कि वह मनुष्य का मानसिक उपचार करती है अथवा शुक्लजी के शब्दों में 'लोकचित्त का परिष्कार' करती है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि वे काव्यकला को उपयोगितावादी दृष्टि से देखते हैं। वे कविता को शरीर या मस्तिष्क के लिये नहीं, हृदय के लिये उपयोगी बताते हैं। कविता मानसिक उपचार के लिये रसायन तभी बन सकती है जब वह रसमयी हो। अतः वे काव्य का रसयुक्त होना आवश्यक मानते हैं और रससंप्रदायवालों के स्वर में स्वर मिलाकर कहते हैं—'शब्द से लेकर रस तक काव्य में प्रवाह

[1] 'जीवन में जो कुछ सत्य है, शिव है, कला उसे ही 'सुंदर' बनाकर साहित्य द्वारा संसार के संमुख उपस्थित करती है। कला साहित्य का बाह्य रूप है, जीवन उसका अंतःस्वरूप। कला अभिव्यक्ति है, जीवन अभिव्यक्त।'—संचारिणी, पांचवाँ संस्करण; पृ० ८६।

[2] वही—पृ० ८५।

[3] कवि और काव्य, चतुर्थ संस्करण पृ० २१।

[4] वही—पृ० १०।

की एक लड़ी सी बंधी रहती है। शब्द छंद को अग्रसर करते हैं, छंद भाव को और भाव रस को।'[1] इस तरह वे रस के सभी सहायक तत्वों, शब्द, छंद, बिंबविधान, अप्रस्तुत विधान आदि का महत्व स्वीकार करते हैं।[2] शुक्लजी की तरह शांतिप्रिय भी रसपरिपाक के लिये काव्य में चित्रयोजना (बिंबविधान) आवश्यक मानते हैं पर उनसे कुछ आगे बढ़कर काव्य की संगीतात्मकता अथवा समुचित वर्णविन्यास, और शब्दविन्यास को भी उसके कलात्मक सौष्ठव के लिये अनिवार्य सिद्ध करते हैं।[3] किंतु रसवादी होते हुए भी वे शास्त्रीय या रीतिबद्ध नहीं हैं। उन्होंने आत्माभिव्यंजना के सिद्धांत को मिलाने का प्रयास किया है जो प्रसाद आदि छायावादी कवियों की समीक्षा में भी देखा जा सकता है।

साधारणीकरण के संबंध में भी शांतिप्रियजी की मान्यता शास्त्रीय रसवादियों से भिन्न है। रससिद्धांत में विवक्षित भावों और विभावों को रस का प्रमुख अवयव माना गया है और शुक्लजी तो उन दोनों में भी विभाव को सबसे अधिक महत्व देते हैं। पर सौंदर्यवादी, स्वच्छंदतावादी समीक्षा में भाव की जगह आत्मानुभूति या स्वानुभूति को सबसे अधिक महत्व दिया जाता है। अनुभूतियों में भाव कहीं परिस्फुट होते हैं, कहीं प्रच्छन्न और कहीं कहीं तो उनमें संवेदनाओं और प्रभावों का जटिल रूप ही वर्तमान रहता है। इस कारण आत्माभिव्यंजक कविता में—चाहे वह छायावादी हो या आधुनिकतावादी नई कविता—प्रायः अस्पष्टता रहती है जिससे सामान्य पाठक उसे समझ नहीं पाता; शास्त्रीय शब्दावली में पाठक का आश्रय (कवि) के साथ तादात्म्य नहीं हो पाता जिससे साधारणीकरण और रसनिष्पत्ति नहीं हो पाती। शांतिप्रिय द्विवेदी के अनुसार कविता में यह अस्पष्टता कहीं कहीं आवश्यक हो जाती है। उन्हीं के शब्दों में 'कविता सुंदरी को भी कभी कभी अवगुंठन की आवश्यकता पड़ती है······इसलिये कि उसकी शोभाश्री एक कुलवधू की सलज्ज मुसकान की तरह संयमित, गूढ़, गंभीर एवं प्रतिक्षण नवीन बनी रहे'।[4] छायावादी कविता में लाक्षणिकता, व्यंजकता और प्रतीक पद्धति की अधिकता इसी मान्यता के कारण है। अभिधात्मक पद्धति जन साधारण के लिये अधिक उपयुक्त होती है पर उसमें वह सौंदर्य, जिसका उल्लेख शांतिप्रियजी ने किया है, नहीं होता। इसलिये उन्होंने लिखा है—'कला की दृष्टि से जो कविताएँ अस्पष्ट लिखी जाती हैं, वे सर्वसाधारण की नहीं, केवल भावुक हृदयों के प्रेम की

[1] कवि और काव्य; पृष्ठ ५।
[2] देखिये 'काव्यचिंतन शीर्षक निबंध; वही—पृ० १ से १७ तक।
[3] वही, पृ० ४, ५।
[4] कवि और काव्य; पृष्ठ १४४

वस्तु होती है।'[1] उनका कहना है कि वस्तुतः कोई अच्छी कविता अस्पष्ट नहीं होती, पाठक कवि की परिस्थिति में अपने को रखकर उसे नहीं पढ़ता, इसी से वह अस्पष्ट मालूम पड़ती है। भावुक पाठक अपने को कवि की परिस्थिति और मनस्थिति में रखकर यदि कविता पढ़े तो वह भले ही उसे भलीभाँति समझ न पावे पर उसके सौंदर्य पर मुग्ध अवश्य हो जायगा। यहाँ शांतिप्रियजी ने अनजाने ही एक ऐसी बात कही है जो आधुनिक मनोविश्लेषण शास्त्र की दृष्टि से बिलकुल सही है। उन्होंने लिखा है—'कवि के अज्ञात भावों का अर्थ न समझ सकने पर भी वे मात्र हृदय को भले लगते हैं।·· ···अंतरतम चेतना काव्य में भी अज्ञात रूप से भीतर ही भीतर मर्मस्थल को छूती रहती है यद्यपि हम बाहरी चेतना द्वारा अर्थविमूढ़ बने रहते हैं।'[2] यहाँ मनोविश्लेषण के चेतन और अचेतन मन के सिद्धांत और कविता में अचेतन मन से निःसृत प्रतीकात्मक बिंबों (खंडित या शृंखलित) की बात ही अन्य शब्दावली में कही गई। अचेतन मन से निःसृत प्रतीकात्मक बिंबोवाली कविता सामान्य पाठक के लिये अवश्य अस्पष्ट और दुरूह होती है।

उपर्युक्त विवेचन यह स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त है कि अपनी प्रारंभिक कृतियों में शांतिप्रिय छायावादी कविता विशेषकर पंत के पल्लवकालीन काव्यादर्श से प्रभावित स्वच्छंद सौंदर्यवादी आलोचक थे। पर पंत की काव्यप्रवृत्तियों के परिवर्तन के साथ शांतिप्रिय के आलोचनात्मक दृष्टिकोण में भी परिवर्तन होता गया। साहित्यिकी में वे पंत के गुंजन आदि काव्यों से प्रभावित होकर मानवतावादी बन जाते हैं और कवि को दुःखी विश्वमानव की सुख शांति के लिये काव्यरचना करने की सलाह देते हैं। उनकी उस विचारधारा पर गांधी और रवींद्र का भी समान प्रभाव है। उसी तरह पंत के युगांत का प्रभाव उनकी संचारिणी पर (नवीन मानवसाहित्य शीर्षक निबंध में) तथा 'युगवाणी' का प्रभाव 'युग और साहित्य' पर दिखाई पड़ता है। अतः कुछ लोगों के इस कथन में काफी सचाई है कि 'शांतिप्रिय द्विवेदी की विचार सरणियों में भी कवि पंत के काव्यविकास की प्रतिच्छाया देखी जा सकती है।'[3] 'युग और साहित्य' में उनकी विचारधारा तत्कालीन प्रगतिशील आंदोलन से प्रभावित है। उस काल का प्रगतिशील लेखक संघ एक संयुक्त मोर्चा था जिसके हिंदी के प्रतिनिधि नेता सुमित्रानंदन पंत थे। पंत

[1] कवि और काव्य, पृष्ठ १४४।
[2] वही, पृष्ठ १५०।
[3] हिंदी के आलोचक, सं० शचीरानी गुर्टू, पृष्ठ १६२।

ने अपनी तत्कालीन रचनात्मक और आलोचनात्मक कृतियों में मार्क्सवाद और गांधीवाद के समन्वय पर बल दिया है और साहित्य को शोषित पद्दित मानवता के उत्थान का एक महत्वपूर्ण साधन माना है। उसी तरह 'युग और साहित्य' में शांतिप्रिय ने भी समाजशास्त्रीय आलोचना पद्धति अपनाकर हिंदी के विभिन्न युगों के साहित्य को उन उन युगों की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों के संदर्भ में देखा है और प्राचीन तथा छायावादी कविता को मध्ययुगीन जीवनदृष्टि की देन बताया है। इस ग्रंथ में उनकी विचारधारा के साथ उनकी शैली में भी परिवर्तन हो गया है, काव्यात्मक शैली की जगह विवेचनात्मक शैली ने ले ली है। यहाँ आकर वे यह मानने लगे हैं कि छायावादी कविता भ्रममूलक और स्वप्नवत् है, पर अब कवियों को यथार्थ भूमि पर उतर कर भावों को नहीं, अभावों, जनता के दुःख और क्रंदन को अभिव्यक्त करना चाहिए। प्रगतिवाद के इसी अतिरिक्त उत्साह में उन्होंने यह घोषणा की है— 'आज छायावाद निस्पंद है, साहित्य को नवजीवन देने के बजाय वह स्वयं ही मुमूर्ष की भाँति जीवन माँग रहा है।'[1] किंतु उनका यह उत्साह बहुत दिनों तक नहीं रहा। द्वितीय महायुद्ध के समाप्त होते न होते कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा संचालित प्रगतिशील लेखक संघ का संयुक्त मोर्चा टूट गया, पंत, राहुल आदि प्रतिक्रियावादी घोषित कर दिए गए। फलस्वरूप पंत को अरविंद दर्शन की शरण में जाना पड़ा। यहाँ आकर शांतिप्रिय ने पंत से अपना मार्ग अलग कर लिया। अब वे सर्वोदय की ओर हैं जिसकी ओर उनकी प्रवृत्ति प्रारंभ से ही रही है। वस्तुतः द्विवेदीजी का सबसे बड़ा महत्व यह है कि शुक्लजी के समय में ही उन्होंने उनके प्रभाव से मुक्त रहकर नवीन स्वच्छंदतावादी समीक्षा का प्रवर्तन किया।

(घ) उपयोगितावादी आलोचना

पिछले अध्याय में दिखाया जा चुका है कि देश की राजनीतिक धार्मिक और सामाजिक स्थितियों के दबाव और महात्मा गांधी की नैतिकतावादी दृष्टि के प्रभाव से द्विवेदी युग में साहित्य की उपयोगिता पर अधिक बल दिया जाने लगा था। महावीरप्रसाद द्विवेदी की समीक्षा में यद्यपि शुद्ध साहित्यिक दृष्टि का अभाव नहीं है पर उनकी प्रवृत्ति मुख्यतः सुधारवादी और शुष्क नैतिकतावादी थी। इस दृष्टिकोण को प्रतिमान बनाकर उन्होंने सुधारवादी और आदर्शवादी लेखकों की एक नई पीढ़ी निर्मित कर दी। रामचंद्र शुक्ल, प्रेमचंद, बनारसीदास चतुर्वेदी आदि आदर्शवादी लेखकों की मान्यताओं का निर्माण उसी काल में हो चुका था। अतः

[1] युग और साहित्य, पृष्ठ १६६।

शुक्लजी में लोकहित और लोकादर्श को साहित्य का मूल्य मानकर साहित्य के परीक्षण की जो प्रवृत्ति थी, वह भी बहुत कुछ उपयोगितावादी ही है। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपनी आलोचना में जो काव्यादर्श रखा था, उसमें राष्ट्रीयता, समाजसुधार और सांस्कृतिक पुनरुत्थान का लक्ष्य होते हुए भी उसका कोई शास्त्रीय आधार नहीं था, केवल सामयिक आवश्यकता की विवेकपूर्ण पहिचान ही उसका आधार थी। रामचंद्र शुक्ल ने उस उपयोगितावादी आदर्श को साहित्यशास्त्रीय आधार प्रदान किया। पर वे उपयोगिता को सामयिक आवश्यकता की दृष्टि से न देखकर मानव स्वभाव (मनोविज्ञान) और सांस्कृतिक परंपरा की दृष्टि से देखते थे, जिससे उनकी समीक्षा का मुख्य स्वर साहित्यिक ही रहा, कोरा राजनैतिक, धार्मिक अथवा नैतिक नहीं। यूरोप में उन्नीसवीं शताब्दी के उपयोगितावादी आलोचक टालस्टाय, रस्किन आदि ने स्पष्ट रूप में धार्मिक, नैतिक और सामाजिक उपयोगिता को कला का सबसे प्रमुख प्रतिमान मान लिया था। शुक्लजी ने अपनी आलोचना में उन लोगों की मान्यताओं का खंडन किया है।

द्विवेदी युग में सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना जितनी प्रबल थी उतनी राष्ट्रीयता और विद्रोह की नहीं। किंतु महात्मा गांधी के भारतीय राजनीति में प्रवेश करने के बाद राजनीतिक आंदोलन तीव्र होता गया। गांधीजी के महान् व्यक्तित्व और उच्च आदर्शों के प्रभाव से राष्ट्रीयता और मानवता के आदर्शों की लहर तीव्र गति से देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फैल गई। इसके फलस्वरूप राष्ट्रीय और सुधारवादी साहित्य की तो रचना पर्याप्त मात्रा में हुई ही, अनेक लेखकों और पत्रकारों ने इन आदर्शों को दृष्टि में रखकर आलोचनाएँ भी लिखीं। गांधीजी का साहित्यिक आदर्श रस्किन और टालस्टाय की तरह शुद्ध उपयोगितावादी था। वे ऐसे साहित्य को साहित्य ही नहीं मानते थे, जिससे समाज का कोई प्रत्यक्ष लाभ न हो। समाज का सर्वांगीण उत्थान ही उनकी दृष्टि से साहित्य के मूल्यांकन का प्रतिमान था। गांधीजी के विचारों का सीधा प्रभाव हिंदी के जिन लेखकों पर पड़ा था उनमें रचनात्मक साहित्य लिखनेवाले अधिक थे, आलोचक कम। फिर भी हिंदी में उपन्याससम्राट् प्रेमचंद और पत्रकारप्रवर बनारसीदास चतुर्वेदी ने अपने भाषणों, लेखों और संपादकीय टिप्पणियों में राष्ट्रीय भावना और समाजसुधार की दृष्टि से लिखे जानेवाले साहित्य का महत्व प्रतिपादित किया। चतुर्वेदीजी ने 'विशाल भारत' में 'कस्मै-देवाय हविषा विधेम'—साहित्य किसके लिये हो ?—का प्रश्न उठाया और यह आंदोलन प्रारंभ किया कि साहित्य समाज के लिये होना चाहिए और उसमें राजनीतिक आंदोलनों को सशक्त बनाने तथा सामाजिक क्रांति करने की शक्ति

होनी चाहिए। इस दृष्टि से जो साहित्य प्रत्यक्षतः उपयोगी नहीं है उसे उन्होंने लेखकों की 'दिमागी ऐयाशी' बताया। इसी दृष्टि से उन्होंने दिनकर की राष्ट्रीयतावादी कविताओं का जोरदार समर्थन किया और उग्र के यथार्थवादी साहित्य को 'घासलेटी साहित्य' नाम देकर उसकी भर्त्सना की। पर उनकी समस्त आलोचना 'पत्रिका आलोचना' थी, जिससे उसका सामयिक महत्व ही अधिक था; सैद्धांतिक या शास्त्रीय दृष्टि से वह अधिक महत्व नहीं रखती। शुद्ध साहित्यिक आलोचना के अन्तर्गत केवल प्रेमचंद के भाषण और निबंध आते हैं, जिन्हें उपयोगितावादी आलोचना कहा जा सकता है। हिंदी में यह आलोचनात्मक सिद्धांत अधिक प्रचलित नहीं हुआ, न उसकी कोई विशिष्ट धारा ही निर्मित हुई। बाद में १९३५ ई० के बाद प्रगतिवादी आलोचना में उसका विकसित रूप अवश्य दिखाई पड़ा, पर उसकी विवेचना आगे की जायगी।

प्रेमचंद के आलोचनात्मक सिद्धांत

प्रेमचद के साहित्य और भाषासंबंधी भाषणों और लेखों का संग्रह उनके 'कुछ विचार' नामक ग्रंथ में हुआ है जिसका प्रकाशन सन् १९३९ ई० में हुआ था। इसी में उनका वह प्रसिद्ध भाषण भी है जो प्रगतिशील लेखक संघ के लखनऊ अधिवेशन में अध्यक्ष पद से दिया गया था। इन भाषणों और लेखों में यद्यपि विश्लेषणात्मक और शास्त्रीय पद्धति नहीं अपनाई गई है फिर भी वे विचार-प्रधान हैं और उनसे लेखक की मान्यताओं पर प्रकाश पड़ता है। प्रेमचंद साहित्य को जीवन की आलोचना मानते हैं। उन्होंने साहित्य की परिभाषा यह बताई है—'मेरे विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा 'जीवन की आलोचना' है। चाहे वह निबंध के रूप में हो, चाहे कहानियों के या काव्य के, उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।'[1] प्रेमचंद का यह सिद्धात कोई नया या मौलिक सिद्धात नहीं है। उन्नीसवीं शताब्दी में मेकाले, कार्लाइल, जान स्टुअर्ट मिल और रस्किन ने साहित्य को किसी महत्तर सामाजिक या धार्मिक उद्देश्य का साधक मानकर साहित्यरचना करने का आंदोलन प्रारंभ किया था। टाल्सटाय ने भी अपने 'कला क्या है' शीर्षक ग्रंथ में साहित्य के उपयोगितावादी मूल्य पर ही सबसे अधिक जोर दिया था। प्रेमचंद पर टालस्टाय का सबसे अधिक प्रभाव था। अतः 'जीवन की आलोचना' से उनका तात्पर्य है साहित्य में यथार्थ जीवन का इस प्रकार चित्रण करना कि मानव की सत्प्रवृत्तियों के प्रति पाठकों में आस्था उत्पन्न हो। वे साहित्य को मनोरंजन या मनबहलाव की नहीं,

[1] कुछ विचार, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ६।

बल्कि समाज में स्फूर्ति और प्रेरणा प्रदान करनेवाली, उसे प्रभावित करनेवाली वस्तु मानते थे। इसी कारण वे कहते हैं—'नीति शास्त्र और साहित्य शास्त्र का लक्ष्य एक ही है—केवल उपदेश की विधि में अंतर है। नीतिशास्त्र तर्कों और उपदेशों के द्वारा बुद्धि और मन पर प्रभाव डालने का यत्न करता है, साहित्य ने अपने लिये मानसिक अवस्थाओं और भावों का क्षेत्र चुन लिया है।'[1]

इस तरह प्रेमचंद साहित्यकार और नीति उपदेशा में कोई मौलिक अंतर नहीं मानते, या केवल दोनों की अभिव्यंजना प्रणाली में अंतर मानते हैं। इस बाह्य अंतर के कारण साहित्य सुबोध, सरस और सुंदर होता है और नीति-शास्त्र शुष्क और दुरूह होता है। प्रेमचंद कहते हैं कि पुराने जमाने में मनुष्य की आध्यात्मिक और नैतिक सभ्यता का आधार धार्मिक आदेश था और मजहब भय और प्रलोभन से काम लेकर अपने आदेश समाज से मनवाता था; पर अब समाज के आध्यात्मिक और नैतिक उत्थान की जिम्मेदारी साहित्य पर आ गई है। ये ही विचार टाल्सटाय ने भी व्यक्त किए हैं। उसी की तरह प्रेमचंद भी कलात्मकता और सौंदर्य को साहित्य का साधन मात्र मानते हैं। उन्होंने अपनी मान्यता की घोषणा इन शब्दों में की है,—'मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि मैं और चीजों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तौलता हूँ। निस्संदेह कला का उद्देश्य सौंदर्य वृत्ति की पुष्टि करना है और वह हमारे आध्यात्मिक आनंद* नहीं जो अपनी उपयोगिता का पहलू न रखता हो।''' कलाकार अपनी कला से सौंदर्य की सृष्टि करके परिस्थिति को विकास के उपयोगी बनाता है।[2]

पर सौंदर्य की उनकी परिभाषा सौंदर्यवादियों की परिभाषा से भिन्न है। वे सौंदर्य को स्थूल, बाह्य, रंगों, रेखाओं और ध्वनियों का सामंजस्य मानते हैं। अतः साहित्यकला में भी प्रकृति के समान जहाँ साम्य और सामंजस्य है, वह सौंदर्य है। नैतिक आदर्श जीवन में सामंजस्य स्थापित करते हैं अतः वास्तविक सुंदरता उन्हीं में है।[3] प्रेमचंद के अनुसार सौंदर्य एक सापेक्ष्य वस्तु है। एक ही पदार्थ किसी के लिये उपयोगी होने के कारण सुंदर हो जाता है और दूसरे के लिये अनुपयोगी या हानिकर होने से असुंदर हो जाता है। अतः अतीत का समस्त शृंगारिक, मनोरंजनप्रधान या व्यक्तिवादी साहित्य पूर्ववर्ती कालों के लिये भले ही सुंदर रहा हो, आज वह असुंदर और हानिकर हो गया है। इसी लिये वे जोर देकर कहते हैं—'हमें सुंदरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक

[1] कुछ विचार, पृष्ठ ६।
[2] वही—पृष्ठ १८-१९।
[3] वही—पृष्ठ १४।

यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी।... कला नाम था और अब भी है, संकुचित रूप पूजा का, शब्दयोजना का, भाव निबंधन का'।[1] इसी दृष्टि से प्रेमचंद ने 'कला कला के लिये' के संबंध में भी विचार किया है। 'कला का लक्ष्य' कला ही है, इस कथन का वे केवल यही अर्थ लेते हैं कि कला में मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों की छटा दिखानी चाहिए तभी कला या साहित्य चिरायु हो सकता है। किन्तु वे साहित्य के चिरायु होने से अधिक आवश्यक यह समझते हैं कि वह सामयिक आवश्यकताओं की पूर्ति करे। अतः उनके अनुसार 'कला कला के लिये का समय वह होता है जब देश संपन्न और सुखी हो.'[2] इस प्रकार वे 'कला कला के लिये' के सिद्धांत को आदर्श रूप में मानते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से उसे इसलिये अस्वीकार कर देते हैं कि उससे देश के राजनीतिक और सामाजिक हित में कोई सहायता नहीं पहुँच सकती। फिर भी वे उपयोगिता का अर्थ प्रचार नहीं मानते। प्रेमचंद पर उनके आलोचकों ने यह आरोप किया था कि वे 'प्रचारक' (प्रोपोगैंडिस्ट) हैं, वे उपयोगितावादी सिद्धांतों का खुलकर प्रचार करते हैं। पर प्रेमचंद ने स्वयं साहित्य को प्रचार का माध्यम बनाने का विरोध किया है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि 'जब साहित्य की रचना किसी सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक मत के प्रचार के लिये की जाती है तो वह अपने ऊँचे पद से गिर जाता है, इसमें कोई संदेह नहीं।'[3] पर साथ ही वे यह भी कहते हैं कि साहित्य का विचारप्रधान होना अत्यंत आवश्यक है, और सभी बड़े लेखक अपने ग्रंथों में किसी न किसी मत या विचार की ही अभिव्यक्ति करते हैं। इस प्रकार प्रेमचंद विचार और सौंदर्य, नीति और कला का सामंजस्य चाहते हैं। निष्कर्ष यह कि वे न तो सौंदर्यमूलक कलावादी न नीतिवादी प्रचारक। उनकी स्थिति इन दोनों के बीच की थी अर्थात् वे उपयोगितावादी साहित्य की सच्ची साधना में विश्वास रखते थे।

इसी प्रकार आदर्शवाद और यथार्थवाद के विवाद में भी प्रेमचंद मध्यमार्ग के अनुयायी थे। वे यह मानते थे कि 'साहित्य की आत्मा आदर्श है और उसका देह यथार्थ चित्रण।'[4] उनकी दृष्टि से दोनों की अपनी अपनी उपयोगिता है, 'यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी

[1] कुछ विचार, पृष्ठ २१।
[2] वही—पृष्ठ ७९।
[3] वही—पृष्ठ ७८।
[4] वही—पृष्ठ १२८।

मनोरम स्थान में पहुँचा देता है।[१] दोनों एक दूसरे के बिना अपूर्ण और दोषपूर्ण रहते हैं। कोरा आदर्शवादी सिद्धांतो की कृत्रिम मूर्ति गढ़कर साहित्य में प्रतिष्ठित करता है और कोरा यथार्थवादी कल्पनाशून्य और स्वकालधर्मी होता है, भविष्य जीवन की कल्पना वह नहीं प्रस्तुत करता, इससे वह समाज को निराशावादी बना सकता है।[२] इस कारण प्रेमचंद आदर्शवादी और यथार्थवादी विचारधारा और रचनापद्धति के समन्वय में विश्वास करते थे। इस संबंध में उन्होंने लिखा है कि 'वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं, जहाँ आदर्श और यथार्थ का समावेश हो गया हो। उसे आप आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कह सकते हैं।'[३] इन दोनों का समन्वय तभी हो सकता है जब साहित्यकार देश की यथार्थ स्थिति से पूर्ण परिचित हो और उससे प्रभाव ग्रहण करे तथा साहित्य में देश, काल के चित्र को प्रभावपूर्ण ढंग से चित्रित करे। इस तरह प्रेमचंद साहित्य को समाज का 'दर्पण' और 'प्रतिबिंब' तो कहते ही हैं, उसे प्रकाशित करनेवाला 'दीपक' भी कहते हैं। 'दीपक' इसलिये कहते हैं कि 'साहित्य ही मनोविकारों के रहस्य खोलकर सद्वृत्तियों को जगाता है–।'[४]।

प्रेमचंद साहित्य का प्रयोजन तो उपयोगिता मानते थे पर साथ ही आनंद या 'रसात्मक आनंद को उसका अंतिम लक्ष्य स्वीकार करते थे। अतः उनके विचार शुक्लजी विचार से अधिक भिन्न नहीं हैं। शुक्लजी की भाँति वे भी जीवन को साहित्य का मूल आधार, मनोविकारों को उसका मूल उपादान और आनंद को अंतिम उद्देश्य मानते हैं। उनकी दृष्टि मानवतावादी है और टालस्टाय की तरह वे भी मानव को उसके अकृत्रिम और सहज रूप में दिव्य और सत्य-शिव-सुंदर समझते हैं। अतः वे कहते हैं—'वास्तवमें सच्चा आनद सुंदर और सत्य से मिलता है। वही आनंद उत्पन्न करना साहित्य का उद्देश्य है।'''जहाँ मनुष्य अपने मौलिक, यथार्थ, अकृत्रिम रूप में है वही आनन्द है।'[५] इस आनंद को वे शुक्लजी, गांधी और टालस्टाय की तरह लोकहितकारी आनंद के रूप में ही ग्रहण करते हैं। अतः उनके तर्क की अंतिम परिणति यही है कि वही साहित्य वास्तविक आनंद प्रदान कर सकता है जो उपयोगी भी है। ऐसा साहित्य मानवतावादी भावों और विचारों की अभिव्यक्ति अनिवार्य रूप से करता है।

[१] कुछ विचार, पृष्ठ ७६।
[२] वही—पृष्ठ ७४।
[३] वही—पृष्ठ ७६।
[४] वही—पृष्ठ १४४।
[५] वही—पृष्ठ १४०-१४१।

इस प्रकार प्रेमचंद के विचारों में भी शुक्लजी के समान ही तार्किक संगति और आद्योपांत अन्विति है यद्यपि दोनों के दृष्टिकोण और उद्देश्य में पर्याप्त अंतर है। प्रेमचंद की दृष्टि वर्तमान पर है और शुक्लजी की अतीत और वर्तमान में अनुस्यूत परंपरा पर। उपयोगिता और नैतिकता का प्रतिमान भी दोनों का भिन्न भिन्न है। प्रेमचंद के आदर्श चरित वर्तमान के महापुरुष गांधी हैं और शुक्लजी के आदर्श अतीत के मर्यादा पुरुषोत्तम राम। ये दोनों महान् चिंतक एक ही बिंदु से चलकर दो दिशाओं के पथिक बन जाते हैं।

(क) मनोविश्लेषणात्मक आलोचना

वैसे तो हिंदी में मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा का स्पष्ट रूप सन् १९४० ई० के बाद दिखाई पड़ा, पर उसका प्रारंभ नए आलोचकों के छिटफुट निबंधों में १९३० ई० के बाद ही हो गया था। डा० नगेंद्र की आलोचना की मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्तियों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। डा० नगेंद्र ने इस समीक्षासिद्धांत को बाद में छोड़ दिया और भारतीय रससिद्धांत के अनुयायी हो गए, इसलिये इस समीक्षाधारा के विकास में उनका योग महत्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी उसी समय अपने 'रसात्मक बोध के विविध रूप' शीर्षक निबंध[१] में कल्पना के संबंध में विचार करते हुए फ्रायड के स्वप्नसिद्धांत और दमित काम की कला द्वारा तृप्ति के सिद्धांत का उल्लेख केवल उनका खंडन करने के लिये किया है। शुक्लजी बहुत ही जागरूक तथा ज्ञान विज्ञान के नवीनतम विचारों और उपलब्धियों से परिचय रखनेवाले आलोचक थे। इसी कारण आलोचना पर मनोविश्लेषणशास्त्रीय सिद्धांतों के प्रभाव की कल्पना कर उन्होंने पहले ही उसका खंडन कर दिया। पर युग किसी आलोचक या विचारक के—चाहे वह कितना ही महान् क्यों न हो—विचारों का नियंत्रण स्वीकार करके आगे नहीं बढ़ता। शुक्लजी के समय में ही इलाचंद्र जोशी और सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' ने मनोविश्लेषणशास्त्र से प्रभावित होकर आलोचना लिखना प्रारंभ कर दिया था। १९४० ई० तक इन दोनों आलोचकों ने कुछ ही निबंध ऐसे लिखे थे जिनमें उपर्युक्त सिद्धांतों की व्याख्या की गयी है। यहाँ उन्हीं के संबंध में विचार किया जायगा।

(१) इलाचंद्र जोशी

सन् १९४० ई० के पहले इलाचंद्र जोशी का केवल एक निबंध संग्रह 'साहित्य सर्जना' (सन् १९४०) प्रकाशित हुआ था, जिसमें उनके सन् १९२७

[१] चिंतामणि—पहला भाग, पृष्ठ २४१ से २७१।

से सन् १९४० के बीच लिखे गए निबंध संकलित हैं। जोशी स्वयं एक छायावादी कवि रहे हैं, अतः उनके प्रारंभिक निबंधों में सौंदर्यवादी और स्वच्छंदतावादी विचारों की अभिव्यक्ति हुई है। यह अवश्य है कि प्रारंभ में उन्होंने अन्य स्वच्छंदतावादी आलोचकों से कुछ हटकर तथा पाश्चात्य कलावाद और दुःखवाद से प्रभावित होकर आलोचनाएँ लिखी थीं। उदाहरण के लिये 'कला और नीति' शीर्षक निबंध (सन् १९२७) में उन्होंने पाश्चात्य कलावादियों के इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया है कि कला का मूल उत्स आनंद है और आनंद प्रयोजनातीत होता है, कला का नीति या कला से बाह्य किसी अन्य उद्देश्य से कोई संबंध नहीं होता। यदि साहित्य में सत्य सौंदर्य और मंगल से पूर्ण स्वाभाविक छवियाँ विचित्र की जायँ तो वह पाठकों के हृदय को उन्नत बनाने में स्वतः सक्षम होता है। नीति की प्रतिष्ठा मूल उद्देश्य होने पर साहित्य संकीर्ण हो जाता है।

इस कलावादी विचारधारा के साथ उन्होंने अपने प्रारंभिक निबंधों में नीत्शे के दुःखवाद से भी पर्याप्त प्रभाव ग्रहण किया है। 'साहित्य कला और विरह' (सन् १९२७) और 'साहित्य में दुःखवाद' (सन् १९२८) में उन्होंने अपने दुःखवादी सिद्धांत की व्याख्या की है। साहित्य में व्यक्त दुःख की भावना को उन्होंने विषाद रस कहा है और उसे 'अनिर्वचनीय, अद्वितीय तथा अनोखा' माना है। इस दुःखवाद को उन्होंने भारतीय दर्शनों के दुःखवाद और 'आत्मा परमात्मा' के विरहसंबंधी सूफी सिद्धांत से समन्वित करने का प्रयत्न किया है। बृहदारण्यक उपनिषद् का हवाला देकर उन्होंने परमात्मा को पुरुष और समस्त प्रकृति को स्त्री माना है और प्रकृति को पुरुष के विरह में चिर व्याकुल सिद्ध किया है। अंत में उन्होंने यह मत प्रतिपादित किया है कि "सनातन नारीत्व के इस भाव के कारण ही सृष्टिजन्य विरह के भाव द्वारा हम आनंद का अनुभव करते हैं।' कला के भीतर नाना रूपों में मनुष्य इसी विरह का रोना रोने की चेष्टा करता है। इस चेष्टा में वह अपूर्व आनंद पाता है। साहित्य कला की अभिव्यक्ति इसी मूल भाव में हुई है।"[1] इस तरह उन्होंने साहित्य में वेदना-मूलक रहस्यवाद का प्रतिपादन किया है जो प्रसाद के आनंदमूलक रहस्यवाद का विरोधी प्रतीत होते हुए भी वस्तुतः उसी का सगोत्रीय है। जर्मन दार्शनिक नीत्शे से प्रभावित होकर जोशी ने 'हमारे राष्ट्र का भावी साहित्य और संस्कृति' शीर्षक निबंध (सन् १९३१) में यह प्रतिपादित किया है कि पाप, अत्याचार, घृणा आदि से मन में जो पीड़ा की गहरी अनुभूति होती है वही मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ अनुभूति है क्योंकि उसी के कारण हम उच्च आदर्शों को

[1] साहित्य-सर्जना (साहित्य कला और विरह)—चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ९।

प्राप्त कर सकते हैं। नीत्शे का यह कथन उद्धृतकर उन्होंने अपने मत की पुष्टि की है –'पाप मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ शक्ति है।'''श्रेष्ठ पाप ही मेरा परितोष है।'''मनुष्य अधिकतर उन्नत और विकटतर पापी बने, मैं यही शिक्षा देता हूँ।' किंतु जोशी नीत्शे की पापभावना से उद्भूत निराशावाद और अपने विरहजन्य दुःखवाद का संबंध जोड़ने में सफल नहीं हो सके हैं।

इलाचंद्र जोशी के विचारों में युगानुरूप और कभी कभी वर्षानुरूप परिवर्तन होता रहा है। अतः १६३१ ई० तक दुःखवाद के व्याख्याता जोशी १६३६ ई० में मनोविश्लेषणशास्त्र के अनुयायी बन गए। 'साहित्य सर्जना' का 'काव्य में अस्पष्टता तथा रूपक—रस' नामक निबंध (सन् १६३६) उनके मनोविश्लेषण सिद्धांत के सद्यः परिचय का परिणाम प्रतीत होता है क्योंकि उसमें उन्होंने फ्रायड के सभी सिद्धांतों की व्याख्या न कर केवल स्वप्नसिद्धांत को ग्रहण कर लिया है। इस निबंध में लेखक ने यह स्थापना की है कि प्रत्येक श्रेष्ठ कविता अस्पष्ट होती है। जो कविताएँ स्पष्ट और सीधे भावोद्रेक करनेवाली होती हैं उन्हें बहुत श्रेष्ठ काव्य नहीं माना जा सकता। अस्पष्टता का मुख्य कारण श्रेष्ठ कवि की काव्यसृजन की प्रक्रिया है। काव्य भी एक प्रकार का स्वप्नव्यापार ही है। और इसी कारण श्रेष्ठ काव्य स्वप्नवत् अस्पष्ट होता है। फ्रायड ने लिखा है कि व्यक्ति की दमित कामइच्छाएँ उसके उपचेतन मन में संचित होकर अज्ञात रूप में पड़ी रहती हैं, चेतन मन का अहम् उन्हें व्यक्त नहीं होने देता, अतः वे रूप बदलकर प्रतीकवत् स्वप्नों के रूप में व्यक्त होती हैं जिससे व्यक्ति का स्नायविक तनाव दूर होता है। उसने यह भी लिखा है कि ठीक इसी तरह काव्य में कवि के उपचेतन मन की दमित कामवृत्तियाँ प्रतीकों और अप्रस्तुतों के रूप में व्यक्त होती हैं; इससे कवि को मनस्तृप्ति होती है, और कामवृत्ति का उदात्तीकरण भी होता है जिसके फलस्वरूप उसको यश, धन, मान, स्त्री-सुख सभी सुलभ हो जाते हैं। जोशी ने इन सभी बातों की व्याख्या न करके केवल इतना ही बताया है कि 'एक विशेष श्रेणी की कविताएँ ऐसी होती हैं जो कवियों की अन्तश्चेतना में जागरित होनेवाली अज्ञात आकांक्षाओं को स्वप्नों के आकार में वेष बदलकर सांकेतिक रूप में अपने को व्यक्त करती हैं।' इस कथन में कुछ ऐसी बात हैं जो यह स्पष्ट कर देती हैं कि फ्रायड के सिद्धांतों को लेखक ने अभी अच्छी तरह पचाया नहीं है। फ्रायड का सिद्धांत सभी प्रकार की कविताओं के लिये है किसी एक प्रकार की कविता के लिये ही नहीं। दमित वासना (अज्ञात आकांक्षा नहीं) अंतश्चेतना (उपचेतन) में नहीं जाग्रत होती, चेतन मन में वेश बदलकर प्रकट या जाग्रत् होती है, उपचेतन में तो वह प्रसुप्त रूप में अज्ञात पड़ी रहती है। उक्त कथन से मालूम होता है कि कविता ही आकांक्षाओं का रूप बदलकर अपने को व्यक्त करती है पर वस्तुतः दमित काम आकांक्षाएँ

ही वेश बदलकर अपने को कविता में व्यक्त करती है और यह कवि की जानकारी में नहीं होता, अपने आप सहज रूप में (आटोमेटिकली) हो जाता है।

इसी प्रसंग में आगे जोशी ने लिखा है—'फ्रायड ने कवियों की इस स्वप्नाभिव्यक्ति को उनकी अवचेतना में संचित विकारों का उन्नत रूपांतर माना है पर उसी के विरादर युंग ने उसे अनंत काल से मानव अंतराल में संचित अपूर्व रहस्यों का विस्फोट बताया है।' जोशी ने युंग के सिद्धांत के आधार पर साहित्य संबंधी कोई मान्यता नहीं स्थिर की है पर इससे यह तो पता चलता ही है कि फ्रायड के अतिरिक्त एडलर और युंग के मतों से वे परिचित थे। पर युंग के सिद्धांत को उन्होंने गलत रूप में उपस्थित किया है। युंग दो प्रकार के अवचेतन की कल्पना करता है, व्यक्तिगत अवचेतन और समष्टिगत अवचेतन। व्यक्तिगत अवचेतन तो उसका भी फ्रायड जैसा ही है पर समष्टिगत अवचेतन उसके अनुसार मनुष्य की वह कालहीन अज्ञात चेतना है, जिसमें आदिम समाज से अबतक के सभी मानवीय गुण और दोष वासनारूप में संचित रहते हैं, जो आदिम बिंबों (आर्कीटाइपल इमेजेज) के रूप में साहित्य में अभिव्यक्त होते हैं। संभवतः समष्टिगत अवचेतन से निःसृत उन्हीं आदिम बिंबों को जोशी ने 'मानव अंतराल में संचित अपूर्व रहस्यों का विस्फोट' कहा है। मनोविश्लेषणशास्त्र पर आधारित उनके विचार साहित्य सर्जना के केवल एक निबंध में व्यक्त हुए हैं और वे भी प्रामाणिक रूप में उपस्थित नहीं किए गए हैं। अन्य निबंधों में वे मुख्यतः दुःखवाद या विषाद रस और रसात्मक आनंद का सिद्धांत अपनाकर चले हैं तथा रहस्यवादी विचारों की अभिव्यक्ति की है। इसलिये केवल इसी ग्रंथ के आधार पर उन्हें मनोविश्लेषणवादी आलोचक नहीं कहा जा सकता। पर सन् १६४० के बाद अपने ग्रंथों – 'विवेचन' और 'विश्लेषण' में उन्होंने मनोविश्लेषणात्मक आलोचना पद्धति को इतना अधिक अपनाया है कि उन्हें उस पद्धति का प्रमुख आलोचक मान लिया गया है।

(२) सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'

अज्ञेय हिंदी के एकमात्र साहित्यकार हैं जिन्होंने मनोविश्लेषण शास्त्र का न केवल गहरा अध्ययन किया है, बल्कि उसे आत्मसात् करके उसकी उपलब्धियों को अपने रचनात्मक और आलोचनात्मक प्रयासों द्वारा मौलिक ढंग से समर्थन और स्वीकृति दी है। उनकी आलोचना पुस्तक 'त्रिशंकु' में संगृहीत उनके सैद्धांतिक निबंध मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि से साहित्यकला संबंधी उनके अध्ययन और चिंतनपूर्ण विचारों के परिणाम हैं। यद्यपि त्रिशंकु

का प्रकाशन १९४५ ई० में हुआ किंतु इनमें संगृहीत अधिकांश निबंध १९४० ई० के पूर्व लिखे गए थे और विभिन्न पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके थे। इन निबंधों में काव्यकला के सैद्धांतिक पक्ष पर विशेष रूप से विचार किया गया है। अतः उनकी सैद्धांतिक स्थापनाओं से साहित्यकला के संबंध में उनकी मान्यताओं का पता चलता है, साथ ही उनके रचनाकार के प्रेरणा स्रोतों और साहित्यिक प्रवृत्तियों को समझने में भी सहायता मिलती है। सिद्धांत प्रतिपादन की दृष्टि से इस संग्रह के तीन निबंध—'कला का स्वभाव और उद्देश्य'; 'रूढ़ि और मौलिकता' तथा 'परिस्थिति और साहित्यकार' विशेष महत्वपूर्ण हैं। इनमें भी 'रूढ़ि और मौलिकता' तो टी. एस इलियट के ट्रैडिशन एंड इंडिविजुल टैलेंट' का लगभग भावानुवाद है। 'कला का स्वभाव और उद्देश्य' स्पष्ट रूप से प्रसिद्ध मनोविश्लेषण शास्त्री एडलर के क्षतिपूर्ति के सिद्धांत की कलापक्ष में मौलिक ढंग से विश्लेषण और व्याख्या है। 'परिस्थिति और साहित्यकार' में कला विषयक अपनी स्थापनाओं के आधार पर सामाजिक परिवृत्ति और साहित्यकार के परस्पर संबंध, साहित्यकार की मनःस्थिति और प्रतिक्रिया के विषय में महत्वपूर्ण विचार-सूत्र देने के बाद आधुनिक हिंदी कवियों की कविताओं का उदाहरण प्रस्तुत करके अपने निष्कर्ष की पुष्टि की गई है। इसमें संदेह नहीं कि काव्यकला संबंधी ये सिद्धांत और विचार हिंदी समीक्षा के लिये बिलकुल नए और कुछ हद तक चौकानेवाले थे। अतः हिंदी समीक्षा के संदर्भ में इन निबंधों के मौलिक होने के संबंध में लेखक का यह कथन कि 'इसमें प्रस्तुत किए गए सिद्धांतों का प्रतिपादन हिंदी में प्रायः नहीं किया गया है और न उनके सहारे आधुनिक हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियों का मूल्यांकन करने का कोई प्रयत्न हुआ है' बिलकुल सही है। लेकिन दूसरे संदर्भ में—एडलर के मनोविश्लेषण संबंधी सिद्धांतों के संदर्भ में—रखकर देखने पर लेखक का यह कथन भी उतना ही सही है कि 'आलोचना में नया' कम होता है'। अर्थात् आलोचक सर्वांशतः मौलिक होने का दावा नहीं कर सकता। अतः लेखक ने प्रारंभ में ही स्वीकार कर लिया है कि उसने ऐसे विचार नहीं दिए हैं जो बिलकुल उसके निजी हों। किंतु मौलिकता या नवीनता का यह अर्थ नहीं कि ज्ञान विज्ञान के विविध क्षेत्रों में तबतक जो उपलब्धियाँ हुई हों, उनकी उपेक्षा करके या उन्हें अनावश्यक मानकर बिलकुल नए सिरे से नई स्थापना की जाय। अगर कोई चाहे भी तो यह संभव नहीं और यदि कोई इस रूप में मौलिक होने का दावा करता है तो यह उसकी भ्रांति और दंभ ही माना जायगा। मौलिकता नई स्थापना में ही नहीं, किसी सिद्धांत या विचार की नई व्याख्या और नए संदर्भों में उसके आधार पर उसके अंगरूप नवीन विचार-सूत्रों की स्थापना में भी होती है। इस दूसरी दृष्टि से देखने पर अज्ञेय के समीक्षात्मक विचार साहित्यसमीक्षा को उनकी नई देन माने जायँगे।

'कला का स्वरूप और उद्देश्य' शीर्षक निबंध में अज्ञेय ने पहले काव्य कला संबंधी अपनी सैद्धांतिक मान्यताओं और तद्विषयक अपना दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया है। 'कला क्या है'? इस प्रश्न के उत्तर में जो सूत्र उन्होंने दिया है, उससे ही उनकी मान्यता और उसके मूल स्रोत का पता चल जाता है। उनके अनुसार 'कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह है। इस सिद्धात के अनुसार आदिम मानव ने अपनी किसी सामाजिक या भौतिक अनुपयोगिता की क्षतिपूर्ति के लिये अचेतन रूप से कलात्मक चेष्टाओं के द्वारा कला को जन्म दिया होगा, सौंदर्यबोध की उपयोगिता की सिद्धि द्वारा अपनी उपयोगिता प्रमाणित की होगी। अतः कला मानव के अहम् या आत्मस्थापन (सेल्फ एसर्शन) की प्रवृत्ति का परिणाम है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कलात्मक चेष्टाओं के संबंध में अज्ञेय की यह मान्यता एडलर के क्षतिपूर्ति और आत्मस्थापन के सिद्धांत पर आधारित है। एडलर ने फ्रायड के सिद्धांत से असहमति प्रकट करते हुए कहा कि कामवृत्ति का मानव के जीवन में उतना महत्व नहीं है जितना अहम् का। एडलर के अनुसार मानव की मूल वृत्ति काम (सेक्स) की नहीं है। उसके अनुसार मानव की संपूर्ण क्रियाओं और चेष्टाओं के मूल में आत्मस्थापन की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। आत्मस्थापन की प्रवृत्ति के मूल में व्यक्ति के अहम् की माँग होती है। एडलर के अनुसार किसी अपूर्णता या किसी प्रकार की अपनी असमर्थता या हीनता के वास्तविक अथवा कल्पित कारण से व्यक्ति आत्महीनता का अनुभव करता है। और यह हीनता की मनोग्रंथि उसे अपने अहम् या आत्म को परितुष्ट करने के लिये प्रेरित करती है और वह किसी क्षेत्र में विशेष सफलता प्राप्त करके, अपनी उपयोगिता और महत्व प्रमाणित करके अपने आपको स्थापित करने तथा अपनी उपयोगिता की सामाजिक स्वीकृति प्राप्त करने का प्रयास करता है।

किंतु अज्ञेय ने अपने कला सिद्धात के विवेचन में एडलर के सिद्धांतों को आधार बनाते हुए साहित्य पक्ष में उसकी व्याख्या में 'आत्मस्थापन' के लिये कुछ अपनी ओर से भी जोड़ा है। अज्ञेय की मौलिकता या नवीनता एडलर के सिद्धांत की उनकी अपनी व्याख्या में है। अपूर्णता या असमर्थता की उनकी व्याख्या यह है कि 'यह वास्तविक अपूर्णता नहीं, यह एक विशेष दिशा में असमर्थता है'। उनके अनुसार सामाजिक धर्मों, मान्य रीतियों और मार्गों की दृष्टि से ही इसे असमर्थता, अनुपयोगिता या अपूर्णता कहा जा सकता है, अतः यह वास्तव में अपूर्णता या हीनता नहीं है। उनका स्पष्ट मत है कि 'समाज का साधारण जीवन जिस दिशा में चलता है उन दिशाओं और उन लीकों में चलने की असमर्थता तो इससे ध्वनित होती है, लेकिन क्या यही वास्तव में अपूर्णता या हीनता (इनफीरियारिटी) है? पर नहीं। समाज के साधारण जीवन में

अपना स्थान न पाकर तो वह प्रेरित होता है कि वह स्थान बनाए, अतएव पुरानी लीकों पर चलने का असामर्थ्य ही नई लीकें बनाने के सामर्थ्य को प्रोत्साहन देती है।'[1] इस प्रकार अज्ञेय यह सिद्ध करना चाहते हैं कि अपूर्णता को सापेक्ष दृष्टि से तत्कालीन सामाजिक मान्यताओं और समाजविहित मार्गों के संदर्भ में देखना चाहिए, अपूर्णता ही नवीन मार्गों के निर्माण की मूल शक्ति होती है और जीवन के विविध क्षेत्रों में नए प्रयोगों, नवीन मूल्यों की खोज के लिये प्रोत्साहित करती है। इससे अन्य प्रतिक्रियाएँ भी हो सकती हैं किंतु जिसमें आत्मबल है, रचनात्मक प्रतिभा है, जो जीनियस है 'ऐसे व्यक्ति के अहम् का विद्रोह अनिवार्य-रूप से सिद्धि की सार्थकता के (जस्टीफीकेशन) की खोज करेगा। वह चाहेगा कि वह समाज का साधारण धर्म निबाहने में असमर्थ है, तो वह विशेष धर्म की सृष्टि करे, यदि समाज के रूढ़िगत जीवन के अनुरूप नहीं चल सकता है तो उस जीवन को ही एक नया अवयव दे जिसके ताल पर वह चले[2]।'

इस प्रकार क्षतिपूर्ति के सिद्धांत के आधार पर अज्ञेय की स्थापना यह है कि प्रतिभाशाली व्यक्ति अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह करता है। अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह को समझने में कठिनाई हो सकती है। वस्तुतः किसी प्रकार की अपूर्णता या हीनता के लिये 'अपर्याप्तता' और प्रतिक्रिया के लिये 'विद्रोह' शब्द का प्रयोग अज्ञेय ने समझ बूझकर किया है। अपर्याप्तता के द्वारा वे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि सही अर्थ में कमी प्रतिभाशाली व्यक्ति में नहीं, बल्कि उसकी सामाजिक परिवृति में होती है और इसी लिये उस समाज के मान्य मार्गों पर चलने में वह असमर्थ होता है और स्वयं को उसके अनुरूप, उसकी मान्यता के अनुसार उसके उपयोग का न बना सकने के कारण वह विद्रोह करता है और नया मार्ग बनाने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार वह उस परिवृति को अपने अनुरूप बनाकर आत्मस्थापन करता है। अज्ञेय का साहित्यिक व्यक्तित्व मूलतः अहम् के विद्रोह और नवीन प्रयोगों की माँग को लेकर निर्मित हुआ है, अतः वे अनुप-योगिता या हीनता के सिद्धांत की ऐसी व्याख्या को स्वीकार नहीं करना चाहते, जिसमें अकारण अहम् की बार बार स्थापना या विद्रोह के लिये विद्रोह और शिल्प संबंधी नए प्रयोग आत्महीनता की मनोग्रंथि के परिणाम सिद्ध हों। वैसे 'अपर्याप्तता की भावना के प्रति विद्रोह' की बात समझ में नहीं आती। अपने भीतर अपर्याप्तता का अनुभव करनेवाला व्यक्ति दूसरी तरह से उसकी पूर्ति का प्रयत्न करेगा, उस कमी की भावना के प्रति विद्रोह क्या करेगा? अगर विद्रोह

[1] त्रिशंकु, पृ० २७।
[2] वही, पृ० २५।

करेगा भी तो अपर्याप्तता के कारणों, सामाजिक मान्यताओं या धर्मों के प्रति करेगा, अपनी भावना के प्रति नहीं। अपनी किसी अपूर्णता की भावना यदि सचमुच है तो उसके प्रति विद्रोह से कुंठा के अतिरिक्त और कुछ नहीं प्राप्त होगा और वह कुंठा मिथ्या विद्रोह का भाव तो उत्पन्न कर सकती है किंतु किसी ऐसे विद्रोह की भावना उत्पन्न नहीं कर सकती जो कुछ नया निर्माण कर सके, जो रचनात्मक हो।

'परिस्थिति और साहित्यकार' शीर्षक निबंध में अज्ञेय का उपर्युक्त मत और अधिक स्पष्ट हो गया है। यहाँ 'अपर्याप्तता' के बोध की प्रतिक्रिया का 'प्रतिभा' के आधार पर परीक्षण किया गया है। प्रतिभाशाली तो विद्रोह करता है क्योंकि जो व्यक्ति औसत से बहुत ऊँचा है, प्रतिभाशाली है, 'जीनियस' है, वह परिस्थिति से नहीं बँधता और कैसी भी शृंखला को तोड़कर अनाहत निकल सकता है। समाज के रूढ़िग्रस्त और ह्रासोन्मुख होने के कारण यदि किसी व्यक्ति की रुचियाँ, उसके विचार और दृष्टिकोण और भावनाएँ सामाजिक स्वीकृति नहीं पाती हैं और उसके अहम् की माँग पूरी नहीं होती है तो प्रतिभा की कोटि के अनुसार मुख्यतः दो प्रकार की प्रतिक्रियाएँ होंगी। अज्ञेय के अनुसार 'जो प्रतिभावान है, जीनियस है, वह इस परिस्थिति में पड़कर एक हड़कंप पैदा कर देगा और निर्भय होकर अपना मार्ग निकालेगा लेकिन जो जीनियस से कुछ भी कम है, उसके लिये ऐसी परिस्थिति का परिणाम केवल इतना ही होगा कि समाज द्वारा स्वीकृति पाने की जो मौलिक आवश्यकता है, व्यक्ति की व्यक्तिता की जो पहली माँग है, वह छिप जायगी, कुंठित हो जायगी। इससे एक असंतोष उत्पन्न होगा, जो रचनाशील नहीं, जो केवल एक अतृप्ति, एक भूख, एक अस्पष्ट अशक्त कामना भर होगी— एक दोहद मात्र जो ठीक 'घर की याद के' दोहद जैसा होगा। इस सिद्धांत के प्रकाश में इस काल के साहित्य का मूल्यांकन करने पर अज्ञेय भी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि 'आज का साहित्य अधिकांश में अतृप्ति का, या कह लीजिए लालसा का, इच्छित विश्वास (विशफुल थिंकिंग) का साहित्य है। लेखक के अनुसार जो साहित्यकार रूढ़ियों के आगे नतमस्तक हो जाता है, वह अपने युग से स्वीकृति पाने की क्षमता न रखने के कारण अपने पूर्ववर्ती युगों से स्वीकृति लेकर अपने अहम् की माँग की तुष्टि करता, अपनी अतृप्ति की पूर्ति करता है। अज्ञेय का निष्कर्ष यह है कि 'अतृप्ति का अनुभव' आधुनिक लेखक में होना चाहिए, किंतु उसकी रचना का महत्व अतृप्ति की अनुभूति नहीं, बल्कि उस अनुभूति के प्रति उसके दृष्टिकोण, उसकी प्रतिक्रिया पर निर्भर करता है। 'यदि अपनी अनुभूति के प्रति उसकी आलोचक बुद्धि जाग्रत है, यदि उसने धैर्यपूर्वक अपनी आंतरिक माँग का सामना किया, यदि उसके उद्वेग ने उसमें प्रतिरोध और युयुत्सा की भावनाएँ जगाई हैं, उसे वातावरण या सामाजिक गति को तोड़कर नया वातावरण

और नया सामाजिक संगठन लाने की प्रेरणा दी है, तभी उसकी रचनाएँ महान् साहित्य कहलाएँगी···यदि उसके उद्वेग ने केवल अनिश्चय, घबराहट और पलायन की भावनाएँ जगाई हैं, तब उसकी रचनाएँ मधुर होकर भी घटिया रहेंगी। लेखक के अनुसार प्रसाद, महादेवी, बच्चन आदि की कविताओं में दूसरे प्रकार की भावना दिखलाई दी है और यद्यपि शिष्टाचारवश लेखक ने स्वयं नहीं कहा है, उसकी रचनाओं में प्रथम प्रकार की प्रतिक्रिया या विद्रोह का स्वर व्यक्त हुआ है। इस सैद्धांतिक विश्लेषण विवेचन से अज्ञेय ने मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों के आधार का नया मानदंड स्थिर किया है और उनके अनुसार जो आलोचना रचना के गुण-दोष-विवेचन से आगे बढ़कर, उसको लाँघकर 'रचयिता के मन को नहीं परखती वह आलोचना निस्सार है, वंध्या है। स्पष्ट है कि मनोवैज्ञानिक समीक्षापद्धति— बल्कि एडलर के आत्मस्थापन के सिद्धांत के आधार पर अज्ञेय द्वारा निश्चित की गई समीक्षापद्धति ही सही समीक्षापद्धति है और इसी पद्धति से श्रेष्ठ और अश्रेष्ठ रचनाओं की सही परख हो सकती है।

(च) समाजशास्त्रीय आलोचना

समाजशास्त्रीय आलोचना में साहित्य के तत्वों और विशेषताओं की ही नहीं, उसके मूल स्रोतों, पारिपार्श्विक प्रभावों और उसकी सामाजिक उपयोगिता की भी विवेचना की जाती है। समाजशास्त्रीय आलोचक की दृष्टि में किसी युग का साहित्य या साहित्यकार शून्य में नहीं उत्पन्न होता, उसकी कोई पूर्वपरंपरा होती है, जिसमें से वह उपयुक्त तत्वों का संग्रह और अनुपयुक्त तत्वों का त्याग करता है, उसका समसामयिक राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश होता है, जो उसे अनेक रूपों में प्रभावित करता या उससे प्रभावित होता है और उसकी समकालीन समाज के लिये अथवा आगामी युगों लिये कोई उपयोगिता भी होती है। इस तरह समाजशास्त्रीय आलोचक साहित्य को सापेक्ष्य वस्तु मानता है। उनके अनुसार साहित्य को इतिहास, सांस्कृतिक परंपरा, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थिति तथा भविष्य की परिकल्पना के संदर्भ में रखकर देखने से ही उसका वास्तविक मूल्यांकन हो सकता है। पूर्ववर्ती आलोचना साहित्य को निरपेक्ष्य और अपने आप में पूर्ण वस्तु मानकर उसका मूल्यांकन करती थी और आज भी कुछ लोग इसी को शुद्ध साहित्यिक आलोचना मानते हैं। उनके अनुसार साहित्य के मूल स्रोतों, उसपर पड़े प्रभावों और साहित्यकार के व्यक्तित्वनिर्माण के कारणों की विवेचना करना साहित्यालोचन के लिये अप्रासंगिक और अनावश्यक है। किंतु प्रसिद्ध समाजशास्त्रीय आलोचक क्रिस्टाफर काडवेल का कहना है कि साहित्य क्या, किसी भी वस्तु को देखने की

दृष्टि निरपेक्ष्य नहीं हो सकती।[१] यूरोप में अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के कुछ दार्शनिकों और विचारकों—विकोकी, हर्डर, हीगेल, मार्क्स एंजिल्स स्पैंग्लर, टेन आदि ने युग की पृष्ठभूमि और इतिहास के आलोक में रखकर साहित्य को निरखने परखने की पद्धति प्रारंभ की थी। हीगेल के अनुसार कला और काव्य अपने युग की आत्मा की अभिव्यक्ति करता तथा उसी से अनुशासित होता है, अतः साहित्य युगानुसार परिवर्तित होता रहता है। मार्क्स ने साहित्य, कला तथा संस्कृति को ऊपरी संस्थान और समाज के आर्थिक संघटन को उसका मूलाधार माना है। उसके अनुसार आर्थिक संघटन के अनुरूप समाज वर्गों में विभक्त होता है और उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण करनेवाला वर्ग ही साहित्य और संस्कृति को भी नियंत्रित करता है अर्थात् साहित्य शासक वर्ग का हितसाधक अस्त्र होता है। अंग्रेजी साहित्य के इतिहासकार टेन तथा सेण्ट बोव और रेनान आदि यूरोपीय आलोचकों ने भी साहित्य और कला को जातीय और सांस्कृतिक परंपरा तथा युगीन समाज की परिस्थितियों के संमिश्रित प्रभाव का परिणाम माना है।

बीसवीं शताब्दी में अँगरेजी साहित्य के प्रायः सभी इतिहासलेखकों ने टेन के अनुसार ही ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में रखकर साहित्य को देखा है। इसका प्रभाव हिंदी साहित्य पर भी पड़ा और रामचंद्र शुक्ल ने अपने हिंदी साहित्य के इतिहास में युगीन प्रवृत्तियों का विवेचन और विश्लेषण उन्हें उनकी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में प्रतिष्ठित करके ही किया। उन्होंने साहित्यिक प्रवृत्तियों के मूल स्रोतों की खोज युग की सामाजिक राजनीतिक परिस्थितियों, पूर्ववर्ती साहित्यिक, धार्मिक और सांस्कृतिक परंपराओं तथा विभिन्न संस्कृतियों और जातियों के संघर्ष और संपर्क में की है और तदनुरूप उनकी उपयोगिता, अनुपयोगिता अथवा श्रेष्ठता, अश्रेष्ठता का निर्णय किया है। किंतु इतने से ही शुक्लजी को समाजशास्त्रीय आलोचक नहीं माना जा सकता क्योंकि इन्होंने समाजशास्त्रीय दृष्टि को साहित्य के मूल्यांकन में सहायक भर माना है, उनकी आलोचना के वास्तविक प्रतिमान तो रससिद्धांत और नैतिकतामूलक आदर्शवाद हैं जो शाश्वत हैं। हिंदी में

१ 'इट इज ए कामन प्रजम्पशन आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म दैट दी सोर्सेज आफ लिटरेचर आर इर्'रेलिवेन्ट आर अनइंम्पार्टेंट ऐण्ड दैट लिटरेचर कैन बी कम्पलीट्ली क्रिटिसाइज्ड इन टर्म्स आफ लिटरेचर। देअर वाज फार सम टाइम ए सिमिलर फिलासफी आव एबाउट दी स्टडी आफ नेचर......इट वाज सपोज्ड दैट मैटर कुड बी कम्प्लीट्ली डिस्क्राइब्ड इन टर्म्स आफ इटसेल्फ......नथिंग इज सेफर आब्सोल्यूट वाई माडर्न फिजिक्स बट इक्वेशन्स ऐंड दीज आर थाट्स।'—क्रिस्टोफर काडवेल—इल्यूजन ऐंड रियेलिटी—इंट्रोडक्शन पेज १।

पी-एच० डी०, डी० लिट आदि उपाधियों के लिये लिखे गए तत्कालीन शोधग्रंथों में साहित्य के मूल स्रोतों और परंपराओं की जो विवेचना की गई है उसे भी शुक्ल जी की समीक्षापद्धति के ही अंतर्गत मानना चाहिए। डा० बडथ्वाल, परशुराम चतुर्वेदी, रामकुमार वर्मा आदि ने अपने शोधग्रंथों में धार्मिक और सांस्कृतिक परंपराओं से आलोच्य साहित्य का जो संबंध जोड़ा है उसे भी समाजशास्त्रीय समीक्षा-पद्धति नहीं कहा जा सकता क्योंकि उन्होंने युग न परिस्थितियों के प्रभाव और आलोच्य कृतियों और प्रवृत्तियों को महत्वपूर्ण बनाने में परंपरा और युगीन प्रभाव के योगदान का विवेचन नहीं किया है। इस दिशा में पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने अपने 'विश्व साहित्य' और 'हिंदी साहित्य विमर्श' नामक ग्रंथों में प्रारंभिक कार्य किया था। उन्होंने ही सबसे पहले साहित्य का देश और काल के साथ अविच्छिन्न संबंध माना और सांस्कृतिक अंतरावलंबन से साहित्य की गति में परिवर्तन का सिद्धांत प्रतिपादित किया। साथ ही उन्होंने मानवतावादी दृष्टि से साहित्य के परीक्षण की विधि निकाली। बख्शीजी मानवतावादी समाजशास्त्रीय समीक्षा का प्रारंभिक रूप ही निर्मित कर सके थे। उनकी पद्धति का विकास हजारीप्रसाद द्विवेदी ने क्षितिमोहन सेन तथा अन्य बंगाली विद्वानों का अनुगमन करते हुए किया।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

सन् १९४० ई० के पूर्व हजारीप्रसाद द्विवेदी ने तीन ग्रंथ सूरसाहित्य (सन् १९३६), हिंदी साहित्य की भूमिका (सन् १९४०) और कबीर (प्रकाशन सन् १९४१) लिखे थे। वस्तुतः ये तीनों ही समीक्षात्मक नहीं, शोधात्मक ग्रंथ हैं। इनमें द्विवेदीजी ने आलोच्य कवियों और काव्य प्रवृत्तियों की साहित्यिक समीक्षा नहीं की है, बल्कि उनकी समीक्षा के लिये प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत की है। इन ग्रंथों में उन्होंने अपने आलोचनात्मक प्रतिमानों या सिद्धांतों का भी कहीं उल्लेख नहीं किया है। इनमें प्रस्तुत प्रायः समस्त शोध हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियों और दार्शनिक साधनात्मक सिद्धांतों के मूल स्रोतों के संबंध में पूर्ववर्ती आलोचकों और शोधकर्ताओं की भ्रांत धारणाओं के खंडन के लिये हैं। अतः व्यावहारिक आलोचना की सामग्री के लिये उनका निःसंदेह बहुत अधिक महत्व है। पर स्वयं द्विवेदीजी ने अपनी शोध संबंधी उपलब्धियों और स्थापनाओं का उपयोग करके इन ग्रंथों में सैद्धांतिक या व्यावहारिक आलोचना नहीं लिखी है। फलतः ये साहित्यिक आलोचना से अधिक समाजशास्त्र के ग्रंथ हो गए हैं। वस्तुतः सन् १९४० ई० तक द्विवेदीजी का आलोचनात्मक व्यक्तित्व निखर नहीं पाया था। समाजशास्त्रीय दृष्टि तो उन्हें मिल गई थी पर साहित्य में उसके उपयोग की

पद्धति अभी नहीं उपलब्ध हो सकी थी। इस समय तक वे एक गंभीर अध्येता (स्कालर) ही बन पाए थे, साहित्यिक समीक्षक नहीं।

किंतु इन ग्रंथों की विवेचना की पद्धति, निष्कर्ष और दृष्टिकोण के आधार पर द्विवेदीजी की साहित्यिक मान्यताओं का कुछ आभास अवश्य मिल जाता है। वस्तुतः वे हिंदी साहित्य के क्षेत्र से प्राचीन भारतीय वाङ्मय के क्षेत्र की ओर नहीं गए हैं, बल्कि भारतीय वाङ्मय के भीतर से गुजरते हुए हिंदी के क्षेत्र में आ पहुँचे हैं और उसमें अपने विशाल ज्ञान की सुविधाओं के साथ उन्होंने अपना एक सुनिश्चित स्थान बना लिया है। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की तरह द्विवेदीजी भी साहित्य को अपने आपमें स्वतंत्र और पूर्ण मानकर नहीं चलते बल्कि उसे संस्कृति की अविच्छिन्न धारा का एक महत्वपूर्ण अंग मानते हैं। संस्कृति को वे शाश्वत या एकदेशीय वस्तु नहीं मानते। उनके अनुसार वह परिवर्तनशील और परंपरा-नैरंतर्य से युक्त होती है। इस तरह साहित्य भी संस्कृति का अंग होने के कारण अनिवार्यतः परिवर्तनशील और प्रगतिशील होता है। वे साहित्य को सामान्य जनता की जीवनधारा से विच्छिन्न कोई अलग वस्तु नहीं मानते। मनुष्य को जीवन के केंद्र में प्रतिष्ठित करके ही उन्होंने साहित्य को देखने का प्रयत्न किया है। यह विभिन्न वर्णों, वर्गों, धर्मों, संप्रदायों, जातियों, राष्ट्रों आदि की सीमाओं में बँटा और बँधा मनुष्य नहीं है बल्कि समग्र और मुक्त, एक इकाई है। उन्होंने प्रमाणों और उदाहरणों द्वारा बराबर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि विभिन्न जातियों और देशों के बीच आदिकाल से सांस्कृतिक आदानप्रदान होता आया है, क्योंकि सत्य एककालिक, एकदेशीय या एकजातीय नहीं होता। साहित्य और कला भी ऐसे ही सत्य हैं। इसी दृष्टि से उन्होंने भारतीय समाज में विभिन्न कालों में आकर घुलमिल जानेवाली विभिन्न जातियों और उनके धर्म, साहित्य, रीतिनीति आदि का समाजशास्त्रीय विश्लेषण किया है और तत्संबंधी पूर्व-प्रचलित अनेक भ्रमों का निवारण किया है। उन्होंने विभिन्न संप्रदायों, धर्मों, शास्त्रों और सांस्कृतिक साहित्यिक परंपराओं के ऐसे तत्वों का भी विश्लेषण किया है जिनकी अमिट छाप लोकचेतना के माध्यम से हिंदी साहित्य पर पड़ी है। इसलिये उन्होंने बार बार इस प्रकार के वाक्यों का प्रयोग किया है—'इस विषय को ठीक ठीक समझने के लिये हमें एक और प्राचीन भारतीय परंपरा की जानकारी आवश्यक है। भारतीय साहित्य की यह शाखा अत्यधिक संपन्न है।'' 'नाथपंथ की साधनापद्धति का नाम हठयोग है। कबीरदास को समझने के लिये

१ हिंदी साहित्य की भूमिका—चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ११८।

इस साधनापद्धति की जानकारी होनी चाहिए।'[२] 'भारतवर्ष की वह धारा जो आचार प्रधान वर्णाश्रम धर्म के विधानों के नीचे गुप्त रूप से बह रही थी, एकाएक इस सुधर्मी (सूफ़ी मत) को पाकर विशाल वेग से जाग पड़ी। निरंजन, नाथ, आदि मार्गों की साधना पहले से ही निर्गुण ब्रह्म की ओर प्रवृत्त थी। इन दो धाराओं के संयोग से एक अभिनव साधना ने जन्म लिया।'[३]

साहित्य के उचित मूल्यांकन के लिये द्विवेदीजी पूर्वपरंपरा और सांस्कृतिक अंतरावलंबन के अतिरिक्त युगीन परिस्थितियों के प्रभाव को भी महत्व देते हैं यद्यपि सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों का विवेचन उन्होंने अधिक नहीं किया है फिर भी साहित्य पर सामाजिक परिस्थितियों के प्रभाव के महत्व को स्वीकार करते हुए वे कहते हैं—'कहा जा सकता है, सूरदास या कबीरदास की साधना का विशिष्ट रूप किसी सामाजिक परिस्थिति का परिणाम नहीं है, वह व्यक्तिगत चीज है और व्यक्तिविशेष की शिक्षा का फल है। समाज से उसका कोई संबंध नहीं। परंतु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि ये लोग अपने आसपास की परिस्थिति से प्रभावित हुए थे।'[४] इसी लिये उन्होंने उपर्युक्त तीनों ग्रंथों में तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों का भी यत्र तत्र विवेचन किया है। पर सच बात यह है कि उनकी वृत्ति धार्मिक और सांस्कृतिक परंपराओं और सिद्धांतों के विवेचन में जितनी रमी है उतनी सामाजिक और राजनीतिक परिवेश के विवेचन में नहीं। वस्तुतः उनका मुख अतीत की ओर ही अधिक रहता है, वर्तमान और भविष्य की ओर तो वे कभी कभी उलटकर देख लेते हैं। इस कारण वे साहित्य के विवेचन में अपने ऐतिहासिक ज्ञान का अधिक लाभ नहीं उठा सके हैं। विभिन्न युगों के साहित्य के सौंदर्यबोधात्मक मूल्यों के निर्माण में सामाजिक परिस्थितियों का क्या योग था, तत्कालीन कवियों का व्यक्तित्व उन परिस्थितियों से किस रूप में प्रभावित हुआ था, इन बातों पर उन्होंने बहुत कम विचार किया है। हिंदी साहित्य के विकास में लोकजीवन का प्रभाव उन्होंने अवश्य स्वीकार किया है पर लोकजीवन साहित्य को क्यों प्रभावित करता है, इसपर प्रकाश नहीं डाला है। भक्तिकाल के साहित्य के रूढ़िविद्रोही और लोकोन्मुख होने में तत्कालीन विकासमान मध्यवर्ग की व्यक्तिवादी और स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों का प्रभाव कारण रूप था, इस तथ्य की ओर भी उनकी दृष्टि नहीं गई है।

[२] कबीर—तृतीय संस्करण, पृष्ठ ४४।
[३] सूर साहित्य—प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४६।
[४] वही—पृष्ठ ६६।

निष्कर्ष यह कि द्विवेदीजी की समाजशास्त्रीय समीक्षादृष्टि उस समय तक एकांगी थी। हाँ, 'हिंदी साहित्य की भूमिका के उपसंहार में आधुनिक साहित्य का पर्यवेक्षण करते समय उन्होंने अवश्य युगीन परिस्थितियों के प्रभाव का विशद विवेचन किया है। इस पर्यवेक्षण में उनकी समाजशास्त्रीय समीक्षा-पद्धति का स्पष्ट और विकासमान रूप दिखाई पड़ता है। उन्होंने इस समीक्षा-पद्धति को सन् १९४० ई० के बाद अपने आलोचनात्मक निबंधों में विशेष रूप से और पूर्ण आत्मविश्वास के साथ विकसित किया है और विशुद्ध समाजशास्त्रीय विवेचना से हटकर साहित्य के मूल्यांकन की ओर भी मुड़े हैं। उनकी परवर्ती आलोचना में ही उनकी मानवतावादी समाजशास्त्रीय समीक्षापद्धति का स्पष्ट और सुनिश्चित रूप दिखाई पड़ता है।

(छ) मार्क्सवादी समाजशास्त्रीय आलोचना

हिंदी में समाजशास्त्रीय आलोचना की दूसरी प्रवृत्ति मार्क्सवाद से प्रभावित प्रगतिवाद की है जिसका प्रारंभ हजारीप्रसाद द्विवेदी की आलोचना के साथ साथ ही सन् १९३६ ई० के बाद हुआ था। इस आलोचनात्मक प्रवृत्ति के पीछे एक संघटित अंतरराष्ट्रीय आंदोलन था जिसका नेतृत्व अंतरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट संघ (कोमिनफार्म) के हाथ में था। इस समीक्षापद्धति का सैद्धांतिक आधार मार्क्सवाद का द्वंद्वात्मक भौतिकवादी दर्शन है जो मनुष्य के समस्त जीवनप्रयत्नों की प्रेरक शक्ति अर्थ को मानता है। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद हीगेल के द्वंद्वात्मक प्रत्ययवाद (डायलेक्टिकल आइडियलिज्म) और फायरबाख के यांत्रिक भौतिकवाद का समन्वित रूप है। मार्क्स ने हीगेल के द्वन्द्व सिद्धांत को तो ग्रहण कर लिया पर उसके प्रत्ययवाद को, जो शाश्वत चेतना को सृष्टि का मूल स्रोत मानता है, छोड़ दिया। उसी तरह उसने फायरबाख के वस्तुवाद या भौतिकवाद को, जो पदार्थ को ही प्रत्यय का उद्गम मानता है, अपना लिया पर उसके इस सिद्धांत को अस्वीकृत कर दिया कि प्रत्यय निष्क्रिय होता है, और उसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता। इन दोनों मतवादों के समन्वय द्वारा मार्क्स ने यह प्रतिपादित किया कि जगत् का मूल उद्गम पदार्थ है और उसी से चेतना या प्रत्यय का विकास हुआ है। पर एक बार चेतना का विकास हो जाने पर वह निष्क्रिय नहीं रहती, बल्कि जिस तरह पदार्थ चेतना को परिवर्तित करता है उसी तरह चेतना भी पदार्थ को परिवर्तित करती है। फिर भी सृष्टि की विकासप्रक्रिया में प्रधानता पदार्थ की ही होती है। विकासप्रक्रिया द्वंद्वात्मक या संघर्षात्मक होती है अर्थात् दो मूल विरोधी शक्तियों के संघर्ष में स्थिति, प्रतिस्थिति और संस्थिति की अवस्थाएँ आती हैं जिनमें संस्थिति की अवस्था में गुणात्मक परिवर्तन के द्वारा उन दोनों शक्तियों के

सामंजस्य से एक भिन्न नवीन शक्ति का उदय हो जाता है। मार्क्स ने इस सिद्धांत को मनुष्य के सामाजिक जीवन पर भी घटित किया और सिद्ध किया कि मनुष्य की चेतना उसके अस्तित्व को निरूपित और नियंत्रित नहीं करती बल्कि उसकी सामाजिक और भौतिक परिस्थितियाँ उसकी चेतना का रूपनिर्माण और नियंत्रण करती हैं। इस तरह जीवन के भौतिक साधनों के उत्पादन के ढंग से ही मनुष्य के सामाजिक राजनीतिक और बौद्धिक जीवन का संघटन और विकास होता है किंतु बौद्धिक कारण भी इतिहास की गतिविधि पर प्रभाव डालते हैं और परिवर्तनों का रूपप्रकार निर्मित करने में प्रमुख भाग लेते हैं। इस तरह भौतिक शक्तियों और मनुष्य के संघर्ष के फलस्वरूप सामाजिक जीवन का विकास होता है। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार पदार्थ के इतिहास की तरह मानव समाज के इतिहास पर दृष्टि डालने से जो निष्कर्ष निकलता है वह यह है कि आदिम समाजवादी समाजव्यवस्था के बाद दास युग, सामंत युग और पूँजीवाद युग का मानवसमाज वर्गों में विभक्त हो गया जिसमें शासक वर्ग उत्पादन के साधनों पर अधिकारकर शासित वर्गों का शोषण करता था जिसके फलस्वरूप वर्ग-संघर्ष की स्थिति बराबर बनी रहती थी। हर युग में समाज के आर्थिक संघटन के अनुसार ही उसका साहित्य, कला, धर्म, राजनीति, नीतिशास्त्र आदि हुआ करते है और वे वर्गसंघर्ष में शोषक वर्ग का साथ दिया करते अथवा उसके हाथ के अस्त्र होते हैं। इस तरह मार्क्सवाद वर्गसंघर्ष में विश्वास करता है और आधुनिक पूँजीवादी युग में वर्गसंघर्ष को तीव्र बनाकर पूँजीवाद को मिटाना और सर्वहारा वर्ग का अधिनायक तंत्र कायम करके साम्यवादी समाजव्यवस्था लाना चाहता है। अतः वह साहित्य और कला को भी वर्गसंघर्ष को तीव्र बनाने तथा शोषित वर्ग को मिटाने के लिये क्रांति के अस्त्र के रूप में प्रयुक्त करने का पक्षपाती है। क्योंकि उसके अनुसार साहित्य, कला आदि सदा से पक्षधर होते आए हैं।

भारत में सन् १९३६ ई० में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हो जाने के बाद प्रयत्नपूर्वक और एक आंदोलन के रूप में प्रगतिशील रचनाएँ और प्रगतिवादी समीक्षाएँ लिखी जाने लगीं जिनमें मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को सैद्धांतिक आधार बनाया गया था। हिंदी में प्रगतिवादी आंदोलन के तथा रचनात्मक प्रगतिशील साहित्य का प्रारंभ करनेवालों में सुमित्रानंदन पंत, नरेंद्र शर्मा, रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान और प्रकाशचंद्र गुप्त प्रमुख हैं। प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम अधिवेशन में प्रेमचंद ने सभापति पद से जो भाषण किया था उसमें साहित्य में युगीन संघर्षों और सामाजिक आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति करने का आग्रह तो किया गया था पर मार्क्सवादी सिद्धांतों के आधार पर साहित्यरचना करने की बात कहीं नहीं कही गई थी। मार्क्सवादी दृष्टिकोण को सर्वप्रथम शिवदानसिंह चौहान ने सन् १९३७ ई० में विशालभारत

में प्रकाशित अपने एक लेख 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' में उपस्थित किया था। सन् १९३८ ई० में सुमित्रानंदन पंत और नरेंद्र शर्मा के संपादकत्व में कालाकाँकर से 'रूपाभ' नामक मासिक पत्र निकला जिसमें पंत, रामविलास शर्मा आदि की प्रगतिवादी कविताएँ प्रकाशित होती थीं। सन् १९४० ई० में प्रकाशचंद्र गुप्त की 'नया हिंदी साहित्य—एक दृष्टि' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई जिसमें मार्क्सवादी दृष्टि को प्रमुखता दी गई थी।

सन् १९४० ई० तक हिंदी के और भी कई लेखक—नंददुलारे वाजपेयी, शांतिप्रिय द्विवेदी, अज्ञेय, यशपाल, इलाचंद्र जोशी, राहुल सांकृत्यायन, नरोत्तम नागर आदि—प्रगतिवाद की ओर आकृष्ट हो गए थे। इनमें से राहुल और यशपाल तो पहले से ही मार्क्सवादी थे, पर अन्य लोगों ने मार्क्सवादी दृष्टि को आंशिक रूप में ही स्वीकार किया था। पंत मार्क्सवाद और गाँधीवाद को समन्वित करके नवीन मानवतावाद को प्रतिष्ठित करना चाहते थे तो नंददुलारे वाजपेयी और शांतिप्रिय द्विवेदी मार्क्सवाद और सौंदर्यवाद के समन्वय का पक्ष उपस्थित कर रहे थे। अज्ञेय विद्रोह की भावना में ही मार्क्सवाद और मनोविश्लेषणशास्त्र का समन्वय ढूँढ़ रहे थे। प्रकाशचंद गुप्त की समीक्षाओं में भी उस समय तक मार्क्सवाद का ऐकांतिक आग्रह नहीं था और वे सौंदर्यबोध को भी साहित्य का एक आवश्यक प्रतिमान मानते थे। इस तरह उस समय तक विशुद्ध रूप से मार्क्सवादी समाजशास्त्रीय समीक्षा की पद्धति को अपनाकर चलनेवाले अकेले आलोचक शिवदान सिंह चौहान थे। किंतु एक बात में ये सभी लेखक सहमत थे कि छायावादी काव्य अत्यधिक कल्पनाप्रवण और आत्माभिव्यंजक होने के कारण युग की आवश्कताओं की पूर्ति करने में असमर्थ है, अतः नवीन साहित्य में युगीन परिस्थितियों के प्रतिबिंब के साथ भविष्य के सुखमय समाज की कल्पना और स्वस्थ जीवनदृष्टि से उद्भूत आशाओं, आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति भी चाहिए। वस्तुतः प्रारंभ में प्रगतिशील आंदोलन अन्य देशों की भाँति भारत में भी 'कोमिनफार्म' के आदेशानुसार एक संयुक्त मोर्चे के रूप में चल रहा था, क्योंकि उस समय यूरोप में फासिस्टवाद और नाजीवाद से लड़ने के लिये सारे विश्व के प्रगतिशील विचारवाले लोगों की संमिलित शक्ति की आवश्यकता थी। द्वितीय महायुद्ध छिड़ जाने पर संयुक्त मोर्चा और भी आवश्यक हो गया था। अतः उस समय प्रगतिशील होने के लिये पूर्णतः मार्क्सवादी होना आवश्यक नहीं था। सन् १९४५ ई० में महायुद्ध की समाप्ति और मित्रराष्ट्रों की विजय के बाद संयुक्त मोर्चे की आवश्यकता नहीं रह गई और तब यह देखना कम्युनिस्ट लेखकों और आलोचकों के लिये आवश्यक हो गया कि कौन मार्क्सवादी विचारों को पूरी तरह मानता है और कौन नहीं। अतः हिंदी में भी रामविलास शर्मा ने सुमित्रानंदन पंत,

राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, अज्ञेय, रांगेयराघव आदि अर्ध मार्क्सवादियों की कटु-आलोचना शुरू की। यही नहीं, काडवेल की मार्क्सवाद और मनोविश्लेषणशास्त्र के समन्वय की पद्धति को अपनाकर चलनेवाले आलोचक शिवदान सिंह चौहान को भी सौंदर्यवादी और प्रतिक्रियावादी कहकर निरादृत किया जाने लगा। पर ये सब हमारे आलोच्य काल के बाद की बातें हैं। सन् १६४० ई० तक मार्क्सवादी समीक्षक के रूप में प्रकाशचंद्र गुप्त और शिवदान सिंह चौहान—ये दो ही लेखक सामने आए थे।

(१) प्रकाशचंद्र गुप्त

आलोच्य काल में गुप्त की एक ही समीक्षा पुस्तक 'नया हिंदी साहित्य—एक दृष्टि' प्रकाशित हुई थी जिसमें लेखक ने अपने समसामयिक साहित्यकारों और साहित्यिक प्रवृत्तियों के संबंध में व्यावहारिक आलोचना लिखी। अतः इस पुस्तक के संबंध में बाद में यथास्थान विचार किया जायगा। व्यावहारिक आलोचना के बीच बीच में समीक्षासिद्धांतों के प्रतिपादन की शैली इन्होंने नहीं अपनाई है फिर भी उनकी दृष्टि की दिशा का ज्ञान तो इस ग्रंथ से हो ही जाता है। पुस्तक में प्राक्कथन में उन्होंने लिखा है—'इस संग्रह के निबंध एक विशेष दृष्टिकोण से लिखे गए हैं। इस दृष्टिकोण से हिंदी संसार का परिचय उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। समाज और साहित्य में परस्पर एक अंतरंग संबंध है और साहित्य समाज का दर्पण है—यह सिद्धांत इन निबंधों में व्यवहार रूप में माना गया है। स्व० प्रसाद और महादेवी वर्मा हिंदी साहित्य के 'रोमैंटिक' कवि हैं। उनकी आलोचना रूढ़िवादी दृष्टि से की गई है। यह जीवन की विशेषताओं से बचकर चलते हैं।' इससे स्पष्ट है कि गुप्त समाज के दर्पण के रूप में जीवन का यथार्थ चित्र उपस्थित करनेवाले साहित्य को ही श्रेयस्कर साहित्य मानते हैं। यही उनका दृष्टिकोण है और यही उस काल की प्रारंभिक प्रगतिवादी समीक्षा का दृष्टिकोण था जिसकी ओर उन्होंने उक्त कथन में संकेत किया है। पूरी पुस्तक में उन्होंने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद या मार्क्सवाद का विवेचन कहीं नहीं किया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि मार्क्सवाद की कट्टरता उनमें नहीं थी और प्रगतिवाद को वे व्यापक भावभूमि पर प्रतिष्ठित देखना चाहते थे। इसी लिये प्रसाद और महादेवी के मूल्यांकन में वे जानबूझकर रूढ़िवादी दृष्टि अपनाकर समीक्षा करने की उदारता दिखाते हैं।

पुस्तक के निबंधों में भी कहीं कहीं उन्होंने अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है। एक स्थान पर वे रस को काव्य की आत्मा बताते हैं और अलंकार मत का खंडन करते हुए कहते हैं—'अलंकार गिनकर काव्य की श्रेष्ठता निर्धारित नहीं की

जा सकती ।'[१] अन्यत्र वे समस्त पुराने समीक्षासिद्धांतों को नए साहित्य के मूल्यांकन में अक्षम बताते हैं ।[२] समकालीन छायावादी काव्य की समीक्षा करते हुए वे कहते हैं कि हमारा साहित्य मध्य वर्ग की कृति है। जनसाधारण के जीवन से हम सर्वथा विमुख हैं। प्रगति के नियमों का तर्क पूंजीवाद के साथ साथ पुरातनशाही और मध्य वर्ग की कक्षा में प्रतिबिंबित है।[३] यह कथन गुप्त के मार्क्सवादी जीवनदर्शन की अभिव्यक्ति करता है। वे काडवेल की तरह छायावादी (रोमांटिक) कविता को मध्य वर्ग की देन मानकर उसकी भर्त्सना करते हैं और सर्वहारा वर्ग के लिये साहित्यरचना में विश्वास करते हैं। वे समाज के शोषक सामंतों और पूँजीपतियों तथा साम्राज्यवादियों से लड़नेवाली शक्तियों का समर्थन करना साहित्य का धर्म मानते हैं पर साहित्य को प्रचारवादी बनाने के समर्थक नहीं हैं । इसीलिये कहते हैं – 'हम यह नहीं कहते कि कला प्रचारवादी हो, किंतु देश के जीवन से विलग साहित्य की कल्पना हम नहीं कर सकते। हमारे जीवन में जो संघर्ष आज इस विराट् रूप में व्यापक है उसकी प्रतिध्वनि हमारे साहित्य में आएगी ही ।'[४] इस प्रकार मार्क्सवादी सिद्धांतों के अनुसार वे वर्गसंघर्ष तथा स्वातंत्र्ययुद्ध के समर्थक हैं और साहित्य को शोषक, शासित वर्ग का एक अस्त्र मानते हैं। जो साहित्यकार ऐसे साहित्य की रचना नहीं करते उन्हें वे पलायनवादी और प्रतिक्रियावादी मानते हैं। ऐसे साहित्य को वे निर्जीव मानते हैं। उनके अनुसार 'समाज की प्रगति के नियमों को समझना अर्थात् द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की दृष्टि से समाज के विकास का अध्ययन करना और प्रगतिशील शक्तियों का साथ देना साहित्यकार का कर्तव्य होता है। इस तरह वे साहित्य को पक्षधर (पार्टीजन) मानते हैं और स्पष्ट शब्दों में घोषणा करते हैं कि 'आज हमारे देश में ही नहीं, वरन् सारे संसार में समाज की शक्तियाँ दो दलों में बँट गई हैं। हम बीच में निश्चल खड़े नहीं रह सकते।'''आज कलाकार को अपने विचार सुलझाने ही होंगे। क्या वह धनकुबेरों और पूँजीवाद की ओर अपनी शक्तियों का प्रयोग करेगा, अथवा भूखी नंगी (भूखे-नंगे ?) जन समाज की ओर ? या वह मौन धारणकर अपना उमड़ा गीत कंठ में ही सुखा देगा ?'[५]

किंतु इस तरह के विचार गुप्त ने कुछ ही निबंधों में व्यक्त किए हैं। अन्य निबंधों में उन्होंने इस तरह की भावावेशपूर्ण बातें नहीं लिखी हैं बल्कि संयत

[१] 'नया हिंदी साहित्य—एक दृष्टि; प्रथम संस्करण—पृष्ठ ७१ ।

[२] 'पुरानी काव्य कसौटियों से नए साहित्य की ठीक परख नहीं हो सकती । वहीं—पृष्ठ ७१ ।

[३] वही—पृष्ठ २१४ ।

[४] वही—पृ० २१२ ।

[५] वही—पृ० २१५—२१६ ।

और विवेचनात्मक दृष्टि से काम लिया है। ऐसा मालूम पड़ता है कि प्रगतिशील विचारोंवाले उनके निबंध प्रगतिवादी आंदोलन के संपर्क में आने के बाद तथा अन्य निबंध उसके पूर्व के लिखे हैं क्योंकि दोनों प्रकार के निबंधों में विचारसाम्य अधिक नहीं है।

(२) शिवदान सिंह चौहान

शिवदान सिंह चौहान मार्क्सवादी आलोचकों में सबसे अधिक वैज्ञानिक और साहित्यिक दृष्टिवाले आलोचक हैं। इसका कारण यह है कि उनके प्रायः सभी सैद्धांतिक विचार अंग्रेजी के मार्क्सवादी आलोचक काडवेल से प्रभावित हैं जो मार्क्सवाद की उपपत्तियों को मनोविश्लेषण शास्त्र और आधुनिक विज्ञान की उपलब्धियों के मेल में रखकर देखता है। सन् १९४० ई० के पूर्व उनके दो तीन निबंध ही प्रकाशित हुए थे, पर उन्हीं के बल पर उस समय ही एक सुलझे हुए मार्क्सवादी आलोचक के रूप में उनकी ख्याति हो गई थी। उनका पहला लेख 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' –विशाल भारत में सन् १९३७ ई० में प्रकाशित हुआ था और दूसरा 'छायावादी कविता में असंतोष की भावना' सन् १९४० ई० में हिंदी साहित्य परिषद्, मेरठ के अधिवेशन में पढ़ा गया था और उसी वर्ष अज्ञेय द्वारा संपादित संकलन ग्रंथ 'आधुनिक हिंदी साहित्य' में प्रकाशित हुआ था। उनके अन्य निबंध जो १९४० से १९४५ ई० तक लिखे गए थे, उनके निबंधसंग्रह प्रगतिवाद (सन् १९४६ ई०) में संकलित हैं। पर उपर्युक्त दोनों निबंधों में उनके प्रायः सभी आलोचनात्मक सिद्धांत आ गए हैं। उनका पहला लेख एक प्रकार से हिंदी में प्रगतिवादी समीक्षा का घोषणापत्र है। इस लंबे निबंध में मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद से संबंधित विभिन्न सिद्धांतों-वर्ग संघर्ष, भौतिकवाद, आदि– की विस्तार से विवेचना की गई है और हिंदी के तत्कालीन साहित्य को पूँजीवाद की ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों की देन सिद्ध किया गया है। सैद्धांतिक आलोचना की दृष्टि से यह निबंध अधिक महत्व का नहीं है क्योंकि मार्क्सवादी सिद्धांत का, जिसका परिचय ऊपर दिया जा चुका है, उसमें हिंदी रूपांतर उपस्थित कर दिया गया है। इस दृष्टि से उनका दूसरा निबंध अधिक महत्व का है। अतः उसी के आधार पर यहाँ उनके समीक्षात्मक सिद्धांतों का विवेचन किया जा रहा है।

चौहान साहित्य का समाज से अविच्छिन्न संबंध मानकर साहित्यिक प्रवृत्तियों और धाराओं के विवेचन में उन्हें उत्पन्न करनेवाले सामाजिक प्रभावों और कारणों की खोजबीन करना आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार व्यक्ति और समाज के संबंधों से ही भावों और विचारों का निर्माण होता है। अतः

भावों विचारों का मूल उत्स सामाजिक संबंध है और उन्हें समझे बिना साहित्य कला के सौंदर्य और मूल्य को नहीं समझा जा सकता। द्वंद्वात्मक भौतिकवादी दर्शन के आधार पर वे यह मानते हैं कि मनुष्य के सामाजिक विकास ने ही उसमें ज्ञात चेतना उत्पन्न की है। यह चेतना वैयक्तिक स्तर पर उत्पन्न होकर सामाजिक रूप धारण कर लेती है और इस तरह समस्त समाज का एक सामूहिक भावकोश बन जाता है। पर व्यक्ति की सभी अंतःप्रवृत्तियों या अंतःप्रेरणाओं को समाज स्वीकार नहीं करता, कुछ को ही ग्रहण करता है और जिन्हें ग्रहण करता है वे व्यक्ति की न रहकर 'समाज की ज्ञात चेतना के चिर परिवर्धित कोष में परिवेष्टित होती' जाती हैं। सामाजिक जीवन और सामाजिक अनुभव से जिनका संबंध रहता है वही अंतःप्रेरणाएँ इस कोष में स्थान पाती हैं।[१] इस प्रकार चौहान सामाजिक भावकोश को अधिक महत्व देते हैं, वैयक्तिक भावों या अन्तः-प्रेरणाओं को नहीं। यह सामाजिक भावकोश (सोशल इगो) बाह्य सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ परिवर्तित परिवर्धित होता रहता है। चूँकि साहित्य और कला का संबंध भाव जगत् से है इसलिये समाज के विकास के साथ भावकोश की भाँति कला भी परिवर्तनशील और प्रगतिशील होती है। इस तरह चौहान की प्रथम स्थापना यह है कि भाव शाश्वत या स्थायी नहीं, परिवर्तन-शील होते हैं।

काव्य के उद्देश्य के संबंध में उनकी मान्यता है कि कविता मनुष्य की स्वतंत्रता का अस्त्र है पर वह स्थूल शस्त्र के रूप में नहीं प्रयुक्त होती; 'कविता, जो भावों को संगठित या उन्हें तरतीब देती है, नवीन अंतःप्रेरणाओं द्वारा भाव जगत् की सीमा विस्तृत करती जाती है। वह जीवनश्रम या संघर्ष को भावों के रस से सींचकर मधुर बनाती है। कविता का यही उद्देश्य रहा है। वह सामाजिक जीवन और सामाजिक श्रम के साथ मनुष्य का 'मानवी लगाव' उत्पन्न करती है।'[२] यह सिद्धांत शुक्लजी के इस मत के अधिक निकट है कि कविता लोक चित्त का परिष्कार करती और उसे मनुष्यता के गुणों से युक्त करके वास्तविक मनुष्य बनाती है। पर दोनों में मुख्य अंतर है दृष्टिकोण का। शुक्लजी आदर्श-वादी होने के कारण भावों को शाश्वत और स्थिर मानते हैं। उनके अनुसार काव्य का उद्देश्य मनुष्य में दिव्य आदर्शों की, जिसे उन्होंने मनुष्यता कहा है, प्रतिष्ठा करना है। इसके विपरीत चौहान समाजवादी होने के कारण बाह्य जगत् के समान भावों को भी परिवर्तनशील मानते हैं और यथार्थ जगत् के संघर्षों और श्रम की सफलता के लिये कविता को अस्त्र के रूप में प्रयुक्त करना चाहते हैं। इस तरह दोनों की दृष्टि उपयोगितावादी है पर लक्ष्य दोनों का भिन्न है।

चौहान कविता का कार्य एक नूतन और श्रेष्ठतर कल्पनात्मक संसार की रचना करना बताते हैं जो भ्रम होते हुए भी सत्य होता है। उनके अनुसार 'कविता का जन्म ही श्रेष्ठतम वास्तविकता की कल्पनात्मक रूपरेखा अंकित करने से होता है। यद्यपि हम इस कल्पनात्मक वास्तविकता का स्पर्श नहीं कर पाते, तथापि इस 'भ्रम' के दीपक को लेकर भविष्य के तमपूर्ण गर्भ में घुसने का साहस संचित कर लेते हैं। यह भ्रम, यह श्रेष्ठ जीवन की कल्पना मृगमरीचिका के समान अप्राप्य नहीं होती, क्योंकि वर्तमान के गर्भ में उसके बीज होते हैं जिन्हें संपूर्ण मानवता की श्रम शक्ति अंकुरित करने में सफल होती है—कल्पना सत्य हो जाती हैं, आकांक्षाएँ वास्तविकता के रूप में परिणत हो जाती हैं।'[२] इस कथन में चौहान ने काव्य में कल्पना और छायाभास जैसे बिंबविधान की महत्ता स्वीकार की है, पर वे कल्पनाओं और बिंबों को सामाजिक यथार्थ से विच्छिन्न करके नहीं देखते और यह मानते हैं कि कविता के कल्पनात्मक संसार से पाठकों का संबंध अंतर्वृत्तियों द्वारा नहीं बल्कि आर्थिक सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं की चेतना द्वारा होता है। इस तरह वे साधारणीकरण का साधन भावों को नहीं सामाजिक आवश्यकताओं को मानते हैं। काव्यरचना का साधन भी वे वैयक्तिक नहीं सामूहिक अनुभूति को मानते हैं।

ये मान्यताएँ चौहान की अपनी नहीं हैं। उन्होंने उन्हें काडवेल की पुस्तक 'भ्रम और यथार्थ' (इल्यूजन ऐंड रियेलिटी) से लिया है, पर गड़बड़ी यह हुई कि जिन सिद्धांतों की स्थापना और व्याख्या काडवेल ने तीन सवा तीन सौ पृष्ठों में की है, उन्हें चौहान ने कुछ पृष्ठों में उतारने का प्रयास किया है जिससे विवेचना अधूरी और अस्पष्ट हो गई है। इससे उनकी आलोचना में मौलिकता का नितांत अभाव दिखाई पड़ता है। फिर भी प्रगतिवादी आलोचकों में सैद्धांतिक विवेचना उन्होंने ही सबसे अधिक की है। इस दृष्टि से उनका महत्व असंदिग्ध है।

---

१ प्रगतिवाद—पृष्ठ २१।
२ वही—पृष्ठ २८।

चतुर्थ अध्याय

व्यावहारिक आलोचना

पिछले अध्यायों में बताया जा चुका है कि हिंदी में आधुनिक आलोचना का प्रारंभ व्यावहारिक आलोचना के रूप में ही हुआ था। भारतेंदु युग में तो उस समय प्रकाशित होनेवाले ग्रंथों के गुणदोषों, विशेष रूप से भाषा संबंधी गुणदोषों पर ही विचार होता था, पर द्विवेदी युग में संस्कृत और हिंदी के प्राचीन कवियों तथा उनके ग्रंथों के संबंध में तथा समकालीन काव्यप्रवृत्तियों के बारे में व्यावहारिक आलोचना व्यापक रूप में लिखी जाने लगी, हिंदी के सर्व-श्रेष्ठ कवियों की गणना की जाने लगी और विभिन्न कवियों का तुलनात्मक गुण-दोष-विवेचन किया जाने लगा। शुक्ल युग में सैद्धांतिक आलोचना लिखने का कार्य व्यापक रूप में प्रारंभ हुआ, पर व्यावहारिक आलोचना अब भी सैद्धांतिक आलोचना की तुलना में अधिक लिखी जाती रही। इस युग में व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में नवीनता यह दिखलाई पड़ी कि एक ही आलोचक अनेक साहित्यिकों या साहित्यिक प्रवृत्तियों पर अलग अलग आलोचनात्मक लेख लिखकर उन्हें संग्रहग्रंथों के रूप में प्रकाशित करने लगे। साथ ही इस युग से हिंदी साहित्य का इतिहास भी वैज्ञानिक पद्धति से लिखा जाने लगा जो केवल इतिवृत्तात्मक न होकर आलोचनात्मक भी होता था। इस युग की व्यावहारिक आलोचना केवल आलोच्य कृति या कृतिकार के जीवनवृत्त या गुणदोषों के विवेचन तक ही सीमित नहीं रही, उसमें युगीन परिस्थितियों के प्रभावों, कृतिकार की अंतर्वृत्तियों और दार्शनिक, सामाजिक चिंताधाराओं का भी विवेचन किया जाने लगा। इस तरह शुक्ल युग में निर्णयात्मक और तुलनात्मक समीक्षापद्धति का प्रचार कम हो गया और ऐतिहासिक, व्याख्यात्मक, समाजशास्त्रीय, मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा पद्धतियों को अधिक अपनाया जाने लगा।

यहाँ आलोच्य युग की व्यावहारिक समीक्षा को चार भागों में विभाजित कर उनपर अलग अलग विचार किया जायगा। वे चार विभाग ये हैं—(१) प्राचीन काव्य और कवियों की आलोचना, (२) आधुनिक काव्य और कवियों की आलोचना, (३) आधुनिक गद्यसाहित्य और गद्यलेखकों की आलोचना और (४) मिलेजुले विषयों के आलोचनात्मक निबंधसंग्रह। प्रत्येक भाग में आलोचकों के अनुसार नहीं, आलोच्य साहित्यकार, ग्रंथ या प्रवृत्ति के अनुसार विचार किया जायगा।

(१) प्राचीन काव्य की आलोचना

आलोच्य काल में प्राचीन काव्य की प्रवृत्तियों, कवियों और उनके साहित्य की आलोचना चार रूपों में की गयी : १-हिंदी साहित्य के इतिहासग्रंथों के अंतर्गत, २—फुटकल निबंधों में, ३—स्वतंत्र आलोचनाग्रंथों में और ४—संपादित ग्रंथों की भूमिकाओं में। इतिहासग्रंथों तथा शोधपुस्तकों को वास्तविक अर्थ में व्यावहारिक आलोचना नहीं माना जा सकता क्योंकि उनमें ऐतिहासिक इतिवृत्त और आलोच्य वस्तु की सामग्री की प्रधानता होती है। इसी लिये उनके संबंध में अगले अध्याय में अलग से विचार किया जायगा। फिर भी उनमें से कुछ महत्वपूर्ण ग्रंथों की चर्चा यहाँ की जायगी क्योंकि उनमें ऐतिहासिक के साथ आलोचनात्मक दृष्टि भी वर्तमान है और साथ ही कुछ इतिहासकारों की स्थापनाएँ इतनी महत्वपूर्ण हैं कि आगे के आलोचकों ने उन्हीं को आधार बनाकर अपने विचार व्यक्त किए हैं।

(क) काव्यप्रवृत्तियों की समीक्षा

आलोच्य काल में हिंदी साहित्य के आदि काल की काव्यप्रवृत्तियों और काव्यग्रंथों के संबंध में महत्वपूर्ण आलोचना का अभाव दिखाई पड़ता है। उस काल के संबंध में रामचंद्र शुक्ल, श्यामसुंदरदास तथा अन्य इतिहासकारों ने ऐतिहासिक दृष्टि से ही थोड़ा बहुत विचार किया है। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने अपने 'हिंदी साहित्य विमर्श' नामक ग्रंथ में आदिकालीन हिंदी कविता की विवेचना कुछ मौलिक ढंग से की है। शुक्लजी ने इस काल की मुख्य प्रवृत्ति वीरगाथा की मानी थी और उसी के नाम पर इस युग को ही वीरगाथा काल नाम दे दिया था। बाबू श्यामसुंदर दास ने भी उसका शुक्लजी की तरह वीरगाथा काल और आदि काल दोनो ही नाम स्वीकार किया है। चन्दवरदाई के पृथ्वीराज रासो के संबंध में इन लोगों ने प्रायः एक ही ढंग से विचार किया है और यह स्वीकार किया है कि उसके वर्तमान रूप में प्रक्षिप्त अंशों की अधिकता है जिससे उसके मूल रूप का पता लगाना असंभव सा है।[1] रामकुमार वर्मा ने अपने 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में पृथ्वीराज रासो के विभिन्न रूपांतरों की विस्तार से चर्चा की है। आदिकाल की काव्यप्रवृत्तियों और ग्रंथों के संबंध में सम्यक् विवेचन आलोच्य काल के बाद हजारीप्रसाद द्विवेदी, माताप्रसाद गुप्त आदि द्वारा किया गया।

[1] हिंदी भाषा और साहित्य—प्रथम संस्करण, पृ० २८७।

इतिहासग्रंथों में पूर्वमध्य काल या भक्ति काल के संबंध में अवश्य बहुत ही विवेचनात्मक ढंग से विचार किया गया है। रामचंद्र शुक्ल और श्यामसुंदर दास दोनों ने ही भक्ति काल की आध्यात्मिक और धार्मिक काव्यप्रवृत्ति को निर्गुण और सगुण धाराओं में बाँटकर उनकी चार शाखाओं—ज्ञानमार्गी शाखा, प्रेममार्गी शाखा, रामभक्ति शाखा और प्रेमभक्ति शाखा—की काव्यप्रवृत्तियों की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक पृष्ठभूमि, दार्शनिक परंपरा और काव्यगत विशेषताओं का विस्तार से विश्लेषण किया है। अन्य इतिहासकारों ने भी उन्हीं की पद्धति अपनाई है। इन दोनों विद्वानों ने भक्ति आंदोलन का मुख्य कारण मुसलमानों के आक्रमण और राज्यस्थापन के बाद हिंदुओं में व्याप्त घोर निराशा की भावना को माना है पर पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने अपने 'हिंदी-साहित्य विमर्श' नामक ग्रंथ में इस संबंध में यह मत व्यक्त किया है -'इसमें तो संदेह नहीं है कि मुसलमानों के शासनकाल में हिंदी साहित्य का प्रचार बढ़ा। पर यह कहना कठिन है कि यदि भारतवर्ष में मुसलमानों का आगमन न हुआ होता तो हिंदी साहित्य का कैसा स्वरूप होता? हाँ, इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि हिंदी के उस युग में भक्तिवाद का आविर्भाव अवश्यंभावी था। हिंदू समाज में जो विचार-धारा बह रही थी उसकी गति मुसलमानों के आगमनकाल के पहले से ही निर्दिष्ट हो चुकी थी। न तो मुसलमानों के आक्रमण ने और न उनके शासन ने ही उसकी गति में किसी प्रकार की बाधा डाली। भारतवर्ष का सामाजिक संघटन ही ऐसा था कि राजनीतिक क्षेत्र में उत्क्रांति होने पर भारतीय समाज उससे क्षुब्ध नहीं हो सकता था।······कबीर, दादू आदि संतों ने जिन भावों का प्रचार किया वे हिंदू जाति की परंपरागत निधि हैं। इन भावों को हिंदी साहित्य ने अपने प्राचीनतम साहित्य से प्राप्त किया है।'[1] ये विचार बख्शीजी ने सन् १६२३ में व्यक्त किए थे पर शुक्लजी, श्यामसुंदरदास तथा परवर्ती सभी इतिहासकारों ने इसकी ओर ध्यान न देकर यह हिंदू पुनरुत्थानवादी विचार व्यक्त किया कि भक्ति आंदोलन धार्मिक और राजनीतिक पराजय की भावना से उद्भूत निराशा की देन है। फिर बहुत बाद में हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बख्शीजी के उपर्युक्त मत को अपनाकर शुक्लजी आदि के मतों का खंडन किया। अपने ग्रंथ 'हिंदी साहित्य की भूमिका' (सन् १६४०) उन्होंने उन समस्त पूर्ववर्ती धार्मिक और दार्शनिक परंपराओं और तत्कालीन लोकधर्म की प्रवृत्तियों का उल्लेख और विश्लेषण किया है जिनकी परिणति हिंदी साहित्य की मध्यकालीन काव्यप्रवृत्तियों में दिखाई पड़ती है। उन्होंने बख्शीजी के मत को और स्पष्ट और जोरदार भाषा में इस प्रकार व्यक्त किया है—

[1] हिंदी साहित्य विमर्श—चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ४५-४६।

'दुर्भाग्यवश, हिंदी साहित्य के अध्ययन और लोक-चक्षु-गोचर करने का भार जिन विद्वानों ने अपने ऊपर लिया है, वे भी हिंदी साहित्य का संबंध हिंदू जाति के साथ ही अधिक बतलाते हैं। और इस प्रकार अनजान आदमी को दो ढंग से सोचने का मौका देते हैं—एक यह कि हिंदी साहित्य एक हतदर्प पराजित जाति की संपत्ति है, इसलिये उसका महत्व उस जाति के राजनीतिक उत्थान पतन के अंगांगिभाव से संबद्ध है, और दूसरा यह कि ऐसा न भी हो तो भी वह एक निरंतर पतनशील जाति की चिंताओं का मूर्त प्रतीक है। मैं इन दोनों बातों का प्रतिवाद करता हूँ।······ऐसा करके मैं इस्लाम के महत्व को भूल नहीं रहा हूँ लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम नहीं होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।'[१]

इसी मान्यता के अनुसार द्विवेदीजी ने हिंदी साहित्य को 'भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकास' मानकर बौद्ध धर्म के हीनयान, महायान, वज्रयान और सहजयान संप्रदायों, नाथ संप्रदाय, आलवार भक्ति मत, योग मत, तंत्र साधना तथा वैष्णव मतों की विस्तृत व्याख्या की है। यद्यपि इस विवेचन को शुक्लजी द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलने के कारण बिलकुल नवीन उद्भावना नहीं माना जा सकता पर उसकी विशेषता यही है कि शुक्लजी की तुलना में इनमें परंपराबोध अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया है। शुक्लजी और श्यामसुंदरदास ने मुसलमानों के संपर्क को भी महत्व दिया है और सूफियों तथा ज्ञानमार्गी संतों को हिंदू और मुसलिम संस्कृतियों के बीच एकता लाने का श्रेय दिया है। द्विवेदीजी ने परंपराज्ञान के प्रदर्शन के जोश में इस बात की ओर ध्यान ही नहीं दिया है कि पूर्वमध्य काल में हिंदी साहित्य के माध्यम से हिंदू और मुस्लिम संस्कृतियों का समन्वय करने का प्रयत्न किस रूप में हुआ। गोरखनाथ, चैतन्य, रामानंद, वल्लभाचार्य, नानक, कबीर आदि द्वारा प्रवर्तित पंथों और संप्रदायों में मुसलमान भी दीक्षित होते थे और सूफीमत को माननेवाले हिंदुओं की संख्या भी कम नहीं थी, इस बात पर द्विवेदीजी ने अपने किसी भी ग्रंथ में विचार नहीं किया है। उनकी दृष्टि अतीत में ही उलझकर रह गई है। आश्चर्य की बात है कि द्विवेदीजी ने बख्शी जी के 'पूर्वपरंपरा के स्वाभाविक विकास' का सिद्धांत तो अपना लिया पर 'हिंदू मुसलिम समन्वय' वाली उनकी बात को एकदम छोड़ ही दिया। बख्शीजी ने इस संबंध में लिखा है, 'यह सच है कि मुसलमानों के शासनकाल में भारतीय

[१] हिंदी साहित्य की भूमिका—चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ १-२।

ऐश्वर्य नष्ट नहीं हुआ था। देश धनधान्य से पूर्ण था। भारतीय संपत्ति पर भारतीयों का ही आधिपत्य था। तो भी यह कहना अनुचित नहीं कि हिंदू जाति का सौभाग्यसूर्य अस्त हो चुका था। ऐसी अवस्था में हिंदी के धार्मिक साहित्य ने बड़ा काम किया। यह साहित्य उदार भावों से पूर्ण है। इसी ने नीचों और अधमों के लिये भी आत्मोद्धार का मार्ग खोल दिया। सबसे महत्व-पूर्ण बात यह हुई कि हिंदी साहित्य के ही द्वारा हिंदू और मुसलमानों में एकता का सूत्रपात हुआ। कुछ विद्वानों की राय है कि हिंदू समाज में एकेश्वरवाद का प्राबल्य मुसलमानों के ही कारण हुआ। किसी किसी का यह भी संमति है कि हिंदी में तुकांत कविताओं का प्रचार मुसलमानों ने ही किया।[1] द्विवेदीजी ने मध्यकालीन हिंदी साहित्य के इस पक्ष का आधिकारिक और प्रामाणिक रूप में विवेचन नहीं किया है। उनके पूर्व डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ने अपने अंग्रेजी शोधग्रंथ 'निर्गुन स्कूल आफ हिंदी पोयट्री' (सन् १९४६) में अवश्य इस बात की ओर ध्यान दिया था पर उनके ग्रंथ में दार्शनिक विवेचन की प्रमुखता होने के कारण इसके लिये अधिक अवकाश नहीं था। बाद में सरस्वती पत्रिका में उन्होंने 'कबीर और गांधी' शीर्षक लेख में इसपर विशेष रूप से विचार किया था।

निर्गुणधारा के काव्य के मूल स्रोतों की विवेचना करनेवाले इस काल के महत्वपूर्ण और मौलिक विद्वान् पीतांबरदत्त बड़थ्वाल थे। उन्होंने ही सर्वप्रथम मध्यकालीन संत कवियों का संबंध योग मार्ग नाथ संप्रदाय और निरंजन संप्रदाय से जोड़ा। उनके निबंधसंग्रह 'योगप्रवाह' (सन् १९४६) के सभी शोधनिबंध सन् १९४० के पूर्व के लिखे हैं जो विभिन्न पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके थे। उनका 'हिंदी कविता में योगप्रवाह' शीर्षक लेख इतना महत्व-पूर्ण था कि रामचंद्रशुक्ल, हरिऔध, रामकुमार वर्मा आदि तत्कालीन इतिहासलेखकों ने उसे पूर्णतः स्वीकार कर लिया। शुक्लजी के इतिहास के परिवर्धित संस्करण में प्रारंभ में 'अपभ्रंश काल' में सिद्धों और नाथपंथियों की कविता और सिद्धांतों का विवेचन बड़थ्वालजी के उपर्युक्त लेख तथा तद्विषयक अन्य निबंधों का ही परिणाम है। डा० रामकुमार ने भी अपने 'हिंदी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास' में संधिकाल के अंतर्गत सिद्ध कवियों और गोरखनाथ की कविता का विवेचन डा० बड़थ्वाल के निबंधों तथा पुरातत्व निबंधावली में प्रकाशित राहुल सांकृत्यायन के 'चौरासी सिद्ध' तथा 'हिंदी के प्राचीनतम कवि और उनकी कविताएँ' शीर्षक निबंधों के आधार पर किया है। इन सभी शोधों और स्थापनाओं का उपयोग करके तथा क्षितिमोहन सेन की पुस्तकों से

[1] हिंदीसाहित्य विमर्श—पृष्ठ ४५।

[2] दी निर्गुन स्कूल आफ हिंदी पोयट्री—पेज १८२।

सामग्री ग्रहण करके हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'हिंदी साहित्य की भूमिका' और 'कबीर' नामक ग्रंथ लिखे जिनमें संग्रहवृत्ति जितनी प्रमुख है उतनी काव्यालोचन की वृत्ति नहीं। इन दोनों ग्रंथों में नवीनता इतनी ही है कि लेखक ने मध्यकालीन हिंदी काव्य की सभी धाराओं का संबंध पूर्व परंपराओं से जोड़ने के प्रयत्न के साथ विभिन्न दार्शनिक सिद्धांतों का शास्त्रीय विवेचन भी प्रस्तुत किया है। शुक्लजी ने निर्गुण काव्यधारा की पूर्व परंपरा की बात तो स्वीकार कर ली पर इस बात पर अंत तक अटल रहे कि 'उनकी रचनाएँ तांत्रिक विधान, योगसाधना, आत्मनिग्रह, श्वासनिरोध, भीतरी चक्रों और नाड़ियों की स्थिति, अंतर्मुख साधना के महत्व इत्यादि की सांप्रदायिक शिक्षा मात्र हैं; जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओं से उनका कोई संबंध नहीं। अतः वे शुद्ध साहित्य के अंतर्गत नहीं आतीं। उनको उसी रूप में ग्रहण करना चाहिए जिस रूप में ज्योतिष, आयुर्वेद आदि के ग्रंथ'।[1] संत साहित्य के संबंध में भी उनकी वही धारणा थी। उसके संबंध में उन्होंने लिखा है कि 'इस शाखा की रचनाएँ साहित्यिक नहीं हैं। उनकी भाषा और शैली अधिकतर अव्यवस्थित और ऊटपटांग है। कबीर आदि दो एक प्रतिभासंपन्न संतों को छोड़ औरों में ज्ञानमार्ग की सुनी सुनाई बातों का पिष्टपेषण तथा हठयोग की बातों के कुछ रूपक भद्दी तुकबंदियों में हैं।[2] श्यामसुंदरदास, बड़थ्वाल, रामकुमार वर्मा और हजारीप्रसाद द्विवेदी ने शुक्लजी से आगे बढ़कर संत साहित्य का महत्व केवल साहित्यिक आधार पर नहीं सांस्कृतिक और दार्शनिक आधार पर प्रतिपादित किया। श्यामसुंदरदास ने संत कवियों के काव्य की विशेषता उसकी प्रभावोत्पादकता मानी है। उनके अनुसार 'कविता के लिये उन्होंने कविता नहीं की है। उनकी विचारधारा सत्य की खोज में बही है; उसी का प्रकाश करना उनका ध्येय है।'[3] श्यामसुंदरदास के इस मत को ही बाद के अधिकतर विद्वानों ने स्वीकार किया। संत साहित्य संबंधी गवेषणा और विवेचना से मध्यकालीन भक्ति आंदोलन की गरिमा, मौलिकता और महत्व का सम्यक् उद्घाटन हुआ किंतु प्रेमाख्यानक काव्यों और वैष्णव धर्माश्रित साहित्य का जो आकलन शुक्लजी ने किया वही उस समय अंतिम माना जाता रहा और आज भी उस क्षेत्र में उनसे आगे बहुत कम लोग बढ़ सके हैं।

रीतिकालीन प्रवृत्तियों की विवेचना रामचंद्र शुक्ल और श्यामसुंदरदास ने अपने इतिहासग्रंथों में भिन्न भिन्न दृष्टियों से की है। शुक्लजी ने रीति

१ हिंदी साहित्य का इतिहास—परिवर्धित संस्करण, पृ० १७।
२ वही—पृ० ६१।
३ हिंदी भाषा और साहित्य—पृ० ३११।

काल की मुख्य प्रवृत्ति रीतिबद्धता और शृंगार को माना और इसका कारण यह बताया कि रीतिकालीन कवियों ने संस्कृत के पिछले खेवे के कवियों का अनुसरण किया जो कवि और आचार्य दोनों ही होते थे और शास्त्रीय नियमों से हटकर जिनकी दृष्टि प्रकृति और जीवन के व्यापक क्षेत्रों में नहीं रमती थी। शृंगारिकता की अधिकता का कारण उन्होंने कवियों का विलासी राजाओं के आश्रय में चला जाना बताया। इसी आधार पर उन्होंने रीतिकालीन साहित्य को विलासितापूर्ण और कृत्रिम साहित्य कहकर उसकी भर्त्सना की। पर श्यामसुंदरदास ने रीति की प्रवृत्ति का कारण यह बताया कि रचनात्मक साहित्य पर्याप्त मात्रा में निर्मित हो जाने के बाद आलोचनात्मक या रीति ग्रंथों की रचना होती है; इसी कारण भक्ति काल में प्रचुर साहित्य निर्माण के बाद रीतिकाल में रीतिग्रंथों की रचना होने लगी। शृंगारिकता का कारण उन्होंने भक्तिकाल की आध्यात्मिक कविता के विरुद्ध प्रतिक्रिया और गार्हस्थ्य जीवन के सुख सौंदर्य की ओर स्वाभाविक आकर्षण बताया है। इसी आधार पर उन्होंने रीति काव्य की आलोचना सहानुभूतिपूर्ण ढंग से और निष्पक्ष होकर की है। शुक्लजी प्रबंध काव्यों के पक्षपाती थे पर श्यामसुंदरदास ने मुक्तक काव्य को भी काव्यत्व और जीवनदर्शन की गंभीरता की अभिव्यक्ति के लिये पर्याप्त उपयुक्त माध्यम माना है। इन्हीं सब कारणों से रीतिकाल का जैसा सामंजस्यपूर्ण और पूर्वग्रहहीन आकलन श्यामसुंदरदास ने किया है वैसा शुक्लजी ने नहीं।

शुक्लजी ने रीतिकाव्य की पूर्वपरंपरा संस्कृत में ही ढूढ़ी है। लेकिन बाद में विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने अपने 'बिहारी की वाग्विभूति' नामक ग्रंथ में इस परंपरा को प्राकृत, अपभ्रंश और लोक गीतों में खोजने का सुझाव दिया। उनके अनुसार 'शृंगार की प्रवृत्ति का लोप साहित्य में कभी नहीं होता। हिंदी की ही दृष्टि से विचार करें तो स्पष्ट दिखाई देता है कि प्राकृत और अपभ्रंशकाल में शृंगार और वीर रस की धाराएँ प्रवाहित थीं।'[1] मिश्रजी ने यह सूत्र पद्मसिंह शर्मा की तुलनात्मक समीक्षा से प्राप्त किया था। शर्माजी ने बिहारी सतसई के दोहों की तुलना प्राकृत ग्रंथ 'गाथा सप्तशती' की गाथाओं से की थी जो शृंगार और प्रेम की अभिव्यंजना का प्राचीनतम उदाहरण है। पर गाथा सप्तशती या अपभ्रंश के दोहों में राधा कृष्ण का आवरण नहीं लिया गया है और न उनमें परकीया नायिका को ही प्रधानता दी गई है। हिंदी के रीतिकाव्य में परकीया नायिका का प्राधान्य क्यों हो गया और प्रेमव्यंजना के लिये राधाकृष्ण का आवरण क्यों अपनाया गया, इसके लिये विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने तीन कारण

[1] बिहारी—पृ० १८।

बताए हैं —१–भक्तिकालीन परंपरा के पालन के लिये रीतिकाल में शृंगार का प्रधान आलंबन राधा और कृष्ण को रखा गया यद्यपि भक्तिभावना की प्रवृत्ति पीछे छूट गई। जयदेव में भक्ति और शृंगार का जो संतुलन था वह रीतिकालीन कविता में नहीं रहा। २—सूफी कवियों ने 'प्रेम की पीर' तथा लौकिक के भीतर अलौकिक प्रेम का जो मार्ग प्रदर्शित किया था वह कृष्णभक्ति काव्य के भीतर से होता हुआ रीतिकालीन काव्य में पहुँचा पर यहाँ अलौकिक प्रेम गौण और लौकिक प्रेम ही प्रधान हो गया। इस तरह इस काल का शृंगारिक काव्य प्राकृत अपभ्रंश के शृंगारिक काव्य की भाँति शुद्ध लौकिक नहीं था बल्कि अलौकिकता के आवरण में लौकिक था। ३–परकीया प्रेम की प्रवृत्ति भी इस काल के काव्य को कृष्णभक्ति काव्य से ही उत्तराधिकार रूप में मिली है। इस तरह मिश्रजी ने रीतिकालीन काव्य की मुख्य प्रवृत्ति 'शृंगार मानकर इस काल को 'शृंगार काल' नाम दिया और इस काल के काव्य को दो मुख्य धाराओं में विभक्त किया, रीतिबद्ध काव्य धारा और रीतिमुक्त या स्वच्छंद काव्य धारा; और फिर इन दोनों को दो दो उपधाराओं में विभाजित करके लक्षणबद्ध काव्य, लक्ष्यमात्र काव्य, रहस्योन्मुख काव्य और शुद्ध प्रेम काव्य—ये चार धाराएँ मानीं और यह सिद्ध किया कि रीतिबद्ध काव्य मुख्यतः दरबारी कवियों द्वारा और रीतिमुक्त काव्य दरबारी वातावरण से अलग रहनेवाले कवियों द्वारा रचा गया। मिश्रजी ने एक और महत्वपूर्ण कार्य किया कि रीतिग्रंथों के निर्माण की कृपाराम से लेकर सेनापति तक एक अखंड परंपरा प्रमाणित की। शुक्लजी ने सामग्री के अभाव में यह मान लिया था कि केशवदास के बाद ५० वर्ष तक रीतिग्रंथों की रचना नहीं हुई और रीति की अखंड परंपरा चिंतामणि के बाद से प्रारंभ हुई।

रीतिकालीन शृंगारिक काव्यप्रवृत्ति के संबंध में हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी 'हिंदी साहित्य की भूमिका' में मिश्रजी के मत से मिलता जुलता ही मत अभिव्यक्त किया है। उन्होंने दूसरे विद्वानों का, जिनका नाम उन्होंने नहीं बताया, हवाला देकर यह सिद्ध किया है कि भारत में शृंगारमूलक मुक्तक काव्य के प्रारंभ का प्रधान कारण आभीर जाति का संसर्ग है। ईसा की प्रथम शताब्दी के बाद प्राकृत में और फिर अपभ्रंश में इस प्रकार की ऐहिकतामूलक मुक्तक रचनाएँ अधिक लिखी जाने लगीं, जो पूर्ववर्ती आर्य साहित्य में अज्ञात थीं।[1] द्विवेदीजी

[1] हिंदी साहित्य की भूमिका—पृ० ११३-११४।

की इस मान्यता में भी कोई नवीनता नहीं है क्योंकि चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने 'पुरानी हिंदी' नामक लेख में यह मत बहुत पहले व्यक्त कर दिया था। पद्मसिंह शर्मा ने भी तुलना करके प्राकृत और रीतिकालीन हिंदी के शृंगारिक काव्य में एक ही परंपरा का प्रवाह प्रमाणित किया है।

(ख) कवियों और काव्यग्रंथों की समीक्षा

१—कबीर

आलोच्य काल में कबीर और उनके साहित्य के संबंध में दो आलोचनात्मक ग्रंथ लिखे गए, रामकुमार वर्मा का 'कबीर का रहस्यवाद' (सन् १६३१) और हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'कबीर' (प्रकाशन सन् १६४१)। पर कबीर के जीवन, पंथ और दर्शन से संबंधित गवेषणात्मक और आलोचनात्मक निबंध उस समय बहुत अधिक लिखे गए जिनमें से हरिऔध और डा० बड़थ्वाल के निबंध उल्लेखनीय हैं। हरिऔधजी की 'कबीर बचनावली' और श्यामसुंदरदास द्वारा संपादित 'कबीर ग्रंथावली' में लंबी भूमिकाएँ भी लिखी गई थीं जिनमें कबीर के जीवन और दर्शन के साथ उनके काव्य का भी विवेचन किया गया है। शुक्लजी, श्यामसुंदर दास, रामकुमार वर्मा आदि ने अपने इतिहास ग्रंथों में तथा डा० बड़थ्वाल ने अपने अंग्रेजी के शोध ग्रंथ 'निर्गुन स्कूल आफ हिंदी पोएट्री' में कबीर के संबंध में पर्याप्त विचार किया है। इन सभी ग्रंथों और निबंधों में कबीर की जीवनी और दार्शनिक तत्वों पर जितना विचार किया गया है उतना उनके काव्य के काव्यत्व, शिल्प आदि की साहित्यिक आलोचना नहीं की गई है। इसलिये उनका मूल्य जितना शोधात्मक है उतना आलोचनात्मक नहीं।

कबीर के संबंध में शुक्लजी की दृष्टि निष्पक्ष और उदार नहीं थी। वे सगुण भक्ति में ही भक्ति का प्रकृत रूप देखते थे और साहित्य के लिये उसी को उपयुक्त मानते थे क्योंकि वे रसवादी और लोकमर्यादावादी थे। सगुण भक्तिकाव्य में लौकिक भावों और सगुण आलंबन के कारण रसवत्ता के साथ लोकादर्श की अभिव्यक्ति उन्हें जितनी पसंद थी उतनी कबीर की निर्गुण उपासनापद्धति पर आधारित आध्यात्मिक और रहस्यात्मक अनुभूतियों की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति या ज्ञानोपदेश नहीं। इसी लिये कबीर के संबंध में उन्होंने अपने इतिहास में बहुत कम विचार किया है और जो कुछ लिखा है, वह उनकी उपासनापद्धति और काव्य के वस्तुतत्व के मूल स्रोतों तक ही सीमित है। जिन मूल स्रोतों का निर्देश उन्होंने किया है उन्हीं की विस्तृत विवेचना बाद के आलोचकों—डा० बड़थ्वाल और हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रंथों में की है। मूल स्रोतों और पूर्वपरंपरा का विवेचन शुद्ध समालोचना नहीं है; अतः बड़थ्वालजी की

'हिंदी काव्य में निर्गुण धारा' तथा 'योग प्रवाह' और हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'हिंदी साहित्य की भूमिका' और 'कबीर' के संबंध में अगले अध्याय— 'इतिहास और शोध साहित्य'—में विशेष रूप से विचार किया जायगा। यहाँ उनमें व्यक्त कबीर के काव्य से संबंधित विचारों पर ही दृष्टिपात किया जायगा।

साहित्यिक दृष्टि से कबीर की सबसे अधिक महत्वपूर्ण आलोचना श्यामसुंदर दास का है जो उन्होने अपने इतिहास और कबीर ग्रंथावली की प्रस्तावना में लिखी है।[1] दोनों पुस्तकें एक ही समय (सन् १६३०) की हैं और दोनों में कबीर संबंधी बहुत सी बातें एक सी हैं। 'कबीर ग्रंथावली' की प्रस्तावना में उन्होंने कबीर के जीवनकाल की सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों के साथ उनके सिद्धांतों, आचारगत विश्वासों, रहस्यवादी काव्याभिव्यक्तियों, काव्यसौष्ठव और भाषा के संबंध में भी विस्तार के साथ विचार किया है। श्यामसुंदर दास ने कबीर को एक महान् तत्ववेत्ता और पहुँचा हुआ संत मानकर उसी दृष्टि से उनके काव्य की महत्ता का विवेचन किया है। शुक्लजी के अनुसार कबीर ने सत्संग से योग, ज्ञान और प्रेम मार्गों की सुनी सुनाई बातों का संचय मात्र किया है, और वे वैष्णव भक्त नहीं है। पर श्यामसुंदरदास ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि 'कबीर सारत: वैष्णव थे'[2] और 'पहुँचे हुए ज्ञानी थे। उनका ज्ञान पोथियों से चुराई हुई सामग्री नहीं थी और न वह सुनी सुनाई बातों का बेमेल भंडार ही था।'[3] हिंदी के प्रथम रहस्यवादी कवि के रूप में कबीर का महत्व प्रतिपादित करते हुए उन्होंने लिखा है—'जैसे कबीर का जीवन संसार से ऊपर उठा हुआ था, वैसे ही उनका काव्य भी साधारण कोटि से ऊँचा है। अतएव सीखकर प्राप्त की हुई रसिकता को उनमें काव्यानंद नहीं मिलता।'[4] कबीर में परमात्मा के प्रति आत्मसमर्पण का जो भाव है वह प्रेम की पराकाष्ठा है और श्यामसुंदर दास के मत से काव्य जगत् में उसका बहुत अधिक मूल्य है, उसे शुष्क ज्ञानकथन नहीं माना जा सकता। कबीर में कृत्रिम आलंकारिकता और 'मानसिक कलाबाजी और कारीगरी' के अभाव को श्यामसुंदर दास उनका

[1] शुक्लजी ने अपने इतिहास में पृष्ठ ५६२ पर लिखा है कि कबीर ग्रंथावली की भूमिका डा० बड़थ्वाल की लिखी है। पर कबीर ग्रंथावली में इसका कहीं उल्लेख नहीं है। अतः हम इसे श्यामसुंदर दास का ही मानेंगे।

[2] कबीर ग्रंथावली, प्रस्तावना—पृष्ठ १७।

[3] वही—पृष्ठ ५६।

[4] हिन्दी भाषा और साहित्य, प्रथमसंस्करण—पृष्ठ ३४१।

दोष नहीं; विशिष्ट गुण मानते हैं। उनकी दृष्टि में कबीर का रहस्यवाद भारतीय सर्वात्मवाद पर आधारित और सूफियों के माधुर्यभाव से रससिक्त होने के कारण मनोमोहक है, शुष्क नहीं। काव्यगत चित्रात्मकता, आध्यात्मिक प्रेम की प्रतीकात्मक अभिव्यंजना, सहज विदग्धता, विचार स्वातंत्र्य, सर्व धर्म समन्वय की भावना, आचार निष्ठा, सामाजिक न्याय का आग्रह आदि बातों के आधार पर श्यामसुंदर दास कबीर को अत्यंत उच्च कोटि का कवि मानते हैं।

अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध ने कबीर बचनावली के 'मुखबंध' तथा अपने इतिहास में कबीर के साहित्य और दर्शन के संबंध में अपने विचार व्यक्त किए हैं। कबीर बचनावली की भूमिका में उन्होंने कबीर के जीवन से संबंधित ज्ञातव्य बातों का विवरण देने के बाद उनके रचित ग्रंथों, पंथ, धर्मसिद्धांत, विचारपरंपरा, संतमत आदि बातों पर विस्तार से विचार किया है। पर उनके विचार उनकी रूढ़िवादी दृष्टि के द्योतक हैं क्योंकि उन्होंने कबीर के स्वतंत्र चिंतन और सत्यवादिता को अशिष्टता दंभ, परधर्म विरोध और महात्माओं के लिये अनुपयुक्त आचार कहा है। कहीं कहीं तो उन्होंने कबीर के लिये बहुत कटु शब्दों का व्यवहार किया है जिससे पता चलता है कि वे कबीर की आलोचना साहित्यिक या शोधकर्ता की दृष्टि से नहीं, धार्मिक या सांप्रदायिक दृष्टि से कर रहे हैं। कबीर के काव्य के संबंध में उनका मत है—'इन ग्रंथों की अधिकांश कविता साधारण है। सरस पद्य कहीं कहीं मिलते हैं।···छंदोभंग इन सब में इतना है कि जी ऊब जाता है। जहाँ तहाँ कविता में अश्लीलता भी है।···कबीर साहब के ग्रंथों का आदर कवितादृष्टि से नहीं विचारदृष्टि से है। उन्होंने अपने विचार दृढ़ता और कट्टरता के साथ प्रकट किए हैं'।[१] स्पष्ट है कि हरिऔध जी को कबीर की सत्यवादिता और विद्रोही भावना पसन्द नहीं थी और वे उनके साहित्य को अपनी मर्यादावादी नैतिकता और रूढ़िबद्ध काव्य-संस्कार की तुलापर तौलना चाहते थे। अपने इतिहास में भी उन्होंने इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए हैं, पर उसमें तबतक प्रकाशित सामग्री का लाभ उठाकर कबीर पर वैष्णवधर्म योगमार्ग, नाथसंप्रदाय, तंत्रमार्ग आदि के प्रभावों का भी सोदाहरण विवेचन कर दिया गया है।

कबीर साहित्य के आलोचकों में रामकुमार वर्मा का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि बड़थ्वाल और हजारीप्रसाद द्विवेदी से भी पूर्व उन्होंने कबीर पर एक स्वतंत्र ग्रंथ 'कबीर का रहस्यवाद' (सन् १९३१) लिखा था। यह ग्रंथ

[१] कबीर बचनावली, नवाँ संस्करण, मुखबंध—पृष्ठ १०-११।

कबीर के काव्य के केवल एक पक्ष 'रहस्यवादी भावानुभूति' से संबंधित है, अतः लेखक ने कबीर के काव्यत्व, भाषा और दार्शनिक सिद्धांतों के मूल स्रोतों पर विचार नहीं किया है, जो उचित ही है। कबीर के रहस्यवाद को समझने के लिये इसमें ब्रह्म, माया, आत्मा और परमात्मा के संबंध, गुरुमहत्व, आदि से संबंधित कबीर की मान्यताओं पर प्रभावपूर्ण ढंग से विचार किया गया है। मध्यकालीन भारतीय रहस्यवाद मुख्यतः अद्वैतवाद, हठयोग और सूफी सिद्धांतों पर आधारित है। अतः रामकुमार वर्मा ने इन दर्शनों के सिद्धातों की व्याख्या भी की है यद्यपि यह विवेचना अधिक विशद और शास्त्रीय नहीं हो पाई है। नाथपंथियों और वज्रयानी, सहजयानी तांत्रिकों तथा सिद्धों का कबीर पर कितना और कैसा प्रभाव पड़ा था, इसका उल्लेख इस ग्रंथ में नहीं हुआ है, क्योंकि तबतक इस संबंध में राहुल सांकृत्यायन और पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के शोधनिबंध नहीं प्रकाशित हुए थे और रामकुमार वर्मा का उद्देश्य इस ग्रंथ में शोध करना नहीं, बल्कि उपलब्ध सामग्री के आधार पर कबीर साहित्य के वस्तुपक्ष तथा उसकी अंतःप्रवृत्तियों का विवेचन करना था। यद्यपि लेखक की शैली अनेक स्थलों पर भावुकतापूर्ण और काव्यात्मक हो गई है, जिससे विषय के अध्येता की अध्ययन प्रक्रिया में बाधा पहुँचती है, फिर भी इस दिशा में प्रारंभिक ग्रंथ होने के कारण उसका महत्व असंदिग्ध है। कबीर का जीवनवृत्त ग्रंथ के परिशिष्ट में देकर लेखक ने ग्रंथ की उपयोगिता बढ़ा दी है यद्यपि जीवनवृत्त देना आलोचक का काम नहीं, इतिहासकार का काम है। अपने 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में उन्होंने कबीर की जीवनी और रचित ग्रंथों पर और भी साधिकार और गवेषणात्मक ढंग से विचार किया है। साथ ही तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों का विवेचन करते हुए कबीर के काव्य का महत्व भी प्रतिपादित किया है। यहाँ उन्होने लिखा है—'कबीर का काव्य बहुत ही स्पष्ट और प्रभावशाली है।...उनकी काव्यानुभूति इतनी उत्कृष्ट थी कि वे सरलता से महाकवि कहे जा सकते हैं।... "कविता की मर्यादा जीवन की भावात्मक और कल्पनात्मक विवेचना में है। यह विवेचना कबीर में पर्याप्त है। अतः वे एक महान् कवि हैं।"[१] इस तरह रामकुमार वर्मा ने, स्वयं एक रहस्यवादी कवि होने के कारण, कबीरसाहित्य के मर्म को पकड़ने का प्रयत्न किया है। यद्यपि श्यामसुंदर दास की तरह कबीर के संबंध में उनकी दृष्टि निष्पक्ष नहीं है, क्योंकि कबीर की त्रुटियों का उन्होने कहीं उल्लेख नहीं किया है, फिर भी उनकी आलोचना में एकांगिता या रूढ़िवादिता नहीं है।

१. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, प्रथम संस्करण, पृष्ठ—३८१।

जैसा पहले कहा जा चुका है, बड़थ्वाल और हजारीप्रसाद द्विवेदी के ग्रंथों और निबंधों में मूल दर्शनों और संप्रदायों तथा उनकी पूर्वपरंपराओं की विवेचना की प्रधानता है, इससे वे विशुद्ध आलोचना की कोटि में नहीं आ सकते। हाँ, कबीर साहित्य या संत साहित्य की आलोचना की सामग्री प्रस्तुत करने की दृष्टि से अवश्य उनका अत्यधिक महत्व है। फिर भी इन विद्वानों ने जो निष्कर्ष निकाले हैं या कबीर के व्यक्तित्व और जीवनदर्शन की जो व्याख्या की है, वह कबीर साहित्य को समझने के लिये अत्यंत आवश्यक है। डा० बड़थ्वाल ने 'हिंदी काव्य की निर्गुण धारा' में कबीर के संबंध में अलग से विचार नहीं किया है पर आध्यात्मिक प्रेम, गुरुमहत्व, शब्दयोग, परचा, निर्गुन-बानी, आदि के विवेचन में कबीर साहित्य से बहुत अधिक उदाहरण दिए हैं और स्थान स्थान पर कबीर के मतों की व्याख्या की है। इससे कबीर के काव्य के भावपक्ष और विचारवस्तु पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है और उनके रहस्यवाद की बहुत सी गुत्थियाँ सुलझ जाती हैं। 'योगप्रवाह' शीर्षक निबंध-संग्रह में कबीर के संबंध में तीन निबंध हैं पर तीनों ही में कबीर की जाति, कुल, जन्मस्थान, जन्मकाल आदि के बारे में शोधपूर्ण विवेचना की गई है। अतः साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से उनका कुछ भी मूल्य नहीं है। उनके 'हिंदी काव्य में निर्गुण धारा' ग्रंथ के पाँचवें अध्याय में कबीर तथा अन्य निर्गुण मतवादी कवियों की अभिव्यंजना शैली पर जो कुछ लिखा गया है, उसे साहित्य-समीक्षा के अंतर्गत अवश्य लिया जा सकता है। इस अध्याय में लेखक ने काव्य का लक्ष्य अलौकिक आनंद की प्राप्ति, उसकी आत्मा रस और माध्यम ध्वनि या व्यंजना को माना है और इसी आधार पर कबीर के काव्य को ध्वनिकाव्य माना है जिसमें संकेतों और प्रतीकों के माध्यम से सूक्ष्म और अनिर्वचनीय आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति की गई है। पाश्चात्य प्रतीकवादी सिद्धांत की व्याख्या करते हुए उन्होंने कबीर को ऐसा द्रष्टा कवि माना है जो प्रातिभ ज्ञान (स्वयंप्रभ ज्ञान) द्वारा काव्यरचना करता है, अर्जित ज्ञान और पांडित्य का प्रदर्शन नहीं करता। इस प्रकार बड़थ्वालजी ने कबीर के काव्य सौष्ठव के रहस्य को प्रथम बार उद्घाटित किया। आगे के आलोचकों को इस दिशानिर्देश के आधार पर कबीर के काव्य के कलापक्ष का पूर्ण विवेचन करना चाहिए था, पर ऐसा हुआ नहीं और उसकी आवश्यकता आज भी बनी हुई है।

कबीर साहित्य पर आलोच्यकाल का अंतिम महत्वपूर्ण कार्य हजारी-प्रसाद द्विवेदी का है। उन्होंने 'हिंदी साहित्य की भूमिका' के पाँचवें अध्याय 'योगमार्ग और संतमत' में कबीर के साधनामार्ग की पूर्वपरंपरा और योगदर्शन

के सिद्धांतों को तबतक की उपलब्ध सामग्री और अन्य विद्वानों द्वारा किए गए शोध कार्यों के आधार पर अच्छी तरह समझाया है। यही पद्धति अपनाकर उन्होंने अपने दूसरे ग्रंथ 'कबीर' में युगी और जुलाहा जाति की उत्पत्ति, कबीर के ग्रंथ, योगमत, नाथ संप्रदाय, सहजयान और वज्रयान का कबीर पर प्रभाव, हठयोग, निरंजन ब्रह्म, माया, आदि का अध्ययन प्रस्तुत किया है। केवल उपसंहार में कबीर के व्यक्तित्व और महत्व पर चलते ढंग से प्रकाश डाला गया है। इस तरह यह साहित्यालोचन का ग्रंथ न होकर समाजशास्त्रीय अध्ययन विवेचन का ग्रंथ प्रतीत होता है। यद्यपि उन्होंने कुछ पंक्तियों में कबीर के कवि के रूप का महत्व भी भावुकतापूर्ण ढंग से प्रतिपादित किया है पर भूमिका में उन्होंने स्वयम् कहा है कि 'पुस्तक में भिन्न भिन्न साधन मार्गों के ऐतिहासिक विकास की ओर ही अधिकांश ध्यान दिया गया है।' इस दृष्टि से हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'कबीर' और 'हिंदी साहित्य की भूमिका' को व्यावहारिक आलोचना का ग्रंथ न मानकर शोधग्रंथ मानना ही अधिक समीचीन है।

२—मलिक मुहम्मद जायसी

जायसी के संबंध में इस काल में अधिक आलोचनाएँ नहीं लिखी गईं। इस विषय की पहली महत्वपूर्ण आलोचना, जो आज भी उतनी ही महत्वपूर्ण है, आचार्य रामचंद्र शुक्ल की जायसी ग्रंथावली (सन १९२४) की २०२ पृष्ठों की भूमिका है। शुक्लजी ने अपने इतिहास में भी जायसी की काव्यपद्धतियों पर कुछ प्रकाश डाला है। श्यामसुंदर दास और रामकुमार वर्मा ने भी अपने इतिहास-ग्रंथों में जायसी विषयक सामान्य आलोचना लिखी है। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने भी पटना विश्वविद्यालयवाले भाषणों में से एक में जायसी के काव्यत्व का सामान्य परिचयात्मक आकलन किया है। सन् १९३३ में डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ने 'पद्मावत की कहानी और जायसी का अध्यात्मवाद' शीर्षक एक निबंध लिखा था जो छोटा होते हुए भी बहुत महत्वपूर्ण है। इस काल में जायसी के संबंध में चंद्रबली पांडेय, गौरीशंकर हीराचंद ओझा आदि के जो निबंध प्रकाशित हुए वे कवि के जीवनवृत्त और पद्मावत की ऐतिहासिकता से संबंधित होने के कारण यहाँ विचारणीय नहीं हैं। इन सबमें रामचंद्र शुक्ल की भूमिका ही उच्चकोटि की साहित्यिक समीक्षा कही जा सकती है।

शुक्लजी ने जायसी ग्रंथावली की भूमिका द्वारा सर्वप्रथम जायसी की महत्ता से हिंदी संसार को परिचित कराया। इसके पूर्व व्रजभाषा के काव्याभ्यासी आलोचक जायसी को उच्चकोटि का कवि नहीं मानते थे। मिश्रबंधुओं ने इनको 'तोष' की श्रेणी (चतुर्थ वा पंचम श्रेणी) का कवि मानकर उन्हें 'हिंदी नवरत्न'

में स्थान देना उचित नहीं समझा था। हाँ, ग्रियर्सन ने अपने 'द माडर्न वर्नाकुलर लिटरेचर आफ हिंदुस्तान' में जायसी का महत्त्व अवश्य प्रतिपादित किया था। अतः बहुत संभव है कि ग्रियर्सन से प्रभावित होकर शुक्लजी का ध्यान जायसी की ओर गया हो। पर उन्होंने जायसी ग्रंथावली की भूमिका में जिस तरह जमकर और साधिकार विवेचना की है वह उनकी मौलिक तथा गंभीर आलोचनात्मक दृष्टि का परिचायक है। उसमें प्रारंभ में जायसी के काल की सामाजिक और धार्मिक परिस्थिति, प्रेमगाथा काव्य की परंपरा, जायसी के जीवनवृत्त, पद्मावत की कथा और उसके ऐतिहासिक आधार का वर्णन करके तब जायसी के काव्य और उसकी प्रवृत्तियों की आलोचना में प्रवृत्त हुए हैं। मनोवृत्तियों और काव्य के प्रमुख अवयवों का सूक्ष्म विश्लेषण करके उसके आधार पर जायसी के काव्य का मूल्यांकन इस आलोचना की सबसे बड़ी विशेषता है जो शुक्लजी के अतिरिक्त उस काल के अन्य किसी आलोचक में नहीं दिखाई पड़ती। यद्यपि यह आलोचना मुख्यतः शास्त्रीय शैली में लिखी गई है। अर्थात् इसका बहुत बड़ा भाग पद्मावत में रस, अलंकार, वस्तुवर्णन, भाव व्यंजना, प्रबंधत्व आदि का भारतीय साहित्यशास्त्र के मान्य सिद्धांतों के आधार पर परीक्षण किया किया है, पर साथ ही आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी काव्य की सूक्ष्म विशेषताओं का उद्घाटन करने की प्रवृत्ति सर्वत्र दिखाई पड़ती है। अपनी अन्य व्यावहारिक समीक्षाओं की तरह इसमें भी उन्होंने कोई नया प्रसंग प्रारंभ करने के पूर्व मनोवैज्ञानिक या शास्त्रीय सिद्धांत की स्थापना कर ली है और तब उसके अनुसार पद्मावत के विभिन्न काव्यस्थलों की व्याख्या की है। इस तरह इसमें व्याख्यात्मक पद्धति की अधिकता दिखाई पड़ती है। पद्मावत का काव्यसौंदर्य पाठकों को अच्छी तरह हृदयंगम कराने की दृष्टि से ही उन्होने ऐसा किया है यद्यपि इस व्याख्यात्मक पद्धति के कारण आलोचना में स्फीति अधिक आ गई है। व्याख्यात्मक अंशों को निकाल देने पर भी इस आलोचना की अन्विति बनी रह सकती है जैसा उनकी तीनों भूमिकाओं के संकलन 'त्रिवेणी' में किया गया है। विवेचनात्मक पद्धति वहाँ दिखाई पड़ती है जहाँ सूफी मत के सिद्धांतों और जायसी की भाषा पर शुक्लजी ने विचार किया गया है और पद्मावत के उद्धरण देकर अपने कथन की पुष्टि की है। जायसी के रहस्यवाद का सैद्धांतिक विवेचन भी इसी शैली में किया गया है।

इस आलोचना में शुक्लजी की मुख्य स्थापना यह है कि जायसी ने कबीर की तरह केवल शुष्क ज्ञाननिरूपण नहीं किया बल्कि जीवन और जगत् के बीच हृदय का प्रसार भी किया है और साथ ही व्यक्तिगत साधना के साथ लोकपक्ष की ओर भी थोड़ा बहुत ध्यान दिया है। इसी कारण उनके अनुसार 'हिंदी के कवियों में यदि कहीं रमणीय और सुंदर रहस्यवाद है तो जायसी में, जिनकी भावुकता बहुत

ही उच्चकोटि की है'।[1] वस्तुतः वे राममक्त कवियों के सबसे अधिक निकट जायसी को ही पाते हैं क्योंकि विशिष्टाद्वैत की तरह सूफीमत में भी जगत् को पारमार्थिक सत्ता से अधिक भिन्न नहीं माना जाता और निर्गुण ब्रह्म के प्रतीक के रूप में ही सही, सूफी भी सगुण सत्ता को स्वीकार करते हैं। इन दो कारणों से शुक्लजी सूफीमत के उतने विरोधी नहीं हैं जितने योगमार्ग, नाथ संप्रदाय, तंत्रमार्ग और कबीर आदि के निर्गुण साधना मार्ग के। सूफी कवियों ने अपनी प्रेम भावना के पूर्ण प्रसार के लिये प्रबंध काव्य को ही माध्यम बनाया था, पद या मुक्तक काव्य को नहीं; यह भी शुक्लजी की मनचाही बात थी क्योंकि वे मानते थे कि जीवन की नाना भूमियों और दशाओं के बीच लोकमंगल की साधनावस्था के चित्रण का जितना अवसर प्रबंध काव्यों में मिलता है उतना मुक्तक काव्य में नहीं। इस सब कारणों से वे जायसी के काव्य को बहुत उच्च स्थान देते हैं, 'यद्यपि वे यह भी कहते हैं कि 'जायसी का ध्यान स्वभावचित्रण की ओर नहीं था''''''मनुष्य प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण का प्रमाण हमें जायसी के प्रबंध के भीतर नहीं मिलता।'[2] आदर्शवादी शुक्लजी को जायसी के प्रबंध के भीतर यह बड़ी भारी कमी दिखाई पड़ती है कि उसमें रामचरितमानस की तरह उच्च और आदर्श चरित्रों की अवतारणा नहीं की गई है। फिर भी गंभीर भाव व्यंजना, प्रबंध के विभिन्न प्रसंगों के क्रमनिर्वाह लोकहृदय की पहिचान और वैविध्यपूर्ण वस्तुवर्णन की परीक्षा करके उन्होंने जायसी को हिंदी कवियों में बहुत ही उच्च पद का अधिकारी सिद्ध किया है।

व्यावहारिक समीक्षा में आलोच्य कृति के रूपशिल्प का सम्यक् विश्लेषण विशेष महत्व का होता है। शुक्लजी ने अपनी तीनों भूमिकाओं में काव्य के कला पक्ष की विवेचना बहुत ही विद्वत्तापूर्ण ढंग से और अद्भुत सूझबूझ के साथ की है। पद्मावत में समासोक्ति पद्धति के प्रयोग की खोज उनकी इसी सूक्ष्म बुद्धि और गहरी पकड़ का परिणाम है। उन्होंने पद्मावत को अन्योक्ति पद्धति का काव्य न मानकर समासोक्ति पद्धति का काव्य माना है और उसकी कथा के प्रस्तुतार्थ और प्रतीकार्थ दोनों को समान महत्व का माना है। उनके अनुसार 'प्रबंध के भीतर शुद्ध भाव के स्वरूप का ऐसा उत्कर्ष जो पार्थिव प्रतिबंधों से परे होकर आध्यात्मिक क्षेत्र में जाता दिखाई पड़े, जायसी का मुख्य लक्ष्य है। क्या संयोग क्या वियोग दोनों में कवि प्रेम के उस आध्यात्मिक स्वरूप का आभास देने लगता

[1] जायसी ग्रंथावली की भूमिका, पृष्ठ—१५७।
[2] वही-पृष्ठ १२६।

है, जगत् के समस्त व्यापार जिसकी छाया से प्रतीत होते हैं।'[1] शुक्लजी ने पद्मावत के प्रबंधत्व की दूसरी विशेषता बताई है उसमें जीवन के मर्मस्पर्शी स्थलों की योजना जो 'मानस' में और भी अधिक हुई है। प्रबंध काव्यों में रसवत्ता ऐसे ही प्रसंगों के कारण आती है। इसी तरह 'संबंधनिर्वाह' के विवेचन में उन्होंने पद्मावत की कथावस्तु की भारतीय और पाश्चात्य साहित्य शास्त्र में मान्य कार्यावस्थाओं, पंचसंधियों और अन्वितित्रय के सिद्धांतों के आधार पर परीक्षा की है और उसे प्रबंध काव्य के लिये उपयुक्त माना है। उसी तरह जायसी के अलंकार विधान को भी उन्होंने स्वाभाविक और रसोत्कर्षकारक माना है क्योंकि 'जायसी ने सादृश्य-मूलक अलंकारों का ही आश्रय अधिक लिया है। कोरे चमत्कार प्रदर्शन के लिये प्रयुक्त अलंकारों के शुक्लजी विरोधी थे। अतः पद्मावत में उनकी कमी देखकर उन्होंने उसकी बहुत प्रशंसा की है इस तरह पद्मावत के कला पक्ष का जैसा सूक्ष्म और सम्यक् विवेचन शुक्लजी ने किया है, वैसा अबतक नहीं किया जा सका है।

अन्य आलोचकों ने जायसी के काव्य की विस्तृत विवेचना नहीं की है। श्यामसुंदर दास ने अपने इतिहास में जायसी के संबंध में कुछ प्रशंसात्मक वाक्य लिखकर ही चलता कर दिया है। अयोध्यासिंह उपाध्याय ने अपने भाषण में जायसी की धार्मिक उदारता, विस्तृत ज्ञान और भारतीयता की भावना की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है, पर साहित्यिक आलोचना की दृष्टि से इस भाषण का अधिक महत्व नहीं है। रामकुमार वर्मा ने अपने विवेचनात्मक इतिहास में जायसी के जीवन वृत्त, रचनाओं और पद्मावत के कथाप्रसंगों का उल्लेख करने के बाद उनके कवि रूप की जो आलोचना की है वह संक्षिप्त होते हुए भी महत्वपूर्ण है। उनकी स्थापना यह है कि जायसी कबीर से प्रभावित थे पर उन्होंने कबीर का झाड़ फटकारवाला मार्ग न अपनाकर प्रेम और सद्भावना का मार्ग अपनाया था। इसी तरह अन्य कई बातों के आधार पर उन्होंने जायसी और कबीर की तुलना की है। सूफी मत, मसनवी काव्यपद्धति का प्रभाव, विस्तृत ज्ञान के आधार पर वस्तुवर्णन आदि का विवेचन उन्होंने शुक्लजी के आधार पर ही किया है जिससे उसमें कोई नवीनता नहीं है। पद्मावत की कथा के प्रस्तुत और अप्रस्तुत अर्थों में उन्हें वैषम्य दिखाई पड़ा है क्योंकि वे उस कथा को समासोक्तिमूलक न मान कर रूपकात्मक काव्य (एलेगोरी) मानते हैं। डा० बड़थ्वाल ने तो अपना निबंध ही इसी समस्या को लेकर लिखा है। उन्होंने पद्मावत की कथा को अन्योक्तिमूलक मानकर यह निर्णय दिया है कि 'जायसी एक

१ जायसी ग्रंथावली की भूमिका—पृष्ठ ५३।

सफल अन्योक्तिकार नहीं हैं, क्योंकि पद्मावत में अन्योक्ति का सूत्र कहानी को एक से दूसरे सिरे तक बेधता नहीं गया है। आध्यात्मिक और लौकिक दोनों पक्ष कहानी में सर्वत्र एकरस नहीं दिखाई देते'।[१] यह समस्या पद्मावत के उपसंहार के उस अंश के कारण उत्पन्न हुई है जिसमें इस रूपक का रहस्य खोला गया है। पर बाद की खोजों से सिद्ध हुआ है कि उक्त चौपाइयाँ प्रक्षिप्त हैं। अतः शुक्लजी द्वारा प्रतिपादित समासोक्ति पद्धति को मान लेने पर इस समस्या का समाधान अपने आप हो जाता है। बड़थ्वालजी ने जाने क्यों शुक्लजी के उक्त मत की जानबूझ कर उपेक्षा की और यह निर्णय दिया कि रत्नसेन का नागमती को त्यागकर पद्मावती के लिये योगी बनकर निकल पड़ना लोकसंग्रही भावना के विरुद्ध है। इसी से पद्मावत की 'कहानी आध्यात्मिकता की हँसी उड़ा रही है और आध्यात्मिक कहानी को विरूप बना रही है।'[२] पाश्चात्य देशों की रूपक कथाएँ (एलेगोरी) समासोक्तिमूलक ही होती हैं अतः इस सिद्धांत को मान लेने पर बड़थ्वालजी की आपत्ति निर्मूल हो जाती है। फिर भी इस निबंध में लेखक ने बहुत ही तर्कपूर्ण ढंग से विवेचना की है। शिल्प विधान संबंधी यह एक महत्वपूर्ण आलोचना है।

३—सूरदास

सूरदास के संबंध में विवेच्य काल की सबसे महत्वपूर्ण आलोचना आचार्य रामचंद्र शुक्ल की है जो उन्होंने भ्रमरगीतसार (सन् १९२५) की भूमिका के रूप में लिखी थी। लाला भगवानदीन ने भी सूर पंचरत्न (सन् १९२७) की भूमिका के रूप में सूर साहित्य की विस्तृत आलोचना प्रस्तुत की थी। अयोध्यासिंह उपाध्याय ने पटना विश्वविद्यालय में हिंदी साहित्य के संबंध में जो व्याख्यान दिए थे उनमें एक सूरदास के संबंध में भी था जो बाद में उनके ग्रंथ 'हिंदी भाषा और साहित्य का विकास' (सन् १९४०) में प्रकाशित हुआ था। उसके बाद सन् १९३८ में हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'सूर साहित्य' लिखा गया। रामचंद्र शुक्ल, श्यामसुंदर दास और रामकुमार वर्मा ने अपने इतिहास ग्रंथों में भी सूरदास के जीवन वृत्त के साथ उनके साहित्य का संक्षिप्त आलोचनात्मक परिचय दिया है। साहित्यिक आलोचना की दृष्टि से इन सब में शुक्लजी के भ्रमरगीतसार की 'भूमिका' सर्वश्रेष्ठ आलोचनात्मक कृति है।

[१] पद्मावत की कहानी और जायसी का अध्यात्मवाद—द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ (सन् १९३३) —पृष्ठ ३९५।

[२] वही, पृष्ठ—४०१।

भ्रमरगीतसार की भूमिका लिखने के पूर्व शुक्लजी तुलसी ग्रंथावली और जायसी ग्रंथावली की भूमिकाएँ लिख चुके थे। ये तीनों भूमिकाएँ सन् १६२१ से सन् १६२५ के बीच लिखी गई थीं। अतः उन सबमें शुक्लजी का आलोचनात्मक प्रतिमान एक ही है जो उस समय तक पूरी तरह निश्चित और दृढ़ हो चुका था। भ्रमरगीतसार की भूमिका (सन् १६२५) अंतिम होने के कारण उसमें विचारों की प्रौढ़ता तथा शैलीगत गंभीरता अधिक है; साथ ही पूर्व भूमिकाओं जैसी स्फीति और भावुकता का प्रवाह भी उसमें कम है। इसी कारण यह भूमिका बड़ी नहीं हुई है पर सैद्धांतिक विवेचन की अधिकता के कारण इसका महत्व अधिक बढ़ गया है। किसी भी पक्ष की आलोचना करते समय पहले वे कुछ सिद्धांतों की स्थापना करके तब उनके आधार पर व्यावहारिक आलोचना में प्रवृत्त होते हैं। यह पद्धति उन्होंने सर्वत्र अपनाई है, अतः सूर साहित्य की विवेचना में भी उसका होना स्वाभाविक ही है। व्यावहारिक आलोचना में उन्होंने प्रायः विवेचनात्मक और व्याख्यात्मक शैली अपनाई है पर कहीं कहीं तुलनात्मक, निर्णयात्मक और भावात्मक पद्धति का भी सहारा लिया है। सिद्धांत निरूपण और अंतर्वृत्ति-विश्लेषण में विवेचनात्मक पद्धति और सिद्धांतों का प्रयोग करते समय व्याख्यात्मक और भावात्मक शैली अपनाई गई है। शुक्लजी के आदर्श कवि तुलसी और आदर्श काव्य रामचरित मानस हैं। अतः जायसी हों या सूर या अन्य कोई कवि उसके महत्व और काव्यसौंदर्य का मूल्यांकन करते समय वे तुलसी से उसकी तुलना अवश्य करते हैं। सूर की आलोचना में भी उन्होंने यही किया है।

शुक्लजी सूर के प्रशंसक हैं पर उनका स्थान तुलसी से नीचे मानते हैं क्योंकि उनके अनुसार तुलसी के काव्य में शैलियों की विविधता, जीवनदशाओं की व्यापकता, आदर्श चरित्रों की ऊँचाई, लोकमंगलकी भावना और सांस्कृतिक एकता तथा दार्शनिक समन्वय की प्रवृत्ति जितनी अधिक है उतनी सूर के काव्य में नहीं मिलती। फिर भी वे सूर के महत्व को अस्वीकार नहीं करते। यह कहते हुए भी कि 'तुलसी की प्रतिभा सर्वतोमुखी है और सूर की एकमुखी' वे यह स्वीकार करते हैं कि 'एकमुखी होकर भी उसने अपनी दिशा में जितनी दूर तक की दौड़ लगाई है उतनी दूर तक तुलसी ने भी नहीं; और किसी कवि की तो बात ही क्या है। जिस क्षेत्र को सूर ने चुना है उसपर उनका अधिकार अपरिमित है, उसके वे सम्राट् हैं।'[1] फिर भी सूर की महत्ता या प्रतिभा की विशिष्टता का विश्लेषण उन्होंने उतना नहीं किया है जितना उनके काव्य की सीमाओं या अभावों का विवेचन

[1] भ्रमरगीतसार की भूमिका, दशम संस्करण—पृष्ठ २६।

किया है। काव्यालोचन संबंधी उनकी एक प्रमुख मान्यता यह है कि कवि को चरित्रगत शक्ति, शील, और सौंदर्य तीनों का समान रूप से चित्रण करना चाहिए। इस प्रतिमान का प्रयोग सूर पर करते हुए वे कहते हैं कि 'शक्ति, शील और सौंदर्य भगवान् की इन तीन विभूतियों में से सूर ने केवल सौंदर्य तक ही अपने को सीमित रखा है जो प्रेम को आकर्षित करता है।'[१] इसी कारण सूर ने जीवन की केवल दो वृत्तियों—बालवृत्ति और यौवनवृत्ति को लिया है। इन दोनों के भीतर भी केवल 'बालक्रीड़ा' प्रेम के रंग रहस्य और उसकी अतृप्त वासना' तक ही उनकी दृष्टि सीमित रह गई है जिससे उनके काव्य में घटना व्यापारों का वैविध्य नहीं मिलता।

वस्तुतः शुक्लजी की दृष्टि जीवन के स्थूल घटना व्यापारों अथवा उन्हीं के शब्दों में शक्ति और शीलयुक्त कर्म सौंदर्य की ओर जितनी थी उतनी अंतर्वृत्तियों के सूक्ष्म सौंदर्य की ओर नहीं। इसी दृष्टि से वे सभी प्रकार के काव्यों को देखते हैं, चाहे वे काव्य किसी भिन्न उद्देश्य, परिस्थिति, मनोदशा, युगधर्म या सौंदर्यबोध की प्रेरणा या रचनात्मक 'बाध्यता' से ही क्यों न लिखे गए हों। अतः तुलसी से भिन्न आदर्शवाले कवियों में शुक्लजी को दोष और अभाव ही अधिक दिखाई पड़ते हैं। पर उन्होंने सूर में जो नहीं है उसी को नहीं देखा बल्कि जो है उसे भी बड़ी सूक्ष्म और विवेकपूर्ण दृष्टि से देखा है। इसी से सूर की भावव्यंजना, बिंब-विधान और वाग्वैदग्ध्य का विवेचन उन्होंने बड़े विस्तार से उद्धरण देकर और पदों की व्याख्या करते हुए किया है। फलतः इस आलोचना में व्यास शैली की व्याख्यात्मकता अधिक हो गई है। संभवतः विद्यार्थियों के लिये इस भूमिका की उपयोगिता को ध्यान में रखकर ही शुक्लजी ने ऐसा किया है। भाव पक्ष की आलोचना के साथ साथ उन्होंने सूरसाहित्य के कला पक्ष—भाषा, संगीत तत्व, अलंकार विधान, उक्ति चमत्कार आदि—की भी सहृदयता और गहराई के साथ विवेचना की है पर यह विवेचना कोरी प्रशंसा नहीं है, त्रुटियों की ओर भी वे संकेत करते गए हैं। यद्यपि यह समस्त विवेचना मूलतः शास्त्रीय आधार पर की गई है और रसों, अलंकारों, भाव पक्ष और विभाव पक्ष, संचारी, भावों, अनुभावों, चेष्टाओं आदि की छानबीन में ही अधिक शक्ति लगाई गई है पर शुक्लजी ने अपनी ऐतिहासिक समीक्षापद्धति का यहाँ भी परित्याग नहीं किया है। उन्होंने प्रारंभ में सूरदास के समय की धार्मिक और सांस्कृतिक स्थिति तथा अन्त में वल्लभ संप्रदाय की उपासनापद्धति और शुद्धाद्वैत के दार्शनिक सिद्धांतों का भी

[१] भ्रमरगीतसार की भूमिका—पृष्ठ ५।

संक्षेप में परिचय दे दिया है। सूर काव्य के मूल स्रोतों की ओर उन्होंने दो एक स्थलों पर संकेत किया है। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि 'सूरसागर किसी पहले से चली आती हुई परंपरा का चाहे वह मौखिक ही रही हो, पूर्ण विकास सा जान पड़ता है।'[1] फिर अन्यत्र वृंदावन के सामाजिक जीवन को स्वच्छंद और लोक बंधनों से मुक्त बताया है और एक जगह पदकाव्य तथा लीलागान की पूर्वपरंपरा जयदेव और विद्यापति में देखी है। इस तरह उन्होंने शोधकर्ताओं के लिये शोध का दिशानिर्देश कर दिया। इसी सूत्र को पकड़कर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'हिंदी साहित्य की भूमिका' में सूर काव्य की पूर्व परंपरा की खोज की है।

श्यामसुंदरदास ने अपने इतिहास में सूरदास के जीवनवृत्त के साथ सूरसागर का परिचायात्मक विवरण ही अधिक दिया है, उसपर आलोचनात्मक दृष्टि कम डाली है। सूर की काव्यगत विशेषताओं का जो थोड़ा सा विवेचन उन्होंने किया है वह रामचंद्र शुक्ल की विवेचना से प्रभावित जान पड़ता है। वे भी सूर को तुलसी से नीचे ही स्थान देते हैं। लाला भगवानदीन ने 'सूर पंचरत्न' में १६४ पृष्ठों की आलोचनात्कक भूमिका लिखी जिसमें उन्होंने भक्ति आंदोलन की सामाजिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि, भक्ति के स्वरूप और प्रभाव, तथा ब्रजभाषा का इतिहास और व्याकरण भी अत्यंत भावुकतापूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है और उसके बाद बड़े विस्तार से सूर की शैली, भाषा, प्रतिभा, शास्त्रनिपुणता, काव्यनिपुणता, अंतर्वृति निरूपण, आदि की व्यास शैली में व्याख्या की है। अंत में उन्होंने रस, शब्दशक्ति, अलंकार, वर्णविन्यास आदि की दृष्टि से सूरसागर की शास्त्रीय शैली में आलोचना की है। इस तरह उनकी आलोचना में ऐतिहासिक और शास्त्रीय पद्धतियों का संमिश्रण हुआ है और उसकी शैली अधिकांशतः भावात्मक है। भूमिका के उत्तरार्ध में उन्होंने विद्यार्थियों के लाभ की दृष्टि से पंचरत्न में संगृहीत पदों के भाव पक्ष और विविध प्रसंगों की भावात्मक शैली में व्याख्या की है। इसमें उन्होंने सूरकाव्य के भाव, विचार और दर्शन तथा कलासौष्ठव का भी परिचयात्मक विवरण दिया है। इस तरह कुल मिलाकर यह परंपराविहित शास्त्रीय दृष्टि से लिखी गई आलोचना है जिसमें विचारगांभीर्य, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा व्यापक आलोचनात्मक प्रतिमान का अभाव दिखाई पड़ता है। शुक्लजी की उपर्युक्त समीक्षा के संमुख लालाजी की यह समीक्षा हलकी और स्थूल प्रतीत होती है।

हजारीप्रसाद द्विवेदी का सूर साहित्य प्रमुखतः कृष्ण भक्ति काव्य के मूल स्रोतों से संबंद्ध शोधप्रधान ग्रंथ है, व्यावहारिक आलोचना का नहीं। पर इसमें

[1] भ्रमरगीतसार की भूमिका, पृष्ठ—७।

लेखक ने कोई मौलिक शोध नहीं किया है। उन्होंने प्रारंभ में ही स्वीकार कर लिया है कि 'पिष्टपेषण कहलाने योग्य तो कुछ नहीं हुआ पर नई बात भी नहीं कह सका। पंडितों ने कुछ छोड़ा भी तो नहीं है। यत्र तत्र विकीर्ण सामग्री को नए रूप में उपस्थित कर रहा हूँ।' जैसा आचार्य क्षितिमोहन सेन ने ग्रंथ की भूमिका में कहा है—द्विवेदीजी ने राधाकृष्ण मतवाद, भक्ति तत्व, प्रेम तत्व, मध्ययुगीन धर्मसाधना आदि के बारे में तबतक की अधिकांश उपलब्ध सामग्री का संकलन करने का प्रयास किया है।[1] फलतः इस पुस्तक का आधा से अधिक भाग अप्रासंगिक है, सूर साहित्य से उसका कोई सीधा संबंध नहीं है। स्त्रीपूजा और उसका वैष्णव रूप तथा जयदेव, विद्यापति और चंडीदास की राधा शीर्षक अध्यायों में सूरदास का कहीं नाम तक नहीं आया है न उनमें कही बातों का सूरदास से कोई संबंध ही स्थापित किया गया है। अधिकाश अध्यायों में या तो धार्मिक और दार्शनिक पूर्वपरंपरा पर विचार किया गया है या तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक और साधनात्मक परिवेश और उसकी प्रतिक्रियाओं का विश्लेषण किया गया है। ग्रंथ के शेष भाग में सूर साहित्य के अध्ययन के आधार पर तत्कालीन भारतीय समाज का चित्र प्रस्तुत करने और ईसाई कवियों और नंददास के साथ सूरदास की तुलना करने के साथ ही सूर साहित्य की भाव-भूमि की भावात्मक शैली में व्याख्या की गई है। ग्रंथ के अंतिम अध्यायों में रामचंद्र शुक्ल की व्याख्यात्मक शैली और सूर साहित्य की विशेषता संबंधी विचारों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। निष्कर्ष यह कि द्विवेदीजी के सूर साहित्य ग्रंथ में मूल स्रोतों और पूर्वपरंपरा संबंधी अंशों में तो मौलिकता और नवीनता नहीं ही है, उसके आलोचनात्मक अंशों में भी विचारों की गहराई और नवीनता नहीं दिखलाई पड़ती, जिससे वह सतही, परिचयात्मक और प्रारंभिक प्रयास मालूम पड़ता है। व्याख्यात्मक अंशों की शैली पर बंगीय आलोचना की भावुकतापूर्ण काव्यात्मक शैली का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

हरिऔधजी ने अपने 'हिंदी भाषा और साहित्य का विकास'[2] में मुख्यतः सूरदास की भाषागत विशेषताओं का ही वर्णन किया है। सूर के भाषा शिल्प की विवेचना की दृष्टि से यह निबंध निस्संदेह महत्वपूर्ण है पर सूर के काव्यसौंदर्य और काव्यवस्तु की ओर इसमें विशेष ध्यान नहीं दिया गया है।

[1] 'श्रीहजारीप्रसाद जी भक्ति तत्व, प्रेम तत्व, राधाकृष्ण मतवाद आदि के संबंध में जो जो कुछ भी उल्लेख योग्य जहाँ कहीं से पा सके है, उसे इस ग्रंथ में उन्होंने संग्रह किया है और उसपर भलीभाँति विचार किया है।' सूर साहित्य, भूमिका—पृष्ठ १।

[2] हिंदी भाषा और साहित्य का विकास, पृष्ठ २३६ से २५८।

रामकुमार वर्मा के 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में सूरदास के बारे में लिखा तो बहुत गया पर उसका अधिकांश सूर के जीवनवृत्त, रचित ग्रंथ, रचनाकाल सांप्रदायिक आचार आदि से ही संबंधित है। सूर के काव्यत्व का विवेचन उन्होंने शास्त्रीय दृष्टि से किया है और विरह की एकादश दशाओं, रसों और संचारी भावों के आधार पर सूर के पदों की व्याख्या की है। अतः इस आलोचना में भी कोई नवीनता नहीं है।

४—तुलसीदास

आलोच्य काल में तुलसी साहित्य की आलोचना सबसे अधिक लिखी गई। मिश्रबंधुओं, लाला सीताराम, ग्रियर्सन, ग्राउज, ग्रीव्स, टेसीटरी, इंद्रदेव नारायण सिंह, शिवनंदन सहाय आदि ने द्विवेदी युग में ही तुलसी के संबंध में बहुत कुछ लिखा था पर उन्होंने तुलसी के जीवन वृत्तांत रचित ग्रंथ, धर्म, मत और दर्शन पर ही अधिक विचार किया था। अतः तुलसी की साहित्यिक आलोचना का कार्य वस्तुतः सन् १९२० के बाद तुलसी ग्रंथावली के तीसरे खंड (सन् १९२३) के प्रकाशन के साथ प्रारंभ हुआ। इस ग्रंथ में तुलसी के जीवन और साहित्य के विविध पक्षों से संबंधित अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, ग्रीव्स, गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, रामचंद्र दुबे, बलदेव उपाध्याय, राजबहादुर लमगोड़ा, सुखराम चौबे, ब्योहार राजेंद्र सिंह और कृष्ण बिहारी मिश्र के निबंध हैं, जिनमें केवल हरिऔध के निबंध में आलोचनात्मक तत्व हैं, अन्य निबंध तुलसी के जीवन, धर्म, रचनाकाल क्रम, दर्शन, धर्म आदि से संबंधित हैं। ग्रंथावली के इस खंड में प्रारंभ में रामचंद्र शुक्ल की ४१ पृष्ठों की प्रस्तावना भी जुड़ी है जिसमें ९० पृष्ठों में तुलसी के जीवन वृत्त से संबंधित बातों पर शोधपूर्ण ढंग से विचार किया गया है और शेष प्रस्तावना शुद्ध साहित्यिक आलोचना है। यही प्रस्तावना 'गोस्वामी तुलसीदास' नाम से एक अलग ग्रंथ के रूप में भी प्रकाशित हुई। श्यामसुंदर दास ने भी इंडियन प्रेस द्वारा प्रकाशित 'मानस' के नवीन संशोधित संस्करण की प्रस्तावना के रूप में गोस्वामीजी के जीवनचरित और ग्रंथों का विवरण विस्तार से लिखा था जो सन् १९३१ में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। सन् १९३१ में हिंदुस्तानी एकेडमी प्रयाग से पीतांबरदत्त बड़थ्वाल और श्यामसुंदर दास द्वारा लिखित गोस्वामी तुलसीदास नामक एक ग्रंथ प्रकाशित हुआ था जिसके कुल २१० पृष्ठों में से १५० पृष्ठों में जीवनवृत्त लिखा गया है। इसका आलोचनात्मक अंश कम होते हुए भी महत्वपूर्ण है। इसी काल के आसपास शुक्लजी, श्यामसुंदरदास और सूर्यकांत शास्त्री के इतिहास ग्रंथ और हरिऔधजी के हिंदी साहित्य के इतिहास विषयक भाषण भी लिखे गए जिनमें तुलसी के जीवन और साहित्य के संबंध में भिन्न भिन्न रूपों में विचार किया गया है। लाला

भगवान 'दीन' ने विनयपत्रिका, कवितावली और दोहावली की टीकाओं के साथ आलोचनात्मक भूमिकाएँ और तुलसी पंचरत्न की प्रस्तावना भी इसी काल में लिखी थी। उनकी कवितावली की टीका का जो नवीन संस्करण सन् १९३१ में प्रकाशित हुआ उसमें विश्वनाथप्रसाद मिश्र लिखित एक लंबी आलोचनात्मक प्रस्तावना भी जोड़ दी गई थी। सन् १९३५ में माताप्रसाद गुप्त का तुलसी संदर्भ नामक शोध निबंधों का संकलन प्रकाशित हुआ जो साहित्यालोचन का नहीं, शोध का ग्रंथ है। उसी वर्ष सद्‌गुरुशरण अवस्थी ने तुलसी की चार छोटी रचनाओं का संग्रह 'तुलसी के चार दल' प्रकाशित किया। इसके पहले भाग में तुलसी का जीवनवृत्त, धर्म, दर्शन और काव्य की विशेषताओं का आलोचनात्मक वर्णन है। सन् १९३७ में रामनरेश त्रिपाठी का 'तुलसीदास और उनकी कविता' नामक ग्रंथ दो भागों में प्रकाशित हुआ, इसके पहले भाग में कवि की जीवनी, तत्संबंधी उपलब्ध सामग्री, तुलसी के रचित ग्रंथों उनकी प्राचीन प्रतियों, टीकाओं आदि के संबंध में विस्तार से विचार किया गया है, और दूसरे भाग में तुलसी की भाषा, धर्म, मत, जानकारी तथा काव्यत्व की समीक्षा की गयी है। सन् १९३८ में बलदेवप्रसाद मिश्र का 'तुलसी दर्शन' नामक ग्रंथ प्रकाशित हुआ जो तुलसी के जीवन, धार्मिक सिद्धांतों और दर्शन से संबंधित शोध ग्रंथ है, आलोचना ग्रंथ नहीं। इन ग्रंथों की भूमिकाओं और निबंधों में से यहाँ केवल उन्हीं के संबंध में विचार किया जायगा जिनमें किसी न किसी अंश में साहित्यिक आलोचना वर्तमान है। औरों के संबंध में विचार नहीं किया जायगा।

तुलसी ग्रंथावली के तीसरे खंड में संकलित निबंधों में कुछ कवि के जीवन-वृत्त से संबंधित हैं, कुछ में उनके दार्शनिक, राजनीतिक और सामाजिक विचारों की समीक्षा की गई है और कुछ में तुलसी के काव्य की संस्कृत, अंग्रेजी और हिंदी के अन्य कवियों की कविताओं से तुलना की गई है। ऐसे निबंधों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी का निबंध है जिन्होंने बहुत ही विद्वत्तापूर्ण ढंग से 'मानस' से उदाहरण देकर तुलसी को अद्वैतवादी सिद्ध किया है। आलोचनात्मक निबंधों में राजबहादुर लमगोड़ा का निबंध हिंदी भाषा और तुलसीकृत रामायण इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि इसमें पहली बार पाश्चात्य साहित्य के काव्य प्रतिमानों के सहारे मानस का मूल्यांकन करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है और साथ ही संस्कृत, अँगरेजी, फारसी और उर्दू के कवियों की काव्यगत विशेषताओं के साथ तुलसी की विशेषताओं की तुलना भी की गई है। यद्यपि इस आलोचना में भावुकता का मिश्रण हो जाने से स्फीति अधिक आ गई है पर 'मानस' की कला और शिल्प के विवेचन की दृष्टि से यह रूढ़िबद्ध शास्त्रीय पद्धति से अलग हटी हुई समीक्षा है। यह दृष्टि मौलिक तो नहीं है पर उसमें

गहराई और सूक्ष्म पकड़ अवश्य है। इस निबंध में लेखक ने पहले अच्छे काव्य के ये लक्षण निर्धारित किए हैं—शब्द शक्ति (ध्वन्यात्मकता और संगीत तत्व, चित्र शक्ति (बिंबयोजना), भाव शक्ति (तन्मयता और भावात्मकता), उपयुक्त शब्द चयन, नाटकीय दृश्य योजना, संवाद, अन्विति और प्रकृतिचित्रण। फिर इन्हीं प्रतिमानों के आधार पर उन्होंने मानस के कतिपय स्थलों की बहुत ही सूक्ष्म और सोदाहरण व्याख्या की है। वर्णों, शब्दों और दृश्यों के चयन का विवेचन करनेवाली यह उस काल की प्रथम आलोचना है। यद्यपि इस निबंध की शैली कथावाचकों जैसी, भावुकतापूर्ण है और उसमें निर्णयात्मक तथा तुलनात्मक पद्धति के कारण स्फीति अधिक है, पर उसके विचार की दिशा अवश्य नई है। हरिऔधजी का निबंध 'गोस्वामी तुलसीदास का महत्व' भावात्मक शैली का है और उदाहरणों तथा अन्य लेखकों के उद्धरणों से भरा हुआ है। मैथ्यू आर्नल्ड, अल्फ्रेड लायल, द्विजेंद्रलाल राय और रवींद्रनाथ टाकुर के आधार पर उन्होंने प्रारंभ में काव्यालोचन की जो 'कसौटी' बनाई है, आगे उसका प्रयोग करना भूलकर वे आदर्शवादी विचारों और भावुकता के प्रवाह में बह गए हैं। इससे इस निबंध में गंभीर विवेचना का अभाव है।

तुलसी ग्रंथावली के इस खंड की प्रस्तावना के रूप में शुक्लजी द्वारा लिखी गई आलोचना हिंदी में अबतक लिखी गई व्यावहारिक आलोचनाओं में सर्वश्रेष्ठ मानी जा सकती है। इसका महत्व इसी से स्पष्ट है कि शुक्लजी के बाद तुलसी के संबंध में जितने लोगों ने समीक्षाएँ लिखीं, प्रायः सबने उन्हीं की बातों को दुहराया है अथवा उन्हीं की स्थापनाओं और शैली को आधार बनाकर अपनी आलोचना का भवन खड़ा किया है। यह प्रस्तावना पहले ज्यों की त्यों 'गोस्वामी तुलसीदास' नाम से पुस्तकरूप में प्रकाशित हुई थी। सन् १६३१ में उसमें से तुलसी के जीवनवृत्तवाला अंश निकालकर तथा तुलसी की भक्तिपद्धति और काव्यपद्धति के विवेचन में कुछ प्रकरण और प्रसंग बढ़ाकर उसका नवीन परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित हुआ था। अतः यहाँ उसी परिवर्द्धित, परिवर्तित संस्करण को आधार बनाकर शुक्लजी की तुलसी विषयक आलोचना के संबंध में विचार किया जायगा। इस ग्रंथ में शुक्लजी ने अपनी ऐतिहासिक समीक्षा पद्धति के अनुसार प्रारंभ में तुलसीकालीन भारत की राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का वर्णन करके उनकी क्रिया प्रतिक्रिया के प्रभाव या प्रतिच्छाया को तुलसी के काव्य में खोजने का प्रयत्न किया है। प्रारंभ के कई अध्यायों (तुलसी की भक्ति पद्धति, प्रकृति और स्वभाव, लोकधर्म, धर्म और जातीयता का समन्वय, मंगलाशा, लोकनीति और मर्यादावाद, शीलसाधना और भक्ति तथा ज्ञान और भक्ति) में शुक्लजी ने वही ऐतिहासिक या समाजशास्त्रीय आलो-

चना की पद्धति अपनाकर तुलसी के काव्य की मूल प्रेरणाओं, उद्देश्य तथा विचारभूमि का अन्वेषण और तर्कपूर्ण विवेचन किया है। यद्यपि इस विवेचन में उन्होंने अपनी व्यक्तिगत पूर्वग्रहयुक्त धारणाओं और संस्कारों से ही अधिक काम लिया है जिससे उनके निर्णय तटस्थ नहीं रह सके हैं, फिर भी उनकी दृष्टि की गहरी पैठ, विश्लेषण की अद्भुत क्षमता और अगाध पांडित्य का परिचय पंक्ति पंक्ति में मिलता है। इस विवेचना से स्पष्ट हो जाता है कि शुक्लजी वर्णाश्रम धर्म में विश्वास करनेवाले, शास्त्रसंमत नैतिकता और लोकमर्यादा के कट्टर विश्वासी, वैष्णव धर्म के उदार और समन्वयवादी आचार विचारों के संस्कार-वाले व्यक्ति थे और अपनी इन्हीं धारणाओं और संस्कारों को उन्होंने तुलसी के दर्शन, उपासनापद्धति तथा धर्मनिरूपण के विवेचन में प्रतिमान के रूप में प्रयुक्त किया है, यद्यपि उन्होंने अपनी तर्कशक्ति और पांडित्य के बल पर उन वैयक्तिक धारणाओं और संस्कारों का आधुनिक युग के अनुरूप बौद्धिकीकरण भी किया है जो द्विवेदीयुगीन आदर्शवादी, सुधारवादी और नैतिकतावादी दृष्टिकोण के सर्वथा मेल में है। भक्तिकालीन हिंदी साहित्य को देखने की उनकी दृष्टि हिंदूदृष्टि है जिससे वे मुसलमानों के साम्राज्यस्थापन के कारण उत्पन्न निराशा की भावना को ही भक्ति आंदोलन से उदय का कारण मानते हैं। वैष्णव धर्म की दृष्टि उन्हें निर्गुणपंथ, योगमार्ग, नाथसंप्रदाय, सहजयान आदि को संकीर्ण, कट्टर, लोकधर्म विरहित और असामाजिक सिद्ध करने के लिये बाध्य करती है। अपने अवतारवादी और पंच देववादी स्मार्त संस्कारों के कारण वे सूफीमार्ग की उपासना को 'आशिकी रंगढंग' वाली तथा कृष्ण भक्ति को ऐकांतिक और लोकबाह्य प्रेम की पद्धति कहकर उनकी भर्त्सना करते हैं क्योंकि उन्हें तुलसी की विशिष्टाद्वैतवादी सगुण रामभक्ति को उनकी तुलना में श्रेष्ठ ठहराना है। वे लोक को व्यवस्थित करनेवाली मर्यादा को ही धर्म की प्रमुख कसौटी मानते हैं और इस बात को एकदम भुला देते हैं कि आध्यात्मिक साधना की ऐसी अनेक पद्धतियाँ इस देश में बहुत पहले से चली आ रही थीं, जो जगत् और जागतिक जीवन को माया का प्रपंच और साधना के मार्ग में बाधक मानती थीं। इसी लिये शुक्लजी पूर्व परंपराओं पर विचार करते समय सांख्य, योग, मीमांसा आदि दर्शनों तथा उपनिषदों की ओर या बौद्ध और जैन धर्मसाधनाओं की ओर, जो श्रमण संस्कृति की परंपरा की देन है, नहीं जाते; केवल वेदों, स्मृतियों और वैष्णव संप्रदायों की ब्राह्मण परंपरावाली धर्मसाधनाओं और लोकमर्यादाओं तक ही रह जाते हैं।

इस तरह लोकादर्श से उनका तात्पर्य राम के जीवनगत आदर्शों से है। उनकी दृष्टि में वर्णाश्रम व्यवस्था की रक्षा हिंदू शास्त्रों का पठन पाठन और स्मृतियों के नियमों का पालन ही लोकमर्यादा है। उनके लोकधर्म और लोकहित

का अर्थ वस्तुतः उच्चवर्गीय हिंदुओं के हितों की रक्षा, उनका राजनीतिक और आर्थिक लाभ है। उपर्युक्त कथन की पुष्टि शुक्लजी के इन वाक्यों से हो जाती है—'तुलसीदास के समय में दो प्रकार के भक्त पाए जाते थे। एक तो प्राचीन परंपरा के रामकृष्णोपासक जो वेदशास्त्रज्ञ तत्वदर्शी आचार्यों द्वारा प्रवर्तित संप्रदायों के अनुयायी थे; जो अपने उपदेशों में दर्शन, इतिहास, पुराण आदि के प्रसंग लाते थे। दूसरे वे जो समाजव्यवस्था की निंदा और पूज्य तथा संमानित व्यक्तियों के उपहास द्वारा लोगों को आकर्षित करते थे। समाज की व्यवस्था में कुछ विकार आ जाने से ऐसे लोगों के लिये अच्छा मैदान हो जाता है। समाज के बीच शासकों, कुलीनों, श्रीमानों, विद्वानों, शूरवीरों, आचार्यों इत्यादि को अवश्य अधिकार और संमान कुछ अधिक प्राप्त रहता है, अतः ऐसे लोगों की भी कुछ संख्या सदा रहती है, जो उन्हें अकारण ईर्ष्या और द्वेष की दृष्टि से देखते हैं। और उन्हें नीचा दिखाकर अपने अहंकार को तुष्ट करने की ताक में रहते हैं।......योरप में जो सामाजिक अशांति चली आ रही है वह बहुत कुछ ऐसे ही लोगों के कारण।... इन्हीं उन्मादियों के हाथ में पड़कर वहाँ का समाज छिन्नभिन्न हो रहा है।'[1] इससे स्पष्ट है कि शुक्लजी वर्णाश्रम धर्म और सामंती समाजव्यवस्था में परिवर्तन के विरोधी थे और सामाजिक, धार्मिक या राजनीतिक क्रांति जो 'यथास्थिति' में उलटफेर कर देती है, उन्हें पसंद नहीं थी। इसी कारण उन्होंने सामाजिक क्रांति के पोषक और धार्मिक बाह्याचार के विरोधी कबीर आदि निर्गुण संतों को लक्ष्य करके उपर्युक्त मत व्यक्त किया है। तुलसीदासजी स्वयं वर्णाश्रम धर्म और सामंती समाजव्यवस्था के समर्थक थे। शुक्लजी के शब्दों में ही 'गोस्वामीजी का समाज का आदर्श वही था जिसका निरूपण वेद, पुराण, स्मृति आदि में है, अर्थात् वर्णाश्रम की पूर्ण प्रतिष्ठा।'[2] उसी तरह आदर्श और लोकमर्यादा संबंधी तुलसी की मान्यता भी सामंती और रूढ़िवादी थी, जिसका समर्थन शुक्लजी ने बहुत ही आवेशपूर्ण ढंग से किया है।[3] इन कारणों से शुक्लजी का तुलसी के प्रति पक्षपात और अगाध श्रद्धा होना स्वाभाविक ही है।

शुक्लजी के संस्कार और दृष्टिकोण चाहे जैसे हों, पर उनकी यह स्थापना बिलकुल सही है कि प्रेम और भक्ति का आलंबन सदाचारपूर्ण शील या चरित्र है। सदाचार की परिभाषा और मान्यता भिन्न भिन्न हो सकती है पर उससे इस

[1] गोस्वामी तुलसीदास—सप्तम संस्करण, (सन् १९४२)—पृष्ठ २०–२१।
[2] वही, पृष्ठ ३८।
[3] वही, पृष्ठ ३६, ४१, ४६।

मनोवैज्ञानिक तथ्य में कोई अंतर नहीं पड़ता। अतः तुलसीदास ने अपनी दृष्टि से समाज के हितसाधक जिस आदर्श चरित्र की अवतारणा की उसका शील-निरूपण भी उन्होंने अपने दृष्टिकोण के अनुरूप ही किया है। उस दृष्टिकोणवाले व्यक्तियों की ही उस आदर्श महापुरुष में श्रद्धा और भक्ति होगी, सबकी नहीं हो सकती। शुक्लजी ने आदर्श पुरुष के शील के कुछ सामान्य गुणों— दया, क्षमा, संकोच भाव, कृतज्ञता, विनय, सरलता आदि का उल्लेख किया है जो मानवीय गुण हैं अर्थात् जो सार्वकालिक और सार्वदेशिक सत्य हैं। ऐसे गुणोंवाले चरित्रों के प्रति सभी देशों और सभी काल के लोगों के मन में भक्तिभावना उत्पन्न होती है। वाल्मीकि ने भी रामायण के प्रारंभ में ही राम के इन गुणों का उल्लेख किया है। पर शुक्लजी ने वाल्मीकि के राम को नहीं, तुलसी के राम को आदर्श पुरुष माना है। इसका कारण यह है कि वाल्मीकि के राम युग के महापुरुष मात्र है - (कोन्वस्मिन् सांप्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्), पर तुलसी के राम स्वयं भगवान् हैं जो लोकधर्म, लोकमर्यादा और वर्णव्यवस्था को पुनः प्रतिष्ठापित करने के लिये अवतरित हुए हैं। अतः शुक्लजी चाहे जितने मानवीय गुणों का हवाला दें, उनकी रामभक्ति, राम के भगवान् होने के कारण है, उन मानवीय गुणों के कारण नहीं तुलसी के राम, शुक्लजी के शब्दों में, शक्ति, शील और सौंदर्य भगवान् की इन तीनों विभूतियों से युक्त हैं और इसी से तुलसी का राम विषयक शीलनिरूपण काव्य के लिये सबसे अधिक उपयुक्त और रसोपकारक है। इस तरह शुक्लजी शील और भक्ति का आधार आधेय संबंध मानकर राम के शीलनिरूपण द्वारा तुलसी की भक्ति भावना की अभिव्यक्ति को मनोवैज्ञानिक तथ्य सिद्ध करना चाहते हैं। तुलसी और शुक्लजी के लिये तो यह बात मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सही है पर तुलसी के काव्य के सभी पाठकों के लिये यह सत्य नहीं हो सकती। क्योंकि सभी राम को भगवान् या ईश्वर का अवतार मानने को बाध्य नहीं किए जा सकते, और तुलसी के राम से यदि ब्रह्मत्व या अवतारी रूप हटा दिया जाय तो निश्चय ही वे शील की उच्चता में वाल्मीकी के राम की बराबरी नहीं कर सकते। अतः भक्तिभावना को अलग हटाकर यदि केवल काव्यगत शीलनिरूपण की दृष्टि से देखा जाय तो शायद मनोवैज्ञानिक और मानवीय दृष्टि से तुलसी को महान् चरित्रों का निर्माता न मान जाय। कहने का तात्पर्य यह है कि शुक्लजी ने काव्यगत समीक्षा में शीलनिरूपण के अंतर्गत भक्ति को व्यर्थ ही घसीटा है।

शुक्लजी की स्थापनाएँ बहुत ही तर्कपूर्ण और परस्पर शृंखलित हैं। उन्होंने अपनी सभी स्थापनाओं का संबंध सगुण मतवाद से जोड़कर उनका विवेचन और प्रतिपादन किया है। उदाहरण के लिये 'लोकमंगल की साधनावस्था' का

उनका पूर्ववर्ती सिद्धांत[1] और 'गोस्वामी तुलसीदास' ग्रंथ में 'लोकधर्म और 'मंगलाशा' संबंधी मान्यताएँ एक दूसरे से शृंखलाबद्ध सी हैं। भगवान् का अवतार रामराज्य की स्थापना के लिये होता है क्योंकि उसी से लोक की रक्षा और मंगल होता है। लोकरक्षा और लोकरंजन भगवान् के सत् और आनंद पक्ष के द्योतक हैं। अतः लोकमंगल का अभिलाषी सगुण ब्रह्म या अवतारी ब्रह्म की भक्ति में भी अनिवार्यतः विश्वास करेगा या इसे उलटकर कह सकते है कि सगुण भक्त लोक की रक्षा और रंजन में अवश्य आस्था रखेगा। इसी से उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि जो सगुण भक्त नहीं है वह लोकरक्षा और लोकमंगल की बात सोच ही नहीं सकता, गो कि उनका यह तर्क हेत्वाभास (फैलेसी) मात्र है। इस तरह लोकरक्षा और लोकमंगल का कार्य ही लोकधर्म है। यहाँतक तो ठीक है पर यह लोकमंगल और लोकरंजन हैं क्या? शुक्लजी के शब्दों में 'लोकसंग्रही वे हैं जो समाज की व्यवस्था और मर्यादा की रक्षा में तत्पर रहते हैं और भिन्न भिन्न वर्गों के परस्पर संबंध को सुखावह और कल्याणप्रद करने की चेष्टा करते रहते हैं।'[2] लोकसंग्रह का यह कार्य भगवान् का कार्य है क्योंकि शक्ति, शील और सौंदर्य की पराकाष्ठा भगवान् का व्यक्त या सगुण स्वरूप है। इनमें से सौंदर्य और शील भगवान् के लोकपालन और लोकरंजन के लक्षण हैं। और शक्ति उद्भव और लय का लक्षण है।'[3] जो व्यक्ति केवल भगवान् की शक्ति की अनंतता के मूल उत्स तक जाने के लिये उत्सुक होता है वह ज्ञानमार्गी होता है पर यह मार्ग बहुत कठिन है। यद्यपि वह 'भक्ति का ही एक रूप है पर एक ऐसे कठिन क्षेत्र को ओर ले जानेवाला है जिसमें कोई बिरला ही ठहर सकता है।'[4] ज्ञानमार्गी रागात्मिका वृत्ति को मार डालना चाहता है पर यह केवल बात की बात है। अतः उसे मारने का प्रयत्न न करके 'एक अच्छी जगह टिका देना चाहिए—ऐसी जगह टिका देना चाहिए जहाँ से वह न लोकधर्म के पालन में, न शील की उच्च साधना में और न ज्ञान के मार्ग में बाधक हो सके। इसके लिये भगवान् के सगुण रूप से बढ़कर और क्या आलंबन हो सकता है जिसमें शील, शक्ति और सौंदर्य तीनों परमावस्था को प्राप्त होते हैं।'[5] इस प्रकार शुक्ल जी के तर्क का चक्र पूरा होता है—भगवान् के सगुण रूप से लोक की रक्षा, लोकरक्षा

[1] चिंतामणि, भाग १, पृष्ठ २१३।
[2] वही—पृष्ठ—२५।
[3] वही—पृष्ठ ६२।
[4] वही—पृष्ठ ६२।
[5] वही—पृष्ठ ६३।

या लोकमंगल से लोकधर्म, लोकधर्म से सगुण भक्ति, सगुण भक्ति से शील, शक्ति और सौंदर्य के चरम रूप सगुण ब्रह्म और उसके व्यक्त रूप 'लोक' के प्रति प्रेम।

इन सब तर्कों का सहारा शुक्लजी ने केवल इसलिये लिया है कि तुलसी को कबीर, जायसी, सूर आदि पूर्ववर्ती भिन्न मतवादी कवियों से श्रेष्ठ सिद्ध किया जा सके। इस कार्य के लिये शुक्लजी को धार्मिक और दार्शनिक मतवादो के तर्कजाल में उलझने की कोई आवश्यकता न होती, यदि वे केवल शुद्ध काव्यालोचन संबंधी प्रतिमानों के आधार पर ही इन कवियों की तुलना करते, क्योंकि तब भी तुलसी का स्थान सूर, कबीर और जायसी से नीचे शायद ही जा पाता। पर उन्हें तो तुलसी के धार्मिक और सामाजिक आदर्शों में ही अपने आदर्श भी दिखाई पड़े थे, इसी लिये काव्य के उद्देश्यों और उसकी उपयोगिता की ओर उन्होंने इतना अधिक और अनावश्यक ध्यान दिया। कवि की आलोचना उसके काव्य की विशेषताओं और सौंदर्यबोधात्मक मूल्यों के आधार पर होनी चाहिए, उसमें निहित धार्मिक, दार्शनिक, राजनीतिक सिद्धांतों के आधार पर नहीं। यह उद्देश्य महाकवि की कविता में अवश्य होता है, पर वह सदैव उपयोगितावादी ही नहीं होता। अतः यदि कवि के उद्देश्यों की परीक्षा करनी ही हो तो तटस्थ रूप से करनी चाहिए। शुक्लजी अपनी आदर्शवादी और उपयोगितावादी दृष्टि के कारण व्यावहारिक आलोचना में तटस्थ नहीं रह सके, यह एक सर्वविदित सत्य है। इसी से वे कबीर और तुलसी के मूल्यांकन में दुहरे प्रतिमानों का प्रयोग करते हैं; कबीर की भर्त्सना इसलिये करते हैं कि उनमें नीति और ज्ञान की अधिकता है पर इन्हीं बातों को तुलसी में देखकर वे उनकी प्रशंसा इन शब्दों में करते हैं—'दोहावली के समान रामचरित मानस में भी गोस्वामीजी कवि के रूप में ही नहीं धर्मोपदेष्टा नीतिकार के रूप में भी हमारे सामने आते हैं। ......इसी एक ग्रंथ से जनसाधारण को नीति का उपदेश, सत्कर्म की उत्तेजना, दुःख में धैर्य, आनंदोत्सव में उत्साह, कठिन स्थिति को पार करने का बल सब कुछ प्राप्त होता है।'[१] यदि कवि की महत्ता नीति और धर्म के उपदेश के कारण ही है तो कबीर तुलसी से किसी भी तरह कम नहीं, बढ़कर ही हैं। कबीर के काव्य का प्रभाव आज भी निम्नवर्गीय दलित जातियों के लोगों पर उतना ही है जितना तुलसी का उच्च वर्णवाले लोगों पर। अतः यह काव्यपरीक्षण की कोई सामान्य कसौटी नहीं हुई।

शुक्लजी अपने प्रतिमान की इस कमी से अवगत नहीं थे, यह बात भी नहीं है। शुद्ध काव्य की कसौटी 'रसात्मकता' भी उनके पास थी। पर उसका प्रयोग वे

[१] गोस्वामी तुलसीदास, पृष्ठ ७१।

कबीर आदि को अकवि सिद्ध करने के लिये ही विशेष रूप से करते हैं। पर तुलसी के मूल्यांकन में नैतिक उपदेश और रसात्मकता दोनों को श्रेष्ठ काव्य का लक्षण मानकर चलते हैं। मानस में वे जहाँ धर्मोपदेश की अधिकता देखते हैं उसकी दबी जबान से निंदा करते हुए भी फिर उसके पक्ष में तर्क देने लगते हैं; जैसे— 'यह ग्रंथ एक धर्मग्रंथ के रूप में भी लिखा गया और माना जाता है। इससे शुद्ध काव्य की दृष्टि से देखने पर उसके बहुत से प्रसंग और वर्णन खटकते हैं।·······मानस में उक्त प्रकार के उपदेशात्मक वचन किसी न किसी पात्र के मुँह से कहलाए गए हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि ऐसे वचन पात्रों के शील-व्यंजक मात्र हैं और काव्यप्रबंध के अंतर्गत हैं।'[1] यद्यपि शुक्लजी ईमानदारी से ऐसे स्थलों को काव्यत्वहीन और नीरस मानते हैं पर साथ ही यह भी कह देते हैं कि 'जैसे समूचे प्रबंध के रस के बीच में आए हुए 'आगे चले बहुरि रघुराई' ऐसे नीरस पद भी रसवान हो जाते हैं, वैसे ही इस प्रकार के कोरे उपदेश भी।'[2] इस तरह काव्य की रसात्मक स्थिति के लिये वे प्रबंध काव्य को मुक्तक या गीति-काव्य से अधिक उपयुक्त या श्रेष्ठ मानते हैं। यह भी शुक्लजी की काव्यसमीक्षा का एक महत्वपूर्ण प्रतिमान है जिसका प्रयोग उन्होंने अपने अन्य निबंधों और भूमिकाओं में भी किया है। उनके अनुसार 'प्रबंध काव्य सदा बाह्यार्थनिरूपक (आब्जेक्टिव) होता है।'[3] प्रबंध काव्य का स्वरूप अनुकृत या प्रकृत (इमीटेटिव या रियलिस्टिक) होता है और मुक्तक या प्रगीत का अतिरंजित या प्रगीतात्मक (एक्जैगरेटिव या लिरिकल) होता है। इनमें से प्रथम प्रकार के काव्य का आधार वास्तविकता होती है। प्रबंध काव्य में कवि कल्पनातिरंजित रूपों, व्यापारों और भावों की व्यंजना नहीं करता, वास्तविक जीवन के भीतर आनेवाली प्रत्येक दशा और परिस्थिति का मर्मस्पर्शी चित्रण करता है। जीवन के मर्मस्पर्शी व्यापारों की पहिचान प्रबंधकार कवि को जितनी होती है उतनी प्रगीत कवि को नहीं। इस तरह शुक्लजी प्रबंधकाव्य के पक्षपाती इसलिये हैं कि वह बाह्यार्थनिरूपक होता है और बाह्यार्थनिरूपण इस कारण अधिक अच्छा है कि वह वास्तविकता पर आधारित होता है, और वास्तविक जीवन दशाओं के मार्मिक रूपों का चित्रण कवि का प्रमुख कर्तव्य है जो प्रबंध काव्य में ही संभव है। इसी सिद्धांत के अनुसार शुक्लजी ने तुलसी की भावुकता और जायसी की प्रबंधपटुता की प्रशंसा की है और सूर, कबीर आदि को मुक्तक या प्रगीत कवि होने के कारण, अधिक महत्व

[1] गोस्वामी तुलसीदास, पृष्ठ ७२।
[2] वही, पृष्ठ ७३।
[3] वही, पृष्ठ ७८।

नहीं दिया है। ऐसे कवियों को वे हेय दृष्टि से देखकर फुटकरिया कवि कहते हैं—'कहने की आवश्यकता नहीं कि इस उच्चभूमि में आने पर फुटकरिये कवि पीछे छूट जाते हैं. केवल प्रबंधकुशल कवि ही दिखाई पड़ते हैं।'[1] अतः इसी प्रतिमान के सहारे शुक्लजी ने इस ग्रंथ में तुलसी की भावुकता की परीक्षा करते हुए विभिन्न भावों, संचारियों, अनुभावों, चेष्टाओं आदि का नए ढंग से सोदाहरण विवेचन किया है।

शुक्लजी प्रबंध काव्य को इसलिये भी श्रेष्ठ मानते हैं कि उसमें शीलनिरूपण और चरित्रचित्रण द्वारा आदर्श चरित्रों और सत्प्रवृत्तियों को महत्ता और विजय तथा दुष्ट चरित्रों एवं असत्प्रवृत्तियों की हेयता और पराभव दिखाने का अवकाश रहता है। जीवन के मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचानकर उनके चित्रण द्वारा पाठकों में रससंचार करना प्रबंधकार कवि के लिये जितना आवश्यक है उतना ही शील-निरूपण द्वारा आदर्शों की स्थापना भी। इसी दृष्टि से शुक्लजी प्रबंधकार कवियों में भी तुलसी को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, क्योंकि 'चारणकाल के चंद आदि कवियों' ने प्रबंध काव्यों में चरित्रचित्रण को वैसा स्थान नहीं दिया और 'जायसी आदि मुसलमान कवियों की प्रबंधधारा केवल प्रेमपथ का निदर्शन करती गई है।'[2] केवल तुलसी ने आदर्श चरित्रों की अवतारणा की ओर सबसे अधिक ध्यान दिया है। आदर्श चरित्र शुक्लजी ने दो प्रकार के माने हैं—सात्विक वृत्तिवाले और तामस वाले। राम सात्विक भावोंवाले आदर्श चरित्र हैं तो रावण तामस भावोंवाला। यह वर्गीकरण शुक्लजी की निजी देन है। शीलनिरूपण अथवा भावों के विवेचन में उन्होंने प्राचीन साहित्यशास्त्र का अंधानुकरण नहीं किया है बल्कि पाश्चात्य साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों तथा प्राचीन भारतीय आलंकारिकों के मतों का समन्वय करते हुए चरित्रविश्लेषण और रसभावविवेचन में प्रवृत्त हुए हैं। तुलसी के काव्य में प्रयुक्त अलंकारों का विवेचन भी उन्होंने रसवादी आचार्यों की भाँति अलंकार को रस (अलंकार्य) का उपकारक मानकर किया है और साथ ही आधुनिक दृष्टि से भी उनपर विचार करते गए हैं। इसी समन्वयवादी दृष्टिकोण के फलस्वरूप वे अलंकार को 'कथन की एक युक्ति या वर्णन शैली मात्र' मानते हैं। तुलसी के काव्य में प्रयुक्त अलंकारों को उन्होंने चार वर्गों में विभक्त किया है—भावोत्कर्षक, तथा रूप, गुण और क्रिया का अनुभव तीव्र करने में सहायक। यद्यपि उन्होंने प्राचीन अलंकारों को ही लिया है पर उनके विवेचन

[1] गोस्वामी तुलसीदास, पृष्ठ ११३।
[2] वही, पृष्ठ ११३।

की पद्धति नवीन है। वस्तुवर्णन के विवेचन में उन्होंने अपनी वर्ण्य वस्तु का संश्लिष्ट चित्र उपस्थित करने में ही कवि की कुशलता मानी है ताकि पाठकों को उसका बिंबग्रहण हो सके। उनका यह पूर्व निश्चित प्रतिमान[1] उनकी सभी व्यावहारिक समीक्षाओं से प्रयुक्त हुआ है। यह प्रतिमान भी उन्हें पाश्चात्य मनोविज्ञान और साहित्यशास्त्र के अध्ययन से उपलब्ध हुआ है, भारतीय साहित्यशास्त्र से नहीं। इसी दृष्टि से उन्होने तुलसी के प्रकृतिचित्रण और वस्तुवर्णन में संश्लिष्ट बिंबों की खोज की है।

इस प्रकार शुक्लजी की यह आलोचनात्मक कृति हिंदी की व्यावहारिक आलोचना को अपनी नवीनता, गहराई, समन्वयात्मकता तथा सुदृढ़ सैद्धांतिक आधार के कारण एक नवीन दिशा में मोड़नेवाली सिद्ध हुई। शुक्लजी ने 'गोस्वामी तुलसीदास' में जिस गंभीर विवेचनापद्धति का प्रारंभ किया उसका विकास उन्होंने जायसी, सूर और आधुनिक कवियों की समीक्षा में किया। इस आलोचना में उन्होंने व्याख्यात्मक पद्धति को भी काफी दूर तक अपनाया है; विशेषकर 'तुलसी की भावुकता', 'बाह्यदृश्य चित्रण' और 'अलंकारविधान' के प्रसंग में, पर उससे पूरे ग्रंथ के समन्वित प्रभाव में अधिक बाधा नहीं पड़ती।

लाला भगवानदीन ने दोहावली और कवितावली की टीकाओं के साथ जो प्रस्तावनाएँ लिखी हैं, उनमें उल्लेखनीय आलोचनात्मक गुणों का अभाव दिखाई पड़ता है। उनकी दृष्टि मूलतः परंपराविहित और शास्त्रीय है। इसी लिये दोहावली की प्रस्तावना में वे आरंभ में ही कह देते हैं कि अलंकार, रस, ध्वनि और व्यंजना के सम्यक् ज्ञान बिना कविता का भाव ठीक से नहीं समझा जा सकता। इनमें से भी वे ध्वनि को अधिक महत्व देते हुए कहते हैं—'सचमुच ध्वनि काव्य की आत्मा ही है। जिस कविता में अच्छी ध्वनि नहीं वह अच्छी कविता नहीं।'[2] इस शास्त्रीय प्रतिमान का प्रयोग यद्यपि उन्होंने भूमिका के भीतर नहीं किया पर दोहों की टीका में अलंकारों का निर्देश करते गए हैं। कवितावली की प्रस्तावना में अवश्य उन्होंने परिचयात्मक ढंग से तुलसी के छंदचयन, अलंकारविधान, रसयोजना, भाषा और शैली पर विचार किया है। पर शास्त्रीय दृष्टि का उन्होंने आधुनिक दृष्टि के साथ समन्वय करने का भी प्रयास किया था; यह बात दोहावली की भूमिका में तुलसी की उपासनापद्धति, ज्ञान और भक्ति, प्रेम पद्धति, जानकारी आदि के विवेचन में देखी जा सकती है। कहीं कहीं तो उनकी विवेचनापद्धति ही नहीं,

[1] काव्य में प्राकृतिक दृश्य चिंतामणि, दूसरा भाग।
[2] दोहावली (सटीक) टी॰ लाला भगवानदीन, भूमिका, पृष्ठ २।

विचार भी शुक्लजी से बिलकुल मिल जाते हैं जैसे सगुण मत तथा ज्ञान और भक्ति के विवेचन में। लालाजी ने हिंदू विश्वविद्यालय के अन्य अध्यापक आलोचकों रामचन्द्र शुक्ल और श्यामसुंदरदास से मानों पीछे रहने के लिये ही समन्वय का मार्ग विवश होकर ग्रहण किया था। बाबू श्यामसुंदरदास की वृत्ति आलोचनात्मक से अधिक शोधात्मक और संकलनात्मक थी। इसका प्रमाण उनकी 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक दोनों पुस्तकें हैं। दोनों में ही तुलसी के जीवनवृत्त से संबंधित बातों का संकलन ही अधिक है। जीवनवृत्तवाला अंश तो दोनों में भिन्न भिन्न है पर पहली पुस्तक का 'गोस्वामीजी की कला' शीर्षक अध्याय १६४१ वाली पुस्तक में भी नया शीर्षक 'गोस्वामी जी का काव्यसौंदर्य' देकर जैसा का तैसा रख लिया गया है। यद्यपि इस विवेचन में शुक्लजी के मार्ग—भक्ति का स्वरूप-निरूपण, तल्लीनता, प्रबंधपटुता रसों, भावों, संचारियों आदि का विवेचन, भाषा-सौष्ठव आदि को ही अपनाया गया है पर श्यामसुंदरदास की स्थापनाएँ शुक्लजी से अनेक जगह भिन्न हैं। उन्होंने काव्य को कला मानकर विचार किया है और सौंदर्यवादी आलोचकों की तरह कविता को सहज भावोद्रेक कहा है। इसी दृष्टि से उन्होंने तुलसी के काव्य की परीक्षा की है। आदर्श चरित्रों की अवतारणा लोक-मर्यादा की रक्षा, मनोवृत्तियों के सूक्ष्म ज्ञान, रसयोजना, तुलसी की उदारता और सारग्राहिता, भाषा और शैली आदि का विवेचन प्रायः शुक्लजी के अनुसार ही किया गया है जिससे इस विवेचन में कोई नवीनता नहीं है। तुलसी के व्यवहार धर्म, तत्वसाधन और व्यक्तित्व का विश्लेषण भी शुक्लजी के विश्लेषण की तुलना में बहुत ही सामान्य प्रतीत होता है।

सन् १६३१ में लाला भगवानदीन की सटीक कवितावली की प्रस्तावना के रूप में विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने तुलसी की जो सामान्य परिचयात्मक समीक्षा लिखी थी उसमें शुक्लजी की ऐतिहासिक समीक्षापद्धति और लालाजी की शास्त्रीयपद्धति का समन्वय किया गया है। प्रारंभ में उन्होंने शुक्लजी के ही आधार पर तुलसीकालीन धार्मिक परिस्थितियों का परिचय दिया है और निर्गुण मत की अपेक्षा सगुण मत को रागात्मिका वृत्ति से युक्त होने के कारण लोक के लिये अधिक उपयुक्त ठहराया है। उन्होंने तुलसी की महत्ता उनके सांप्रदायिक समन्वय की भावना, लोकमर्यादा की रक्षा की प्रवृत्ति, तत्कालीन प्रचलित विभिन्न काव्यशैलियों के ग्रहण, जनता की रुचि परिष्कृत करने के प्रयत्न आदि में देखी है। यह सब शुक्लजी की ही स्थापनाओं की उद्धरणी है। कवितावली की भाषा, रस और भावव्यंजना की व्याख्या और उसमें प्रयुक्त अलंकार, ध्वनि आदि का विवेचन उन्होंने लालाजी की पद्धति से किया है। निष्कर्ष यह कि यह समीक्षा विद्यार्थियों के काम की ही अधिक थी, उसमें

लेखक की स्वतंत्र उद्भावना नहीं थी और न उसके लिखने में लेखक का ऐसा कोई बड़ा उद्देश्य ही था।

सद्गुरुशरण अवस्थी ने 'तुलसी के चार दल' में तुलसीदास के चार लघु काव्यों—रामलला नहछू, बरवै रामायण, पार्वती मंगल और जानकी मंगल—के संबंध में अपने विविध प्रकार के विचार व्यक्त किए हैं। वस्तुतः इसे सही अर्थ में आलोचना का ग्रंथ न कहकर परिचयात्मक या विवरणात्मक ग्रंथ ही कहा जा सकता है क्योंकि व्यावहारिक आलोचना की विवेचनात्मक, व्याख्यात्मक, ऐतिहासिक, शास्त्रीय, प्रभावात्मक आदि में से किसी भी पद्धति का इसमें अवलंबन नहीं किया गया है और न किसी ग्रंथ की सांगोपांग साहित्यिक समीक्षा लिखने का लेखक का उद्देश्य ही जान पड़ता है। जगह जगह अनावश्यक और अप्रासंगिक विषयों की लंबी विवेचना दे दी गई है जिसका आलोच्य विषय से कोई संबंध नहीं है। केवल एक अध्याय 'काव्यकला और गोस्वामीजी की निजी प्रेरणा' में साहित्यिक समीक्षा है पर वह भी सैद्धांतिक है, व्यावहारिक नहीं। अन्य अध्यायों में बीच बीच में कहीं अलंकारयोजना, कहीं रसयोजना और कहीं चरित्रचित्रण के संबंध में चलते ढंग से विचार कर लिया गया है।[१] अतः सांगोपांग व्यावहारिक समीक्षा की दृष्टि से यह ग्रंथ महत्वहीन है। यही स्थिति रामनरेश त्रिपाठी की पुस्तक 'तुलसीदास और उनकी कविता' की भी है। उसका पहला भाग तो कवि के जीवनवृत्त से संबंधित है और दूसरे भाग में तुलसी की भाषा, वाणीविलास, महाकाव्यत्व और काव्यसंपदा शीर्षक अध्यायों में साहित्यिक समीक्षा के नाम पर केवल तुलसी के काव्य से उदाहरणों का अंबार खड़ा किया गया है अथवा ग्रंथ का आकार मोटा बनाया गया है। ऐसा लगता है कि लेखक समीक्षाशास्त्र की सामान्य जानकारी के बल पर ऐसा काम हाथ में ले बैठा है जो उसके बूते का नहीं है।

तुलसी साहित्य की दो ऐसी समीक्षाएँ इस काल में और लिखी गईं जिनमें शोध सामग्री और ऐतिहासिक इतिवृत्त के साथ साथ तुलसी के काव्य की विद्वत्तापूर्ण समीक्षा की गई है। इनमें से प्रथम रामकुमार वर्मा का इतिहासग्रंथ और द्वितीय माताप्रसाद गुप्त का 'तुलसीदास' हैं। रामकुमार वर्मा ने तुलसी के संबंध में अपने इतिहास के १७८ पृष्ठों में विचार किया है। इसमें कवि के जीवनवृत्त और रचनाक्रम के साथ समीक्षा की पूर्वप्रचलित परंपरा के अनुसार तुलसी और राजनीति, तुलसी और समाज जैसे विषयों पर भी विचार किया गया

[१] देखिये तुलसी के चार दल, पुस्तक पहली—पृष्ठ १२६, २१३, २६७।

है जो शुक्लजी की पद्धति की तरह साहित्यिक समीक्षा के भीतर अंतर्भुक्त नहीं हो सका है। इस आलोचना का आकार अलग अलग ग्रंथों के छंद, वर्ण्यविषय आदि के विस्तृत विवरण के कारण बढ़ गया है। आलोचना का मुख्य स्वर शास्त्रीय है। लेखक ने सभी ग्रंथों की आलोचना में रस, भाव, संचारी भाव, अनुभाव, अलंकार, गुण, चरित्रचित्रण, आदि की विवेचना की है। फलतः इस आलोचना में कोई नवीन उद्भावना या गहराई नहीं दिखाई पड़ती। वर्माजी ने कहीं कहीं निर्णयात्मक और तुलनात्मक पद्धति अपनाकर भी तुलसी की महत्ता प्रतिपादित की है। तुलसी के दार्शनिक और सामाजिक विचारों की आलोचना में उन्होंने जो निष्कर्ष निकाले हैं वे शुक्लजी के निष्कर्षों से अधिक भिन्न नहीं हैं। इस प्रसंग में उनकी नवीनता यही है कि उन्होंने विशिष्टाद्वैत के सिद्धांतों की विस्तृत व्याख्या भी की है और यह स्पष्ट कहा है कि तुलसीदास विशिष्टाद्वैतवादी थे। माताप्रसाद गुप्त की पुस्तक तुलसीदास यद्यपि सन् १९४२ में प्रकाशित हुई पर वह १९३७ में ही लिखी जा चुकी थी। मुख्यतः तुलसी के जीवन से संबंधित शोधग्रंथ होने के कारण इसमें केवल एक अध्याय में तुलसी की 'कला' का विवेचन किया गया है। इसमें भी चरित्रचित्रण, रस, भाव, वस्तुविन्यास नखशिख वर्णन, कल्पना-चित्रण (अलंकार विधान), उक्तिवैचित्र्य और शैली की दृष्टि से शास्त्रीय ढंग से तुलसी के सभी ग्रंथों की सोदाहरण समीक्षा प्रस्तुत की गई है। निश्चय ही यह शास्त्रीय ढंग की एक प्रौढ़ समीक्षा है पर पाठकों को इससे तुलसी के काव्य को समझने की कोई नवीन दृष्टि नहीं मिल सकती। उक्तिवैचित्र्य और शैली के विवेचन मे अवश्य उन्होंने शास्त्रीय पद्धति से कुछ हटकर विवेचना की है; उदाहरणार्थ शैली के अंतर्गत उन्होंने लिखा है—'कवि की शैली का सिंहाव-लोकन करते हुए हम कह सकते हैं कि कवि की शैली के मौलिक गुण हैं उसका आर्जव, उसकी सरलता, उसकी सुबोधता, उसकी निर्व्याजता, उसकी अल्पालंकार-प्रियता, उसकी चारुता, उसकी रमणीयता और उसका प्रवाह।'[1] किंतु इन गुणों की दृष्टि से तुलसी की काव्यशैली की विवेचना मे लेखक विशेष प्रवृत्त नहीं हुआ है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि रामचंद्र शुक्ल के बाद तुलसी के काव्य की सबसे साफसुथरी और व्यवस्थित आलोचना माताप्रसाद गुप्त की ही है। सूर्यकांत शास्त्री ने अपने इतिहासग्रंथ में तुलसीदास के बारे में लिखा तो बहुत है पर उसमें तुलना की प्रवृत्ति इतनी अधिक है कि होमर, शेक्सपीयर, मिल्टन, गेटे, विलियम मारिस आदि पाश्चात्य कवियों की प्रशंसा में ही लेखक ने अपनी सारी शक्ति लगा दी है। तुलसी के काव्य की समीक्षा उसमें ऐसे काव्यात्मक ढंग

[1] तुलसीदास, माताप्रसाद गुप्त, पृ० ३७८।

से की गई है कि तुलसी के काव्य की विशेषताओं पर कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता। इसे प्रभावात्मक समीक्षा का अच्छा उदाहरण माना जा सकता है।

५—केशवदास

केशवदास के ग्रंथों की टीकाएँ तो इस काल में लिखी गईं पर उनसे संबंधित आलोचनाग्रंथ या निबंध अधिक नहीं लिखे गए। लाला भगवानदीन ने कविप्रिया और रामचंद्रिका की टीकाओं की जो भूमिकाएँ लिखीं उन्हें समीक्षा नहीं कह सकते। बाद में रामचंद्र शुक्ल, श्यामसुंदरदास और रामकुमार वर्मा ने अपने इतिहासग्रंथों में केशव के काव्य का मूल्यांकन किया। हरिऔधजी ने भी एक निबंध में केशव के काव्य का महत्व प्रतिपादित किया था। सन् १६३३ में कृष्णशंकर शुक्ल ने 'केशव की काव्यकला' नामक एक ग्रंथ लिखा जिसके संबंध में शुक्लजी ने अपने इतिहास में लिखा है कि 'केशव की काव्यकला में पं० कृष्णशंकर शुक्ल ने अच्छा विद्वत्तापूर्ण अनुसंधान किया है।'[१] इस काल में केशव से संबंधित आलोचनाग्रंथ बस एक यही निकला। उसी वर्ष पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ने भी संक्षिप्त रामचंद्रिका की भूमिका के रूप में एक महत्वपूर्ण समीक्षा लिखी थी।

परंपरागत रूप में हिंदी जगत् में सूर और तुलसी के बाद केशव को ही स्थान दिया जाता रहा है पर शुक्लजी पहले आलोचक हुए जिन्होंने केशव में काव्यत्व का अभाव देखा और नकी खरी आलोचना की। अपने इतिहास में उन्होंने केशव का जो मूल्यांकन किया है वह तटस्थ निर्णयात्मक समीक्षा का उत्कृष्ट उदाहरण है। उनके अनुसार 'केशव को कविहृदय नहीं मिला था। उनमें वह सहृदयता और भावुकता न थी जो एक कवि में होनी चाहिए।'[२] शुक्लजी ने यह बताया है कि केशव का उद्देश्य संस्कृत साहित्य से सामग्री लेकर अपने पांडित्य और रचनाकौशल की धाक जमाना था न कि महान् चरित्रों की अवतारणा करना या जीवन के मार्मिक स्थलों की योजना करके रसव्यंजना करना; इस कारण रामचंद्रिका में न तो प्रबंधपटुता और संबंधनिर्वाह है, न प्राकृतिक दृश्यों का रमणीय चित्रण या दृश्यों की स्थानगत विशेषताओं का उद्घाटन, और न जीवन के मार्मिक और गंभीर पक्षों का वर्णन। केशव की प्रवृत्ति आलंकारिक चमत्कारों की ओर थी, हृदयग्राही वस्तुवर्णन की ओर नहीं, इससे उनके काव्य

[१] हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५६२।
[२] वही, पृष्ठ २०६।

में पददोष, वाक्यदोष अनौचित्यपूर्ण अप्रस्तुत योजना आदि की भरमार है। उनका दृष्टिकोण दरबारी वातावरण और शास्त्रीय रूढ़ियों द्वारा निर्मित हुआ था जिसमें संस्कृत साहित्यशास्त्र में निर्दिष्ट नियमों के अनुसार ही उन्होंने वस्तु-व्यापार-योजना की है, स्वाभाविक कवि कल्पना उनके पास नहीं थी। इतना दोष गिनाने के बाद अंत में शुक्लजी ने सफल संवादयोजना के लिये केशव की प्रशंसा की है और उनका यह महत्व स्वीकार किया है कि 'काव्यांगों का विस्तृत परिचय कराकर उन्होंने आगे के लिये मार्ग खोला'[१]।

श्यामसुंदरदास ने भी अपने इतिहास में केशव को चमत्कारवादी कवि ही माना है और यह मत व्यक्त किया है कि केशव ने अलंकारों के फेर में पड़कर ऐसी जटिल और निरर्थक पदरचना की है जिससे सहृदयों का जी ऊब जाता है। यद्यपि श्यामसुंदरदास ने शुक्लजी की तरह ही केशव के काव्य में अनेक प्रकार के दोष गिनाए हैं पर साथ ही यह भी कहा है कि उन्हें हृदयहीन कहना उनके प्रति अन्याय करना है क्योंकि अनेक स्थलों पर उन्होंने पूर्ण सहृदय होने का परिचय दिया है। केशव की संवादयोजना की भी उन्होंने प्रशंसा की है उपर्युक्त दोनों आचार्यों के मतों का ही जैसे खंडन करते हुए हरिऔधजी ने अपने इतिहास में केशव के काव्य की बहुत अधिक प्रशंसा की है और यहाँतक कह दिया है कि हिंदी में यदि किसी कवि ने सुंदर और संश्लिष्ट प्रकृतिचित्रण किया है तो केशव ने। केशव की 'रामचंद्रिका' का उद्देश्य उन्होंने पांडित्यप्रदर्शन माना है और इसी दृष्टि से उसका मूल्यांकन करने का सुझाव दिया है। उनके अनुसार साहित्य में सरल और प्रसाद गुणवाले काव्यों की ही नहीं, जटिल और गंभीर काव्यों की भी अपनी अलग महत्ता होती है। अतः उनका मत है कि रामचंद्रिका की गंभीरता इस योग्य नहीं कि उसपर कटाक्ष किया जाय। जिस उद्देश्य से यह ग्रंथ लिखा गया है, मैं समझता हूँ, उसकी पूर्ति इस ग्रंथ द्वारा होती है।'[२] उन्होंने केशव की श्लिष्ट पद योजना की भी बहुत सराहना की है। हरिऔधजी के निबंध की एक विशेषता यह है कि उन्होंने केशव की भाषा पर भी विस्तार से और विश्लेषणात्मक पद्धति से विचार किया है। रामकुमार वर्मा ने अपने इतिहास में केशव के जीवनवृत्त और रचित ग्रंथों का विवरण देने के बाद रामचंद्रिका की लंबी समीक्षा प्रस्तुत की है। इस समीक्षा में पूर्ववर्ती आलोचकों की बातें ही दुहराई गई हैं जिससे उसमें कोई नवीनता नहीं है। इसकी विशेषता इतनी ही

[१] हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २११।
[२] हिंदी भाषा और साहित्य का विकास, पृष्ठ २८५।

है कि लेखक ने अपने प्रत्येक कथन की पुष्टि उदाहरणों और उनकी व्याख्या द्वारा की है। हरिऔधजी की तरह रामकुमार वर्मा ने भी केशव के प्रकृतिचित्रण की प्रशंसा करते हुए लिखा है—'केशव का प्रकृतिनिरीक्षण बहुत व्यापक है। उन्होंने अपने सूक्ष्म निरीक्षण और अलंकार के प्रयोग से प्रकृति के दृश्य बहुत सुंदर रीति से प्रस्तुत किए है।'[1] इस कथन की पुष्टि के लिये उन्होंने उदाहरण रूप में जो कविताएँ उद्धृत की हैं उनमें प्रकृति का सश्लिष्ट और सुंदर चित्र किसी ओर से देखने पर नहीं दिखाई पड़ता।

केशव के काव्य की सर्वांगीण समीक्षा कृष्णशंकर शुक्ल के 'केशव की काव्यकला' नामक ग्रंथ में मिलती है। तत्कालीन व्यावहारिक समीक्षा को ध्यान में रखते हुए यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि यह ग्रंथ उस काल के सर्वश्रेष्ठ समीक्षा-ग्रंथों में से है। इसकी विवेचना की पद्धति ही नहीं, शैली और विचार वस्तु पर भी रामचंद्र शुक्ल का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। उन्होंने भी प्रारंभ में केशव का जीवनपरिचय और उनके ग्रंथों तथा उनपर लिखी गई टीकाओं का विवरण देने के बाद उनकी भावव्यंजना, बाह्यदृश्य चित्रण, प्रबंधकल्पना और चरित्रचित्रण, संवाद, अलंकार, भाषा, आध्यात्मिक सिद्धांत, आचार्यत्व और पांडित्य आदि से संबंध में अलग अलग अध्यायों में विचार किया है। उनके अनुसार केशव में पांडित्यप्रदर्शन, शृंगारिकता और चमत्कारपूर्ण अलंकारयोजना की जो प्रवृत्तियाँ दिखलाई पड़ती हैं उनका मूल कारण वह विलासितापूर्ण सामंती वातावरण है जिसमें केशव रहते थे और जहाँ के चमत्मकारप्रिय और विलासी लोगों को प्रसन्न करने के लिये उन्होंने काव्यरचना की। वे केशव को संस्कृत के पिछले खेवे के अलंकारी कवियों का अनुकर्ता मानते हैं जिससे वे गंभीर भावों की रसपूर्ण व्यंजना न कर सके। उन्होंने तर्कपूर्ण ढंग से और उदाहरण देकर यह सिद्ध किया है कि केशव की भावव्यंजना दोषपूर्ण है, रसव्यंजना में स्वशब्दवाच्यत्व दोष जगह जगह मिलता है और शृंगारवर्णन में मार्मिकता और प्रभविष्णुता नहीं, चमत्कारपूर्ण अलंकृति और अश्लीलता है। विभिन्न रसों, भावों संचारियों आदि की दृष्टि से रामचंद्रिका के विभिन्न स्थलों से उदाहरण लेकर उन्होंने उनकी व्याख्या की है। यह व्याख्यात्मक पद्धति इस ग्रंथ में आदि से अंत तक दिखाई पड़ती है जिससे ग्रंथ का अनावश्यक विस्तार हो गया है। बाह्यदृश्य चित्रण की विवेचना में उन्होंने केशव के मानवरूप चित्रण, प्रकृतिचित्रण के साथ चरित्र-चित्रण को भी ले लिया है जो अनुचित प्रतीत होता है क्योंकि चरित्र के विवेचन में मानसिक तत्वों, विचार, भाव, उद्देश्य आदि पर विचार किया जाता

१ हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ—६७४।

है। चरित्र बाह्य दृश्य नहीं है। केशव के वस्तुवर्णन के संबंध में विशेष विवेचना न करके उन्होंने विभिन्न प्रसंगों के छंदों को उद्धृत कर दिया है। केशव की प्रबंध-कल्पना पर उन्होंने जो विचार किया है वह शुक्लजी के मत का विस्तार मात्र है। प्रबंधकल्पना के प्रसंग में उन्होंने रामचंद्रिका के चरित्रचित्रण पर फिर विचार किया है पर यहाँ भी चरित्रों की विशेषताओं या दोषों की विवेचना न कर केवल चलते ढंग से उनका उल्लेख भर कर दिया है। पूर्ववर्ती आलोचकों का अनुसरण न करके उन्होंने केशव की संवादयोजना के दोष भी दिखाए हैं। अलंकारों के विवेचन में भी शास्त्रीय शैली का अनुसरण न करके, शुक्लजी की मनोवैज्ञानिक पद्धति को अपनाकर केशव की अप्रस्तुत योजना के गुण दोषों पर विचार किया है। यद्यपि कृष्णशंकर शुक्ल रामचंद्र शुक्ल की परंपरा के रसवादी आलोचक हैं फिर भी उन्होंने केशव की सूझ की प्रशंसा इन शब्दों में की है—'केशव के अलंकारों में चाहे उतनी सहृदयता न मिलती हो, परंतु यह मानना पड़ेगा कि उनकी सूझ तथा प्रतिभा विस्तृत व गंभीर थी। एक एक दृश्य को लेकर उत्प्रेक्षा, संदेह, रूपक की लड़ी बाँधते चलते हैं।'[1] लेखक ने केशव की एक ही जगह निंदा और प्रशंसा दोनों कैसे कर डाली, यह समझ में नहीं आता। संभवतः विभिन्न अलंकारों के उदाहरण देकर पुस्तक का आकार बढ़ाने के लिये प्रशंसा करना आवश्यक था। शुक्लजी ने 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक पुस्तक में तुलसी की अलंकारयोजना पर जिस तरह युक्तिपूर्ण ढंग से विचार किया है कृष्णशंकर शुक्ल ने वैसा न करके केवल प्रसंगों का उल्लेख करके प्रभाववादी ढंग से उदाहरणों की व्याख्या मात्र की है।

केशव की भाषा, शास्त्रीय ज्ञान, आचार्यत्व और साहित्यशास्त्रीय सिद्धांतों की विवेचना जैसी अपेक्षित थी वैसी इस ग्रंथ में नहीं हुई है। 'भाषा' शीर्षक अध्याय में भाषा पर कम, शैलीगत तत्वों—शब्दशक्ति, गुण, दोष आदि पर विचार किया गया है और अंतिम दो अध्यायों में केशव के पांडित्य, आचार्यत्व और उनपर संस्कृत आलंकारिकों के प्रभाव का परिचयात्मक विवेचन कर दिया गया है। लेखक शुक्लजी के रसवादी दृष्टिकोण से इतना प्रभावित है कि केशव के अलंकारसंबंधी सिद्धांतों की तात्विक व्याख्या न करके तुरंत इस निर्णय पर पहुँच जाता है कि 'केशव का अलंकारशास्त्र का ज्ञान ठोस नहीं था। आचार्य ऐसे उच्च पद के योग्य जैसी योग्यता तथा अभिज्ञता अपेक्षित है वैसी उनमें नहीं।'[2]

[1] केशव की काव्यकला, प्रथम संस्करण—पृष्ठ २११।

यह निर्णय तटस्थ नहीं प्रतीत होता, क्योंकि इस ग्रंथ में लेखक ने मुख्यतः केशव को कवि मानकर समीक्षा की, साहित्यशास्त्र की समीक्षा की दृष्टि ही दूसरी होती है जो कृष्णशंकर शुक्ल में नहीं है। वस्तुतः केशव हिंदी में साहित्यशास्त्र के प्रथम अलंकारवादी आचार्य हैं और उनकी समीक्षा शास्त्रीय धरातल पर होनी चाहिए, काव्य के धरातल पर नहीं। इन सब दृष्टियों से 'केशव की काव्यकला' को बहुत गंभीर और पांडित्यपूर्ण समीक्षाग्रंथ नहीं माना जा सकता। व्याख्याओं और उदाहरणों के कारण इसमें गंभीर विवेचना के लिये और भी अवकाश नहीं रह गया है।

पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ने 'संक्षिप्त रामचंद्रिका' की जो प्रस्तावना लिखी है उसमें केशव के काव्य का बहुत ही पांडित्यपूर्ण ढंग से मूल्यांकन किया गया है। बड़थ्वालजी ने रामचंद्रिका को शास्त्रीय दृष्टि से महाकाव्य मानते हुए भी उसमें यह मत व्यक्त किया है कि 'महाकाव्य को महान् होने के पहले काव्य होना चाहिए।'[१] रामचंद्रिका में प्रबंधत्व, सूक्ष्म निरीक्षण, क्रांतदर्शिता, संवेदनशीलता, मर्मस्पर्शिता आदि काव्यगुणों का इतना अभाव है कि बड़थ्वालजी उसे उच्च कोटि का काव्य मानने को तैयार नहीं हैं। वे दरबारी वाग्वैदग्ध्य और कल्पना के अद्‌भुत चमत्कारों को काव्य का लक्षण नहीं मानते। इसी कारण केशव के काव्य की उन्होंने कड़ी आलोचना की है।

६—मीराबाई

मीराबाई के संबंध में इस काल में केवल एक पुस्तक भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' की 'मीरा की प्रेमसाधना' (सन् १९३४) प्रकाशित हुई। रामचंद्र शुक्ल और रामकुमार वर्मा ने भी मीरा के जीवन और काव्य के संबंध में अपने इतिहासग्रंथों में विचार किया है पर उनकी विवेचना बहुत ही संक्षिप्त है। शुक्लजी ने यह माना है कि मीरा की माधुर्य भाववाली उपासनापद्धति पर सूफियों का प्रभाव पड़ा है। इस संबंध में उन्होंने लिखा है कि 'माधुर्य-भाव की जो उपासना चली आ रही थी, उसमें सूफियों के प्रभाव से आभ्यंतर-मिलन, मूर्छा, उन्माद आदि की भी रहस्यमयी योजना हुई। मीराबाई और चैतन्य महाप्रभु दोनों पर सूफियों का प्रभाव पाया जाता है।'[२] शुक्लजी ने सूफीसाधना और कृष्णभक्ति की प्रेमसाधना में साम्य देखकर ही यह बात कही है, इसे प्रमाणों से पुष्ट नहीं किया है। उन्होंने 'मीरा की प्रेमसाधना' नामक उपर्युक्त ग्रंथ की प्रस्तावना में स्वयं लिखा है कि सातवीं शताब्दी में दक्षिण में

[१] संक्षिप्त रामचंद्रिका, प्रस्तावना, पृष्ठ १७, द्वितीय संस्करण—सन् १९३१।
[२] हिंदी साहित्य का इतिहास—पृष्ठ १५६।

अंदाल तथा अन्य भक्तिने हुईं जो कृष्ण को ही अपना पति कहती थीं और उन्हीं के प्रेम में मग्न रहती थीं। श्रीमद्भागवत की प्रेममूला भक्ति को भी शुक्लजी ने माधुर्य भाव की उपासना का कारण माना है। अतः उनका मीरा को सूफी प्रेमसाधना से प्रभावित बताना स्ववदतोव्याघात है। शुक्लजी ने मीरा के काव्य की विशेषताओं पर विचार नहीं किया है। केवल मीरा की उपासना-पद्धति तक ही उनकी विवेचना सीमित रह गई है। रामकुमार वर्मा ने अपने इतिहास में मीरा के संबंध में लिखा तो बहुत है पर साहित्यिक समीक्षा केवल दो तीन पृष्ठों में की है। उनके अनुसार मीरा में सगुण भक्ति और निर्गुण साधना दोनों प्रवृत्तियों का सामंजस्य हुआ है, इसी लिये वे सगुण कृष्ण को भी पति रूप में मानती हैं और संत कवियों की तरह निर्गुण ब्रह्म से मिलने के लिये योग, ज्ञान, और प्रेम के साधनापथों का भी अनुसरण करती दिखाई पड़ती हैं। रामकुमारजी ने मीरा पर सूफी प्रभाव का उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने मीरा की कविता में सहजता, मार्मिकता और आंतरिक भावाभिव्यंजना का प्राधान्य मानते हुए भी उसमें कलात्मकता की कमी देखी है। कबीर का आकलन उन्होंने जिस प्रतिमान के सहारे किया है, यदि उसी का प्रयोग मीराबाई पर करते तो कलात्मकता की ओर शायद उनका ध्यान ही न जाता।

भुवनेश्वरनाथ 'माधव' की 'मीरा की प्रेमसाधना' विशुद्ध साहित्यिक समीक्षा की पुस्तक नहीं कही जा सकती; क्योंकि इसमें मीरा के काव्यपक्ष पर विचार ही नहीं किया गया है, केवल उनकी उपासनापद्धति की प्रभावात्मक शैली में विवेचना की गई है और प्रेममूला भक्ति के मूल स्रोतों की खोज वैदिक काल से लेकर मध्यकाल तक की दार्शनिक और धार्मिक परंपरा में की गई है। 'माधवजी' की शैली में भावात्मकता इतनी अधिक है कि माधुर्य भाव की भक्ति के मूल स्रोतों और पूर्वपरंपरा पर विचार करते समय भी वे काव्यात्मक भाषा का ही प्रयोग करते हैं, जिसका एक उदाहरण यह है– मधुमास में मंजरी के भार से झुकी हुई अमराइयों, गदराई हुई लतावल्लरियों के भीतर छिपकर कोकिला कल्याण का राग छेड़ जाती है अपने दर्द भरे घायल दिल को उँडेल जाती है और हमारा हृदय किसी अज्ञात वेदना से कुहुँक उठता है।"[1] उनकी भावात्मक शैली को लक्ष्यकर ही इस ग्रंथ के संबंध में शुक्लजी ने लिखा है— 'मीरा की प्रेमसाधना' भावात्मक है जिसमें 'माधव' जी मीरा के भावों का

[1] मीरा की प्रेम साधना, प्रथम संस्करण—पृष्ठ ११।

स्वरूप पहचानकर उन भावों में आप भी मग्न होते दिखाई देते हैं।" यह पूरी पुस्तक उस प्रभावात्मक समीक्षा का उदाहरण है जिसके बारे में शुक्लजी ने जैसे खीचकर लिखा है—'किसी कवि की आलोचना कोई इसलिये पढ़ने बैठता है कि उस कवि के लक्ष्य को, उसके भाव को ठीक ठीक हृदयंगम करने में सहारा मिले, इसलिये नहीं कि आलोचक की भावभंगी और सजीले पदविन्यास द्वारा अपना मनोरंजन करे।'[2] 'माधवजी की इस पुस्तक में भी विवेच्य वस्तु उनके गद्यकाव्य के भीतर खो गई है। बहुत ध्यान से पढ़ने पर यही उपलब्धि होती है कि माधुर्य भाव ही परम भाव है क्योंकि उसमें उपासक और उपास्य के बीच की दूरी मिट जाती है, दास्य भाव में वह दूरी सबसे अधिक रहती है, सख्य और वात्सल्य भावों में उससे कम। इस भाव के महामिलन का माधुर्य विरह में ही अधिक प्रस्फुटित रहता है। अतः विरहमूलक प्रेमाभक्ति ही भक्ति का सर्वोत्कृष्ट रूप है, जिसमें ब्रह्म और जीव का संबंध पुरुष और स्त्री का होता है। यह दांपत्य प्रेमसंबंध भक्ति में तीव्रता लाने के लिये परमावश्यक है। इसी कारण 'मीरा का विरह गहरा अधिक है, व्यापक कम। उसमें प्रकृति के नाना रूपों एवं विलासों के साथ तन्मयता स्थापित करने की न चिंता ही है और न अवकाश ही।'[3] कृष्ण को पति रूप में मानकर अपनी विरह भावनाओं को सीधे सीधे अभिव्यक्त करनेवाली 'मीरा का दुःख उधार लिया हुआ दुःख नहीं है', वह उनकी अंतरात्मा का सहज उद्‌गार और कातर पुकार है। माधवजी के इस निष्कर्ष से शायद ही किसी को मतभेद हो, पर माधुर्य भाव की विवेचना में वे तटस्थ नहीं रह सके, अतः उसके प्रति उनके अनुरागपूर्ण पक्षपात के कारण तत्संबंधी उनकी समीक्षा 'सांप्रदायिक' कही जा सकती है।

७—बिहारीलाल

बिहारीलाल आधुनिक समीक्षा के प्रारंभ से ही विवाद के विषय बन गए थे। हिंदी नवरत्न में मिश्रबंधुओं ने किस तरह बिहारी के काव्य के दोष गिनाकर उन्हें देव, मतिराम आदि से भी नीचे स्थान दिया और महावीरप्रसाद द्विवेदी, पद्मसिंह शर्मा आदि ने कैसे उनका खंडन किया, यह सब द्विवेदी युग की समीक्षा के प्रसंग में बताया जा चुका है। सन् १६२० में कृष्णबिहारी मिश्र की 'देव और बिहारी' नामक पुस्तक निकली थी जिसमें देव का पक्ष लेते हुए दोनों

[1] हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५६३।
[2] वही, पृष्ठ ५६४।
[3] मीरा की प्रेम साधना, पृष्ठ ७२।

कवियों की तुलनात्मक समीक्षा की गई थी। इस पुस्तक का उद्देश्य देव की कविता को बिहारी से श्रेष्ठ ठहराने के अतिरिक्त पद्मसिंह शर्मा की बातों का खंडन करना भी था। 'देव और बिहारी' संबंधी इस विवाद में लाला भगवानदीन ने भी भाग लिया और 'श्रीशारदा' नामक पत्रिका में बिहारी का पक्ष लेते हुए और मिश्र कंपनी (मिश्रबंधु तथा कृष्णबिहारी मिश्र) के तर्कों का खंडन करते हुए एक लेखमाला लिखी जो सन् १९२६ में पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। इस पुस्तक के प्रकाशन तथा रत्नाकरजी के 'बिहारी सतसई' के पांडित्यपूर्ण 'संजीवनी भाष्य' के उपरांत तुलनात्मक समीक्षा के नाम पर चलनेवाला यह साहित्यिक विवाद समाप्त हो गया। रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास में बिहारी की जो छोटी किंतु गंभीर और तात्विक समीक्षा लिखी उससे नई दृष्टि से बिहारी के मूल्यांकन का मार्ग खुल गया। सन् १९३६ में विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने 'बिहारी की वाग्विभूति' नामक पुस्तक लिखी जिसे बिहारी से संबंधित संतुलित साहित्यिक समीक्षा का प्रथम ग्रंथ कहा जा सकता है। सन् १९४० में हरदयालु सिंह का 'बिहारी विभव' प्रकाशित हुआ जिसमें बिहारी की आलोचना के साथ सतसई भी संमिलित है।

लाला भगवानदीन की पुस्तक 'बिहारी और देव' भी पद्मसिंह शर्मा की 'बिहारी सतसई की भूमिका' और कृष्णबिहारी मिश्र के 'देव और बिहारी' के ढंग की विवादमूलक तुलनात्मक समीक्षा की पुस्तक है। इसके संबंध में लालाजी के पट्ट शिष्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने निष्पक्ष होकर बहुत ठीक लिखा है कि 'उसमें बिहारी और देव की बड़ाई छोटाई की ही नापजोख है और वह इसी झगड़े को लेकर लिखे गए लेखों का संग्रह मात्र है।'[1] अतः इसे वास्तविक समीक्षा नहीं कहा जा सकता। फिर भी इस ग्रंथ में प्राचीन शास्त्रीय पद्धति से जो गुण-दोष विवेचन किया गया है उससे देव और बिहारी के अध्येताओं को कुछ लाभ तो हो ही सकता है। इसमें लालाजी ने मुख्य रूप से यही दिखाया है कि मिश्रबंधुओं ने बिहारी में शब्दों को तोड़नेमोड़ने, अप्रचलित अथवा गढ़े हुए शब्दों का व्यवहार करने और दूसरे कवियों का भाव अपहृत करने के जो दोष दिखाए हैं वे मिथ्या आरोप मात्र हैं, इसके विपरीत ये सभी दोष देव की कविता में अधिक मात्रा में वर्तमान हैं। लालाजी ने देव की भाषा में व्याकरणसंबंधी दोषों तथा भावापहरण की प्रवृत्ति का विस्तृत वर्णन किया है। दोषदर्शन के प्रसंग में उन्होंने देव के लिये ऐसी भाषा का प्रयोग

[1] बिहारी की वाग्विभूति, उपक्रम, पृष्ठ १।

किया है जिसे आज का पाठक अनुचित और अशिष्ट कहेगा, जैसे –'देव ने की है, शब्दों की खूब अच्छी कपालक्रिया 'देव के छक्के छूट गये, हंश नौ दो ग्यारह हो गये !' 'परंतु आपकी इस गुस्ताखी की सजा भी पब्लिक ने खूब दी ।' तुलनात्मक समीक्षापद्धति के अन्य पूर्ववर्ती आलोचकों की तरह लालाजी की दृष्टि भी भाषा की शुद्धता, उक्तिवैचित्र्य, अलंकार और रस, तथा नायिकाभेद तक ही सीमित रह गई है, देव या बिहारी के काव्य के आंतरिक सौंदर्य और मूल प्रवृत्तियों के परीक्षण की ओर वे प्रवृत्त नहीं हुए हैं। उनके इस ग्रंथ को पढ़कर आधुनिक पाठक इन दोनों कवियों के काव्यसौंदर्य को कुछ समझ नहीं पाता उल्टे यह धारणा होती है कि इन दोनों में समान दोष हैं, दोनों ही अश्लील और रीतिबद्ध परंपरा के घोर शृंगारी कवि हैं।

बिहारी की वास्तविक साहित्यिक और संतुलित समीक्षा रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास में सूत्र में की है। उन्होंने बिहारी की साहित्यिक उपलब्धियों और सीमाओं की ओर कुछ वाक्यों में संकेत मात्र किया है। जिनकी व्याख्या बाद के आलोचकों ने की। शुक्लजी के अनुसार 'मुक्तक कविता में जो गुण होना चाहिए वह बिहारी के दोहों में अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा है।'[1] वे यह मानते हैं कि रस की जैसी पूर्णता और धारा प्रबंध काव्य में होती है वैसी मुक्तक काव्य में नहीं – 'यदि प्रबंध काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसी से वह सभा समाजों के लिये अधिक उपयुक्त होता है।'[2] इस तर्क द्वारा शुक्लजी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि बिहारी को मुक्तक काव्य में इसलिये सफलता मिली है कि उनमें कल्पना की समाहार शक्ति और भाषा की समास शक्ति है जिससे उनके दोहे चुस्त, रस के छींटों की तरह चमत्कृत और रससिक्त करनेवाले और प्रभावपूर्ण हो सके हैं। रसव्यंजना के अंतर्गत अनुभावों और हावों की सुंदर योजना में शुक्लजी बिहारी को अद्वितीय मानते हैं पर वस्तुव्यंजना में उन्हें बिहारी कहीं कहीं औचित्य सीमा लाँघते हुए भी दिखाई पड़ते हैं। उनके अनुसार व्यंजना वृत्ति और अलंकारों के प्रयोग में कहीं कहीं दूरारूढ़ कल्पना का प्रयोग होते हुए भी बिहारी के काव्य में भद्दापन नहीं है और पाठक अपनी ओर से प्रसंगों का आक्षेप करके मूल अर्थ तक पहुँच जाता है। इस प्रकार शुक्लजी ने बिहारी की समीक्षा में सर्वप्रथम नवीन दृष्टिकोण का प्रयोग किया है। हरिऔधजी का निबंध छोटा है जिसमें उन्होंने बिहारी के काव्य की संक्षिप्तता, रसात्मकता, भावव्यंजकता, बहुज्ञता, शब्दचयन संबंधी कलात्मकता

[1] हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २४७।
[2] वही, पृ० वही।

आदि विशेषताओं को गिना दिया है और उनपर भारतीय शृंगारी मुक्तक काव्य की परंपरा तथा फारसी के मुक्तक काव्य का प्रभाव दिखाकर सतसई के दोहों के उद्धरण दे दिए हैं। वस्तुतः यह एक प्रभावात्मक भाषण ही है विश्लेषणात्मक समीक्षा नहीं।

जैसा पहले कहा जा चुका है, शुद्ध साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से बिहारी के काव्य की विशेषताओं और सीमाओं की विश्लेषणात्मक समीक्षा पहलेपहल विश्वनाथप्रसाद मिश्र की 'बिहारी की वाग्विभूति' में मिलती है। शुक्लजी ने अपने इतिहास में बिहारी के मूल्यांकन के जो सूत्र दिए हैं, विश्वनाथजी ने इस ग्रंथ में उन्हीं को लेकर एक एक की व्याख्या एक एक अध्याय में की है। इस तरह इसकी अधिकांश स्थापनाएँ शुक्लजी के विचारसूत्रों पर ही आधृत हैं। भूमिका में विश्वनाथ जी ने इस बात की ओर संकेत भी कर दिया है।[1] पर इसका यह अर्थ नहीं कि इसमें लेखक की अपनी उद्भावनाएँ और स्वतंत्र विचारपद्धति नहीं है। वस्तुतः इस ग्रंथ के आधे से अधिक अध्यायों – तत्कालीन लोक रुचि, बाहरी प्रभाव, सतसई परंपरा, प्रेम का संयोग पक्ष, विप्रलंभ और विरह वर्णन भक्तिभावना, भाषा—आदि में विश्वनाथजी ने जो बातें कही हैं, वे उनकी अपनी विवेकबुद्धि की देन हैं, शुक्लजी ने उन विषयों को लेकर बिहारी के संबंध में कुछ नहीं कहा है, हाँ यह हो सकता है कि मौखिक रूप से, पढ़ाते समय या बातचीत में, उन्होंने वे बातें बताई हों। शुक्लजी के सूत्रों की व्याख्या मुख्यतः मुक्तकरचना, प्रसंगविधान, दोहे की समास पद्धति, अनुभावविधान, विप्रलंभ एवं विरह वर्णन, वाग्वैदग्ध्य और उक्तिवैचित्र्य आदि के संबंध में विचार करते समय की गई है। शुक्लजी का अनुसरण करते हुए उन्होने भी यह माना है कि प्रबंध काव्य में रस धारारूप में बहता है, इससे उसमें नीरस पद भी रससिक्त प्रतीत होते हैं, मुक्तक में ऐसी बात नहीं होती, वहाँ प्रत्येक मुक्तक के लिये एक परिस्थिति या प्रसंग की कल्पना करनी पड़ती है। इस तरह 'जबतक मुक्तक में जीवन या जीवन के आनुषंगिक व्यापारों के मेल में आनेवाला खंडचित्र लेकर कोई बंधान न बाँधा जायगा तबतक उसमें न तो सरसता ही आ सकती है और न वह अवसर के प्राप्त होने पर वैसा प्रभावशाली ही हो सकता है।'[2] इससे विश्वनाथजी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मुक्तक काव्य की उत्तमता

[1] 'सब से अधिक कृतज्ञ हम अपने श्रद्धेय आचार्य पं० रामचंद्र शुक्ल के हैं, जिनकी लिखित और कथित बातों का भी निस्संकोच प्रयोग किया गया है।'—बिहारी की वाग्विभूति भूमिका, पृ० १०।

[2] बिहारी की वाग्विभूति, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३२।

की कसौटी उसमें चित्रित अनुवृत्तों की स्पष्टता और सहजता है अर्थात् प्रबंध काव्य की तरह मुक्तक काव्य में भी मर्मस्पर्शी जीवनचित्रों के चुनाव से ही रसवत्ता आती है। नीतिकथन या चमत्कार प्रदर्शन के उद्देश्य से लिखित मुक्तकों में इसी कारण रसवत्ता नहीं होती। इसी प्रतिमान के सहारे उन्होंने बिहारी के दोहों का मूल्यांकन किया है और यह सिद्ध किया है कि अलंकार-चमत्कार से युक्त होते हुए भी बिहारी के नीतिपरक दोहों में रसव्यंजना की शक्ति नहीं है और जिन दोहों में रसवत्ता है उनके प्रसंगों का चुनाव कवि ने उच्च वर्ग और सामान्य वर्ग दोनों के जीवन से किया है पर उन्हें सफलता उच्चवर्गीय जीवनप्रसंगों की उद्भावना में ही मिली है, सामान्य जीवनप्रसंगों के चित्रण में नहीं क्योंकि उनकी समस्त जीवनानुभूतियाँ सामंती वातावरण की थीं, इससे उनका क्षेत्र व्यापक नहीं है पर उन बँधेबँधाए प्रसंगों को लेकर ही बिहारी ने अपनी प्रतिभा के बल पर बड़े ही सरस संदर्भों या खंड चित्रों की योजना की है। इस तरह विश्वनाथजी ने यह निर्णय दिया है—'जब सब बातों पर विचार करके बिहारी की मुक्तकरचना पर दृष्टि डाली जाती है, तो यह स्पष्ट लक्षित होता है कि इनकी काव्य दृष्टि दूर तक थी, काव्य का लक्ष्य पहचाननेवाली थी।'

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विश्वनाथजी रसवादी हैं और वह भी शुक्लजी के ढंग के अभिनव रसवादी जो प्रबंध काव्य को ही रसात्मक काव्य का आदर्श मानते हैं। इसी कारण इस पुस्तक में उन्होंने शुक्लजी की ऐतिहासिक और विवेचनात्मक समीक्षा की पद्धति अपनाई है, जिसमें कवि की सामाजिक परिस्थिति तथा उसकी मूल प्रवृत्तियों की विवेचना, सिद्धांतों की स्थापना और उनके आधार विवेच्य काव्य का विश्लेषण और व्याख्या करते हुए, की जाती है। अतः इस ग्रंथ में प्रारंभ में तत्कालीन राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों तथा लोकरुचि की विवेचना की गई है और बिहारी पर उनका प्रभाव दिखाया गया है। इस संबंध में उन्होंने कुछ नए निष्कर्ष निकाले हैं जिनकी ओर शुक्लजी ने संकेत भर किया था। रीति काव्य में प्रेम की पीर की अतिशयोक्तिपूर्ण अभिव्यंजना की पद्धति को वे सूफियों का प्रभाव मानते हैं। उनकी दूसरी स्थापना यह है कि रीति काल के कुछ कवि रीतिमुक्त या स्वच्छंद धारा के भी हैं और कुछ ऐसे हैं जिन्होंने रीति ग्रंथ तो नहीं लिखे पर रीति शास्त्र में निष्णात अवश्य थे जिससे उनकी रचनाएँ लक्षणों के उदाहरण के रूप में भी रखी जा सकती हैं। बिहारी दूसरे प्रकार के कवि थे जिन्होंने 'अलंकार की काव्योपयोगिता पर बराबर दृष्टि रखी है और अलंकारों की योजना एवं अप्रस्तुतों का विधान बहुत कुछ काव्य के भाव और वस्तु के रूप, गुण आदि की अनुभूति

कराने के लिये ही किया है।"[1] उनकी तीसरी नई स्थापना यह है कि रीतिकालीन शृंगारी मुक्तक काव्य की प्रवृत्ति का मूल स्रोत संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की मुक्तक परंपरा में है जो रहीम, कृपाराम आदि से होता हुआ बिहारी तक पहुँचा था। उन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि बिहारी के काव्य की प्रौढ़ता का कारण यह पूर्ववर्ती शृंगारी मुक्तक परंपरा ही है। इन उपर्युक्त स्थापनाओं के आधार पर विश्वनाथजी ने बिहारी की कविता की रचना, संयोग और विरह वर्णन, भाव और अनुभावव्यंजना, अलंकारयोजना, अप्रस्तुत विधान, उक्तिवैचित्र्य आदि की शास्त्रीय ढग से विवेचना की है। बिहारी की भाषा के संबंध में इस ग्रंथ में जैसा शास्त्रीय विवेचन किया गया है वैसा अन्य किसी ने नहीं किया है। विश्वनाथजी लालाजी की तरह बिहारी के अंधभक्त नहीं हैं। उन्होंने उनके दोषों को भी देखा है और जगह जगह उनकी कटु आलोचना की है और साथ ही, उनके महत्व तथा परवर्ती हिंदी साहित्य पर उनके काव्य के व्यापक प्रभाव को भी स्वीकार किया है। इस तरह यह पुस्तक संतुलित और शुद्ध समीक्षा की दृष्टि से आलोच्य काल की सर्वश्रेष्ठ समीक्षा पुस्तकों में से है। बिहारी के संबंध में हरदयालु सिंह ने 'बिहारी विभा' नामक जो ग्रंथ लिखा है उसमें पूर्ववर्ती सभी आलोचकों की कही बातों का संग्रह कर दिया गया है। इसमें बिहारी का जीवनवृत्त, बहुज्ञता आदि के बारे में ही अधिक लिखा गया है, भाषा, भाव, अलंकार विषयक विवेचना बहुत ही सामान्य कोटि की है। लेखक की शुद्ध समीक्षा की दृष्टि न होने से यह ग्रंथ अधिक महत्व का नहीं है।

अन्य मध्यकालीन कवियों की समीक्षा—

प्राचीन कवियों की समीक्षा का जो कार्य रामचंद्र शुक्ल, श्यामसुंदर दास और लाला भगवानदीन ने प्रारंभ किया, वह अधिक इसलिये नहीं बढ़ा कि अनेक महत्वपूर्ण कवियों का काव्य अभीतक प्रकाश में ही नहीं आ सका था। अतः इस काल के विद्वानों के सामने प्राचीन कवियों के काव्यग्रंथों या ग्रंथावली के संपादन, पाठनिर्धारण और प्रकाशन की समस्या भी थी। रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास में जहाँ बहुत से सामान्य कवियों का जीवनवृत्त और रचनाओं का उल्लेख करके छोड़ दिया है वहाँ तुलसी सूर, जायसी आदि पूर्वनिर्दिष्ट कवियों के अतिरिक्त रहीम सेनापति, देव, मतिराम, भूषण, घनानद और पद्माकर के काव्यों की समासशैली में कुछ आलोचना भी की है। इस तरह इन कवियों का महत्व शुक्लजी द्वारा स्वीकृत होने पर परवर्ती आलोचकों में उनके ग्रंथों का संपादन और समीक्षा करने का उत्साह उत्पन्न होना स्वाभाविक था। प्राचीन कवियों की

[1] बिहारी की वाग्विभूति, पृष्ठ ११५।

कविताएँ उच्च कक्षाओं में पाठ्यग्रंथों में भी रखी गईं जिससे उन कवियों की कविताओं का संकलन करने तथा भूमिकाएँ और भाष्य लिखनेवाले भी सामने आए। पर कुछ साहित्य के साधकों और शोधकों की वृत्ति इस ओर भी थी कि जिन कवियों के ग्रंथ अभीतक अप्राप्त हैं, उन्हें प्राप्तकर संपादन और पाठसंशोधन करके उनका प्रकाशन किया जाय। इस तरह इस काल में रहीम, सेनापति, मतिराम, भूषण और पद्माकर के काव्य के संग्रह या ग्रंथावलियाँ प्रकाशित हुईं जिनमें लंबी भूमिकाएँ भी थीं। साथ ही कुछ कवियों के संबंध में स्वतंत्र समीक्षाग्रंथ भी प्रकाशित हुए।

देव के संबंध में कृष्णबिहारी मिश्र, पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन आदि ने अपना अपना पक्ष जिस तरह उपस्थित किया था वह शुद्ध साहित्यिक समीक्षा नहीं थी, विवाद ही था। देव के काव्य का सही मूल्यांकन रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास में किया जिसमें उन्होंने यह मत व्यक्त किया है कि देव का महत्व आचार्य रूप में नहीं, कवि रूप में ही है, क्योंकि कवित्व शक्ति, मौलिकता और प्रतिभा तीनों वर्तमान हैं यद्यपि अनुप्रास तथा चमत्कार के आडंबर के कारण इनकी भाषा प्रायः विकृत हो गई है। शुक्लजी की राय में 'इन सा अर्थसौष्ठव और नवोन्मेष विरले ही कवियों में मिलता है'[1]। हरिऔधजी ने भी देव के संबंध में एक निबंध लिखा था पर उसमें देव की भावुकतापूर्ण प्रशंसा और उनकी कविताओं के लंबे लंबे उद्धरणों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। रहीम के संबंध में शुक्लजी ने अपने इतिहास में लिखा है कि मार्मिक जीवनानुभूतियों की सच्ची अभिव्यक्ति के कारण ही तुलसी के बाद उन्हीं की रचनाएँ सबसे अधिक सर्वसाधारण के मुँह पर रहती हैं। उनमें कल्पना की उड़ान नहीं, अभिव्यक्ति की सहजता है। इसी से उनकी नीति और शृंगार की रचनाएँ समान रूप से मार्मिक और सरस हो सकी हैं। रहीम की सभी रचनाओं का कोई बड़ा संग्रह नहीं था। अतः सन् १९२८ में मायाशंकर याज्ञिक ने बड़े परिश्रम से उनकी कविताओं की खोज करके उनका संग्रह 'रहीम रत्नावली' नाम से प्रकाशित कराया। इस ग्रंथ में ६१ पृष्ठ की भूमिका है जिसमें कवि के जीवन-वृत्त और ग्रंथों का लंबा परिचय देने के बाद उसकी विशेषताओं पर कुछ पृष्ठों में उल्लेखकर चलता कर दिया गया है। याज्ञिकजी भी रहीम की कविता के वास्तविक जीवनानुभवों को ही उनकी लोकप्रियता का आधार मानते हैं; उनके अनुसार रहीम में भावों का सहजोद्रेक, उनकी अयत्नज अभिव्यक्ति है, अमसाध्य गंभीरता या कलाकारी नहीं। अंत में लेखक ने तुलनात्मक समीक्षापद्धति अपनाकर

[1] हिंदी साहित्य का इतिहास—पृ० २६७।

रहीम की तुलना संस्कृत तथा हिंदी के कवियों से बड़े विस्तार से की है। इस प्रकार याज्ञिकजी की इस भूमिका में शुद्ध समीक्षा के तत्वों का अभाव ही है।

सेनापति के कवित्त रत्नाकर को उमाशंकर शुक्ल ने डा० धीरेंद्र वर्मा के निर्देशन में संपादित करके सन् १९३६ में प्रकाशित कराया। इसमें संपादक ने ५७ पृष्ठों की भूमिका लिखी है जो वस्तुतः एक बड़ा समीक्षात्मक निबंध ही है। इसके प्रारंभ के कविपरिचय और अंत के हस्तलिखित प्रतियों और संपादन सिद्धांतोंवाले अंशों को छोड़ शेष पूरी भूमिका में सेनापति के काव्य की शास्त्रीय पद्धति से विवेचना की गई है। 'रसपरिपाक' पर विचार करते हुए संपादक ने नायिकाओं के भेदों के आधार पर भावों की व्याख्या की है जो उसकी रूढ़िबद्ध शास्त्रीय दृष्टि का परिचायक है। सेनापति के विरहवर्णन में संचारियों की कमी उसे खटकती है, उसमें मानसिक दशाओं के सूक्ष्म विश्लेषण का अभाव भी दिखाई पड़ता है, पर इस ओर उसका ध्यान नहीं जाता कि जिन भावों की व्यंजना कवि करना चाहता है उनको उसने यथार्थ जीवन के मर्मस्पर्शी प्रसंगों या दृश्यों के बीच में रखकर उपस्थित किया है या नहीं अथवा कवि ने उन भावों की अभिव्यक्ति किस महत्तर उद्देश्य से की है। इससे स्पष्ट है कि सेनापति की काव्य की समीक्षा में उमाशंकर शुक्ल की दृष्टि आधुनिक नहीं, रीतिवादी है। पर उनकी यह बात सही है कि यद्यपि सेनापति ने प्रकृति का चित्रण मुख्यतः उद्दीपन के रूप में किया है पर उस वर्णन में स्वाभाविकता और वास्तविकता है, कल्पना की उड़ान से उत्पन्न कोरा चमत्कार नहीं है। अंत में कवि के अलंकारविधान, विशेष रूप से श्लिष्ट पद योजना पर विस्तार से विचार किया गया है। इस पूरी समीक्षा में व्याख्यात्मक पद्धति अपनाकर उदाहरणों का भाष्य ही अधिक किया गया है। सेनापति का इससे कहीं अच्छा मूल्यांकन रामचंद्र शुक्ल ने सूत्र रूप में ही कर दिया है। उन्होंने निर्णयात्मक स्वर में कहा है कि 'इनकी कविता बहुत ही मर्मस्पर्शिनी, रचना बहुत ही प्रौढ़ प्राजल है। जैसे एक ओर इनमें पूरी भावुकता थी वैसे ही दूसरी ओर चमत्कार लाने की पूरी निपुणता भी। श्लेष का ऐसा साफ उदाहरण शायद ही और कहीं मिलेगा।'[1] शुक्लजी ने ऋतुवर्णन में सेनापति के प्रकृतिनिरीक्षण की भी बड़ी प्रशंसा की है। शुक्लजी के इन्हीं सूत्रों की व्याख्या करने का प्रयास उमाशंकर शुक्ल ने कवित्त रत्नाकर की भूमिका में किया है।

[1] हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ—२२५

मतिराम के संबंध में भी शुद्ध समीक्षा के रूप में जो कुछ लिखा है शुक्लजी ने ही लिखा है। उन्होंने अपने इतिहास में मतिराम के काव्य की सरसता, भावों और भाषा की सहजता की बहुत प्रशंसा की है। उनका मत है कि 'इनका सच्चा कवि हृदय था।''' ''' भारतीय जीवन से छाँटकर लिए हुए इनके मर्मस्पर्शी चित्रों में जो भाव भरे हैं, वे समान रूप से सबकी अनुभूति के अंग हैं'।[1] शुक्लजी ने मतिराम का महत्व इस बात के लिये भी माना है कि उनके अलंकार ग्रंथों में उदाहरणों में रमणीयता, सरसता और स्पष्टता बहुत अधिक है। मतिराम की इन विशेषताओं की ओर मिश्रबंधु तथा मतिराम ग्रंथावली के संपादक कृष्णबिहारी मिश्र ने भी ध्यान नहीं दिया था। कृष्णबिहारी मिश्र ने तो मतिराम ग्रंथावली की विस्तृत भूमिका का अधिकांश कवि के जीवनवृत्त और ग्रंथों का विवरण देने में ही लगा दिया था। समीक्षा का अर्थ वे तुलनात्मक समीक्षा ही मानते थे, अतः शुक्लजी के शब्दों में 'भूमिका का आवश्यकता से अधिक अंश उन्होने इस 'तुलनात्मक आलोचना' को ही अर्पित कर दिया, और बातों के लिये बहुत कम जगह रखी।'[2] द्विवेदीयुगीन आलोचकों ने तो तुलनात्मक समीक्षा ही सही, मतिराम पर कुछ विचार भी किया, शुक्लयुग में तो किसी ने इस कवि की विस्तृत आलोचना लिखने की प्रवृत्ति ही नहीं दिखाई। बहुत बाद में, सन् १९३९ में, हरदयालु सिंह ने मतिराम के कुछ ग्रंथों का संक्षिप्त संग्रह 'मतिराम मकरंद' नाम से प्रकाशित कराया जिसकी भूमिका में ५० पृष्ठों में तो कवि के जीवनचरित, उसके आश्रयदाताओं के इतिहास तथा उसकी भाषा पर विस्तार से विचार किया गया है और अंत में कुछ पृष्ठों में उसके काव्य के अलंकारविधान, नायिकाभेद वर्णन तथा अन्य कवियों से उसके भावों के साम्य पर तुलनात्मक और व्याख्यात्मक पद्धति से विचार किया गया है। इस तरह शुद्ध समीक्षा की दृष्टि से यह ग्रंथ एकदम व्यर्थ है।

इस काल में भूषण की ग्रंथावलियाँ या काव्यसंग्रह सबसे अधिक प्रकाशित हुए। सन् १९२९ में हिंदी साहित्य संमेलन से देवव्रत शास्त्री द्वारा संपादित भूषण ग्रंथावली प्रकाशित हुई। सन १९३० में ब्रजरत्नदास ने दूसरी 'भूषण ग्रंथावली' संपादित कर प्रकाशित कराई। हिंदी भवन लाहौर से भी एक भूषण ग्रंथावली इसी काल में निकली जिसकी टीका राजनारायण शर्मा, भूमिका देवचंद्र विशारद ने लिखी थी। सन् १९३९ में उदयनारायण तिवारी द्वारा संपादित 'भूषण संग्रह' का दूसरा भाग

[1] हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २५१।
[2] वही—पृ० ५११।

ने लिखी भूमिका और टीका के साथ प्रकाशित हुआ। उसी वर्ष हरदयालु सिंह ने भी भूषण की कविताओं का एक संग्रह 'भूषण भारती' नाम से प्रकाशित कराया। ये सभी संकलन विद्यार्थियों की उपयोगिता की दृष्टि से प्रकाशित हुए थे। इसी लिये उन सबमें प्रारंभ में छात्रोपयोगी लंबी भूमिकाएँ जुड़ी हुई थीं। सभी भूमिकाओं में एक ही तरह की बातों का होना यह सिद्ध करता है कि उन सबमें एक ही मूल स्रोत से सामग्री ली गई थी। उनमें से उदयनारायण तिवारी के 'भूषण संग्रह' की भूमिका के अतिरिक्त अन्य सबमें भूषण के जीवनवृत्त और रचित ग्रंथों के साथ मराठा वंश के राजाओं, मुगल बादशाहों और दक्षिण के नवाबों का ऐतिहासिक इतिवृत्त भी बड़े विस्तार से दिया हुआ है पर कवि की साहित्यिक समीक्षा रस, अलंकार और भाषा पर सामान्य विचार करते हुए बहुत ही चलते ढंग से की गई है जो छात्रों के लिये ही उपयोगी हो सकती है। उदयनारायण तिवारी की भूमिका अपेक्षाकृत छोटी है क्योंकि उसमें तत्कालीन ऐतिहासिक व्यक्तियों का इतिहास नहीं दिया गया है पर उसका समीक्षात्मक अंश छात्रोपयोगी होने के कारण अत्यंत संक्षिप्त और परिचयात्मक ही है। इस तरह इन भूमिकाओं की, व्यावहारिक आलोचना की दृष्टि से, न तो कोई मूल्य है न वे यहाँ विचार के योग्य ही हैं। इस तरह इस काल में भूषणसंबंधी शुद्ध समीक्षा भी शुक्लजी के इतिहास में ही मिलती है। शुक्लजी ने भूषण की महत्ता इस बात में मानी है कि उन्होंने अपने वीर काव्य का आलंबन ऐसे वीरों को चुना जो अन्याय के विरोधी और धर्मसंरक्षक होने के कारण हिंदू जनता के आदर और भक्ति के पात्र थे। इसी कारण भूषण की कविता को जनता के हृदय ने स्वीकार किया और इसी लिये भूषण 'हिंदू जाति के प्रतिनिधि कवि हैं।' शुक्लजी की इस मान्यता को कुछ लोग इसलिये अस्वीकार कर सकते हैं कि उन्होंने भूषण को सांप्रदायिक कवि मान लिया है। वस्तुतः भूषण के काव्य को तत्कालीन दृष्टि से राष्ट्रीय काव्य ही मानना उचित है क्योंकि उसमें अन्याय और अत्याचार का विरोध है, न कि इस्लाम धर्म का। कलात्मकता की दृष्टि से शुक्लजी ने भूषण को उच्चकोटि का कवि नहीं माना है, क्योंकि उनकी भाषा में अनेक प्रकार के दोष हैं।

पद्माकर की कविता लोकप्रिय तो बहुत थी पर उसकी विशेषताओं का विवेचन शुक्लजी से पहले अन्य किसी व्यक्ति ने समीक्षात्मक दृष्टि से नहीं किया था। अपने इतिहास में शुक्लजी ने पद्माकर के संबंध में विचार करते हुए लिखा है कि 'ऐसा सर्वप्रिय कवि रीतिकाल के भीतर बिहारी को छोड़ दूसरा नहीं हुआ। इनकी रचना की रमणीयता ही इस सर्वप्रियता का एकमात्र कारण है।......अतः जिस प्रकार ये अपनी परंपरा के परमोत्कृष्ट कवि हैं उसी प्रकार

प्रसिद्धि में अंतिम भी।'[1] इस रमणीयता का कारण शुक्लजी के अनुसार, पद्माकर की सजीव और हाव-भाव-पूर्ण मूर्तिविधायिनी कल्पना है जिसके बिना भावुकता कुछ नहीं कर सकती क्योंकि 'कल्पना और वाणी के साथ जिस भावुकता का संयोग होता है वही उत्कृष्ट काव्य के रूप से विकसित हो सकती है।'[2] शुक्लजी को पद्माकर में इन तीनों का समुचित संयोग दिखाई पड़ता है इसी लिये उन्होंने उनकी कविता की इन तीनों तत्वों से संबंधित उपलब्धियों की प्रभावात्मक ढंग से प्रशंसा की है। शुक्लजी के बाद कुछ लोगों का ध्यान पद्माकर की आलोचना लिखने की ओर गया और सन् १६३४ में अखौरी गंगाप्रसाद सिंह की 'पद्माकर की काव्यसाधना' नामक समीक्षा पुस्तक प्रकाशित हुई। 'इस पुस्तक के संबंध में शुक्लजी ने ठीक ही लिखा है कि 'पद्माकर की काव्यसाधना' द्वारा भी पद्माकर के संबंध में बहुत सी जानकारी हो जाती है।'[3] पर वह जानकारी कवि के जीवन और रचित ग्रंथों के बारे में ही होती है, उसकी काव्यगत विशेषताओं पर इस ग्रंथ में अधिक प्रकाश नहीं डाला गया है। इसमें पद्माकर की भाषा, छंद, रस, भाव, अलंकार, वस्तुचित्रण आदि के प्रसंग उठाए तो इस तरह गए हैं मानों इसपर शास्त्रीय ढंग से गंभीर विवेचना की जायगी पर स्वयं लेखक को न तो इन विषयों के शास्त्रीय पक्ष की जानकारी है न उसे समीक्षा लिखने की पद्धति ही मालूम है जिससे वह तुलनात्मक और व्याख्यात्मक पद्धति का पल्ला पकड़कर मनमाने ढंग से जो जी में आया है लिखता चला गया है। फलतः उसने पद्माकर की संस्कृत और हिंदी के कवियों से तुलना करके ग्रंथ का आकार तो बढ़ाया ही है, शेक्सपीयर, मिल्टन, वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स, बायरन, ब्राउनिंग, लांगफेलो, टेनिसन, लिटन, थामसन, रवींद्रनाथ ठाकुर, आदि से भी उनकी तुलना कर डाली है और उन कवियों की कविताओं के उद्धरण अप्रासंगिक रूप से भर दिए हैं। इस प्रकार पद्माकर का मूल्यांकन इस ग्रंथ में कुछ भी नहीं हो सका है।

पद्माकर की सही और शुद्ध साहित्यिक समीक्षा विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने लिखी है जो उनके द्वारा संपादित 'पद्माकर पंचामृत' (सन् १६३५) के आमुख के रूप में है। इसमें विश्वनाथजी ने शुक्लजी और लालाजी की समीक्षा-पद्धतियों का समन्वय करते हुए पद्माकरकालीन सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों का विश्लेषण करने के बाद उनकी पृष्ठभूमि में पद्माकर के जीवन

[1] हिंदी साहित्य का इतिहास—पृष्ठ ३०७।
[2] वही—पृष्ठ ३०६।
[3] वही—पृष्ठ ५६३।

और काव्य को रखकर देखा है और फिर उनके प्रबंधविधान, अलंकार-निरूपण, नायिका-भेद-वर्णन, रस-भाव-निरूपण. शृंगार भावना, भक्ति भावना, वस्तु चित्रण, भाषा आदि की शास्त्रीय विधि से विवेचना की है। प्रबंधविधान के अंतर्गत उन्होंने 'बिहारी की वाग्विभूति' में व्यक्त विचारों को ही दुहराया है और प्रबंध काव्य में नायक के चरित्र की महानता को आवश्यक ठहराते हुए पद्माकर के प्रबंध दोष दिखाए हैं। नायिकाभेद और अलंकारनिरूपण में उन्होंने पद्माकर के आचार्य रूप की विद्वत्तापूर्ण ढंग से आलोचना की है। 'शृंगार भावना' के विवेचन में उनका सिद्धांतनिरूपण शुक्लजी से प्रभावित है पर शुक्लजी ने अपने इतिहास में पद्माकर की समीक्षा जिस पैनी दृष्टि से की है, विश्वनाथजी वैसा नहीं कर सके हैं। 'चित्रण' पर विचार करते हुए भी उन्होंने शुक्लजी की 'सजीव मूर्तिविधायिनी कल्पना' वाले सूत्र की ओर बिलकुल ही ध्यान नहीं दिया है और रूपचित्रण संबंधी दो एक उदाहरण देकर चलता कर दिया है। उसी तरह 'भाव व्यंजना' की विवेचना भी बहुत ही सामान्य ढंग से की गई है, पर पद्माकर की भाषा की विशेषताओं, स्वरूप और दोषों का विश्लेषण विद्वत्तापूर्ण ढंग से किया गया है। इस तरह यह भूमिका बहुत बड़ी न होते हुए भी. पद्माकर के काव्य की शास्त्रीय समीक्षा की दिशा में एक महत्वपूर्ण समीक्षात्मक कृति मानी जायगी।

शुक्लजी ने अपने इतिहास में भिखारीदास, ठाकुर और घनानंद के संबंध में भी कुछ विस्तार से विचार किया है पर इनमें से भी सबसे अधिक प्रशंसा उन्होंने घनानंद की की है। परंतु आलोच्य काल में इन कवियों की ग्रंथावली, या इनसे संबंधित समीक्षा ग्रंथ नहीं प्रकाशित हुए। सन् १६४० के बाद इन कवियों की ओर आलोचकों और शोधकों का ध्यान विशेष रूप से गया। अतः उनके संबंध में शुक्लजी के विचारों की आलोचना यहाँ अप्रासंगिक होगी।

(२) आधुनिक काव्य की समीक्षा—

आलोच्यकाल में प्राचीन कवियों और काव्य प्रवृत्तियों की विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत करने के साथ ही आधुनिक काव्य और कवियों के संबंध में व्यावहारिक समीक्षाएँ भी प्रस्तुत की गईं। ये समीक्षाएँ दो रूपों में की गई हैं—(क) काव्य प्रवृत्तियों का सामान्य विवेचन, (ख) विशिष्ट कवियों अथवा काव्य कृतियों का समीक्षात्मक मूल्यांकन।

(क) काव्य प्रवृत्तियों की समीक्षा—

आधुनिक कविता के विभिन्न युगों अथवा धाराओं की प्रवृत्तियों और विशेषताओं का विवेचन करनेवाली कोई स्वतंत्र आलोचना पुस्तक इस काल में

नहीं लिखी गई। फिर भी हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथों तथा आलोचनात्मक निबंध संग्रहों में कई आलोचकों द्वारा आधुनिक काव्य की युग प्रवृत्तियों तथा काव्याधाराओं का विवेचन विश्लेषण किया गया। इस दिशा में सबसे महत्वपूर्ण कार्य आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में आधुनिक काव्य के विकास क्रम का ऐतिहासिक विवेचन प्रस्तुत करते हुए प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय उत्थान के अंतर्गत भारतेंदु युग, द्विवेदी युग तथा छायावाद युग की काव्यगत प्रवृत्तियों, काव्यधाराओं तथा विशिष्ट कवियों और काव्यकृतियों के संक्षिप्त किंतु सारगर्भित समीक्षात्मक विवेचन द्वारा किया। भारतेंदु युग और द्विवेदी युग की काव्यधाराओं का तो शुक्लजी ने मुख्यतः विवरणात्मक परिचय ही दिया किंतु छायावाद के संबंध में विचार करते समय उन्होंने उसकी प्रवृत्तिगत विशेषताओं, प्रभावों आदि का आलोचनात्मक विवेचन करने के साथ ही प्रमुख कवियों और उनके कृतित्व का अपने आलोचनात्मक मान के अनुसार सूक्ष्म विवेचन किया है, साहित्यिक इतिहास की प्रचलित पद्धति के अनुसार केवल विवरणात्मक परिचय नहीं दिया है। छायावाद और उसके कवियों के संबंध में जो आलोचना शुक्लजी ने प्रस्तुत की, उसका महत्व इतने से ही समझा जा सकता है कि परवर्ती आलोचकों ने इन कवियों के संबंध में जो आलोचनाएँ लिखीं, उनमें शुक्लजी के समीक्षात्मक निष्कर्षों को निश्चित रूप से ध्यान में रखा गया। छायावाद के संबंध में शुक्लजी के मत से बिलकुल मतभेद रखनेवाले आलोचकों को भी अपने मत का प्रतिपादन करने के लिये शुक्लजी के मत का खंडन करना पड़ा। भारतेंदु युग और द्विवेदी युग की जिन सामान्य विशेषताओं की ओर शुक्लजी ने अपने इतिहास में संकेत किया, इस काल में इन युगों का प्रवृत्तिगत विवेचन विश्लेषण प्रायः वहीं तक सीमित रहा। ये दोनों युग आधुनिक काव्य विकास के प्रारंभिक युग थे जिनमें हिंदी कविता को काव्य वस्तु, भाव, भाषा सभी दृष्टियों से पूर्वपरंपरा से भिन्न नया रूप देने का प्रयास किया जा रहा था। अतः इस परिवर्तन के प्रयास में इन प्रारंभिक युगों से जो प्रवृत्तियाँ आई वे बहुत स्थूल और स्पष्ट थीं अतः उनके सामान्य स्वरूप निर्धारण के लिये बहुत गंभीर विश्लेषणात्मक और तत्वग्राहिणी आलोचनात्मक प्रतिभा आवश्यक न थी। संभवतः इसी लिये शुक्लजी ने छायावादी काव्यप्रवृत्तियों के विवेचन और मूल्यांकन में जितनी शक्ति लगाई है, किसी सीमा तक उतनी भारतेंदु और द्विवेदी युग की सामान्य प्रवृत्तियों और विशेषताओं के उद्घाटन में नहीं। बाद में शुक्लजी के ही सूत्रों को विशेष रूप से आधार बना कर उनके शिष्य कृष्णशंकर शुक्ल ने 'आधुनिक साहित्य का इतिहास (सन् १९०४) में भारतेंदु युग और द्विवेदी युग की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति का प्रभाव बतलाते हुए शुक्लजी की अपेक्षा अधिक विस्तृत रूप में इन युगों की सामान्य प्रवृत्तियों और विशेषताओं का उद्घाटन किया।

भारतेंदु युग के काव्य का मूल्यांकन करते हुए शुक्लजी ने सूत्र रूप में उसकी अधिकांश विशेषताओं की ओर संकेत कर दिया। साथ ही आधुनिक कविता के विकास में भारतेंदु हरिश्चंद्र तथा उसके सहयोगियों के योग का भी उन्होंने आकलन किया। उनके अनुसार कविता को नए विषयों और नूतन भावनाओं की ओर मोड़ने का श्रेय भारतेंदु युग को ही है। 'इस नए रंग में सबसे ऊँचा स्वर देशभक्ति की वाणी का था। उसी से लगे हुए विषय लोकहित, समाजसुधार, मातृभाषा का उद्धार आदि थे। हास्य और विनोद के नए विषय भी इस काल में कविता को प्राप्त हुए......इसी प्रकार वीरता के आश्रय भी जन्मभूमि के उद्धार के लिये रक्त बहानेवाले, अत्याचार और अन्याय का दमन करनेवाले इतिहासप्रसिद्ध वीर होने लगे। सारांश यह कि इस नई धारा की कविता के भीतर जिन नए नए विषयों के प्रतिबिंब आए, वे अपनी नवीनता से आकर्षित करने के अतिरिक्त नूतन परिस्थिति के साथ हमारे मनोविकारों का सामंजस्य भी घटित कर चले।'[१] साथ ही प्रबंधों के प्रति अपनी विशेष रुझान के कारण शुक्लजी ने यह भी लक्ष्य किया कि इस काल में अनेक प्रकार के सामान्य विषयों पर कुछ दूर तक चलती हुई विचारों और भावों की मिश्रित धारा के रूप में प्रबंध या निबंध लिखने की परंपरा चली जो भारतेंदु युग में तो बहुत कुछ भावप्रधान रही पर आगे चलकर शुष्क और इतिवृत्तात्मक (मैटर आफ फैक्ट) होने लगी।

भारतेंदु युग की इन विशेषताओं पर प्रकाश डालने के साथ ही शुक्लजी ने इस युग की काव्य सीमाओं को स्पष्ट करके किसी प्रकार की भ्रांति के लिये अवकाश नहीं रहने दिया है। उनका यह निर्भ्रांत मत है कि नए विषयों और नई भावनाओं के ग्रहण के अतिरिक्त भारतेंदु युग में काव्य की परंपरागत पद्धति में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ। काव्य की भाषा भी मुख्यतः ब्रजभाषा ही बनी रही। सामाजिक और राजनीतिक स्थिति की ओर कवियों ने हृदय को बहुत दूर तक प्रवृत्त नहीं किया। देशभक्ति और स्वदेशप्रेम की भावना भी वर्तमान स्थिति के प्रति खिन्नता और अतीत के गुणानुवाद तक ही सीमित रही। अतः 'यह प्रेम अगाया तो गया पर कुछ नया नया होने के कारण उस समय काव्यभूमि पर पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित न हो सका।' जैसा कि प्रारंभ में कहा गया, कृष्णशंकर शुक्ल ने शुक्लजी की ही बातों को बहुत कुछ उन्हीं के ढंग से रखा। बाबू श्यामसुंदरदास ने 'हिंदी भाषा और साहित्य' में आधुनिक साहित्य पर इतने संक्षेप में विचार किया कि उसमें इन सभी प्रवृत्तियों का उल्लेख भी नहीं हो सका, केवल प्रमुख विशेषताओं

[१] हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ५११।

का ही उल्लेख करके वे आगे बढ़ गए हैं। इस प्रकार भारतेंदु युग की काव्य-प्रवृत्तियों का विवेचन मौलिकता की दृष्टि से ही नहीं, विस्तृत अध्ययन की दृष्टि से भी आलोच्यकाल में शुक्लजी से आगे नहीं बढ़ा।

द्विवेदी युग का भी सूत्र रूप में ही सही, शुक्लजी ने बहुत स्पष्ट प्रवृत्तिविवेचन किया है। द्विवेदीयुगीन कविता के संबंध में शुक्लजी द्वारा दिए गए इस सूत्र का ही हिंदी आलोचना में बहुत बाद तक भाष्य होता रहा है—'द्वितीय उत्थान में काव्य की नूतन परंपरा का अनेक विषयस्पर्शी प्रसार अवश्य हुआ पर द्विवेदीजी के प्रभाव से एक ओर उसमें भाषा की सफाई, दूसरी ओर उसका स्वरूप गद्यवत् रूखा, इतिवृत्तात्मक और अधिकतर बाह्यार्थनिरूपक हो गया।' भारतेंदु युग के बाद द्वितीय उत्थान की कविता के विकास के संबंध में शुक्लजी का मत यह था कि श्रीधर पाठक ने अपनी कविताओं द्वारा काव्य की स्वच्छंदतावादी धारा का सही अर्थ में प्रवर्तन किया किंतु सच्ची और स्वाभाविक स्वच्छंदता का का यह मार्ग चल नहीं सका। जब कविता शास्त्रीय परंपरा में बँध जाती है उस समय लोक जीवन में स्वच्छंद रूप से प्रवाहित होती हुई भावधारा को लोकानुरूप अभिव्यंजना पद्धतियों में व्यक्त करनेवाली स्वच्छंतावादी धारा का उदय होता है। श्रीधर पाठक काव्य की इस स्वाभाविक दिशा में बढ़े किंतु उसी समय महावीरप्रसाद द्विवेदी संस्कृत काव्य के संस्कारों को लेकर हिंदी साहित्य क्षेत्र में आए और उनके प्रभाव से उस युग की काव्यप्रवृत्ति स्वाभाविक स्वच्छंदता की ओर न जाकर संस्कृत साहित्य की पद्धति की ओर चली गई।

शुक्लजी के अतिरिक्त अधिकांश आलोचक ब्रजभाषा और खड़ी का बोली संबंधी विवादों और खड़ी बोली के काव्य भाषा के रूप में विकास परिचय देने तक ही सीमित रहे या इससे आगे बढ़े भी तो खड़ी बोली को उत्तम काव्य के उपयुक्त बनाकर उसे व्यवस्थित रूप देने और उसे भावों की अभिव्यंजना का पर्याप्त सशक्त माध्यम बनाने को ही द्विवेदी युग की काव्यगत विशेषता मानकर अपने कर्तव्य की इति भी समझ ली। उदाहरण के लिये हरिऔधजी ने अपने इतिहास[1] में और प्रो॰ सत्येंद्र ने 'गुप्तजी की कला' नामक पुस्तक के प्रारंभ में इसी दृष्टि से इस युग का मूल्यांकन किया है। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने अवश्य शुक्लजी से भी अधिक स्पष्ट शब्दों में उनसे पहले ही इस युग की सीमाओं का व्यंग्यात्मक शैली में परिचय दे दिया था। कला का अभाव, इतिवृत्तात्मकता और उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति

[1] हिंदी भाषा और साहित्य का विकास—पुस्तकभंडार, लहेरियासराय, सन् १९३०।

के संबंध में बख्शीजी ने लिखा है कि 'उस समय हमारे कविगण स्पष्ट बातें कहते थे। उन्होंने अपनी कविताकामिनी का मुख किसी अवगुंठन से नहीं ढँका। दो एक को छोड़कर प्रायः सभी कवि आचार्य के आसन पर बैठकर लोगों को कर्त्तव्याकर्तव्य की शिक्षा देते थे। उनकी संमति थी कि कवियों का काम मनोरंजन नहीं, शिक्षादान है। अतएव शिक्षा के नाम से वे स्कूलों की दीवारों पर चिपकाने योग्य उपदेशों के गट्ठे हिंदी के पाठकों पर लादने लगे। कोई करुणाव्यंजक स्वर से उपदेश देने लगा तो कोई निर्देशसूचक वाक्यों में शिक्षा प्रदान करने लगा'।[१] द्विवेदी युग के महत्व का उचित मूल्यांकन करने के साथ ही उसके अभावों और सीमाओं का बख्शीजी ने इस प्रकार सबसे पहले इतनी स्पष्टता के साथ परिचय दिया।

भारतेंदु युग और द्विवेदी युग की अपेक्षा छायावादी कविता की प्रवृत्तियों का विवेचन और मूल्यांकन आलोच्य काल में अधिक किया गया। कारण यह था कि छायावाद का काल भी (सन् १९२० से ४०) यही था और इस काल के प्रथम दशक (सन् १९२०-३०) में पूर्व प्रवृत्तियों से भिन्न यह नई कविता इतनी नवीनता और परिवर्तन लेकर आई कि इस काल के प्रायः सभी आलोचकों ने आधुनिक काव्यविकास पर विचार करते समय इसी काव्यप्रवृत्ति के संबंध में मुख्य रूप से विचार किया। छायावादी कविता पर अधिक विचार होने का दूसरा कारण यह था कि इसके संबंध में परस्पर बिलकुल भिन्न मत रखनेवाले इसके समर्थक और विरोधी आलोचकों का दो वर्ग ही इस काल में खड़ा हो गया। छायावाद के प्रारंभ के साथ ही उसके संबंध में जो विवाद उठ खड़ा हुआ उसने समकालीन साहित्य का मूल्यांकन ही आलोचक का प्रमुख कर्तव्य माननेवाले अधिकांश नए आलोचकों को तो इस काव्यधारा पर विचार करने के लिये बाध्य किया ही, प्राचीन साहित्य में ही विशेष अभिरुचि रखनेवाले आलोचकों ने भी इस संबंध में कुछ कहना आवश्यक समझकर जहाँ कहीं अवसर मिला, कुछ कह डाला। इस संबंध में यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि किसी नवीन काव्यधारा का प्रारंभ होने पर शुरू शुरू में ही उसके प्रवृत्तिगत वैशिष्ट्य और विकास की दिशा को ठीक से समझ सकना बहुत कठिन होता है। छायावाद के संबंध में सन् १९३० तक विभिन्न आलोचकों द्वारा व्यक्त किए गए विचारों से इसी स्थिति की सूचना मिलती है। छायावादी कविता इस समय तक अपने विकास की स्थिति में थी, अतः इसकी सभी काव्यप्रवृत्तियाँ अपने पूर्ण और स्पष्ट रूप में सामने नहीं आ पाई थीं। इन सभी कारणों से सन् ३० के पहले छायावाद के संबंध में लिखी गई

[१] हिंदी साहित्य विमर्श, पृ० ९९–१००।

आलोचनाओं में प्रवृत्तिगत विश्लेषण और मूल्यांकन की अपेक्षा व्यक्तिगत काव्य-रुचि और संस्कार के आधार पर खंडन, मंडन की प्रवृत्ति अधिक दिखलाई पड़ती है। अतः छायावाद के संबंध में प्रारंभ में ऐसी निर्णयात्मक आलोचनाएँ लिखी गईं, जिनमें आलोचक निर्णायक के अधिकार से छायावाद नामधारी नई कविता के हिंदी काव्यक्षेत्र में प्रवेश के औचित्य अनौचित्य पर ही अधिक विचार करते थे। छायावादी कविता का प्रारंभ में ही जोरदार विरोध करनेवाले द्विवेदी युग के अधिकांश आलोचकों द्वारा नई कविता के संबंध में प्रकट किए विचार दोष-दर्शन तक ही सीमित हैं। जिन आलोचकों ने इस नई कविता पर सहानुभूति-पूर्वक विचार किया, उनकी दृष्टि भी इस धारा की मूल प्रवृत्तियों और विशेषताओं तक न पहुँचकर उसकी 'रहस्यात्मकता' में ही उलझी रह गई। इस नई काव्य-प्रवृत्ति को ठीक से न समझने के कारण छायावाद को रहस्यवाद का समानार्थी या उसका अंग समझने की भ्रांति सन् १९३० के पूर्व तक अधिकांश आलोचकों ने की है। सन् १९३४ में भी मिश्रबंधुओं को पंत के 'पल्लव' में छायावाद नहीं दिखलाई पड़ता—'इनमें केवल छायावाद नहीं है वरन् इतर साहित्य के साथ कुछ कुछ वह भी मिल गया है।' यहाँ तक कि रामचंद्र शुक्ल जैसे समर्थ आलोचक ने भी छायावादी कविता की मुख्य प्रवृत्ति रहस्यवादी भावना ठहराई और नई काव्य-चेतना को रहस्यवाद या अनुकृत रहस्यवाद कहकर उन्होंने इसे हिंदी काव्य के स्वस्थ विकास के लिये घातक बतलाया। हिंदी साहित्य का इतिहास के प्रथम संस्करण (सन् १९२९) में और अन्यत्र जहाँ कहीं भी शुक्लजी ने इस नई काव्यचेतना पर विचार किया है या मत प्रकट किया है, उनकी दृष्टि पूर्वग्रहयुक्त और विरोधमूलक ही है। सन् १९३० तक इस नई कविता से सहानुभूति रखनेवाले आलोचकों की भी अनिश्चितता की स्थिति दिखलाई पड़ती है और वे निश्चित नहीं कर पाए हैं कि इस कविता को रहस्यवाद कहा जाय या छायावाद। अतः श्यामसुंदरदास ने छायावादी कविता पर विचार करते समय लिखा है—'अब थोड़े समय से हिंदी कविता में रहस्यवाद या छायावाद की सृष्टि हो रही है। कुछ लोग रहस्यवाद या छायावाद को आध्यात्मिक कविता बतलाते हैं'।[1] हरिऔधजी ने इस अनिश्चय के संबंध में लिखा है कि 'छायावाद शब्द कहाँ से कैसे आया, इस बात की अबतक मीमांसा न हो सकी। छायावाद के नाम से जो कविताएँ होती हैं उनको कोई 'हृदयवाद' कहता है और कोई प्रतिबिंबवाद। अधिकतर लोगों ने छायावाद के स्थान पर रहस्यवाद कहने की संमति ही दी है। किंतु अबतक तर्क वितर्क चल रहा है और कोई यह निश्चित नहीं कर सका

[1] हिंदी भाषा और साहित्य, श्यामसुंदरदास, प्रथम संस्करण सं० १९८७।

कि वास्तव में नूतन प्रणाली की कविताओं को क्या कहा जाय। इसपर लेख बहुत लिखे जा चुके हैं, पर सर्वसंमति से कोई बात निश्चित नहीं की जा सकी।'[१] किंतु छायावाद नाम के ग्रहण की सलाह देते हुए भी हरिऔधजी स्वयं छायावाद या रहस्यवाद की उलझन में पड़ गए हैं क्योंकि इस प्रसंग में वे रहस्यवाद की परंपरा और उसके सिद्धांत के संबंध में ही विचार करने में विशेष रूप से प्रवृत्त हो गए हैं और अंत में इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'इसका प्राचीन नाम रहस्यवाद ही है जिसे अँगरेजी में मिस्टिसिज्म कहते हैं। उसी का साधारण संस्करण छायावाद है।'[२] पुराने आलोचकों द्वारा छायावाद के संबंध में लिखी गई प्रारंभिक आलोचनाओं में सबसे स्पष्ट और निर्भ्रांत आलोचना पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी द्वारा 'हिंदी साहित्य विमर्श' नामक पुस्तक के 'आधुनिक हिंदी काल' शीर्षक निबंध में की गई है। महत्व की बात यह है कि यह निबंध सन् १९२१ में लिखा गया था जब कि छायावादी कविता अपने विकास की प्रारंभिक अवस्था में थी। बख्शीजी पहले आलोचक हैं जिन्होंने स्पष्ट शब्दों में छायावाद के नाम से प्रचलित कविताओं की मुख्य प्रवृत्ति 'रोमैंटिसिज्म' बतलाई। यद्यपि इस निबंध में तबतक (सन् १९२१ तक) लिखी गई छायावादी कविताओं, विशेष रूप से पंत का 'पल्लव' - के ही आधार पर छायावाद की प्रवृत्तियों पर बहुत संक्षेप में विचार किया गया है किंतु तब भी वे विचार संपूर्ण छायावादी कविता के लिये कुछ सीमाओं के साथ उतने ही सही हैं। बख्शीजी ने भावोन्माद, कल्पनाशीलता और प्रकृतिसौंदर्य के प्रति अत्यधिक कुतूहल और विस्मय के भाव को छायावाद की प्रमुख प्रवृत्ति माना है और रहस्यात्मकता का कारण उन्होंने अनुभूति की प्रधानता और कल्पना का आधिक्य बताया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि छायावाद के संबंध में बख्शीजी के मत को ही बाद में अधिकांश आलोचकों ने मान्यता दी और आज भी अधिकांश आलोचक अन्य प्रवृत्तियों के साथ साथ इन्हें भी छायावाद की प्रमुख प्रवृत्ति मानते हैं। छायावाद के प्रवृत्तिगत विवेचन की दिशा में इसे प्रथम, पूर्वग्रहहीन, वास्तविक समीक्षात्मक मूल्यांकन कहा जा सकता है। छायावाद में किसी एक भाव (रहस्यवाद) या एक शैली के स्थान पर भाव और शैली के वैविध्य को भी बख्शीजी ने सबसे पहले लक्ष्य किया और इस आधार पर उन्होंने स्पष्ट कहा कि 'हमारी समझ में तो छायावाद के नाम से प्रचलित कविताओं में न तो भावों की एकता है, न विचारों की और न शैली की...उसमें मिस्टिसिज्म तो नहीं, रोमैंटिसिज्म अवश्य है।'[३]

[१] हिंदी भाषा और साहित्य का विकास।

[२] वही।

[३] हिंदी साहित्य विमर्श, पृ० १०६।

किंतु छायावाद के संबंध में बख्शीजी के इस स्पष्ट मत के बाद भी द्विवेदी युग के आलोचक अनिश्चय की स्थिति में ही रहे और इस अनिश्चय की स्थिति को दूर करने के लिये छायावादी कवियों को स्वयं आलोचना के क्षेत्र में उतरकर छायावाद और रहस्यवाद का स्वरूप, उनका अंतर और परिभाषा आदि स्पष्ट करनी पड़ी। प्रसाद और महादेवी ने छायावाद और रहस्यवाद पर स्वतंत्र रूप से गंभीर आलोचनात्मक विचार प्रस्तुत किए। साथ ही इस काल में आधुनिक साहित्यिक चेतना से युक्त ऐसे कई आलोचक समीक्षा के क्षेत्र में आए जिनकी दृष्टि और समीक्षात्मक प्रतिमान पूर्ववर्ती आलोचकों से भिन्न थे। नंददुलारे वाजपेयी और नगेंद्र ऐसे ही आलोचक हैं जिन्होंने हिंदी की आधुनिक काव्यप्रवृत्तियों पर विचार किया और छायावाद तथा रहस्यवाद संबंधी भ्रांतियों का निराकरण करके उसकी मूल प्रवृत्तियों और विशेषताओं का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत किया। छायावाद, रहस्यवाद के संबंध में लिखी गई इनमें से कुछ गंभीर आलोचनाओं के परिणामस्वरूप ही शुक्लजी को अपने हिंदी साहित्य के इतिहास के परिवर्द्धित संस्करण (सन् १९४०) में इन काव्यावृत्तियों के संबंध में विस्तार से गंभीरतापूर्वक विचार करना पड़ा।

काव्य कला तथा अन्य निबंध में संगृहीत प्रसादजी के 'यथार्थवाद और छायावाद' तथा 'रहस्यवाद' शीर्षक निबंध तत्कालीन काव्यप्रवृत्तियों के मूल्यांकन की दिशा में ऐतिहासिक महत्व रखते हैं। 'यथार्थवाद और छायावाद' शीर्षक निबंध में सबसे पहले यह स्पष्ट किया गया कि हिंदी में जब पौराणिक घटना और बाह्य स्थूल वर्णन को छोड़कर वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिंदी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया। साथ ही उन्होंने नवीन पदयोजना तथा वाक्यविन्यास और शैलीगत नवीनता को आभ्यंतर सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति का अनिवार्य परिणाम बतलाया। इस प्रकार उन्होंने इस मत का खंडन किया कि छायावाद रहस्यवाद का पर्याय या अभिव्यंजना की नवीन पद्धति मात्र है। इस प्रसंग में प्रसादजी ने शब्दों के प्रयोग, भिन्न प्रयोग से नवीन अर्थ उत्पन्न करने की उनकी शक्ति, शब्दार्थ की वक्रता तथा ध्वन्यात्मकता आदि के संबंध में शास्त्रीय विचार प्रस्तुत करते हुए इस नवीन अभिव्यंजना पद्धति की पूर्व परंपरा बतलाकर विद्वत्तापूर्वक यह प्रतिपादित किया कि 'ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौंदर्यमय प्रतीकविधान तथा उपचारवक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं।'[१] छायावाद के वस्तुगत और शैलीगत

[१] काव्यकला तथा अन्य निबंध, पृ० ६२।

विश्लेषण की दृष्टि से यह प्रथम गंभीर विचारोत्तेजक समीक्षा है जिससे हिंदी के पुराने आलोचकों को छायावाद के संबंध में अपने विचारों में संशोधन करने तथा नए आलोचकों को मान्य करने के लिये महत्वपूर्ण विचारसूत्र तथा दृष्टि मिली। 'रहस्यवाद' शीर्षक निबंध प्रमुखतः शोधात्मक है और आधुनिक रहस्यवाद को शुद्ध भारतीय परंपरा की देन सिद्ध करना ही उसका प्रधान उद्देश्य है। भारतीय दर्शन के गंभीर अध्ययन द्वारा प्रसादजी ने इस निबंध में भारतीय रहस्यवाद के मूल स्रोत और विकास का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए तत्कालीन काव्य में रहस्यवाद की सौंदर्यमयी व्यंजना को भारतीय रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास सिद्ध किया है। यह निबंध शुक्लजी के 'काव्य में रहस्यवाद' का उत्तर है। शुक्लजी ने आधुनिक रहस्यवादी कविताओं को पाश्चात्य रहस्यवाद की अनुकृति माना था। प्रसादजी के इस निबंध का सैद्धांतिक महत्व तो है ही, व्यावहारिक समीक्षा को भी इस निबंध की बहुत बड़ी देन यह है कि छायावाद और रहस्यवाद को समानार्थी और छायावाद को रहस्यवाद का अंग समझने की भ्रांति दूर हुई।

जैसा कि पहले बताया गया छायावाद और रहस्यवाद संबंधी इन गंभीर समीक्षाओं के बाद अपने मत प्रतिपादन के लिये शुक्लजी को अपने इतिहास के संशोधित संस्करण में छायावादी कविताओं पर विस्तार से विचार करना पड़ा। यद्यपि छायावाद के उनके विवेचन से आज के अधिकांश आलोचक असहमत हैं, किंतु शुक्लजी ने अपनी समीक्षाओं में जिस बौद्धिक स्तर पर और तर्कपूर्ण विवेचनपद्धति द्वारा अपने निष्कर्षों को रखा है, वे ऐसे नहीं हैं कि उनकी यों ही उपेक्षा करके कोई आगे बढ़ सके। उन्होंने छायावाद को दो अर्थों में लिया है, एक तो रहस्यवाद के अर्थ में जहाँ उसका संबंध काव्यवस्तु से होता है, अर्थात् जहाँ कवि उस अनंत और अज्ञात प्रियतम को आलंबन मानकर अत्यंत चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से अभिव्यंजना करता है; और दूसरे काव्यशैली या पद्धतिविशेष के व्यापक अर्थ में। छायावाद के प्रथम और मूल अर्थ में वे महादेवी वर्मा को ही छायावादी मानते हैं। उनके मतानुसार 'पंत, प्रसाद, निराला इत्यादि और सब कवि प्रतीकपद्धति या चित्रभाषा शैली की दृष्टि से ही छायावादी कहलाए।' इस प्रकार रहस्यवाद से भिन्न छायावाद शुक्लजी के अनुसार विशिष्ट काव्यशैली मात्र है अतः वस्तु की दृष्टि से छायावाद की मुख्य प्रवृत्ति रहस्यवाद मानकर शुक्लजी ने यह मत व्यक्त किया है कि 'बँगला कविताओं, विशेष रूप से रवींद्रनाथ के प्रभाव या अनुकरण के परिणामस्वरूप, हिंदी में यह काव्यप्रवृत्ति आई और बंगाल में इस प्रकार की कविताएँ पुराने ईसाई संतों के छायाभास (फ़ॅन्टासमाटा) तथा यूरोपीय काव्यक्षेत्र में प्रवर्तित आध्यात्मिक प्रतीकवाद (सिम्बालिज्म) के अनुकरण पर' लिखी गई'। प्रसादजी ने उपर्युक्त निबंध में शुक्लजी के इसी मत का खंडन किया है जिसका उत्तर

शुक्लजी ने अपने इतिहास के इस संशोधित संस्करण में दिया। उनके अनुसार साधनात्मक रहस्यवाद की परंपरा तो भारतवर्ष में अत्यंत प्राचीन काल से चली आ रही है किंतु 'अज्ञेय और अव्यक्त को अज्ञेय और अव्यक्त ही रखकर कामवासना के शब्दों में प्रेमव्यंजना भारतीय काव्यधारा में कभी नहीं चली।' शुक्लजी छायावाद की रहस्यवादी कविताओं पर बंगभाषा की रहस्यात्मक कविताओं का प्रभाव तथा अन्य कविताओं को अंगरेजी के कलावाद और अभिव्यंजनावाद का अनुकरण मानते हैं। अतः नवीन अभिव्यंजना पद्धतियों का सुंदर विकास ही वे छायावाद की मुख्य उपलब्धि मानते हैं। शुक्लजी के इस विवेचन से असहमत होने पर भी इतना स्वीकार करना पड़ेगा कि उन्होंने छायावाद को काव्यशैली मानकर छायावादी कविता की अभिव्यंजना पद्धतियों का सूक्ष्म विश्लेषण कर दिया है। शुक्लजी के इस विवेचन की दूसरी महत्वपूर्ण देन यह है कि आलोचकों ने उन पाश्चात्य प्रवृत्तियों पर विशेष ध्यान दिया जिनका प्रभाव छायावादी कविताओं पर बतलाया गया था। अँगरेजी के लाक्षणिक प्रयोगों और अन्य अभिव्यंजना पद्धतियों को छायावादी कवियों ने ज्यों का त्यों उठा लिया है, इस मत ने अँगरेजी की रहस्यवादी और स्वच्छंदतावादी कविता के साथ छायावादी कविता के तुलनात्मक अध्ययन को विशेष गति दी।

शुक्लजी का 'हिंदी साहित्य का इतिहास' संशोधित और परिवर्द्धित रूप में सन् १९४० में प्रकाशित हुआ। पर इस संस्करण में भी आधुनिक कविता (छायावादी कविता के प्रति उनके दृष्टिकोण में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं दिखाई पड़ा किंतु स्वर अवश्य बदल गया था। छायावाद को काव्य की एक शैली मानते हुए भी उन्होंने यह स्वीकार किया कि अब कई कवि उस संकीर्ण क्षेत्र से बाहर निकलकर जगत् और जीवन के और और मार्मिक पक्षों की ओर बढ़ते दिखाई दे रहे हैं।' इस स्वरपरिवर्तन का कारण तबतक प्रकाशित छायावादी कविताओं का स्पष्ट रूप और उनका विशेष अध्ययन तो था ही, साथ ही तब तक छायावादी कविता के संबंध में लिखी गई अन्य महत्वपूर्ण समीक्षाओं ने भी उन्हें स्वर बदलने के लिये बाध्य किया। छायावादी कविता के विशिष्ट कवियों के संबंध में सन् १९३१-३२ तक नंददुलारे वाजपेयी की गंभीर विश्लेषणात्मक समीक्षाएँ प्रकाश में आने लगी थीं। डा० नगेंद्र ने अपनी पुस्तक 'सुमित्रानंदन पंत' में पंतजी के काव्य के विविध पक्षों पर विस्तृत और गंभीर समीक्षा प्रस्तुत की थी। इस प्रकार तबतक छायावाद विवाद की सीमा पार करके अपने विकास की उस सीमा पर पहुँच चुका था जब कि सामान्य प्रवृत्तिगत विवेचन के स्थान पर एक एक कवि और प्रवृत्ति को लेकर उसका विशिष्ट अध्ययन करने की आवश्यकता का अनुभव लोग करने लगे थे। सन् १९४० तक महादेवी वर्मा द्वारा छायावाद

और रहस्यवाद की दार्शनिक और भावनात्मक भूमिका तथा पं० शांतिप्रिय द्विवेदी द्वारा उसका भावात्मक और सौंदर्यपरक मूल्याकन प्रस्तुत किया जा चुका था।

नंददुलारे वाजपेयी ने छायावादी कविता का स्वतंत्र प्रवृत्तिगत विश्लेषण तो नहीं किया है किंतु विभिन्न छायावादी कवियों के संबंध में 'हिंदी साहित्य बीसवीं शताब्दी' में १६३० से ४० के बीच लिखी गई जो समीक्षाएँ संगृहीत हैं, उनसे उनका मत स्पष्ट हो जाता है। इन कवियों के मूल्यांकन के प्रसंग में छायावाद के संबंध में शुक्लजी तथा अन्य समीक्षकों की भ्रांत धारणाओं का उल्लेख करते हुए अनेक स्थानों पर उन्होंने अपना स्पष्ट मत भी व्यक्त किया है। १६३१ में लिखे गए 'जयशंकर प्रसाद' शीर्षक निबंध में उन्होंने छायावाद को एक नवीन सांस्कृतिक और दार्शनिक चेतना की देन बतलाते हुए स्पष्ट कहा था कि 'इस छायावाद को हम पं० रामचंद्र शुक्ल के अनुसार केवल अभिव्यक्ति की एक लाक्षणिक प्रणालीविशेष नहीं मान सकेंगे। इसमें एक सास्कृतिक मनोभावना का उद्गम है और एक स्वतंत्र दर्शन की नियोजना भी।'[1] वाजपेयीजी की दृष्टि मुख्यतः सौंदर्यवादी है और उनकी समीक्षापद्धति स्वच्छंदतावादी। अतः छायावादी सौंदर्यबोध के ग्रहण की उनकी जैसी समीक्षात्मक प्रतिभा कम आलोचकों में दिखलाई पड़ती है। इस कारण अपने निबंधों में छायावादी कविताओं की निजी विशेषताओं के उद्घाटन के साथ छायावाद और रहस्यवाद का स्वरूप-भेद वे अधिक स्पष्टता के साथ बतला सके हैं। वाजपेयीजी के अनुसार 'मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किंतु व्यक्त सौंदर्य में आध्यात्मिक छाया का भान' छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है। उनके मत में छायावाद और रहस्यवाद में व्यष्टि सौंदर्यबोध और रहस्यवाद में समष्टि सौंदर्यबोध की अनुभूति को अभिव्यक्ति मिलती है। व्यष्टि-सौंदर्य-दृष्टि और समष्टि सौंदर्य-दृष्टि में अंतर न करने के कारण ही छायावाद और रहस्यवाद के स्वरूपभेद को समझने में लोगों को कठिनाई होती है।

डा० नगेंद्र ने अपनी पुस्तक सुमित्रानंदन पंत (सन् १६३८) में संभवतः पहली बार छायावाद की प्रमुख प्रवृत्तियों पर स्वतंत्र रूप से गंभीर समीक्षा प्रस्तुत की। यद्यपि यह पुस्तक पंतजी के काव्य की समीक्षा से संबंध रखती है किंतु पुस्तक के प्रारंभ में इसमें छायावाद पर भी विचार किया गया है। इसके पूर्व छायावाद पर जो निबंध लिखे गए थे, उनमें छायावादी कविताओं के आधार पर उनकी प्रमुख प्रवृत्तियों पर उतना विचार नहीं किया गया था

[1] हिंदी साहित्य बीसवीं शताब्दी—पृ० ११३।

जितना छायावाद शब्द के अर्थ, उसके स्वरूप और परिभाषा आदि के संबंध में। साथ ही स्वपक्ष समर्थन और महत्व प्रतिपादन का आग्रह भी इसके पूर्व अधिक था। किंतु १६३८ तक छायावाद का विकास भी पूर्ण हो गया और वाजपेयीजी ने अपनी गंभीर समीक्षाओं द्वारा उसका स्वरूप और उसकी प्रवृत्तियों को भी, कवियों को व्यक्तिगत रूप से लेकर, बहुत कुछ स्पष्ट कर दिया। अतः इस समय तक अनिश्चितता की स्थिति दूर हो गई थी। फिर भी समग्र रूप से छायावादी काव्यप्रवृत्तियों का विवेचन अभी होना बाकी था। डा० नगेंद्र ने अपनी पुस्तक द्वारा यह कार्य भी पूरा कर दिया। उन्होंने शुक्लजी की तरह ही छायावाद को द्विवेदी युग की प्रतिक्रिया कहकर स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह माना है। आज कई आलोचक इस मत को नहीं मानते, वे द्विवेदी युग और छायावाद दोनों को सीधे रीतिकाल के प्रति विद्रोह मानते हैं। इन आलोचकों के अनुसार भारतेंदु युग, द्विवेदी युग और छायावाद युग नवीन सांस्कृतिक उत्थान के तीन चरण हैं। छायावाद इस सांस्कृतिक चेतना की चरम परिणति है। नगेंद्रजी छायावाद को रीतिकाल और द्विवेदी युग दोनो के विरुद्ध प्रतिक्रिया मानते हैं। साथ ही वाजपेयीजी की तरह उन्होंने भी छायावाद को नवीन सांस्कृतिक जागरण का साहित्यिक रूप माना है। यही नहीं, नगेंद्रजी पहले आलोचक हैं जिन्होंने अँगरेजी के 'रोमैंटिक रिवाइवल' और हिंदी के छायावाद को समान परिस्थितियों से उत्पन्न एक विशेष प्रकार की जागृति का साहित्यिक रूप, बतलाकर शुक्लजी के 'पाश्चात्य अनुकरण' संबंधी मत का खंडन किया। इस प्रकार उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि छायावादी और अँगरेजी की स्वच्छंदतावादी कविता में पाई जानेवाली समान काव्यप्रवृत्तियों का कारण समान परिस्थिति और एक सी सांस्कृतिक चेतना है। छायावादी काव्यसमीक्षा को नगेंद्रजी की यह महत्वपूर्ण देन है, जिसके आधार पर आगे चलकर अनेक आलोचकों ने इस समान परिस्थिति की विशद विवेचना थी। नगेंद्रजी की दूसरी महत्वपूर्ण देन यह है कि उन्होंने छायावाद को कुछ प्रमुख काव्यप्रवृत्तियों को अलग अलग लेकर सोदाहरण उनका विवेचन उपस्थित किया। छायावादी कवियों की प्रकृति और मानव जगत् के प्रति भावना, उनकी सौंदर्यदृष्टि, आत्माभिव्यंजन की प्रवृत्ति और स्थूल नैतिक मान्यताओं के प्रति विद्रोह तथा दुःखवादी और रहस्यवादी भावना पर विचार करने के साथ ही उन्होंने उसकी कलात्मक उपलब्धियों पर भी संक्षेप में विचार किया है। अतः यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि छायावाद के सही मूल्यांकन की दिशा में नगेंद्रजी की यह विशिष्ट देन है।

इसके बाद महादेवी वर्मा ने अपने 'छायावाद' शीर्षक निबंध ('महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' में संगृहीत) में बहुत विस्तार के साथ छायावादी कविता की सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि तथा उसकी विविध प्रवृत्तियों और

विशेषताओं पर विचार किया। छायावाद के संबंध में सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत करनेवाला यह प्रथम विस्तृत प्रबंधात्मक आलोचना है। यह निबंध महादेवीजी के अन्य निबंधों की तरह ही काव्यगुणों से युक्त भावात्मक शैली में लिखा गया है, अतः इसमें स्फीति बहुत है। उस समय सामाजिक, और राजनीतिक स्थितियों की पृष्ठभूमि में रीतिकाल, द्विवेदी युग और छायावाद युग की सांस्कृतिक और साहित्यिक चेतना का मूल्यांकन इसकी निजी विशेषता है। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि इसमें छायावादी कविता के संबंध में नवोदित प्रगतिवादियों के आरोपों का भी विस्तार से उत्तर दिया गया है।

यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि आलोच्य काल के अंतिम वर्षों (सन् १९३६-४०) में छायावाद के पूर्ण विकास के साथ ही हिंदी में प्रगतिवादी विचारधारा भी आ गई थी और आंदोलन के रूप में ४, ५ वर्षों में ही उसने काफी 'तूफान' उठा दिया था। इस आंदोलन ने कई कवियों को भी प्रभावित किया और साथ ही कुछ ऐसे साहित्यिक समीक्षकों को भी जन्म दिया जिन्होंने मार्क्सवादी दृष्टि से आधुनिक साहित्य का परीक्षण मूल्यांकन किया। मार्क्सवादी समाजशास्त्रीय समीक्षा सिद्धांत के अंतर्गत इनके काव्यसिद्धांतों पर पहले विचार किया जा चुका है। इन समीक्षकों ने भी छायावादी काव्य प्रवृत्तियों पर मार्क्सवादी दृष्टि से विचार किया है। आलोच्य काल में मार्क्सवादी दृष्टि से छायावादी कविता पर चलती टीका टिप्पणी तो कई लोगों ने की है, लेकिन इस कसौटी पर उसकी अच्छी तरह जाँच शिवदान सिंह चौहान ने 'छायावादी कविता में असंतोष की भावना' शीर्षक अपने ३१ पृष्ठ के विस्तृत निबंध[1] में (सन् १९४० में) की थी। हिंदी में छायावादी कविता पूँजीवाद की कविता है और उसमें पूँजीपति वर्ग या मध्यम वर्ग की वर्गभावना की अभिव्यक्ति हुई है, इस सूत्र की व्याख्या करते हुए उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि 'छायावादी कवि प्रारंभ में क्रांतिकारी के रूप में अवतरित हुआ। उसने कविता को सामंती बंधनों से मुक्त कर दिया, किंतु पूँजीजीवी मनोवृत्ति होने के कारण वह नवीन समाज (पूँजीवादी समाज) के संश्लिष्ट बंधनों की कल्पना न कर पाया। उनमें स्वयं को जकड़ा पाकर वह समस्त बंधनों और समाज-संबंधों के प्रति विद्रोही बन गया।'[2] किंतु चौहान के अनुसार छायावाद की यह विद्रोहभावना भ्रांतिमूलक और निष्क्रिय है और ये भावनाएँ 'आधुनिक

[1] आधुनिक हिंदी साहित्य—सं० सच्चिदानंद हीरानंद, वात्स्यायन, पृ० १९८-१९९।
[2] वही, पृ० १९०।

जीवन की आवश्यकताओं से पराङ्मुख व्यक्ति के मूल असंतोष के प्रतीक हैं'। कारण यह है कि अनियंत्रित स्वतंत्रता का भ्रम टूटते ही छायावादी कवियों का असंतोष निरुद्देश्य और लक्ष्यभ्रष्ट हो गया और कवि वास्तविकता से पलायन करने लगा। पूँजीवादी समाज की वास्तविकता ने छायावादी कवियों को अहंवादी आत्मावेसी, समाजविरोधी और व्यक्तिवादी बना दिया। इस प्रकार चौहानजी के अनुसार छायावादी काव्य में मुख्यतः कुंठा, निराशा और वास्तविकता से पलायन तथा अहंवाद की प्रवृत्तियों को ही अभिव्यक्ति मिली है।

छायावाद की यह मार्क्सवादी समीक्षा द्विवेदीयुगीन समीक्षा की तरह ही एकांगी और पूर्वग्रहयुक्त है जिसमें प्रगतिवाद की स्थापना के लिये छायावाद की महत्वपूर्ण उपलब्धियों को जानबूझकर छोड़ दिया गया है और अपने मत के समर्थन में ऐसी ही कविताओं को उद्धृत किया गया है जो लेखक की उद्देश्य-सिद्धि में सहायक हों। अधिकांश उदाहरण महादेवी और बच्चन की कविताओं से ही दिए गए हैं। यहाँतक कि छायावाद को प्रतिगामी प्रवृत्ति का काव्य सिद्ध करने के अत्यधिक आग्रह के कारण प्रसाद की कविताओं के मूल भाव को छोड़कर 'अनर्थ' भी किया गया है।

जैसा कि पहले कहा गया, प्रगतिवादी आंदोलन के कारण आलोच्य काल में प्रगतिवाद की ओर कई कवि उन्मुख हुए। पंतजी सन् १९३८ तक प्रगतिवाद के प्रमुख कवि हो गए। अतः इस काल में हिंदी की प्रगतिवादी कविता के संबंध में भी कुछ आलोचकों ने सिद्धांत प्रतिपादन और प्रवृत्तिगत विवेचन करना प्रारंभ कर दिया। किंतु सैद्धांतिक वादविवाद तथा खंडनमंडन की प्रवृत्ति ही इनमें प्रधान रूप से दिखलाई पड़ती है। प्रगतिवादी आंदोलन एक विशेष राजनीतिक मतवाद के साथ जुट जाने के कारण बहुत कुछ सीमित हो गया। उस काल की कविता के आधार पर आलोच्य काल में उसका स्पष्ट प्रवृत्तिगत विवेचन नहीं प्रस्तुत किया गया। शिवदान सिंह चौहान तथा प्रकाशचंद्र गुप्त ने अपने निबंधों में प्रवृत्तियों का विस्तृत और गंभीर विवेचन न प्रस्तुत करके महत्व प्रतिपादन ही विशेष रूप से किया। प्रकाशचंद्र गुप्त ने 'हिंदी में प्रगतिवाद' शीर्षक निबंध में भारतेंदु से लेकर छायावाद तक की राष्ट्रीय धारा की कविताओं में प्रगतिवाद की पूर्वपरंपरा बतलाकर अंत में प्रगतिशील लेखक संघ के तत्वावधान में प्रगतिवादी आंदोलन को मजबूत करने की यह 'राजनीतिक' मांग की है कि 'हमे आशा है कि नवयुग के लेखक संस्कृति की रक्षा में हमारी सेना की दूसरी दीवार बनेंगे और हमारे व्यूह को अभेद्य बना देंगे।'[१] एक विशेष

[१] नया हिंदी साहित्य, एक दृष्टि—प्रथम संस्करण, १९४०, पृ० २२८।

मतवाद के राजनीतिक नारों की यह अपनी शब्दावली है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। सही बात यह है कि प्रगतिशील लेखक संघ की 'प्रगतिवादी धारणा' में निरंतर परिवर्तन होते रहने के कारण आलोच्य काल में प्रगतिवाद का कोई निश्चित रूप ही स्थिर नहीं हो सका था।

(ख) कवियों और काव्यग्रंथों की समीक्षा

काव्यप्रवृत्तियों की समीक्षा के अतिरिक्त आलोच्य काल में आधुनिक युग के विभिन्न कवियों और उनकी कृतियों के संबंध में भी विभिन्न आलोचकों द्वारा समीक्षाएँ लिखी गईं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने आधुनिक साहित्य पर विचार करते हुए अपने हिंदी साहित्य के इतिहास के परिवर्द्धित संस्करण में कुछ कवियों के काव्य वैशिष्ट्य का समीक्षात्मक विवेचन भी किया। नंददुलारे वाजपेयी ने हरिऔध, जगन्नाथदास रत्नाकर, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पंत, निराला के संबंध में (सन् १९३१ से ३६ तक) गंभीर समीक्षाएँ प्रस्तुत कीं, जो बाद में 'हिंदी साहित्य बीसवीं शताब्दी' नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुई। शांतिप्रिय द्विवेदी ने भी इसी काल में छायावादी कवियों की भावात्मक समीक्षा की। इसके अतिरिक्त कई आलोचकों ने कुछ कवियों को लेकर स्वतंत्र समीक्षाग्रंथ लिखे। यहाँ इन कवियों को अलग अलग लेकर उनके संबंध में लिखी गई आलोचनाओं पर विचार करना अधिक उपयुक्त होगा।

१—जगन्नाथदास रत्नाकर

रत्नाकरजी के संबंध में इस काल में नंददुलारे वाजपेयी ने निबंध रूप में और कृष्णशंकर शुक्ल ने पुस्तक रूप में समीक्षाएँ लिखीं। 'हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' में संगृहीत 'रत्नाकर' शीर्षक निबंध की रचनातिथि वाजपेयीजी ने सन् १९३१ दी है। इसके चार वर्ष बाद १९३५ में कृष्णशंकर शुक्ल की 'कविवर रत्नाकर' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। ये दोनों समीक्षाएँ एक दूसरे की पूरक कही जा सकती हैं। वाजपेयीजी का निबंध कुल ११ पृष्ठों का है, जिसमें रत्नाकरजी के कविव्यक्तित्व और काव्यवैशिष्ट्य पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने इस बात पर ही विशेष रूप से विचार किया है कि आधुनिक काव्यचेतना के संदर्भ में ब्रजभाषा की परंपरागत शैली में लिखी गई उनकी कविताओं का क्या मूल्य और महत्व है। काव्यसौंदर्य का विश्लेषण विवेचन इसमें नहीं है। रत्नाकरजी की काव्योपलब्धि का स्वच्छंद दृष्टि से आकलन ही इस निबंध का उद्देश्य है। वाजपेयीजी पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन के कारण समीक्षा की आधुनिक दृष्टि लेकर समीक्षा क्षेत्र में आए थे। अतः उनकी दृष्टि हिंदी कविता तक ही सीमित न रहकर पाश्चात्य काव्योपलब्धियों तक पहुँची है। इस निबंध में भी उन्होंने रत्नाकरजी

को अंग्रेजी के उन क्लैसिकल कवियों की श्रेणी में रखा है, जो प्राचीन वातावरण को पसंद करते, पुरानी ग्रीक, लैटिन अथवा अँगरेजी के काव्यग्रंथों का अध्ययन करते और उन्हीं की शैली को अपनाते हैं। सभी दृष्टियों से आधुनिक काव्य-प्रवृत्तियों से भिन्न होने और प्राचीन वातावरण की सृष्टि करने के कारण ऐसे कवियों में अनोखेपन की नवीनता का आनंद मिलता है। वाजपेयीजी के अनुसार रत्नाकरजी के काव्य से भी ऐसा ही आनंद मिलता है। किंतु इस आनंद के आधार पर वे रत्नाकरजी को उत्कृष्ट कवि मानने को तैयार नहीं हैं। उनके अनुसार 'विगत युग के संस्कारों की स्थापना नवतर युग में करना निसर्गतः एक कृत्रिम प्रयास है। वह काव्य सुशोभन और गौरवास्पद हो सकता है किंतु वह युग का अनिवार्य काव्य नहीं कहा जा सकता। उत्कृष्ट साहित्य सदैव अनिवार्य ही हुआ करता है'।[१] रत्नाकरजी के काव्य में ऐसी कोई मौलिकता या अनिवार्यता नहीं है, अतः स्पष्ट है कि वाजपेयीजी उनके काव्य को उत्कृष्ट काव्य की श्रेणी में नहीं रखते। उनके अनुसार सूर, तुलसी से प्रारंभ होनेवाली हिंदी की क्लैसिकल परंपरा के रत्नाकरजी अंतिम श्रेष्ठ कवि हैं और आधुनिक युग के प्राचीन परंपरावाले क्लैसिकल कवियों में उनका शीर्ष स्थान है। यह स्थान भी उनको 'उक्तिकौशल, अलंकार, भाषा की कारीगरी और छंदों की सुघरता और पांडित्य' के कारण दिया जायगा। अतः निबंध में मुख्य रूप से छंदों की कारीगरी, संगीतात्मता और भाषा के संबंध में विचार करके वाजपेयीजी ने इस एक वाक्य से ही रत्नाकरजी के संपूर्ण वैशिष्ट्य को स्पष्ट कर दिया है कि 'भक्तों की अपेक्षा रत्नाकर कम रसमय किंतु अधिक सूक्तिप्रिय हैं। रीति कवियों की अपेक्षा वे साधारणतः अधिक भावनावान्, अधिक शुद्ध और गहन संगीत के अभ्यासी हैं।'[२] रत्नाकरजी के काव्य की यह समीक्षा संक्षिप्त होते हुए भी उनकी उपलब्धि के मूल्यांकन की दृष्टि से पर्याप्त है।

कृष्णशंकर शुक्ल ने अपनी पुस्तक में रस अलंकार की शास्त्रीय पद्धति से रत्नाकरजी के काव्य की व्याख्यात्मक समीक्षा प्रस्तुत की है। आलोचक ने प्रारंभ में स्वयं अपनी समीक्षापद्धति और समीक्षात्मक प्रतिमान, जिसके आधार पर पुस्तक में समीक्षा की गई है, स्पष्ट कर दिया है - 'किसी कवि विशेष की कविताओं का अध्ययन करते समय हमें यही देखना है कि वह उनके द्वारा हमें सामान्य भावभूमि तक पहुँचाने में कहाँतक समर्थ हुआ है अर्थात् सामान्य भावालंबन

[१] हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ० २१।
[२] हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ० १०।

प्रस्तुत कर हमें कितने भावों में तथा कितनी गंभीरता तथा तन्मयता से मग्न करने में सफल हुआ है हमें यह भी देखना होगा कि वह किसी विशेष भावधारा के अंतर्गत आनेवाली कितनी वृत्तियों का निरीक्षण तथा अभिव्यंजन कर सकता है। ये सब कवि के साध्य है। इनके साथ ही हमें कवि के साधनों का भी अध्ययन करना होगा। उसने भावाभिव्यंजन के लिये कैसी शैलियों का अनुसरण किया है।'[1] इस सिद्धांत कथन के बाद शुक्लजी 'अभिव्यंजन शैलियों के अध्ययन की ओर अग्रसर होते हैं'। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि अभिव्यंजन शैलियों से शुक्लजी का तात्पर्य स्थायी भावों की व्यंजना द्वारा रसनिष्पत्ति कराने में योग देनेवाले विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के चित्रण से है। रसावयवों के चित्रण को अभिव्यंजना शैली कहकर आधुनिकता का आभास उत्पन्न करना बहुत भ्रमोत्पादक है। अतः 'अभिव्यंजना शैलियाँ' शीर्षक देकर दूसरे अध्याय में अनुभावचित्रण के अन्तर्गत दशाओं, चेष्टाओं आदि के उदाहरण व्याख्या के साथ उपस्थित किए गए हैं। तीसरे अध्याय में विभावचित्रण और चौथे अध्याय में भावचित्रण के अंतर्गत एक एक रस को लेकर रत्नाकरजी की कविताओं से अनेक उदाहरण देकर व्याख्यात्मक शैली में उनका सौंदर्य दिखलाया गया है। 'यह इन पंक्तियों में देखिए', 'एक उदाहरण देखिए', 'देखिए कवि ने इसका कैसा सुंदर उपयोग किया है,' की शैली में ही अधिकांश व्याख्या उपस्थित की गई है। इस प्रकार रसविवेचन की शास्त्रीय पद्धति से भाव, विभाव, अनुभाव के चित्रण की सोदाहरण व्याख्या इस समीक्षा की विशेषता है। छठे और सातवें अध्याय में उसी पद्धति से अलंकार और भाषा पर भी विचार किया गया है। अंतिम दो अध्यायों में 'उद्धव शतक' और 'गंगावतरण' के संबंध में अलग से विचार किया गया है। अंतिम अध्याय में गंगावतरण के मूल स्रोत पर विचार करने के साथ वाल्मीकि रामायण के उन अंशों को भी उद्धृत किया गया है जिनका रत्नाकरजी ने अविकल अनुवाद कर दिया है। गंगावतरण के मूल्यांकन की दृष्टि से यह अध्याय महत्वपूर्ण है। कुल मिलाकर यह समीक्षा पुस्तक रस पद्धति की छात्रोपयोगी व्याख्यात्मक समीक्षा कही जा सकती है। वाजपेयीजी की तरह युगचेतना के संदर्भ में रखकर इसमें रत्नाकरजी का मूल्यांकन नहीं किया गया है और न तो इसी बात पर विचार किया गया है कि आधुनिक युग में मध्ययुगीन प्रवृत्ति और शैली को अपनाकर लिखे गए अच्छे से अच्छे काव्य को भी कितना महत्व दिया जायगा।

[1] कविवररत्नाकर, पृ० ६।

२—अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

हरिऔधजी के बारे में कोई उत्कृष्ट समीक्षा इस काल में नहीं लिखी गई। पं रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी साहित्य का इतिहास' में हरिऔधजी की साहित्यिक उपलब्धि और प्रवृत्तियों का सामान्य परिचय ही दिया है। गिरिजादत्त शुक्ल ने यद्यपि 'हरिऔध' जी को 'यथोचित संमान' प्रदान करने और 'योग्यासन पर प्रतिष्ठित करने' के पुनीत कर्तव्य से प्रेरित होकर 'महाकवि हरिऔध' नामक ३६८ पृष्ठों के भारी ग्रंथ की रचना कर डाली, लेकिन उससे हिंदी के सामान्य पाठक को भी हरिऔधजी के काव्यगुणों की उतनी भी जानकारी नहीं हो सकती जितनी कि उसे हरिऔधजी के काव्यग्रंथों के पाठ मात्र से हो सकती है। यह ग्रंथ पाँच खंडों में विभक्त है। प्रथम खंड में हरिऔधजी की लोकप्रियता, जीवन और व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुए उनके भाई गुरुसेवक उपाध्याय पर भी कई पृष्ठों में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। दूसरे, तीसरे और चौथे खंड में क्रमशः रसकलश, प्रियप्रवास और चोखे चौपदों से उद्धरण लेकर विषयक्रम से रख दिया गया है। अगर इन उद्धरणों की ही थोड़ी व्याख्या कर दी गई होती, तब भी पाठक को हरिऔधजी के काव्यगुण का थोड़ा परिचय मिल जाता। पुस्तक का तीन चौथाई भाग हरिऔधजी का कविताओं के उद्धरण से ही भर गया है और शेष का लगभग आधा भाग दूसरों के मत के उद्धरण से। कुछ अध्यायों में तो गिरीशजी ने चार पाँच पंक्तियों में अपना वक्तव्य देकर उसके बाद कई पृष्ठों में कविताएँ उद्धृत करके अपने दायित्व की इतिश्री समझ ली है। उदाहरण के लिये 'प्रियप्रवास में हरिऔध की काव्यकला के साधन' शीर्षक अध्याय में 'शब्दालंकार की योजना देखिए' कहकर १८ कविताएँ और 'नीचे अर्थालंकृतिपूर्ण कुछ पद्य दिए जाते हैं' कहकर १३ कविताएँ उद्धृत कर दी गई हैं। इस प्रकार हरिऔधजी की काव्यकला के साधनों को गिरीशजी ने स्वयं अच्छी तरह समझ लिया है और पाठकों को भी समझा दिया है।

इस प्रकार सामान्य प्रवृत्तिगत विवेचन तक ही सीमित होते हुए भी शुक्लजी द्वारा की गई समीक्षा ही हरिऔधजी के काव्यवैशिष्ट्य का उद्घाटन करनेवाली एकमात्र उल्लेख्य समीक्षा है। शुक्लजी ने हरिऔध का वैशिष्ट्य उनकी द्विकलात्मक कला को माना है। लोकसंग्रह वृत्ति, भावव्यंजना तथा अंतर्दशाओं के चित्रण और आद्यंत संस्कृत के वर्णवृत्तों के प्रयोग की दृष्टि से प्रियप्रवास का महत्व स्वीकार करते हुए भी वे उसे महाकाव्य या उत्कृष्ट प्रबंधकाव्य मानने के लिये तैयार नहीं हैं।

१—मैथिलीशरण गुप्त

गुप्तजी के बारे में इस काल में कई समीक्षाएँ लिखी गईं। शुक्लजी ने अपने इतिहास में भी गुप्तजी के काव्यगुण का केवल उल्लेख न करके, समीक्षात्मक ढंग से अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से विचार किया है। 'हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' में नंददुलारे वाजपेयी ने गुप्तजी की काव्यप्रवृत्तियों और काव्योपलब्धि पर गंभीर विवेचनात्मक समीक्षा प्रस्तुत की है, साथ ही साकेत के प्रबंधत्व और महत्व पर स्वतंत्र रूप से कई पृष्ठों में विचार किया है। सत्येंद्र एम. ए. और गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' ने क्रमशः 'गुप्तजी की कला' और 'गुप्तजी की काव्यधारा' नामक स्वतंत्र समीक्षाग्रंथ लिखकर गुप्तजी की रचनाओं का विस्तार से आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया था।

शुक्लजी ने गुप्तजी के कृतित्व का संक्षिप्त पर्यालोचन करते हुए उनकी कुछ प्रमुख कृतियों और विशेषताओं का उल्लेख भर किया है। इतिहास की दृष्टि से गुप्तजी के काव्यविकास का परिचय देने के लिये उनकी कृतियों पर अत्यंत संक्षिप्त, कुछ पर केवल एक दो वाक्य में ही, टिप्पणियाँ देते हुए उन्होंने यह मत व्यक्त किया है कि 'गुप्तजी की सबसे बड़ी विशेषता है कालानुसरण की क्षमता अर्थात् उत्तरोत्तर बदलती हुई भावनाओं और काव्यप्रणालियों को ग्रहण करते चलने की शक्ति।' गुप्तजी को इसी अर्थ में वे हिंदी का प्रतिनिधि कवि मानने के लिये तैयार हैं। शुक्लजी ने गुप्तजी के काव्यविकास की तीन अवस्थाएँ बतलाई हैं। प्रारंभिक अवस्था में गुप्तजी भाषा के मार्जन में लगे दिखाई देते हैं और इस काल की रचनाओं में गद्यात्मकता और इतिवृत्तात्मकता अधिक है। दूसरी अवस्था का प्रारंभ शुक्लजी ने 'भारत भारती' और 'वैतालिक' के बीच की रचनाओं में माना है जब कि बंगभाषा की कविताओं के अनुशीलन से इनकी पदावली में कुछ कोमलता और सरसता आई। विकास की तीसरी अवस्था 'साकेत' और 'यशोधरा' में दिखलाई पड़ती है जब गुप्तजी का झुकाव छायावाद के प्रगीत मुक्तकों की ओर होता है। गुप्तजी के दृष्टिकोण के संबंध में शुक्लजी का मत है कि वे 'सामंजस्यवादी कवि हैं··· प्राचीन के प्रति पूज्य भाव और नवीन के प्रति उत्साह दोनों इनमें है।' कुल मिलाकर शुक्लजी के अनुसार गुप्तजी की विशेषता यह है कि उन्होंने खड़ी बोली का मार्जन किया, सामयिकता की माँग पूरी की और सामंजस्यवादी होने के कारण स्थिति के अनुरूप अपने को बदलते रहे। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि गुप्तजी की समीक्षा में शुक्लजी ने जिस 'उदार और सहिष्णु' दृष्टि का परिचय दिया है, वह उनकी समीक्षाओं में अन्यत्र कम ही दिखलाई पड़ती है।

गुप्तजी पर लिखी गई अबतक की समीक्षाओं में वाजपेयीजी की समीक्षा सबसे अधिक निष्पक्ष, खरी और गंभीर विवेचनापूर्ण है। गुप्तजी की सामान्य काव्यप्रवृत्तियों के विवेचन के साथ ही इस निबंध में उपलब्धि का भी तुलनात्मक दृष्टि से मूल्यांकन किया गया है। वाजपेयीजी ने गुप्तजी का महत्व आधुनिक हिंदी के प्रथम कृती कवि के रूप में स्वीकार किया है और सारग्राही सरलता, आदर्श-वादिता तथा उपदेशात्मकता को उनके काव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ माना है। शुक्लजी की तरह ही वाजपेयीजी भी युगधर्म का अनुसरण गुप्तजी की प्रधान विशेषता मानते हैं। शुक्लजी ने जिसे गुप्तजी का सामंजस्यवाद कहकर छोड़ दिया है, वाजपेयीजी ने उसे स्पष्ट कर दिया है—'गुप्तजी जितना प्राच्य साहित्य से, प्राचीन गाथाओं से प्रभावित हुए हैं, उतना ही आधुनिक जीवन से भी। वीरपूजा का भाव उनमें स्वतः प्रसूत है। उन्होंने प्राचीन कथाओं को नवीन आदर्शों का निरूपक बनाकर उपस्थित किया।' गुप्तजी की कविताओं में जिस मानवीय भावनावाद के दर्शन होते हैं, हिंदी कविता में नवीन युग का वहीं से प्रारंभ मानना चाहिए, वाजपेयीजी का यह मत शुक्लजी के मत से ही मिलता है, लेकिन शुक्लजी की तरह वाजपेयीजी यह नहीं मानते कि छायावाद स्वच्छंदतावाद का अनुकरणात्मक या कृत्रिम प्रयास है और गुप्तजी के मानवीय भावनावाद से जिस स्वच्छंद काव्यधारा का विकास हो रहा था, वही उसका सच्चा और वास्तविक तथा हिंदी कविता के अनुकूल रूप था। गुप्त जी के कवि व्यक्तित्व और उनके काव्य की देन के संबंध में वाजपेयीजी का स्पष्ट मत है कि वे 'दीन, दरिद्र भारत के विनीत, विनयी, नतशिर कवि हैं'। कल्पना की ऊँची उड़ान भरने की उनमें शक्ति नहीं है किंतु राष्ट्र की और युग की नवीन स्फूर्ति, नवीन जागृति के स्मृतिचिह्न हिंदी में सर्वप्रथम गुप्तजी के काव्य में मिलते हैं···उनकी करुण काव्यमूर्ति आधुनिक विपन्न और तृषित भारत को बड़ी ही शांतिदायिनी सिद्ध हुई है।

साकेत के संबंध में वाजपेयीजी ने इसी पुस्तक में स्वतंत्र निबंध लिखकर विस्तार से विचार किया है। इस निबंध में साकेत के प्रबंधत्व, चरित्रनिर्माण, महा-काव्यत्व आदि पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया गया है। शुक्लजी ने भी साकेत पर थोड़ा विचार किया है लेकिन लगता है कि जानबूझकर वे उसके प्रबंधत्व की समीक्षा को बचा गए हैं, क्योंकि साकेत जैसे विस्तृत प्रबंधकाव्य के प्रबंधकौशल पर शुक्लजी कुछ न कहें यह आश्चर्य ही की बात है। वाजपेयीजी ने साकेत के प्रबंधत्व पर बहुत सूक्ष्मता और तटस्थता से विचार किया है और विवेचन करके यह स्पष्ट कर दिया है कि कवि ने इसमें घटनाविस्तार तो बहुत अधिक कर दिया है, किंतु उसे सँभाल नहीं सका है। अन्विति का इसमें अभाव है, घटनाओं के विस्तार और कवि की उद्दिष्ट योजना को संभाल सकने में उसकी भाषाशक्ति और भावनाएँ दोनों अक्षम दिखलाई पड़ती हैं। उर्मिला के चरित्रचित्रण तथा अन्य

चरित्रों की संगति में भी कहीं कहीं अस्वाभाविकता और कृत्रिमता आ गई है। अतः वाजपेयीजी के अनुसार साकेत में उच्चकोटि का कवित्व और अनुभूतियों का सूक्ष्म चित्रण होते हुए भी महाकाव्यात्मक ऊँचाई और गुरुता तथा प्रबंधकौशल नहीं है।

सत्येंद्रजी ने 'गुप्तजी की कला' (सं० १९९४) नामक पुस्तक में कवि की सभी 'रचनाओं का एक आलोचनात्मक अध्ययन' प्रस्तुत किया, जिसमें उनके काव्य और दृष्टिकोण के विकास, वस्तुविवेचन तथा भाषाशैली आदि की सामाजिक पृष्ठभूमि में ऐतिहासिक समीक्षा की गई है। इसमें शुक्लजी तथा वाजपेयीजी के सूत्रों की विस्तृत व्याख्या मिल जाती है। 'गुप्तजी और खड़ी बोली' शीर्षक प्रथम अध्याय में काव्यभाषा के रूप में खड़ी बोली के विकास का इतिहास देते हुए यह बतलाया गया है कि उसे काव्यभाषा के रूप में सुव्यवस्थित और प्रतिमित (स्टैंडर्ड) रूप देने का श्रेय गुप्तजी को ही है। इसके बाद दो दो पृष्ठों में 'गुप्तजी की कला' और 'मैथिलीशरण गुप्त के विषय' शीर्षक देकर उनकी कला का भावात्मक परिचय और विषयसामग्री की जानकारी कराई गई है। चौथे अध्याय में गुप्तजी का 'विषयों में दृष्टिकोण और विकास' पर विचार किया गया है। इसमें वाजपेयीजी के सूत्रों की ही व्याख्या है, कोई नई बात नहीं कही गई है। पंचवटी का महत्व अवश्य अपने ढंग से प्रतिपादित किया गया है और यह दिखलाया गया है कि पंचवटी कवि के 'काव्य इतिहास का विभाजक स्थल है और यहाँ से उसका दृष्टिकोण बदल जाता है। इस तरह पूर्व आलोचकों के मतों का ही अनुसरण करते हुए पंचवटी और साकेत के पूर्व काव्य का एक विशिष्ट धरातल और दृष्टिकोण और उसके बाद की कविताओं में दूसरा धरातल माना गया है। इसी बात को पुनः अगले दो अध्यायों में साकेत के पूर्व की रचनाओं और साकेत के बाद की रचनाओं को लेकर समझाया गया है। इन दोनों अध्यायों में पिछले अध्याय की बातों को ही थोड़ा बढ़ाकर फिर उपस्थित किया गया है। इस तरह पुनरावृत्ति और पिष्टपेषण की प्रवृत्ति बहुत अधिक होने से आलोचना का व्यवस्थित और संगठित रूप इसमें नहीं है। 'गुप्तजी की कला' शीर्षक दो अध्याय पुस्तक में हैं और दोनों सिर्फ दो पृष्ठ के हैं। दो पृष्ठ में किस प्रकार का कलाविवेचन हो सकता है, इसे छोड़ भी दिया जाय, तो यह समझना कठिन हो जाता है कि 'कला' से सत्येंद्रजी का तात्पर्य क्या है? एक जगह वे कला के अंतर्गत विषय, भावना, दृष्टिकोण, उद्देश्य सबकी 'भावना' करते हैं और दूसरी जगह उसे शैली के अर्थ में लेकर विचार करते हैं। अगर ऐसा नहीं है तो एक ही शीर्षक से दो अध्याय लिखने की बात समझ में नहीं आती। पुस्तक में गुप्तजी की शैली पर अवश्य नए ढंग से विचार किया गया है, लेकिन वर्णों और शब्दों के द्वारा चित्रविधान की विशेषताओं को गुप्तजी में व्यर्थ ढूँढा गया है और स्पष्ट लगता है कि 'पंत के कलाविवेचन (स्वयं पंतजी द्वारा पल्लव

में और नगेंद्र द्वारा सुमित्रानंदन पंत पुस्तक में) से प्रभावित होकर पंतजी की कला की कसौटी पर गुप्तजी को भी उतारने का प्रयास किया गया है। वैसे सब मिलाकर सत्येंद्रजी ने गुप्तजी के संबंध में निष्पक्ष ढंग से विचार किया है और पुस्तक का महत्व नवीनता की दृष्टि से नहीं, बल्कि गुप्तजी की काव्यगत विशेषताओं के विस्तृत ऐतिहासिक विवेचन की दृष्टि से है।

गिरीशजी ने 'गुप्तजी की काव्यधारा (सं० १६६३) में वाजपेयीजी की तरह ही 'दो टूक' बात कही है। साथ ही इसमें समीक्षा की ऐतिहासिक, विवेचनात्मक और व्याख्यात्मक सभी पद्धतियों का उपयोग किया गया है। 'महाकवि हरिऔध' की समीक्षा जितनी तो नहीं, लेकिन तब भी कहीं कहीं कई पृष्ठों तक अपने कथन के प्रमाण में उद्धरणों की भीड़ लगाकर 'उद्धरणात्मक पद्धति' का आवश्यकता से अधिक उपयोग किया गया है। फिर भी इस पुस्तक के समीक्षात्मक विचारों में आलोचक का अपना स्वतंत्र दृष्टिकोण और विवेचना-पद्धति तथा स्थापनाओं में पर्याप्त नवीनता और मौलिकता है। गुप्तजी के काव्य की सामाजिक और साहित्यिक पृष्ठभूमि का विवेचन इसमें अधिक स्पष्ट, सुसंबद्ध और विस्तृत रूप में किया गया है। इस पृष्ठभूमि में गुप्तजी के युगधर्म, आदर्श, दृष्टिकोण तथा काव्यप्रवृत्तियों का विवेचन और उनका मूल्यांकन अधिक स्पष्ट और प्रमाणपुष्ट है। इस विवेचन द्वारा गिरीशजी ने यह प्रमाणित किया है कि गुप्तजी हिंदूसमाज और हिंदूसंस्कृति के ही कवि हैं, भारतीयता की व्यापक दृष्टि उनके पास नहीं है। 'ऐसी अवस्था में हम उन्हें समाज का निर्माता न कहकर समाज की उत्पत्ति ही कहने को विवश होंगे, उन्होंने समाज की आंतरिक शक्ति को प्रेरणा प्रदान करने के स्थान में उससे स्वयं ही प्रेरणा प्राप्त की है और अपनी कृतियों द्वारा उसी प्रेरणा का उपभोग किया है।' अतः गिरीशजी उन्हें राष्ट्रीय या युग का प्रतिनिधि कवि नहीं मानते क्योंकि 'नवीन युग के सत्य को, आदर्श को प्राप्त करके भी उन्होंने उसका उचित उपयोग नहीं किया।' अधिकांशतः अपने समाज की मान्यताओं और आदर्शों को ज्यों का त्यों अपनाने के कारण गुप्तजी समाजनिर्माता नहीं हैं और उन्होंने कोई मौलिक आदर्श समाज को नहीं दिया। शैली की दृष्टि से भी आलोचक को उनमें साधारण इतिवृत्तात्मकता शैली ही अधिक दिखलाई पड़ती है और उनके काव्य की विविध शैलियों पर विचार करके निष्पक्ष ढंग से यह दिखलाया गया है कि प्रबंधात्मक शैली और गीत शैली में ही उन्हें सफलता मिली है, अन्य में वे असफल रहे हैं।

४—जयशंकर प्रसाद

आधुनिक युग के साहित्यिकों में प्रसादजी का कृतित्व सबसे महत्वपूर्ण है और साहित्य के प्रायः सभी क्षेत्रों में उनकी बहुमुखी प्रतिभा ने युगनिर्माण का

कार्य किया है। साथ ही अपनी रहस्यात्मकता और दार्शनिकता के कारण वे सबके लिये बोधगम्य भी नहीं हैं। अतः यह बिलकुल स्वाभाविक है कि आलोचकों का ध्यान वे सबसे अधिक आकृष्ट करते। अपनी रहस्य भावना और आनंदवादी जीवनदर्शन के कारण आरंभ में उनकी कविताएँ आलोचकों के विचारविमर्श और विवाद का भी विषय बन गई थीं। अतः प्रसादजी के संबंध में महत्वपूर्ण समीक्षाएँ इस काल में लिखी गई। पं० रामचंद्र शुक्ल ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' के परिवर्द्धित संस्करण में प्रसादजी के काव्य का विस्तार से मूल्यांकन किया। नंददुलारे वाजपेयी की १६३१ से ४० तक प्रसाद के साहित्य - विशेष रूप में उनके काव्य की, गंभीर विवेचनात्मक समीक्षाएँ प्रकाशित हुईं, जो 'जयशंकर प्रसाद' नामक पुस्तक (प्रथम संस्करण १६४०) में संकलित हैं। १६३८ ई० में रामनाथ सुमन ने जीवनी, संस्मरण तथा कवि एवं काव्य का विवेचन प्रस्तुत करते हुए कवि प्रसाद की काव्यसाधना' निकाली और प्रसादजी के अंतरंग मित्र और सहयोगी विनोदशंकर व्यास ने 'प्रसाद और उनका साहित्य' नामक पुस्तक (१६४० ई०) में प्रसाद के जीवन और साहित्य पर संस्मरणात्मक ढंग से विचार किया। इनके अतिरिक्त भी प्रसाद के संबंध में विभिन्न साहित्यिकों और आलोचकों ने आधुनिक काव्य के विवेचन के प्रसंग में अथवा संक्षिप्त निबंध लिखकर अपने मत व्यक्त किए, जिनका विविध विषयों को लेकर लिखे गए निबंध संकलनों के प्रसंग में उल्लेख किया जायगा। इन सभी समीक्षाओं में शुक्लजी और वाजपेयीजी की समीक्षाएँ सबसे महत्वपूर्ण हैं। शुक्लजी की समीक्षा संक्षिप्त होते हुए भी इसलिये महत्वपूर्ण और विचारणीय है कि वह उन आलोचकों के मतों का प्रतिनिधित्व करती है, जो उनका अनुगमन या अनुकरण करते हुए प्रसाद के काव्य में महानता या उच्चता नहीं देखते। वाजपेयीजी द्वारा प्रस्तुत की गई समीक्षा का महत्व इतनेसे ही समझा जा सकता है कि प्रसाद संबंधी उनके समीक्षात्मक निबंधों के प्रकाशन के बाद इस काल में अधिकांश आलोचकों ने उन्हीं के विचार सूत्रों को लेकर प्रसाद का महत्व प्रतिपादित किया। रामनाथ सुमन की पुस्तक इसका प्रमाण है। इस पुस्तक में सूत्र और उससे संबद्ध विचार वाजपेयीजी के हैं और उनकी उमड़ती हुई भावना तरंगें और कल्पना की उड़ान सुमनजी की है। विनोदशंकर व्यास की पुस्तक का समीक्षात्मक मूल्य उतना नहीं है; कवि के जीवन, व्यक्तित्व तथा उसकी रचनाओं की भूमिका की दृष्टि से ही इस पुस्तक का महत्व आँका जायगा। व्यासजी का संबंध आलोचना से है भी नहीं।

शुक्लजी प्रसादजी के काव्य से विशेष प्रभावित नहीं दिखलाई पड़ते और उनकी व्यंग्यात्मक शैली से ही पता चलता है कि रहस्यात्मक भावनाओं के प्रति प्रकृत्यागत 'चिढ़' के कारण वे प्रसाद के मूल्यांकन में तटस्थ और पूर्वग्रहहीन

नहीं रह सके हैं। छायावादी कविताओं में भावनाओं की उदात्तता और दार्शनिक ऊँचाई को भी रहस्यवाद से जोड़कर जिस प्रकार छायावाद के साथ उन्होंने न्याय नहीं किया, उसी प्रकार प्रसाद के आनंदवाद की उदात्त 'भावना' को मधुचर्या और प्रेमविलास का आवरण मानकर उन्होंने प्रसाद के साथ भी न्याय नहीं किया है। यद्यपि काव्य की मार्मिकता और अनुभूति व्यंजना की गहरी पकड़ और उनकी गहरी पैठ तथा पहुँच यहाँ भी उनसे प्रसाद की विशेषताओं का उद्घाटन करा ही लेती है लेकिन रहस्यवाद के प्रति उनका पूर्वग्रह निष्कर्षों में उनको उदार और तटस्थ नहीं रहने देता। प्रसाद के काव्यविकास पर विचार करते हुए वे यह स्वीकार करते हैं कि जैसी जागरूक भावुकता और पदलालित्य प्रसाद में है वैसा अन्यत्र नहीं मिलता है। 'आँसू' में अभिव्यंजना की प्रगल्भता और विचित्रता के भीतर प्रेमवेदना की दिव्य विभूति का, विश्व में उसके मंगलमय प्रभाव का, सुख और दुःख दोनों को अपनाने की उसकी अपार शक्ति का और उसकी छाया में सौंदर्य और मंगल के संगम का आभास' पाते हुए भी उन्हें आँसू में वेदना की कोई निर्दिष्ट भूमि नहीं दिखलाई पड़ती और उनपर उसका समन्वित प्रभाव अच्छा नहीं पड़ता। कारण यह है कि प्रसाद ने अपने प्रिय को स्थूल नहीं रहने दिया है और उसके प्रति अपनी भावनाओं और अनुभूतियों को इतना सूक्ष्म बना दिया है कि वह 'उस प्रियतम के संयोग वियोगवाली रहस्यभावना' जैसा हो गया है। इसी तरह कामायनी के संबंध में यह मानते हुए भी कि 'यह काव्य बड़ी विशद कल्पनाओं और मार्मिक उक्तियों से पूर्ण है', वे रहस्यात्मकता के प्रति अपने पूर्वग्रह के कारण 'यदि' और 'लेकिन' लगा ही देते हैं। 'यदि मधुचर्या का अतिरेक और रहस्य की प्रवृत्ति बाधक न होती, तो इस काव्य के भीतर भावुकता की योजना शायद अधिक पूर्ण और सुव्यवस्थित रूप में चित्रित होती।' कामायनी में वृत्तियों की आभ्यंतर प्रेरणाओं और बाह्य प्रवृत्तियों की मार्मिक परख, उनके स्वरूपों की मानवीकृत उद्भावना, प्रकृति के मधुर, भव्य और आकर्षक विभूतियों की योजना तथा प्रकृति के भीषण रूप का व्यापक परिधि में चित्रण, रमणीय चित्रकल्पना और अभिव्यंजना की मनोरम पद्धति से अभिभूत होते हुए भी प्रसादजी के 'दर्शन' के कारण कामायनी में मानवता की पूर्ण योजना में उन्हें कमी दिखलाई पड़ती है।

वाजपेयीजी ने शुक्लजी तथा ऐसे ही अन्य आलोचकों को ध्यान में रखकर प्रसाद के काव्यविकास का गंभीर विवेचन प्रस्तुत करते हुए उनकी काव्यप्रवृत्तियों और काव्यसौंदर्य का विश्लेषण करके तर्कपूर्ण ढंग से यह सिद्ध किया कि अनुभूति, सौंदर्यबोध और दार्शनिक गांभीर्य, सभी दृष्टियों से प्रसादजी आधुनिक युग के सर्वश्रेष्ठ चिंतक और कलाकार हैं और इस युग में महाकाव्यात्मक उदात्तता और उद्देश्य की महानता अगर किसी कवि में दिखलाई पड़ती है, तो

यह प्रसादजी में ही है। अन्य छायावादी कवियों की उपलब्धियों को उचित महत्व देते हुए वाजपेयीजी ने प्रसाद की उपलब्धियों की विशिष्टता प्रतिपादित की है, यह उनकी समीक्षा की विशेषता है। शुक्लजी के मत का खंडन करते हुए सबसे पहली स्थापना वाजपेयीजी ने यह की कि प्रसादजी 'असीम' के कवि नहीं, बल्कि 'मनुष्यों और मानवीय भावनाओं के कवि हैं।' 'आँसू' के संबंध में इस भ्रम का सबसे पहले उन्होंने ही निराकरण किया कि उसमें लौकिक प्रेम के माध्यम से यत्र तत्र अलौकिक प्रेम की व्यंजना है। उन्होंने स्पष्ट किया कि 'आँसू सब प्रकार से विरहकाव्य है···संपूर्ण काव्य को परोक्ष विरह मानने से अंतिम पंक्तियों की मार्मिक रहस्यात्मकता का न हम अर्थ समझ सकेंगे, न रसानुभव कर सकेंगे[1]।' इसी प्रसंग में उन्होंने रहस्यवाद के संबंध में विस्तार से विचार करते हुए प्रकृत रहस्यवाद और आध्यात्मिक रहस्यवाद का अंतर स्पष्ट किया और यह बतलाया कि छायावाद में विशेष रूप में प्रसाद में, प्रकृत रहस्यवाद है जो छायावाद का अंग है, आध्यात्मिक रहस्यवाद नहीं। प्रकृत रहस्यवाद मानव-जीवन के रहस्य से संबंध रखता है और वह सूक्ष्म होते हुए भी अनुभवगम्य होता है। अतः वाजपेयीजी के मत से 'प्रसाद का रहस्यवाद शक्तिपूर्ण सुदृढ़ मानवता का विकास अपनी छत्रछाया में करता है, तथा अपर कोई लक्ष्य नहीं रखता। इसी लिये हम उसे प्राकृतिक (आरोप) रहस्यवाद कहते हैं, जो सूफी (परोक्ष) रहस्यवाद से स्पष्टतः भिन्न है[2]।' वाजपेयीजी ने प्रसाद के काव्यविकास का विवेचन करते हुए उनकी काव्यप्रवृत्तियों तथा विशेषताओं का समग्र रूप से मूल्यांकन करने के साथ ही कामायनी का स्वतंत्र समीक्षात्मक विवेचन किया। वाजपेयीजी की कामायनी की समीक्षा हिंदी की कुछ उल्लेख्य प्रौढ़ समीक्षाओं में है। इसमें उन्होंने कामायनी के संबंध में आलोचकों में प्रचलित भ्रांत धारणाओं का तर्कपूर्ण ढंग से निराकरण किया; शुक्लजी के आलोचनात्मक प्रतिमानों की सीमाएँ बतलाकर यह स्पष्ट किया कि 'रामचरित मानस का ही आदर्श और वैसा ही जीवन उपक्रम आधुनिक युग के महाकाव्यों में ढूँढने के कारण उन्हें कामायनी में महाकाव्यात्मक गरिमा और उद्देश्य की एकता नहीं दिखलाई पड़ती। किंतु 'मानव जीवन की सीमा किसी भी काव्य या महाकाव्य के आदर्शों से आबद्ध नहीं की जा सकती'। अतः उन्होंने विस्तार से कामायनी के उद्देश्य, उसमें व्यक्त मानवपूर्णता के आदर्श तथा उसमें मनोवैज्ञानिक मूल्यों का आकलन करके यह प्रतिपादित किया कि 'इसमें मानवीय प्रकृति के

[1] जयशंकर प्रसाद—पृ० ६८।
[2] वही—पृ० ७३।

मूल मनोभावों को बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से पहचानकर संग्रह किया गया है। यह मनु और कामायनी की कथा तो है ही, मनुष्य के क्रियात्मक, बौद्धिक और भावात्मक विकास में सामंजस्य स्थापित करने का अपूर्व काव्यात्मक प्रयास है। यही नहीं, यदि हम और गहरे पैठें तो मानवप्रकृति के शाश्वत स्वरूप की झलक भी इसमें मिलेगी।' इस प्रकार मनु की कथा द्वारा मानव के उद्भव और विकास के इतिहास की कथा कहने के साथ ही विकास की वर्तमान अवस्था में पहुँचे हुए मानव की समस्याओं, उसकी शाश्वत जीवनधारा को ध्यान में रखकर इसमें 'जिन जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा की गई है, वह कोई महाकवि ही कर सकता था। कामायनी की इस उपलब्धि और उसके इस मानवतावादी जीवनदर्शन की ओर हिंदी जगत् का ध्यान सबसे पहले वाजपेयीजी ने ही आकृष्ट किया। आज कामायनी को जो विश्व के उत्कृष्ट काव्यों में गौरवपूर्ण स्थान दिया जा रहा है, वह इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि वाजपेयीजी का मूल्यांकन कितना सही था।

रामनाथ सुमन ने 'कवि प्रसाद की काव्यसाधना' में प्रभाववादी ढंग से प्रसादजी के काव्यसौंदर्य के संबंध में अपनी भावनाएँ और उद्गार व्यक्त किए हैं। जैसा पहले कहा गया, विचारों की दृष्टि से इस पुस्तक पर वाजपेयीजी की गहरी छाप है और उन्हीं की बातों को लेकर आलोचक ने अपनी भावात्मकता का प्रसार किया है। कहीं कहीं तो निष्कर्षों को लगभग ज्यों का त्यों ले लिया गया है। उदाहरण के लिये सुमनजी जब यह कहते हैं कि 'यह कवि स्पष्ट मनुष्यों का कवि है; मानवहृदय का कवि है' तो वाजपेयीजी के ही शब्दों को दुहराते हैं कि 'प्रसादजी मनुष्यों के और मानवीय भावनाओं के कवि हैं'। इसी तरह 'आँसू एक विरहकाव्य है।' इसमें शब्दशः वाजपेयीजी बोलते हैं। इस पुस्तक के प्रारंभिक ६ अध्यायों में वाजपेयीजी के ही विचारों को भावात्मक प्रसार देकर प्रसाद के काव्यविकास पर विचार किया गया है और ६ से १२ तक ४ अध्यायों में कामायनी पर विचार किया गया है जिसका अधिकांश भाग कामायनी कथा ने ले लिया है। प्रभाववादी समीक्षापद्धति के कारण इस पुस्तक में कवि की भावनाओं और विशेषताओं से अधिक आलोचक की भावुकता का पता चलता है। हिंदी में प्रभाववादी समीक्षा का यह अच्छा उदाहरण है। अधिकांश समीक्षा इस प्रकार की है 'यह कविता ऐसी है कि पढ़ते पढ़ते नाड़ियों में रक्त तेजी से चलने लगता है। भुजाएँ फड़कने लगती हैं' या 'हिंदी कविता के कोहरे में उषा की हलकी, लजारुण किरण की भाँति प्रसाद की कविता हमें आकर्षित करती है।' स्पष्ट है कि ऐसी समीक्षाओं से किसी कवि के काव्यगुण का ज्ञान पाठक को नहीं हो सकता।

विनोदशंकर व्यास द्वारा प्रस्तुत की गई समीक्षा भी सही अर्थ में समीक्षा न होकर काव्यार्थ है और उसका अधिकांश भाग उद्धरणों ने ले लिया है।

लेखक अपने विचारों को कितना महत्व देता है, इस संबंध में अधिक कुछ न कहकर इतना ही बता देना पर्याप्त होगा कि एक ही अध्याय में किए गए 'सर्वांगीण' विवेचन में हस्तलिखित 'हिंदी' के प्रसाद अंक से किन्हीं प्रो॰ पं॰ हरीदत्त दूबे का ११ पृष्ठ का पूरा लेख उद्धृत कर दिया गया है।

४—सुमित्रानंदन पंत

प्रसाद की तरह ही पंत जी के संबंध में भी कई महत्वपूर्ण समीक्षाएँ इस काल में प्रकाशित हुई। पं॰ रामचंद्र शुक्ल ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (परिवर्द्धित संस्करण) में लगभग २० पृष्ठ में पंतजी के काव्यवैशिष्ट्य पर विचार किया है; तुलसी के अतिरिक्त अन्य किसी कवि के संबंध में शुक्लजी ने इतने विस्तार के साथ विचार नहीं किया है। नंददुलारे वाजपेयी ने शुक्लजी की इस विस्तृत समीक्षा के पूर्व सन् १६३१ में पंत के काव्यवैशिष्ट्य की सारग्राही समीक्षा प्रस्तुत कर दी थी। इसके बाद सन् १६३८ में नगेंद्र ने पुस्तक रूप में 'सुमित्रानन्दन पंत' में पंतजी के काव्य के सभी पक्षों पर विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत की जिसमें उनकी रचनाओं पर अलग अलग भी विचार किया गया। अन्य कवियों की तरह ही निबंधसंग्रहों में पंतजी के बारे में छोटी मोटी आलोचनाएँ लिखी गईं किंतु उनमें कोई नई बात नहीं, पंतजी के बारे में उपर्युक्त तीन आलोचकों की विवेचनाएँ ही महत्वपूर्ण हैं।

शुक्लजी ने आधुनिक कवियों में सबसे अधिक मनोयोग के साथ पंतजी के काव्यसौंदर्य पर ही विचार किया है। शुक्लजी ने पंत का केवल सामान्य प्रवृत्तिगत विवेचन नहीं किया है बल्कि पंत के काव्यविकास का सोदाहरण परिचय देते हुए व्याख्या के साथ उनके काव्य का विशद विवेचन किया है। इतिहास का अंश होते हुए भी पंत के काव्यविकास पर इसे स्वतंत्र समीक्षात्मक निबंध कहा जा सकता है। छायावादी कवियों में केवल पंत ही शुक्ल जी को पसंद आए हैं। कारण स्पष्ट है। एक तो शुक्लजी को जिससे चिढ़ है, वह या वैसी रहस्य-भावना पंतजी में नहीं है; इस बात को शुक्लजी ने मौके बेमौके इतनी बार और इतना जोर देकर दुहराया है कि संदेह होने लगता है कि क्या आध्यात्मिक रहस्यवाद के न होने से ही कोई काव्य श्रेष्ठ हो जाता है और उसका रंग आ जाने से वह अन्य दृष्टियों से महान् होते हुए भी अपना महत्व खो देता है। प्रसाद और महादेवी वर्मा का इस प्रसंग में बार बार स्पष्ट या सांकेतिक रूप से स्मरण बहुत कुछ उनकी इसी धारणा की ओर संकेत करता है। पंत के प्रिय होने का दूसरा कारण यह है कि शुक्लजी की अपनी लोकमंगल की भावना पंतजी के परवर्ती रचनाओं में क्रमशः व्यापक होती गई है और 'पल्लव' से 'युगांत' तक आते आते 'कवि की सौंदर्यभावना अब व्यापक होकर मंगलभावना

के रूप में परिणत' हो जाती है। यही कारण है कि पल्लव का महत्व 'पहली प्रौढ़ रचना' के रूप में ही शुक्लजी ने स्वीकार किया है। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि पल्लव के लाक्षणिक वैचित्र्य और अप्रस्तुत विधान में दूरारूढ़ कल्पना के उपयोग की सोदाहरण व्याख्या शुक्लजी की 'पकड़' और सूक्ष्मदृष्टि की द्योतक है और इस तरह की व्याख्याएँ कम की गई हैं। शुक्लजी ने प्रकृति से सीधा प्रेमसंबंध, मानवीय सौंदर्य के साथ साथ प्रकृति सौंदर्य को लेकर चलनेवाली अपेक्षाकृत अधिक शुद्ध और स्वाभाविक और उत्तरोत्तर व्यापक आधार ग्रहण करनेवाली सौंदर्य भावना तथा लोकवादी दृष्टि और चित्रमयी लाक्षणिक भाषा पंतजी की प्रमुख विशेषताएँ मानी हैं। इन विशेषताओं के कारण वे पंत को विशेष रूप से युगांत और युगवाणी के पंत को अन्य छायावादी कवियों से ऊँचा स्थान देते हैं।

वाजपेयीजी की समीक्षा संक्षिप्त है और सन् १६३१ में ही लिखी जाने के कारण 'गुंजन' तक ही सीमित है। फिर भी पंत के संबंध में तबसे वाजपेयीजी के विचारों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है, क्योंकि वे पल्लव और गुंजन में ही पंत का वास्तविक और स्वाभाविक कला का विकास मानते हैं। युगांत, युगवाणी और ग्राम्या में वे पंत की कला और काव्यप्रतिभा का ह्रास मानते हैं। शुक्लजी और वाजपेयीजी की समीक्षा दृष्टि में मौलिक अंतर होने के कारण पंत की विभिन्न रचनाओं के संबंध में दोनों में बिल्कुल विरुद्ध धारणाएँ दिखलाई पड़ती हैं, यद्यपि पंत को दोनों उच्चकोटि का कवि मानते हैं। वाजपेयीजी अपनी सौंदर्यवादी दृष्टि के कारण पंत की प्रारंभिक रचनाओं को महत्वपूर्ण और परवर्ती रचनाओं को प्रवृत्तिमूलक (टेंडेंशस) और बौद्धिक विश्लेषण की कृत्रिमता से युक्त आयाससिद्ध मानते हैं जब कि शुक्लजी को उपयोगितावादी दृष्टि के कारण इन्हीं रचनाओं में पंत की भावनाओं का व्यापक प्रसार और उनकी कला का चरम विकास दिखलाई पड़ता है। वाजपेयीजी ने पंत की कल्पनाशक्ति और उनके सौंदर्यबोध को उनकी सबसे बड़ी विशेषता माना है। उनके अनुसार 'हिंदी के क्षेत्र में पंत की कल्पना की शक्ति अजेय, उसका नवनवोन्मेष अप्रतिम है'। पंत की इस कल्पना शक्ति ने उनकी शैली और काव्यविषय दोनों को अद्भुत आकर्षण और रमणीयता से युक्त कर दिया है। उनकी यही कल्पना शक्ति शब्दसंगीत, छंदचयन और भाषाशैली की दृष्टि से उनके काव्य में अन्य कवियों से विशिष्ट कलात्मकता और चित्रात्मकता ले आ देती है और उनकी कविता को ऐसी 'रमणीय अथच आकर्षक वेशभूषा से सज्जित करती है' जैसी 'आधुनिक हिंदी में और कहीं नहीं देख पड़ती।' पंत के प्राकृतिक सौंदर्यचित्रण का वैशिष्ट्य वाजपेयीजी भी स्वीकार करते हैं।

नगेंद्र ने अपनी पुस्तक में पंत के भावजगत्, उनकी विचारधारा, कला, भाषा तथा बाह्य प्रभाव आदि के संबंध में काफी विस्तार से विचार किया है। साथ ही ऐतिहासिक क्रम से उनकी विभिन्न कृतियों का अध्ययन प्रस्तुत करके उनका 'विकाससूत्र' भी स्पष्ट कर दिया है। पंत के संबंध में लिखी गई अबतक की समीक्षाओं में पंत के काव्यवैशिष्ट्य को समझने की दृष्टि से यह सबसे उपयोगी समीक्षा समझी जाती है। इस पुस्तक का महत्व विचारों की नवीनता अथवा पंत के काव्यवैशिष्ट्य संबंधी किसी नई देन की खोज में नहीं, बल्कि तबतक की उपलब्ध सामग्रियों को लेकर इस प्रकार उपस्थित करने में है कि पंत के काव्य के सभी पक्षों का और उनके सौंदर्यबोध तथा कल्पनाशक्ति का सम्यक् बोध पाठक को हो जाय। प्रमुख स्थापनाएँ वही हैं जो वाजपेयी की हैं। वाजपेयी जी के मत का अनुगमन करते हुए नगेंद्रजी ने भी 'सौंदर्य को प्राकृतिक, मानसिक और आत्मिक—उनकी कविता का असली विषय' और कल्पना को पंतजी की कविताओं का प्रधान साधन माना है। पंत के कला पक्ष का विवेचन 'पल्लव' की भूमिका को आधार बनाकर किया गया है और यह विवेचन इस पुस्तक की निजी विशेषता है। समीक्षकों में अन्य किसी ने पंत की कला का इतना विशद और सूक्ष्म विवेचन नहीं किया है। किंतु इसका श्रेय स्वयं पंत को है जिन्होंने अपनी कला के संबंध में प्रायः सभी सूत्र पल्लव की भूमिका में दे दिए। पंत की कला के अंतर्गत नगेंद्र ने संश्लिष्ट चित्रण, सचित्र विशेषणों का प्रयोग, चित्रात्मक लाक्षणिकता, वर्णों और शब्दों की अंतरात्मा की पहचान, ध्वन्यात्मकता, और भावोत्कर्षमूलक अप्रस्तुत योजना और भावानुरूप छंदों का प्रयोग उनकी कला की प्रमुख विशेषताएँ मानी हैं। 'पंतजी पर बाह्य प्रभाव' शीर्षक अध्याय में उदाहरण देकर यह दिखाया गया है कि पंत पर भारतवासियों में कालिदास, रवींद्रनाथ टैगोर का तथा पाश्चात्य कवियों में शेली, कीट्स, टेनीसन आदि का प्रभाव है जिनके अनेक भावों से उन्होने प्रेरणा ली है।

६—सूर्यकांत त्रिपाठी निराला

निरालाजी के संबंध में कोई स्वतंत्र समीक्षा पुस्तक तो इस काल में नहीं लिखी गई किंतु इस काल के कवियों और काव्यप्रवृत्तियों की दो विभिन्न कोणों से किसी सीमा तक आधारभूत समीक्षात्मक मूल्यांकन करनेवाले दो प्रमुख आलोचकों—पं० रामचंद्र शुक्ल और पं० नंददुलारे वाजपेयी ने अन्य छायावादी कवियों की तरह निराला के काव्यवैशिष्ट्य और उनकी उपलब्धियों पर अपने समीक्षात्मक विचार प्रस्तुत किए।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है शुक्लजी को छायावादी कवियों में अगर कोई कवि पसंद आता है तो वह सुमित्रानंदन पंत हैं आध्यात्मिक अथवा

परोक्ष रहस्यवाद के कारण अन्य कवि उन्हें काव्य की प्रकृत भावभूमि पर स्थित नहीं दिखलाई पड़ते। अतः बिलकुल स्वाभाविक है कि निराला के काव्य में भी उन्हें महानता न मिले। अपने इतिहास में पंत के संबंध में जब कि सव्याख्या २० पृष्ठों में उन्होंने विचार किया है, निराला के लिये केवल ४ पृष्ठ दिए हैं, इसी से स्पष्ट है कि वे पंत की तुलना में निराला को कितना महत्त्व देते हैं। किंतु श्रेष्ठता, अश्रेष्ठता और महत्त्वनिर्धारण के निर्णयात्मक मूल्यांकन का आग्रह न किया जाय, तो शुक्लजी का यह विवेचन संक्षिप्त हुए भी निराला की कुछ प्रमुख विशेषताओं का उद्घाटन कर देता है। शुक्लजी की निराला की समीक्षा कवि की अभिव्यंजना पद्धति से प्रारंभ होती है। उनके अनुसार निराला ने नादसौंदर्य की ओर अधिक ध्यान दिया है। अतः उनके प्रगीत मुक्तकों में संगीतात्मकता सबसे अधिक पाई जाती है। आज हिंदी के आधुनिक कवियों में 'संगीत को काव्य के और काव्य को संगीत के अधिक निकट लाने का' सबसे अधिक प्रयास निरालाजी ने किया है। किंतु शुक्लजी के मत से संगीत की ओर अधिक ध्यान होने के कारण अर्थसमन्वय की ओर ध्यान नहीं रहा है। उनके अनुसार जटिल अर्थों को दूसरों तक पहुँचाने में निराला की पदयोजना प्रायः अशक्त दिखलाई पड़ती है। समस्त पदविन्यास कवि की काव्यशैली की दूसरी विशेषता है। शुक्लजी ने इन दोनों विशेषताओं को बँगला का प्रभाव माना है। विषमचरण छंदों का प्रयोग तीसरी विशेषता बतलाई गई है। काव्यवस्तु की दृष्टि से शुक्लजी ने यह स्वीकार किया है कि निराला में बहु वस्तुस्पर्शिनी प्रतिभा है और शैली तथा सामाजिक मूल्य दोनों ही क्षेत्रों में निरालाजी किसी परंपरागत आदर्श या मान्यता के बंधन को स्वीकार नहीं करते हैं। इस प्रकार शुक्लजी ने निराला की 'भाषा में व्यवस्था की कमी' और उनकी पदयोजना को अर्थव्यंजना में दुर्बल मानते हुए भी उनकी विद्रोही भावना और 'जगत् के अनेक प्रस्तुत रूपों और व्यापारों' को लेकर चलनेवाली काव्यप्रतिभा के महत्त्व को, उदासीन भाव से ही सही, स्वीकार किया है।

वाजपेयीजी द्वारा निराला के संबंध में सन् १९३१ में ही लिखा गया समीक्षात्मक निबंध (हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी में संगृहीत) निराला संबंधी अबतक की समीक्षाओं में विशिष्ट है; और आज भी उनकी ही कई स्थापनाओं को लेकर व्याख्याविस्तार किया जा रहा है। प्रसाद की तरह ही निराला के काव्यवैशिष्ट्य और उनकी महान् काव्यप्रतिभा की ओर हिंदीजगत् का सबसे पहले वाजपेयीजी ने ध्यान आकृष्ट किया। निराला के विश्लेषण और मूल्यांकन में आलोचकों को क्यों कठिनाई होती है इसका उल्लेख करते हुए वाजपेयीजी ने शुरू में ही कह दिया है कि 'इस कवि के व्यक्तित्व और काव्य के निर्माण में ऐसे परमाणुओं का सन्निवेश हुआ है जिसका विश्लेषण हिंदी की वर्तमान

धारणाभूमि में विशेष कठिन क्रिया है।'[१] फिर भी वाजपेयीजी ने निराला का जो मूल्यांकन किया है और १० वर्ष पूर्व उन्होंने जो मूल्यांकन कर दिया, वह आज न केवल उतना ही सही है, बल्कि उसकी सचाई प्रमाणित हो चुकी है। वाजपेयीजी के अनुसार निरालाजी 'हिंदी काव्य के प्रथम दार्शनिक कवि और सचेत कलाकार हैं' और 'उनके विकास के मूल में भावना की अपेक्षा बुद्धि-तत्व की प्रधानता है।' स्त्रियोचित कोमलता के स्थान पर निराला के काव्य में ओज, पौरुष, उदात्तता की प्रधानता दिखलाई पड़ती है। शुक्लजी की तरह वाजपेयीजी ने भी छंद और कल्पना की स्वच्छंदता निराला की विशेषता मानी है। कवि के काव्यविकास का गंभीर विवेचन करते हुए इस निबंध में कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले गए हैं। विकास की प्रारंभिक अवस्था में निराला में बुद्धितत्व की प्रधानता और परंपरा के प्रति गहरा विद्रोह दिखलाई पड़ता है जिसका स्पष्ट रूप उनके स्वच्छंद छंदों में दिखलाई पड़ता है। उनके विकास का दूसरा चरण छंदोबद्ध संगीतात्मक रचनाओं से प्रारंभ होता है जिसमें बौद्धिकता भावना से युक्त दिखाई पड़ती है। बौद्धिकता का यह नियंत्रण भावनाविजड़ित कविता में निस्संगता लाने में और कोरी भावुकता या कल्पनाप्रवणता को संग्रथित कलासृष्टि का स्वरूप देने में समर्थ हुआ।

निरालाजी के विकास का तृतीय चरण उनके गीतिकाव्यों में दिखाई पड़ता है जिनमें 'विराट् बौद्धिक चित्रों के स्थान पर रम्य आकृतियाँ अधिक हैं। यह परिवर्तन 'निराला' जी द्वारा बुद्धितत्व के कलात्मक परिपाक की दिशा में एक सीढ़ी और आगे है।' इस प्रकार निरालाजी का 'वास्तविक उत्कर्ष अपने युग की भावना और कल्पनामूलक काव्य में सचेत बुद्धितत्व का प्रवेश है।' शुक्लजी के मत का खंडन करते हुए वाजपेयीजी ने यह भी प्रतिपादित किया कि सार्थक शब्दसृष्टि, प्रौढ़ सशक्त पदविन्यास और संगीतात्मकता निरालाजी की हिंदी कविता को प्रमुख देन है। 'शब्दसंगीत परखने और व्यवहार में लाने में वे आधुनिक हिंदी के दिशानायक हैं।'

७—महादेवी वर्मा

महादेवी वर्मा के संबंध में इस काल में और कम समीक्षाएँ लिखी गईं। १९३० में पं० नंददुलारे वाजपेयी द्वारा लिखी गई समीक्षा ही महादेवी के संबंध में इस काल की एकमात्र प्रौढ़ समीक्षा है। पं० रामचंद्र शुक्ल ने भी महादेवीजी के संबंध में कुछ ही पंक्तियाँ लिखी हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि

[१] हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ० १९७।

महादेवी के रहस्यवादी होने के कारण शुक्लजी ने उन्हें विशेष महत्व नहीं दिया है और जिस चलते ढंग से देवीजी के संबंध में उन्होंने मत दे दिया है, उसी से स्पष्ट है कि वे उनकी पूरी उपेक्षा कर गए हैं। किंतु निराला की समीक्षा की तरह ही महत्वनिर्णय की माँग न की जाय तो शुक्लजी ने इस अत्यंत संक्षिप्त टिप्पणी में महादेवी की जिन प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया है, वे सही हैं और आलोचकों में अब भी मान्य हैं। शुक्लजी के विवेचन के अनुसार 'अज्ञात प्रियतम के लिये वेदना ही इनके हृदय का भावकेंद्र है' और इसी की विवृति विविध रूपों में इनके काव्य में मिलती है। किंतु शुक्लजी को इस विषय में संदेह है कि ये कवयित्री की वास्तविक अनुभूतियाँ हैं। महादेवी की सफलता शुक्लजी गीतरचना की दृष्टि से मानते हैं। उनके अनुसार गीत लिखने में जैसी सफलता महादेवीजी को हुई है वैसी और किसी को नहीं। न तो भाषा का ऐसा स्निग्ध प्रांजल प्रवाह और कहीं मिलता है, न हृदय की ऐसी भावभंगी। शुक्लजी की शिष्ट तीखे व्यंग्य की शैली इस समीक्षा में अपना पूरा असर दिखाती है।

वाजपेयीजी की समीक्षा कई दृष्टियों से बहुत महत्वपूर्ण है। उनकी प्रारंभिक समीक्षाओं की अपेक्षा इसमें विचारों की तर्कपूर्ण अन्विति और बौद्धिक संतुलन अधिक है। इसमें विवेचन को सिद्धांतों द्वारा पुष्ट करके जैसी तार्किक संगति दी गई है, वैसी शुक्लजी के अतिरिक्त अन्य किसी समीक्षक में नहीं दिखलाई पड़ती है। शुक्लजी की तरह वाजपेयीजी ने महादेवीजी के रहस्यवाद के स्वरूप-विवेचन के लिये पहले छायावाद और रहस्यवाद का स्वरूप और काव्य में रहस्यवाद की भारतीय परंपरा का नई दृष्टि से नया मूल्यांकन प्रस्तुत किया है। इस संदर्भ में देवीजी के रहस्यवाद का स्वरूपविवेचन करके उन्होंने उनकी उपलब्धियों और सीमाओं पर विचार किया है। इस विवेचन के अनुसार प्राकृतिक या अपरोक्ष रहस्यवाद महादेवी में नहीं मिलता। महादेवी की काव्यभूमि में सगुण साकार को लेकर चलनेवाले परोक्ष अनुभूतिमूलक रहस्यवाद की प्रतिष्ठा है। फलस्वरूप उनके काव्य में प्रकृति के प्रति पंत जैसा आकर्षण या उसके सौंदर्य की आत्मरूप प्रतिष्ठा नहीं मिलती। 'छायावाद काव्य के व्यक्त प्रकृति के सौंदर्य प्रतीकों को न लेकर महादेवीजी ने उन प्रतीकों की अव्यक्त गतियों और छायाओं का संग्रह किया है। वाजपेयीजी के अनुसार इनके काव्य में प्रकृति के व्यक्तसौंदर्य की पकड़ और उसकी स्वरूपकल्पना तो उच्च कोटि की है, किंतु उनकी चित्रणकला उन्हें व्यक्त कर सकने में असमर्थ दिखलाई पड़ती है। प्रकृति के उपादानों से एक साथ ही वे कई उद्देश्यों की पूर्ति चाहती हैं, इसलिये उन्हें क्लिष्ट कल्पना भी करनी पड़ती है और चित्र भी अस्पष्ट रह जाता है। देवीजी की काव्योपलब्धि के संबंध में वाजपेयीजी का मत है कि प्रसाद और

निराला जैसी उदात्त और एकतान कल्पना और पंत जैसा सौंदर्यबोध तो उनमें नहीं है किंतु 'वेदना का विन्यास, उसकी वस्तुमत्ता (आब्जेक्टिविटी) का बहुरूप और विवरणपूर्ण चित्र जितना महादेवीजी ने दिया है, उतना वे तीनों कवि नहीं दे सके हैं।'[१] वेदना की इस अनुभूति के काल्पनिक होने का आरोप करनेवाले शायद आलोचक के इस उत्तर से संतुष्ट हो गए होंगे कि 'महादेवीजी के काव्य का आधार उसी अर्थ में काल्पनिक कहा जा सकता है, जिस अर्थ में कबीर और मीरा का काव्याधार काल्पनिक है; जिस अर्थ में 'गीतांजलि' और 'आँसू' काल्पनिक हैं। जो महादेवी का अध्ययन नहीं कर सकते वे इन कवियों का भी अध्ययन कैसे कर सकते हैं, अथवा इनको भी एकरूप क्यों नहीं ठहरा सकते।'[२] कुल मिलाकर महादेवीजी के संबंध में आलोचक का यह निष्कर्ष है कि रहस्यानुभूति की दृष्टि से महादेवी का काव्य अप्रतिम है किंतु काव्यप्रतिभा और भाषाशक्ति उनमें उतनी उत्कृष्ट नहीं। प्राचीन रहस्यवादी और भक्त कवियों— विशेष रूप से मीरा से और आधुनिक छायावादी कवियों से महादेवी की नई दृष्टि से तुलना भी इस समीक्षा की एक विशेषता है।

(३) गद्य साहित्य और गद्यलेखकों की समीक्षा

अबतक हिंदी के कवियों और उनके काव्यों के संबंध में इस काल में लिखी गई समीक्षाओं पर विचार किया गया। किंतु १९४० तक न केवल साहित्यिक गद्य लिखा गया; बल्कि गद्य की प्रायः सभी प्रमुख विधाओं का पूर्ण विकास हो गया और इन सभी विधाओं में उत्कृष्ट कोटि का साहित्य भी लिखा गया। अतः आधुनिक काव्य की विविध प्रवृत्तियों, काव्यरचनाओं और कवियों के संबंध में जिस प्रकार समीक्षाएँ लिखी गईं, उसी तरह हिंदी गद्य के प्रारंभ और विकास, आधुनिक गद्य की विविध शैलियों तथा विभिन्न गद्य विधाओं में लिखी गई रचनाओं और लेखकों के संबंध में भी पर्याप्त समीक्षाएँ लिखी गईं। यह बताने की आवश्यकता नहीं कि हिंदी में गद्य साहित्य का प्रारंभ आधुनिक युग में हुआ। इसके पूर्व गद्य के जो नमूने वार्ताओं, वचनिकाओं और टीकाओं में मिलते हैं वे भाषाविकास के शोध की दृष्टि से उपयोगी हो सकते हैं, किंतु साहित्य की दृष्टि से उनका महत्व नहीं। अतः आधुनिक गद्य साहित्य की ही समीक्षाएँ इस काल में लिखी गईं। यद्यपि शैली और भाषा के विकास का समीक्षात्मक इतिहास प्रस्तुत करनेवालों ने पुराने गद्य के नमूनों का भी भूमिकारूप में उल्लेख किया है।

[१] हिंदी साहित्य बीसवीं : शताब्दी, पृ० १७८।

[२] वही—पृ० १७६।

यहाँ आधुनिक हिंदी गद्य साहित्य की समीक्षाओं को दो वर्गों में रखकर विचार किया जा रहा है—

(क) गद्यशैलियों का समीक्षात्मक विवेचन।

(ख) विशिष्ट गद्यलेखकों तथा उनकी कृतियों का विवेचन प्रस्तुत करनेवाली समीक्षाएँ।

(क) गद्यशैलियों और विधाओं के विकास की समीक्षा

हिंदी गद्यशैली के विकास का इस काल के हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में तो सामान्य रूप से उल्लेख हुआ ही साथ ही गद्यलेखन के प्रारंभ और विकास तथा विशिष्ट गद्यलेखकों और उनकी शैलियों का समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत करनेवाली पुस्तकें भी लिखी गईं। रमाकांत त्रिपाटी ने हिंदी-गद्य-मीमांसा' (सन् १६२६) में प्राचीन गद्यभाषा संबंधी संक्षिप्त शोधात्मक विवरण और भाषा का नमूना देने के बाद आधुनिक हिंदी गद्य के प्रमुख लेखकों की शैली पर विचार किया है। सन् १६३० में जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने अपनी पुस्तक 'हिंदी गद्यशैली का विकास' में हिंदी गद्य के विकास और गद्यलेखकों की भाषाशैली का अधिक व्यवस्थित, वैज्ञानिक और समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत किया। यद्यपि विभिन्न गद्यकारों के शैलीगत वैशिष्ट्य अथवा गुणदोष तथा भाषासंबंधी शुद्धता, अशुद्धता को लेकर विभिन्न पत्र पत्रिकाओं में सामान्य ढंग के निबंध भी इस काल में लिखे गए किंतु गद्यशैली के व्यवस्थित और ऐतिहासिक विवेचन की दृष्टि से इस काल की ये दो पुस्तकें ही उल्लेख्य हैं।

'हिंदी गद्य मीमांसा' हिंदी गद्यशैली के विकास के अध्ययन की दिशा में प्रथम प्रयास है और विद्वानों ने इस प्रयास के लिये त्रिपाठीजी की सराहना की है। यद्यपि जगन्नाथप्रसाद शर्मा की पुस्तक के प्रकाशन के बाद इस पुस्तक का उतना महत्व नहीं रह गया, लेकिन इसका 'प्रस्तावना' भाग और 'प्राचीन गद्य' शीर्षक खंड कई दृष्टियों से उसके बाद भी महत्वपूर्ण हैं। ११४ पृष्ठ की विस्तृत प्रस्तावना में लेखक ने मध्यकाल में गद्यरचना के अभाव के कारणों पर विचार करने के बाद आधुनिक हिंदी गद्य के क्रमिक विकास का ऐतिहासिक विवेचन किया है। प्रस्तावना के अंतिम भाग में गद्यशैली के तत्वों और उसके विविध रूपों का सैद्धांतिक विवेचन भी प्रस्तुत किया गया है। मध्यकाल में हिंदी गद्य-लेखन के अभाव के संबंध में गद्य युग जैसी बौद्धिकता के स्थान पर भावना की प्रधानता, मुद्रण यंत्रों का अभाव, शिक्षा की कमी तथा संस्कृत साहित्य के प्रभाव के अतिरिक्त धार्मिक प्रभावों तथा मुसलमानी राज्य में लिखापढ़ी के कामों में फारसी के प्रभुत्व को प्रमुख कारण बतलाया गया है। यद्यपि लेखक ने अंत में

स्वीकार किया है कि ये सभी कारण अनुमानाश्रित हैं और निश्चयपूर्वक इस संबंध में कुछ नहीं कहा जा सकता, फिर भी संस्कृत साहित्य के प्रभाव को गद्य-लेखन में बाधक बतलाना तथ्य की उपेक्षा करके अनुमान को कल्पना की सीमा तक ले जाना है। संस्कृत में काव्य की प्रधानता होते हुए भी गद्य साहित्य की कम रचना नहीं हुई है। कथाओं, आख्यायिकाओं और नाटकों की जैसी समृद्ध परंपरा संस्कृत साहित्य में मिलती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। लेखक का यह कथन निश्चित रूप से सही है कि धार्मिकता के प्रभाव के कारण गद्यलेखन की प्रवृत्ति कम हो गई या नहीं रह गई। हिंदी में ही नहीं, प्राकृत और अपभ्रंश में भी यही बात दिखलाई पड़ती है और यहीं से राज्याश्रित साहित्य की अपेक्षा धर्माश्रित साहित्य का महत्व बढ़ने लगता है। हिंदी गद्यविकास के अंतर्गत गोकुल-नाथ, महाराज जसवन्त सिंह, किशोरदास, देवीचंद और कृपाराम के गद्य का परिचय देने के बाद आधुनिक खड़ी बोली गद्य के विकास का विवेचन किया गया है। पुस्तक के मूल भाग में त्रिपाठीजी ने उपर्युक्त प्राचीन गद्यलेखकों से लेकर आधुनिक युग में प्रसाद तक सभी विशिष्ट गद्यलेखकों की गद्य रचनाओं और उनकी शैलियों के वैशिष्ट्य का परिचय दिया है। यह विवेचन विस्तृत और गंभीर उतना नहीं है, लेखक का मुख्य उद्देश्य सामान्य विशेषताओं पर प्रकाश डालना है; यही कारण है कि गद्यलेखकों की विशेषताओं से परिचित कराने के बाद अंत में उनकी रचनाओं से कई पृष्ठ में विस्तृत उद्धरण दे दिए गए हैं। इस प्रकार किसी लेखक की विशिष्ट शैली और उसके उदाहरण रूप में उसकी रचना या उसका कोई खंड उद्धृत करके पुस्तक को अधिक छात्रोपयोगी बनाना भी लेखक का उद्देश्य मालूम पड़ता है। पुस्तक के अंत में दिए गए 'परीक्षो-पयोगी प्रश्न' भी इसी निष्कर्ष की पुष्टि करते हैं। फिर भी हिंदी गद्यशैलियों के अध्ययन के क्षेत्र में प्रारंभिक प्रयास की दृष्टि से यह पुस्तक ऐतिहासिक महत्व रखती है और इस पुस्तक का महत्व इससे भी स्पष्ट है कि आज भी गद्य-शैलियों का विवेचन प्रस्तुत करनेवाली पुस्तकें हिंदी में कम ही हैं।

'हिंदी गद्यशैली का विकास' में खड़ी बोली के विकास और आधुनिक हिंदी के गद्यकारों की गद्यशैली पर विस्तार से विचार किया गया है। गद्यशैली के विकास और उसके समीक्षात्मक विवेचन की दृष्टि से इस पुस्तक का महत्व इतने ही से समझा जा सकता है कि आज भी यह अपने ढंग की अकेली पुस्तक है। हिंदी के प्रायः सभी उल्लेख्य गद्यकारों की भाषाशैली की विशेषताओं पर इसमें विस्तार से तुलनात्मक समीक्षापद्धति द्वारा विचार किया गया है। त्रिपाठीजी की पुस्तक की तरह इसमें एक दो प्रमुख प्रवृत्तियों का उल्लेख करके अंत में रचनाएँ नहीं दे दी गई हैं, बल्कि भाषासंबंधी प्रयोगों तथा

शैलीसंबंधी भंगिओं को अपेक्षित और आवश्यक उद्धरणों द्वारा प्रमाणित और पुष्ट करते हुए विवेचनात्मक ढंग से विचार किया गया है। साथ ही इसमें शैली के एक दो पक्षों को ही नहीं बल्कि इसके सभी तत्वों को लेकर उदाहरण द्वारा अपने निष्कर्ष की पुष्टि की गई है। शैली के अंतर्गत शर्माजी ने शब्दप्रयोग, पदविन्यास, मुहावरा, वाक्यरचना, भावव्यंजना, गत्यात्मक प्रभाव आदि सभी तत्वों को लेकर प्रत्येक गद्यकार की शैली का विवेचन किया गया है। इस प्रकार हिंदी गद्यशैली के विविध रूपों तथा विशिष्ट गद्यकारों की तत्संबंधी विशेषताओं का इसमें जैसा व्यवस्थित और सर्वांगीण अध्ययन और समीक्षात्मक मूल्यांकन किया गया है, हिंदी गद्यशैली का उतना पूर्ण विवेचन आजतक किसी दूसरी पुस्तक में नहीं किया गया है। आज इसमें एक कमी खटकती है। वह यह कि इसके नवीनतम संस्करण में भी वर्तमानकाल के गद्यलेखकों में केवल वृंदावनलाल वर्मा और जैनेन्द्रकुमार को ही लिया गया है। अतः वर्तमानकाल के अनेक कई महत्वपूर्ण गद्यकारों की शैली का विवेचन इसमें नहीं मिलता जब कि गद्य की सभी विधाओं में शिल्प और शैली की दृष्टि से इस बीच अनेक महत्वपूर्ण प्रयोग किए गए हैं तथा अनेक प्रतिभाशाली गद्यलेखकों की महत्वपूर्ण रचनाएँ प्रकाश में आ चुकी हैं।

(ख) गद्यलेखकों तथा उनकी कृतियों की समीक्षा

विशिष्ट गद्यलेखकों को लेकर इस काल में अधिक समीक्षा पुस्तकें नहीं लिखी गईं। नाटककारों में प्रसादजी और कथाकारों में प्रेमचंदजी पर ही स्वतंत्र समीक्षा ग्रंथ लिखे गए। वैसे आलोचनात्मक निबंधसंग्रहों तथा पत्र-पत्रिकाओं में भारतेंदु हरिश्चंद्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी पर भी उनके वैशिष्ट्य, हिंदी गद्य को उनकी देन आदि के संबंध में कुछ आलोचकों ने अपने मत व्यक्त किए किंतु विस्तृत और सर्वांगीण विवेचन केवल प्रसाद और प्रेमचंद के गद्यसाहित्य का ही किया गया। समीक्षात्मक निबंध इन्हीं दो लेखकों के संबंध में अधिक लिखे गए। अतः यहाँ प्रेमचंद और प्रसाद पर लिखी गई महत्वपूर्ण समीक्षाओं पर ही विचार किया जा रहा है।

१—प्रेमचंद

प्रेमचंद की उपन्यास कला तथा कथाकार के रूप में उनकी उपलब्धियों का विवेचन, विश्लेषण और मूल्यांकन में जितनी तत्परता और प्रतिस्पर्द्धा इस काल में आलोचकों ने दिखलाई, उतनी उसके बाद भी नहीं दिखलाई पड़ती है। कारण यह है कि उपन्यासकार के रूप में प्रेमचंद की ख्याति के साथ ही आलोचकों के स्पष्ट दो ऐसे वर्ग बन गए जो उनके महत्व और उपलब्धि

के संबंध में बिलकुल विरुद्ध मत रखते थे। अतः उनके विषय में पत्रपत्रिकाओं में लेख और प्रत्येक उपन्यास के संबंध में पुस्तक समीक्षाएँ तो बहुत लिखी गईं किंतु उनमें विवाद और पूर्वग्रह का स्वर इतना प्रधान हो गया कि वे गुणानुवाद अथवा छिद्रान्वेषण तक ही सीमित रह गईं। इन दो वर्गों में प्रशंसक वर्ग द्वारा तो शुद्ध स्तुति ही की गई, उसे समीक्षा नहीं कहा जा सकता। रामदास गौड़ की समीक्षाएँ इसी प्रकार की हैं। कथा का सार देकर 'वाह वाह' वाली अत्युक्तिपूर्ण समीक्षा और स्तुति के विरोध में कुछ ऐसे आलोचक अखाड़े में उतरे जिन्हें प्रेमचंद शुद्ध प्रचारक के रूप में दिखलाई पड़े और उनके उपन्यासों में कृत्रिमता, ब्राह्मणों का विरोध, स्त्री चरित्रों का असफल चित्रण और भाषा का साधारण ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिला। सन् १९३० के आसपास प्रेमचंद की समीक्षा की यही स्थिति थी और उस समय की पत्र-पत्रिकाओं में इन परस्परविरुद्ध मत रखनेवाले आलोचकों की स्तुति अथवा निंदा-परक समीक्षाएँ प्रायः प्रकाशित होती रहती थीं। पं० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' को आलोचक के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय मुख्य रूप से इस वातावरण में प्रेमचंद साहित्य को लेकर लिखी गई विस्तृत समीक्षाओं को ही है। शिलीमुख ने प्रशंसक वर्ग से विरुद्ध मत रखते हुए भी प्रेमचंद के 'सेवासदन', 'कायाकल्प' आदि उपन्यासों तथा 'प्रेमचंद की कला' पर सम्मेलन पत्रिका (भाग १, संख्या ३ और ४), सरस्वती (भाग ३०, सं० २ और भाग २९ सं० ३-४) तथा सुधा (वर्ष १, खंड १, सं० ३) में विस्तृत समीक्षाएँ लिखीं। कायाकल्प की तो ३० पृष्ठों की विस्तृत समीक्षा में उन्होंने उसके प्रायः सभी तत्वों की विवेचना की है। किसी सीमा तक पूर्वग्रह से युक्त होती हुई भी प्रेमचंद के साहित्य के मूल्यांकन की दिशा में इन्हें प्रथम गंभीर विवेचनात्मक समीक्षा कहा जा सकता है। यद्यपि 'प्रेमचंद विवाद' की प्रेरणा से पं० अवध उपाध्याय, जोशीबंधु, राजबहादुर लमगोड़ा तथा रामचंद्र टंडन ने भी लेख लिखकर प्रेमचंद की प्रशंसा की या उनकी सीमाएं पहचानी किंतु जैसा पहले कहा गया इन निबंधों में समीक्षा की गंभीरता और विवेचना नहीं दिखलाई पड़ती। उस समय प्रेमचंद को सामान्य प्रतिभा का उपन्यासकार माननेवाले आलोचकों में पं० नंददुलारे वाजपेयी भी आते हैं। वाजपेयीजी ने भी सन् १९३२ में 'प्रेमचंद' शीर्षक निबंध में (हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी में संगृहीत) उपन्यासकार की प्रतिभा और उसकी सीमाओं पर विचार किया। पूर्वग्रहयुक्त होते हुए भी आलोचना की गंभीर तर्कपूर्ण विवेचनात्मक पद्धति से लिखी जाने और प्रेमचंद साहित्य के संबंध में आलोचकों के एक वर्ग की निश्चित धारणा का प्रतिनिधित्व करने के कारण वाजपेयीजी की समीक्षा महत्वपूर्ण है। कम से कम प्रेमचंद की सीमाओं की जानकारी के लिये तो महत्वपूर्ण है ही। इसी

समय संभवतः इस प्रकार की अतिवादी समीक्षाओं को ही ध्यान में रखकर जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' ने 'प्रेमचंद की उपन्यास कला' (सन् १९३३) नामक पुस्तक लिखी जिसमें तटस्थ दृष्टि से प्रेमचंदजी की उपन्यास कला के सभी तत्वों पर विस्तार से विचार किया गया। इस प्रकार प्रेमचंद के संबंध में, शिलीमुख, पं० नंददुलारे वाजपेयी और द्विज की समीक्षाएँ ही विचारणीय हैं।

शिलीमुख ने प्रेमचंद को साधक मानते हुए भी उनके साथ न्याय करने के लिये उन दोषों और कमियों का विवेचन विश्लेषण आवश्यक बताया जिनके कारण प्रेमचंद की कला में उत्कर्ष नहीं दिखलाई पड़ता। उनके अनुसार प्रेमचंद के उपन्यासों में युगधर्म और सतही वास्तविकता को ही आधार बनाया गया है। सामाजिक और राजनीतिक आंदोलनों के प्रवाह के साथ बहने के कारण ही प्रेमचंद को लोगों की प्रशंसा प्राप्त हुई है, कलात्मक श्रेष्ठता या ऊँचाई के कारण नहीं। शिलीमुख को उपन्यासकार में उपदेश वृत्ति, दुराग्रह और ब्राह्मणविरोधी भावना की प्रधानता दिखलाई पड़ती है। 'प्रेमचंदजी की समाजभावना और उनके आदर्शवाद' शीर्षक निबंध[1] में आलोचक ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि प्रेमचंद का आदर्श काल्पनिक और उनकी यथार्थ भावना संकीर्ण है। शिलीमुख के शब्दों में प्रेमचंद का आदर्शवाद एक 'पेशेवर का आदर्शवाद है, जिसमें किसी स्वास्थ्यप्रद मानसिक विकास का स्वरूप उपलब्ध नहीं'। 'कायाकल्प' के संबंध में लिखे गए निबंध[2] में व्यापक दृष्टि से कथातत्व, चरित्रचित्रण तथा भाषाशैली पर विचार किया गया है। चरित्रचित्रण तथा भाषासंबंधी त्रुटियों पर इसमें विशेष रूपसे विचार किया गया है।

शिलीमुख को सबसे प्रबल समर्थन वाजपेयीजी से प्राप्त हुआ। उनके अनुसार प्रेमचंद के दृष्टिकोण, विचार, आदर्श भावना, ब्राह्मणविरोध आदि पर विचार ही व्यर्थ किया जाता है क्योंकि सामयिकता के अतिरिक्त उनका कोई आदर्श या स्वानुभूत दर्शन नहीं है। यद्यपि इस निबंध में प्रेमचंद की कला की जो सीमाएँ बताई गई हैं और सामयिक, राजनीतिक और सामाजिक भावना को ही उनका आदर्श माना गया है, वह बहुत अंशों तक ठीक है. किंतु उनकी उपलब्धियों और विशेषताओं को दृष्टि से ओझल करके इन्हीं के आधार पर जो निष्कर्ष दे दिया गया है, उससे पूर्वग्रह स्पष्ट हो जाता है। हंस के 'आत्मकथांक' को लेकर वाजपेयीजी और प्रेमचंद में जिस स्तर का उत्तर प्रत्युत्तर हुआ और एक दूसरे पर आक्षेप किए

[1] सम्मेलन पत्रिका, भाग २, संख्या १।

[2] सरस्वती, भाग २६, संख्या १—४।

गए, उसका प्रभाव इस निबंध पर स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। अपने मत की पुष्टि के लिये इस निबंध में वाजपेयीजी ने कुछ ऐसे प्रसंगों को भी लिया है जिन्हें विवेचन के लिये आवश्यक नहीं कहा जा सकता। शैली भी व्यंग्यपूर्ण, तीखी और कहीं कहीं अत्यंत कटु है, विशेष रूप से ऐसे स्थलों पर जहाँ विषयविवेचन को छोड़कर व्यक्तित्वविवेचन किया जाने लगा है। वाजपेयीजी की मुख्य स्थापना यह है कि प्रेमचंद में कल्पना शक्ति उतनी ही है जितनी कथा की योजना के लिये आवश्यक है, वस्तुविन्यास की उत्कृष्ट कलावाली कल्पना उनमें नहीं है, व्यक्तित्व की परख भी उन्होंने भावों के आधार पर स्थूल दृष्टि से की है, व्यक्तित्वविकास की मनोवैज्ञानिक भूमि तक उनकी पहुँच नहीं हो सकी है। साथ ही युग-निर्माण करनेवाली गंभीर जीवनदृष्टि प्रेमचंद में नहीं है; युगधर्म और सामयिकता के साथ ही उनके आदर्श बनते, मिटते और बदलते रहे हैं। यथातथ्यात्मक दृष्टि उनमें ऐसी है कि 'आज आप सामयिक पत्रों में जो चर्चा पढ़ चुके हैं कल प्रेमचंद की कहानियों में उसे दुबारा पढ़िए'।

जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' ने अपनी पुस्तक में वस्तुविन्यास, चरित्रचित्रण कथोपकथन, देशकाल, भाषाशैली तथा उद्देश्य इन ६ तत्वों के आधार पर कथा-साहित्य के विवेचन की प्रचलित पद्धति के अनुसार ६ अध्यायों में प्रेमचंद के उपन्यास साहित्य पर विचार किया है। इन अध्यायों के अतिरिक्त विषय-प्रवेश में कथासाहित्य के उद्भव, हिंदी कथासाहित्य के विकासक्रम तथा प्रेमचंद के विकास और कालक्रम से उनके उपन्यासों के महत्व पर विचार किया गया है। अंत में उपसंहार के रूप में देश विदेश के विभिन्न उपन्यासकारों के साथ तुलना द्वारा प्रेमचंद के महत्व पर प्रकाश डाला गया है। वस्तुविन्यास, चरित्रचित्रण तथा उद्देश्य आदि की व्याख्यात्मक पद्धति से इस पुस्तक में समीक्षा की गई है। अतः इसमें कथाप्रसंगों के लंबे उद्धरण अधिक आ गए हैं। इसमें विवेच्य को लेकर दूर तक चलनेवाली गंभीर दृष्टि और विवेचन की गहराई उतनी नहीं है। अपने कथन को उदाहरणों द्वारा पुष्ट और प्रमाणित करने की प्रवृत्ति ही प्रधान दिखलाई पड़ती है। किंतु इस पुस्तक का महत्व उस काल में गंभीर विवेचना की दृष्टि से नहीं, बल्कि विशेषताओं और त्रुटियों के निष्पक्ष विवेचन की दृष्टि से आँका जाना चाहिए। उपन्यासकार के रूप में प्रेमचंद के महत्व और उनकी देन का ईमानदारी से सही सही लेखाजोखा उपस्थित करनेवाली यह पहली समीक्षा पुस्तक है, यही इसकी सबसे बड़ी उपयोगिता और विशेषता है। द्विजजी वाजपेयीजी की तरह ही यह मानते हैं कि वस्तुयोजना का वह कौशल प्रेमचंद में नहीं दिखलाई पड़ता जैसा शरच्चंद्र में है, और उनकी कथाएँ बिल्कुल अनौत्सुक्यपूर्ण ढंग में सीधी सरल

रेखा की तरह आगे बढ़ती और समाप्त हो जाती हैं। किंतु इसके साथ ही समाज और राष्ट्र की व्यापक और गंभीर समस्याओं और भिन्न भिन्न अवस्थाओं के चित्रण की दृष्टि से वे उपन्यासकार का महत्व स्वीकार करते हैं। सामाजिक और राष्ट्रीय वातावरण और उस वातावरण में पलनेवाले मानव के स्वभाव की सच्ची परख प्रेमचंद में दिखलाई पड़ती है विशेषरूप से ग्रामीण जीवन के यथार्थ की जैसी पहचान इनमें मिलती है वैसी अन्यत्र कम ही मिलती है। किंतु यथार्थचित्रण और वस्तुवर्णन के मोह के कारण वस्तुसंगठन कहीं कहीं असंतुलित हो गया है। द्विज के मतानुसार वर्णन की संपूर्णता और सजीवता तो प्रेमचंद में है किंतु चुनाव का गुण उनमें नहीं है; अतः अनावश्यक वर्णन, घटनाओं की पुनरावृत्ति और तथ्यात्मक असंगतियाँ भी उनके उपन्यासों में कहीं कहीं दिखलाई पड़ती हैं।

चरित्रचित्रण पर द्विजजी ने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष पद्धति तथा घटनाओं की क्रिया प्रतिक्रिया आदि की सामान्य और प्रचलित विधियों को हो आधार बनाकर सोदाहरण व्याख्या ही विशेष रूप से की है। आलोचक का निष्कर्ष इतना ही मालूम पड़ता है कि प्रेमचंद ने नाटकीय और अप्रत्यक्ष पद्धति का ही सहारा अधिक लिया है और उनके चरित्र हमारे परिचित, यथार्थ मानव हैं। देशकाल पर विचार करके यह निष्कर्ष दिया गया है कि 'इनके उपन्यास सामयिक होते हैं और उनपर सामयिकता की गहरी छाप लगी रहती है।' आलोचक ने तत्कालीन समाज के यथार्थ चित्र को कला की महत्वपूर्ण उपलब्धि माना है और वह उन आलोचकों से सहमत नहीं है जो सामयिकता की प्रवृत्ति को कला के स्थायी मूल्य में बाधक समझते हैं। जीवनदर्शन और उद्देश्य पर भी संक्षेप में द्विजजी ने विचार किया है और उनके मत से प्रेमचंद व्यावहारिक आदर्शवादी हैं; यह मत प्रेमचंद के विरोधी आलोचकों का भी है, किंतु भाजी इस आदर्शवादी उपयोगितावादी दृष्टि को बुरा नहीं समझते और न तो नीतिशिक्षा और उपदेश ही उनकी दृष्टि में कोई दोष है। इसके विपरीत इसे वे उपन्यास का मुख्य धर्म और उपन्यासकार का दायित्व मानते हैं। उनके अनुसार 'जबतक कला का उद्देश्य मानवीय भावों और विचारों को परिष्कृत करना तथा उन्हें समुन्नत बनाना रहेगा, तबतक वह नीतिशिक्षा की उपेक्षा करेगी कैसे? प्रेमचंदजी की कला का यही प्रधान उद्देश्य है। इसलिये इनके उपन्यासों में उच्चादर्श तथा नीतिशिक्षा का भी एक कलात्मक मूल्य है।'[1] उपसंहार में द्विजजी ने तुलनात्मक मूल्यांकन का प्रयास अवश्य किया है, किंतु इस बात का ध्यान नहीं रखा है

[1] प्रेमचंद की उपन्यास कला, प्रथम संस्करण, पृ० १६८।

कि तुलना के लिये उपन्यासलेखक होने का समान धर्म ही पर्याप्त नहीं होता। समानता और विभिन्नता दिखलाने के लिये उन्होंने देश विदेश के कुछ ऐसे उपन्यासकारों को लिया है, जो जीवनदृष्टि, प्रवृत्ति तथा कथा के उद्देश्य आदि सभी दृष्टियों से बिलकुल भिन्न धरातल पर हैं और जिन्होंने सैद्धांतिक दृष्टि से भी उपन्याससंबंधी भिन्न आदर्शों को लेकर उपन्यासों की रचना की है।

२—जयशंकर प्रसाद

प्रसाद के गद्यसाहित्य पर भी इस काल में उत्कृष्ट समीक्षाएँ लिखी गई। मुख्य रूप से प्रसाद के नाट्य साहित्य ने आलोचकों का विशेष ध्यान आकृष्ट किया। पत्र पत्रिकाओं में तो इनके नाटकों की चर्चा हुई ही, स्वतंत्र आलोचनात्मक पुस्तकें भी लिखी गईं। प्रो. रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' की 'प्रसाद की नाट्यकला' में प्रसादजी के नाटकों का गंभीर समीक्षात्मक विवेचन किया गया है।

कृष्णानंद गुप्त ने 'प्रसाद जी के दो नाटक' नामक पुस्तक में चंद्रगुप्त और स्कंदगुप्त की समीक्षा लिखी। नंददुलारे वाजपेयी ने प्रसाद के काव्य के साथ ही उनके कथासाहित्य और नाट्यकला पर भी गंभीर समीक्षाएँ लिखीं। 'कंकाल का समाजदर्शन' (सन् १९३१) और 'स्वतंत्र नाट्यकला का आभास' (सन् १९३२) उपशीर्षक निबंधों में क्रमशः उपन्यासकार और नाटककार के रूप में प्रसाद के कृतित्व और उनकी देन पर विचार किया गया है। विनोदशंकर व्यास ने 'प्रसाद और उनका साहित्य' (सन् १९४०) में प्रसाद के उपन्यास, कहानियों और नाटकों को तीन अध्याय दिए और अपने मत व्यक्त किए। इन सभी समीक्षाओं में प्रसाद की नाट्यकला और कंकाल का समाजदर्शन और गुप्तजी द्वारा की गई चंद्रगुप्त की समीक्षाओं में ही समीक्षा की गंभीरता दिखलाई पड़ती है। अन्य समीक्षाओं में या तो अपनी व्यक्तिगत रुचि और पूर्वग्रह का प्रदर्शन किया गया है या ऐसा लगता है जैसे कोई आलोचना के क्षेत्र में अजनबी की तरह चला आया है। कृष्णानंद गुप्त की पुस्तक दो स्वतंत्र लेखों का संग्रह है जिसमें चंद्रगुप्त की समीक्षा तो लगभग सवा सौ पृष्ठों में की गई है और संक्षिप्त पद्धति से स्कंदगुप्त की केवल २५ पृष्ठों में; जैसा कि वाजपेयीजी ने लिखा है, ऐसा लगता है कि पुस्तक का आकार बढ़ाकर उसका मूल्य १) रु० रखने के आशय से यह समीक्षा जोड़ दी गई है। पुस्तक की भूमिका के रूप में लेखक ने जो 'निवेदन' किया है, उसी से पता चलता है कि उसने समीक्षात्मक मूल्यांकन के लिये प्रसाद के इन नाटकों पर विचार नहीं किया है बल्कि प्रसाद की प्रशंसा और ख्याति से व्यक्तिगत रूप से चिढ़कर उन्हें साधारण लेखक से भी निचली श्रेणी का लेखक ठहराने के लिये इन पन्नों को बेकार रँगा है।' गुप्तजी स्वयं स्वीकार करते हैं कि 'इन पन्नों को मैंने बेकार रँगा है। मन में एक लहर उठी और लिखने बैठ गया। उससे मेरा पर्याप्त मनो-

विनोद हुआ है, यही उसकी सार्थकता है। मैं कंजूसी नहीं करूँगा। दूसरे भी मेरे इस विनोद में हिस्सा बँटाने को स्वतंत्र हैं।' बताने की आवश्यकता नहीं कि यह 'लहर' किस कोटि की है और गुप्तजी के 'मनोविनोद' का अर्थ क्या है। किसी की खिल्ली उड़ाने में जो मजा आता है, वही 'मनोविनोद' यह भी है और यह विनोद और बढ़ जाता है जब दूसरे भी उसी के स्वर में स्वर मिलाकर हँसते हैं, किंतु दुख यह है कि गुप्तजी अकेले ही अपनी कल्पना में नाटक और अभिनय देखते और हँसते रहे, उनके साथ हँसनेवाला बहुत प्रतीक्षा के बाद भी दूसरा कोई नहीं मिला। गुप्तजी की आलोचना की पद्धति इतनी रोचक है कि उसमें कहानी का आनंद आता है और पाठक प्रसाद के नाटकों के विवेच्य विषय को भूलकर गुप्तजी के रोचक वर्णन में ही लीन हो जाता है। नाटक समीक्षा को गुप्तजी की यह नई देन मानी जायगी इसमें संदेह नहीं। गुप्तजी के मत से प्रसादजी को नाटक लिखने नहीं आता है और नाटकीय वस्तुविन्यास का तो उन्हें साधारण ज्ञान भी नहीं है। उन्होंने केवल सामग्री एकत्र करके उसे बिखेर दिया है, उनके नाटक वस्तुतः सामग्री प्रस्तुत करते हैं जिन्हें लेकर किसी कुशल नाटककार को नाटक तैयार करना चाहिए। चरित्रचित्रण भी गुप्तजी के अनुसार प्रसादजी को नहीं आता, चरित्रों का विकास अस्वाभाविक और असंतुलित है। प्रसादजी इतिहास के विद्वान माने जाते हैं किंतु गुप्तजी की दृष्टि में उन्हें इतिहास की सामान्य जानकारी भी नहीं है। भाषा तो प्रसादजी को आती ही नहीं। प्रसादजी को भाषाज्ञान सिखानेवाले गुप्तजी 'मनसा-वाचा-कर्मणा से चन्द्रगुप्त का वरण' कराते हैं। कर्मणा के साथ से का प्रयोग गुप्तजी जैसे भाषाविद् ही कर सकते हैं। गुप्तजी द्वारा बताए गए इतने दोषों में कुछ ऐसे अवश्य हैं जिन्हें प्रसाद के नाटकों में अन्य आलोचक भी स्वीकार करते हैं—जैसे अभिनेयता के गुण का अभाव चंद्रगुप्त के वस्तुसंगठन में अन्विति की कमी, किंतु गुप्तजी का उद्देश्य संतुलित ढंग से गुण दोषों का विवेचन करना नहीं बल्कि सभी दृष्टियों से नाटकों को दोषपूर्ण सिद्ध करना है। ऐसी द्वेषपूर्ण समीक्षाओं से किस प्रकार के साहित्यिक मूल्यांकन की आशा की जा सकती है, यह बताने की आवश्यकता नहीं।

वाजपेयीजी का 'स्वतंत्र नाट्यकला का आभास' शीर्षक निबंध स्वतंत्र समीक्षा न होकर कृष्णानंद गुप्त के मत का खंडन मात्र है और इसी उद्देश्य से लिखा गया प्रतीत होता है। इसमें प्रसाद के नाटकों के वैशिष्ट्य के संबंध में वाजपेयीजी ने अपना मत व्यक्त न करके केवल गुप्तजी का खंडन ही किया है, इसलिये इस निबंध से प्रसाद की नाट्यकला पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। जितना शीर्षक से पता चलता है, उतना ही निबंध से भी। प्रसादजी नाट्यकलासंबंधी स्वतंत्र आधार लेकर

चले हैं, इसलिये उनमें इब्सन की तरह का यथार्थ और अभिनेयता का गुण नहीं ढूँढ़ा जाना चाहिए, बस इतना कह देने से ही गुप्त द्वारा उठाई गई शंकाओं का न तो समाधान हो सकता है और न तो उन दोषों का मार्जन हो हो सकता है जिनका उल्लेख प्रसाद के नाटकों के संबंध में प्रायः किया जाता है। इसी तरह विनोदशंकर व्यास ने प्रसादजी के उपन्यास, कहानी या नाटक के संबंध में जो कुछ लिखा है, उससे प्रसाद साहित्य से उनकी आत्मीयता तो प्रकट होती है किंतु प्रसाद की किसी विशेषता या लेखक के दृष्टिकोण का पता नहीं चल पाता। वस्तुतः यह समीक्षा नहीं बल्कि एक अंतरंग मित्र द्वारा किया गया व्यक्तित्व-चित्रण है जिससे प्रसादजी के व्यक्तित्व तथा उनकी रचनाओं की पृष्ठभूमि आदि के संबंध में उपयोगी जानकारी प्राप्त होती है।

इस प्रकार इस काल में प्रसाद की नाट्यकला का गंभीर विवेचन केवल शिलीमुखजी ने ही किया। पुस्तक मुख्यतः दो अध्यायों में विभक्त है—प्रथम अध्याय में नाट्यकला के सिद्धांत पक्ष पर और दूसरे अध्याय में प्रसाद की नाट्यकला पर विचार किया गया है। अंत में परिशिष्ट रूप में अजातशत्रु की अलग से समीक्षा की गई है। सिद्धांत पक्ष के अंतर्गत भारतीय और पाश्चात्य नाट्य सिद्धांतों और शैलियों तथा हिंदी नाटक के विकास का परिचय दिया गया है। यह अध्याय मुख्यतः परिचयात्मक है और प्रसाद के नाटकों की व्यवहारिक समीक्षा की भूमिका के रूप में इसे उपस्थित किया गया है। पुस्तक का दूसरा अध्याय महत्वपूर्ण है और इसमें प्रायः सभी दृष्टियों से प्रसाद के नाटकों पर विचार किया गया है; इस समीक्षा से शिलीमुखजी की अंतर्दृष्टि, पकड़, विवेचन की तर्कपूर्ण गंभीरता, उनकी व्यापक दृष्टि तथा नाट्यकलासंबंधी भारतीय और पाश्चात्य दृष्टियों तथा विचारों से उनके पूर्ण ज्ञान का पता चलता है। इस अध्याय में प्रसाद के नाटकों की रचनाशैली के विकास, उनकी विचारभूमि और उद्देश्य का विवेचन करने के बाद वस्तु और घटनासंगठन, कथोपकथन, चरित्र-चित्रण तथा अभिनेयता पर विचार किया गया है। विचारधारा और अभिनेयता पर शिलीमुख ने मौलिक दृष्टि से विचार किया है और इससे उनकी स्वतंत्र चिंतन शक्ति और गहनता का पता चलता है। प्रसाद के नाटकों में प्रायः घटनाओं की योजना और उनकी चरम परिणति ऐसी होती है कि वह न तो भारतीय सुखांत नाटकों जैसी ही मालूम पड़ती है और न पाश्चात्य दुःखांत नाटकों जैसी। यद्यपि प्रसादजी के नाटक सुखांत हैं किंतु उनकी बिलकुल संस्कृत नाटकों की तरह की 'सुखांतता' नहीं दिखलाई पड़ती। शिलीमुखजी ने इस तथ्य को पकड़ा है और इसकी विवेचना की है। उनके अनुसार प्रसाद की सुखांतता सदा फलागम नहीं होती। इस तरह 'प्रसाद के नाटक संस्कृत और अंग्रेजी दोनों कलाओं से भिन्न हैं'।[1]

[1] प्रसाद की नाट्यकला, पृ० ६५।

उनकी विवेचना के अनुसार 'बाबू जयशंकर प्रसाद की सुखांत भावना प्रायः वैराग्य-पूर्ण, अथवा मानवप्रेम से भरित शांति की होती है। यही उनके नाटकों का आदर्श है।'[1] इस विश्लेषण से यह पता चलता है कि प्रसाद ने प्रायः निराशा या विराग की सुखांत परिणति की है किंतु यह निराशावाद उद्देश्य या योज्य में नहीं, केवल योजना में है। नाटकार का दूसरा महत्वपूर्ण उद्देश्य जातीय और राष्ट्रीय चेतना से युक्त स्वाभिमान और देशप्रेम का भाव उत्पन्न करना है। इस प्रकार शिलीमुख ने यह प्रतिपादित किया है कि प्रसाद ने महान् उद्देश्यों ध्यान में रखकर अपने नाटकों की रचना की है और इसमें वे सफल भी हुए हैं। नाट्यकला की दृष्टि से आलोचक ने 'राज्यश्री' को प्रसाद का सर्वोत्कृष्ट नाटक माना है। वस्तुयोजना में जटिलता और घटनाविस्तार की अधिकता के कारण कुछ नाटकों में पूर्ण अन्विति का अभाव, कथोपकथन में कहीं कहीं अधिक विस्तार, दार्शनिकता और काव्यात्मकता का आधिक्य और उससे नाटक की गति में अवरोध मानते हुए भी शिलीमुख ने प्रसाद को उत्कृष्ट कोटि का सफल नाटककार सिद्ध किया है। उनकी दृष्टि से प्रसाद के नाटकों के संबंध में अनभिनेयता की बात निरर्थक है। नाटक और अभिनय के संबंध में पाश्चात्य नाटकों और समीक्षकों का प्रमाण देते हुए आलोचक ने यह स्पष्ट किया है कि साहित्यिक नाटक पाठ्य होकर भी महत्वपूर्ण हो सकता है और यदि उसमें सामान्य परिवर्तन करके उसे रंगमंच पर खेला जा सके तो अभिनेयता की कसौटी पर उसे असफल या सामान्य नहीं मानना चाहिए।

(४) समीक्षात्मक निबंधसंग्रह

साहित्यप्रवृत्तियों और विशिष्ट साहित्यिकों को लेकर लिखी गई स्वतंत्र समीक्षा पुस्तकों के अतिरिक्त इस काल में अनेक ऐसे निबंधसंग्रह प्रकाशित हुए, जिनमें विभिन्न विषयों और साहित्यिकों के संबंध में समीक्षात्मक निबंध संकलित हैं। इन निबंधसंग्रहों के कुछ निबंध तो स्वतंत्र समीक्षात्मक प्रबंधों से भी अधिक महत्वपूर्ण हैं। ऐसे निबंधों या निबंधसंग्रहों का हिंदी की सैद्धांतिक और व्यावहारिक समीक्षा के प्रसंग में मौलिकता, विवेचन की गंभीरता तथा महत्वपूर्ण निष्कर्षों के कारण पहले उल्लेख किया जा चुका है। नंददुलारे वाजपेयी का 'हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी', पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का 'हिंदी साहित्य विमर्श' और 'विश्व साहित्य', सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन का 'त्रिशंकु', प्रकाशचंद्र गुप्त का 'नया साहित्य-एक दृष्टि', नगेंद्र का 'विचार

[1] प्रसाद की नाट्यकला, पृ० ६५।

और अनुभूति' ऐसे ही संकलन हैं। किंतु इनके अतिरिक्त भी समीक्षात्मक निबंधों के संकलन के रूप में कई पुस्तकें प्रकाशित हुईं। शांतिप्रिय द्विवेदी के समीक्षात्मक निबंधों के चार संकलन 'हमारे सहित्य निर्माता' (सन् १६३५) 'कवि और काव्य' (सन् १६३६), 'संचारिणी' (सन् १६३६) और 'युग और साहित्य' (सन् १६४०) आलोच्य काल में ही प्रकाशित हुए। शांतिप्रियजी के अतिरिक्त प्रो० रामकृष्ण शुक्ल शिलीमुख की 'सुकवि समीक्षा' (सन् १६३६), प्रो० सत्येंद्र की 'साहित्य की झाँकी' (सन् १६३८), प्रो० ललिताप्रसाद शुक्ल की 'साहित्य चर्चा' और सच्चिदानन्द हीरानंद वात्स्यायन द्वारा संपादित 'आधुनिक हिंदी साहित्य' (सन् १६४०) भी इस काल की ऐसी उल्लेख्य समीक्षा पुस्तकें हैं जिनमें विभिन्न विषयों पर समीक्षात्मक निबंध संकलित हैं।

शांतिप्रियजी की आलोचना का क्षेत्र मुख्यतः आधुनिक साहित्य है। आधुनिक साहित्य में भी छायावादी कवियों और काव्यप्रवृत्तियों की समीक्षा में उनका मन विशेष रमा है। 'हमारे साहित्यनिर्माता' मे उन्होंने आधुनिक साहित्यिकों के ही कृतित्व का मूल्यांकन किया है। हमारे साहित्य निर्माता से शांतिप्रियजी का तात्पर्य आधुनिक हिंदी साहित्य के निर्माताओं से है, इस दृष्टि से उन्हें पुस्तक के नाम के साथ आधुनिक शब्द को जोड़ना चाहिए था। अन्य सामान्य पाठक पुस्तक के नाम से भ्रांति में पड़ सकता है। आधुनिक गद्यनिर्माताओं में लेखक ने गद्यकारों में महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्यामसुंदरदास, रामचंद्र शुक्ल, प्रेमचंद, प्रसाद, राय कृष्णदास, राधिकारमण प्रसाद सिंह और कवियों में अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, माखनलाल चतुर्वेदी, निराला, पंत, सुभद्राकुमारी चौहान और महादेवी वर्मा को लिया है। इस प्रकार इस पुस्तक में द्विवेदी युग और छायावाद युग के साहित्यिकों और उनकी प्रवृत्तियों तथा विशेषताओं पर विचार किया गया है। 'कवि और काव्य' में आधुनिक हिंदी कविता के प्रवृत्तिगत विकास के अतिरिक्त प्राचीन हिंदी काव्य का भी लेखक ने परिचय कराया है। किंतु प्राचीन साहित्य शांतिप्रियजी का विषय नहीं है, यह उनके लेखों से भी स्पष्ट पता चल जाता है। 'संचारिणी' तथा 'युग और साहित्य' में भी आधुनिक साहित्य-विशेष रूप से छायावाद, गीतिकाव्य तथा छायावादी कवियों की समीक्षा की गई है। दो तीन निबंध प्राचीन काव्य पर भी हैं, किंतु वे सामान्य कोटि के ही हैं। इस प्रकार छायावादी कवि और उनका काव्य तथा छायावाद युग की साहित्यिक चेतना ही इन संग्रहों का प्रमुख आलोच्य विषय है। जैसा पहले कहा जा चुका है शांतिप्रियजी समीक्षा की सौंदर्यवादी दृष्टि लेकर साहित्य के क्षेत्र में आए, अतः उनकी व्यावहारिक आलोचनाओं में भी सौंदर्य की खोज का प्रयत्न और उसकी काव्यात्मक व्याख्या ही मुख्य रूप से दिखलाई पड़ती है। उनकी प्रारंभिक समीक्षाएँ सामान्य

परिचयात्मक ढंग की हैं और अन्य आलोचकों के विचारों को ही लेकर लिखी गई हैं। किंतु बाद की समीक्षाओं में उनकी स्वतंत्र दृष्टि विकसित दिखलाई पड़ती है। शांतिप्रियजी के दृष्टिकोण और जीवनदर्शन में क्रमशः विकास होता गया है और सन् १९४० आते आते तो वे समाजवाद के प्रबल समर्थक हो गए हैं। शांतिप्रियजी की इन समीक्षाओं का महत्व मौलिकता और नवीनता की दृष्टि से भले ही न माना जाय किंतु इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि उनका सौंदर्यबोध उच्चकोटि का है अतः उन्होंने छायावाद युग की सौंदर्यानुभूति और काव्यसौंदर्य का जितनी तन्मयता, आसक्ति और ईमानदारी से व्याख्या और विवेचन किया है वही हिंदी की व्यावहारिक समीक्षा को उनकी देन है।

आधुनिक काव्यचेतना का मूल्य परखने और उसे उचित महत्व देकर साहित्य और समाज में प्रतिष्ठित करने का प्रारंभिक श्रेय जिन आलोचकों को है उनमें शांतिप्रिय द्विवेदीजी की गणना है। अपनी सौंदर्यवादी दृष्टि के कारण छायावादी काव्य के सौंदर्य से वे विशेष अभिभूत दिखलाई पड़ते हैं, और सौंदर्य को ही काव्य का मूल आधार और समीक्षा का प्रमुख प्रतिमान मानने के कारण पंत और शरच्चंद्र उनके विशेष प्रिय हैं। पंत को वे अन्य छायावादी कवियों से श्रेष्ठ मानते हैं। बौद्धिकता को वे काव्य में विशेष महत्व नहीं देते और इसी लिये निराला को वे पसंद नहीं कर सके हैं। बाद में समाजवादी विचारधारा से प्रभावित होने पर उन्होंने प्रगतिवादी साहित्य के 'असुंदर' को भी उचित महत्व दिया है। इस प्रकार शांतिप्रिय द्विवेदी ने इस काल में सबसे अधिक आलोचनात्मक निबंध ही नहीं लिखे, बल्कि आधुनिक साहित्य के प्रायः सभी पक्षों पर विचार किया और उसकी प्रगति और विकास का एक सजग आलोचक की तरह निरंतर आकलन करते रहे और आज भी कर रहे हैं। युगचेतना के साथ ही उन्होंने अपनी कलात्मक और सांस्कृतिक चेतना का भी विकास और विस्तार किया है, यह उनकी विशेषता है।

प्रो॰ ललिताप्रसाद शुक्ल ने भी 'साहित्य चर्चा' में हिंदी के आधुनिक साहित्य की गतिविधि पर ही विचार किया है। इन निबंधों में उनका उद्देश्य आधुनिक हिंदी साहित्य का अध्ययन कुछ ऐसे दृष्टिकोणों से करना है 'जिसका ऐतिहासिक तथा आलोचनात्मक महत्व समान हो। इस उद्देश्य से हिंदी भाषा के विकास और उसकी समस्याओं और महत्व आदि पर विचार करने के बाद 'हिंदी गद्य का विकास, हिंदी गद्य साहित्य और हिंदी गद्य का वर्तमान युग', इन तीन निबंधों में उन्होंने आधुनिक हिंदी साहित्य के विकास पर ऐतिहासिक और आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया है। किंतु शुक्लजी के प्रयत्न के बाद भी इसमें आलोचना कम और ऐतिहासिकता ही अधिक है। इन निबंधों से आधुनिक हिंदी साहित्य के विकास

का परिचय ही पाठकों को मिल सकता है। इससे अधिक की आशा इन निबंधों से नहीं की जा सकती। ऐतिहासिक विवरण और नामोल्लेख से जहाँ आलोचक ने कुछ अधिक कहने का प्रयास किया है, वहाँ स्पष्ट पता चल जाता है कि आधुनिक साहित्य, विशेष रूप से काव्य को बिना अच्छी तरह गहराई से परखे ही उसने उसकी आलोचना का दायित्व ले लिया है। उदाहरण के लिये प्रसाद का महत्व बतलाते हुए वे सूचना देते हैं कि 'सबसे बड़ी विशेषता इनकी कविता में यह है कि आधुनिक युग में इन्होंने छायावाद को पुनः जीवित किया है जो कबीर और सूर के बाद से लुप्तप्राय सा हो गया था'।[1] छायावाद के संबंध में उनका मत है कि 'हिंदी में छायावाद कोई नवीन विषय नहीं है। कबीर, सूर तथा अन्य भक्त कवियों ने इसपर बहुत कुछ लिखा है'।[2] इतने से ही स्पष्ट है कि इन निबंधों से आधुनिक हिंदी साहित्य के संबंध में किस तरह की जानकारी पाठक को मिलेगी।

प्रो० सत्येंद्र के 'साहित्य की झाँकी' में कुल नौ निबंध हैं जिनमें पाँच भक्ति काव्य और भक्त कवियों के संबंध में हैं। दो निबंध हिंदी कहानी की परिभाषा और हिंदी में समालोचना की शैली के विकास के संबंध में और शेष दो 'हिंदी में हास्य रस' तथा भूषण कवि और उनकी परिस्थिति पर लिखे गए हैं। प्रारंभ में गवाक्ष से हिंदी साहित्य की 'झाँकी' दिखाई गई है किंतु यह 'गवाक्ष' इतना छोटा है कि झाँकी भी ठीक से नहीं मिल पाती। इतना अवश्य पता चलता है कि भक्तिकाव्य के संबंध में आलोचकों में अनेक भ्रांतियाँ हैं और भक्तिकाव्य के संबंध में लिखे गए निबंधों में उनका निराकरण किया जायगा। इन निबंधों में इस भ्रांति पर विचार भी किया गया है। सत्येंद्रजी के मत से 'भक्ति आंदोलन को मुसलमानी राज्य से उत्पन्न हिंदुओं की निराशा का परिणाम बताना इतिहास को अपने अनुकूल बनाना है। पं० रामचंद्र शुक्ल के मत का कटुतापूर्वक विरोध करते हुए लेखक ने यह प्रतिपादित किया है कि भक्तिकाव्य मुसलमानी आक्रमण और राज्यस्थापना का परिणाम नहीं है बल्कि वह भारतीय भक्तिभावना का स्वाभाविक विकास है। किंतु सत्येंद्रजी की यह निजी देन नहीं। उन्होंने जिन बातों का उल्लेख मात्र किया है उनकी विस्तृत विवेचना डा० बड़थ्वाल पहले कर चुके थे। जहाँतक तथ्यों की बात है रामचंद्र शुक्ल ने भी भक्ति की परंपरा और दक्षिण में उसके प्रारंभ और विकास का उल्लेख किया है और उसे उन्होंने बिलकुल महत्व न दिया हो, ऐसी बात नहीं। यद्यपि

[1] साहित्य चर्चा, पृ० ६६।
[2] वही—पृ० १००।

सत्येंद्रजी ने इन निबंधों में महत्वपूर्ण प्रश्न उठाए हैं किंतु वे उसका विवेचन उतने ही महत्वपूर्ण ढंग से नहीं कर सके हैं। इसलिये इसमें से प्रायः सभी निबंध या तो सामान्य परिचयात्मक हो गए हैं, या अधूरे रह गए हैं। संक्षिप्त निबंधों में संपूर्ण इतिहास को समेटने का प्रयास करने के कारण निष्कर्षों का अपुष्ट रह जाना स्वाभाविक है।

रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' ने 'सुकवि समीक्षा' में हिंदी के ग्यारह कवियों की समीक्षा प्रस्तुत की है। प्राचीन कवियों में कबीर, सूर, जायसी, तुलसी, मीराबाई, केशवदास, बिहारी और भूषण को लिया गया है। आधुनिक काल के केवल तीन कवियों—भारतेंदु, मैथिलीशरण गुप्त और प्रसाद को ही लेखक ने लिया है। छात्रों को ध्यान में रखकर यह पुस्तक लिखी गई है; इसलिये प्रारंभ में प्रत्येक कवि का संक्षिप्त जीवन वृत्त देकर उसकी प्रमुख विशेषताओं की सोदाहरण व्याख्या कर दी गई है। इसमें प्रसाद की नाट्यकला जैसी न तो विवेचन की गंभीरता और विचारों की मौलिकता है और न तथ्यों और निष्कर्षों में ही लेखक ने कोई नई बात कही है। अतः छात्रों को हिंदी के कवियों के जीवन, साहित्य और उनकी विशेषताओं का ज्ञान कराने तक ही इसका महत्व सीमित है।

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन द्वारा संपादित 'आधुनिक हिंदी साहित्य' में हिंदी के विभिन्न आलोचकों के निबंधों का संग्रह है। यह पुस्तक 'मेरठ साहित्य परिषद्' की ओर से 'अभिनव भारती ग्रंथमाला' के अंतर्गत प्रकाशित हुई। इस पुस्तक का उद्देश्य आधुनिक साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों, उसकी उपलब्धियों और सीमाओं का मूल्यांकन प्रस्तुत करना है। सभी निबंध अपने विषय के मान्य आलोचकों या रचनाकारों द्वारा लिखे गए हैं और उन्हें इस क्रम से रखा गया है कि स्वतंत्र निबंध होते हुए भी उनमें तारतम्यपूर्ण व्यवस्था दिखलाई पड़ती है। प्रारंभ के ६ निबंध आलोचना के सिद्धांतों और साहित्य विधाओं के स्वरूप परिभाषा आदि सिद्धांतों को लेकर लिखे गए हैं। शेष पाँच निबंधों में कहानी, उपन्यास, नाटक, काव्य की आधुनिक प्रवृत्तियों पर विचार किया गया है। इन निबंधों में वात्स्यायन, हजारीप्रसाद द्विवेदी, नगेंद्र और शिवदान सिंह चौहान के निबंधों का ही समीक्षात्मक मूल्य है। अन्य निबंधों में से कुछ तो सामान्य कोटि के परिचयात्मक निबंधों की श्रेणी में आते हैं और कुछ रचनाकार की व्यक्तिगत भावनाओं तक सीमित हैं। इस संग्रह के कुछ निबंध जैसे 'परिस्थिति और साहित्यकार' तथा 'छायावादी कविता में असंतोष-भावना' निबंधलेखकों की पुस्तकों में आ चुके हैं और उनपर पिछले अध्याय में और इस अध्याय के प्रारंभ में विचार किया जा चुका है।

———

पाँचवाँ अध्याय

इतिहास और शोधग्रंथ

यद्यपि साहित्य के इतिहास और शोधसंबंधी ग्रंथ या निबंध शुद्ध साहित्यिक आलोचना के अंतर्गत नहीं आते पर आलोचना के इतिहास अथवा विकास के संबंध में विचार करते समय उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि इतिहास और शोध द्वारा ही आलोचना की सामग्री उपलब्ध होती है और साहित्य की विविध प्रवृत्तियों की उत्पत्ति, विकास तथा उनपर पड़े प्रभावों का पता चलता है। आलोचक अपने दृष्टिकोण का निर्माण उसी सामग्री के आधार पर करता है और उसी के सहारे सिद्धांतों की स्थापना तथा साहित्यिक कृतियों और कृतिकारों की समीक्षा भी करता है। इसी कारण इस अध्याय में सन् १९२० से १९४० तक के बीच लिखे गए हिंदी साहित्य के इतिहासग्रंथों और हिंदी साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों या धाराओं के मूल स्रोतों तथा उनपर पड़े प्रभावों से संबंधित शोध-ग्रंथों के संबंध में विचार किया जायगा। यह विवेचन दो भागों में विभक्त होगा—(क) इतिहासग्रंथ और (ख) शोधग्रंथ।

(क) हिंदी साहित्य के इतिहास से संबंधित ग्रंथ

यों तो हिंदी साहित्य के इतिहास के नाम पर सन् १९२० के पूर्व गार्सें द तासी लिखित 'इस्त्वार द ला लितेरात्यूर ऐन्दुई एँ ऐन्दुस्तानी' (सन् १८३९,१८४६), शिवसिंह सेंगर लिखित 'शिवसिंह सरोज' (सन् १८८३), जार्ज ए ग्रियर्सन लिखित 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आव हिंदोस्तान (सन् १८८९), मिश्रबंधुओं द्वारा लिखित 'मिश्रबंधु विनोद' (सन् १९१३) आदि कई ग्रंथ प्रकाशित हो चुके थे पर उनमें हिंदी के कवियों और लेखकों के नाम और इतिवृत्त के संग्रह के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। वस्तुतः उनमें हिंदी साहित्य के इतिहास की सामग्री तो थी, पर वे स्वयं वास्तविक अर्थ में साहित्य के इतिहासग्रंथ नहीं थे। इनमें से मिश्रबंधु-विनोद में करीब ५ हजार कवियों का परिचय या उल्लेख है। यों तो उसमें हिंदी साहित्य के इतिहास का कालविभाजन और कवियों का श्रेणीविभाजन भी किया गया है पर रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में वस्तुतः इसे भी एक 'बड़ा भारी कविवृत्त-संग्रह' ही कहा जा सकता है, वास्तविक इतिहासग्रंथ नहीं। इस दृष्टि से हिंदी साहित्य का प्रथम विवेचनात्मक और वैज्ञानिक इतिहास पं० रामचंद्र शुक्ल का

'हिंदी साहित्य का इतिहास' है जो पहले 'बृहत् हिंदी शब्दसागर' के आठवें भाग में भूमिका के रूप में लिखा गया था और बाद में परिवर्धित रूप में सन् १९२९ में ग्रंथ रूप में प्रकाशित हुआ। सन् १९३० में बाबू श्यामसुंदरदास का 'हिंदी भाषा और साहित्य' प्रकाशित हुआ जो कई दृष्टियों से शुक्लजी के इतिहास से भिन्न अपनी निजी विशेषताएँ रखता है। सूर्यकांत शास्त्री का 'हिंदी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' सन् १९३१ में प्रकाशित हुआ जो 'के' और मिश्रबंधुओं के इतिहासग्रंथों को आधार बनाकर तथा उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर लिखा गया था। सन् १९३१ में रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' का 'हिंदी साहित्य का इतिहास' प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ की सबसे बड़ी विशेषता यह बतलाई गई कि यह तबतक प्रकाशित इतिहासग्रंथों में आकार में सबसे बड़ा था और उसमें हिंदी साहित्य से संबंधित सभी ज्ञातव्य बातें एकत्र कर दी गई थीं। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने पटना विश्वविद्यालय में बाबू रामदीनसिंह रीडरशिप व्याख्यानमाला के अंतर्गत हिंदी साहित्य के संबंध में कुछ लिखित व्याख्यान दिए थे जो पुस्तक भंडार, लहेरिया सराय, द्वारा 'हिंदी भाषा और साहित्य का विकास' (द्वितीय संस्करण सन् १९००) नाम से प्रकाशित हुए थे। सन् १९४० में हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'हिंदी साहित्य की भूमिका' नामक ग्रंथ की रचना की जिसको इतिहासग्रंथ तो नहीं कहा जा सकता पर ऐतिहासिक दृष्टि से हिंदी साहित्य की विविध धाराओं के मूल स्रोतों और प्रभावों की विवेचना करनेवाले ग्रंथ के रूप में उसका महत्व बहुत अधिक है। इस काल में कई छात्रोपयोगी इतिहासग्रंथ भी लिखे गए, जैसे रामनरेश त्रिपाठी का हिंदी का संक्षिप्त इतिहास (सन् १९२३), रमाशंकर श्रीवास्तव का हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास (सन् १९३०), मुंशीराम शर्मा का हिंदी साहित्य के इतिहास का उपोद्घात (सन् १९३१), नंददुलारे वाजपेयी का हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास (सन् १९३१), गणेशप्रसाद द्विवेदी का हिंदी साहित्य (सन् १९३१), रमाशंकर शुक्ल कृत साहित्यप्रकाश और साहित्यपरिचय (सन् १९३१), ब्रजरत्नदास का हिंदी साहित्य का इतिहास (सन् १९३२), गुलाबराय का हिंदी साहित्य का सुबोध इतिहास (सन् १९३७), डा० सूर्यकांत कृत हिंदी साहित्य की रूपरेखा (१९३८) आदि। ये सभी ग्रंथ परिचयात्मक हैं, न तो इनमें दृष्टिकोण की मौलिकता है, न प्रवृत्तियों की गंभीर विवेचना। इस कारण वे यहाँ विचारणीय नहीं हैं।

उपर्युक्त इतिहासग्रंथों की रचना हिंदी साहित्य की समस्त प्रवृत्तियों को ध्यान में रखकर की गई थी। पर इस काल में कुछ ऐसे इतिहासग्रंथ भी लिखे गए जिनमें किसी विशेष काल या साहित्य की किसी विशेष प्रवृत्ति या विधा के

विकास का इतिहास दिया गया है। डा० रामकुमार वर्मा के 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (सन् १९३८) में केवल भक्तिकाल तक के साहित्य का ऐतिहासिक विवेचन किया गया है। कृष्णशंकर शुक्ल का 'आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास' (सन् १९३४) भी उसी ढंग का, केवल आधुनिक युग के हिंदी साहित्य का इतिहास है। लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का 'आधुनिक हिंदी साहित्य' (सन् १९४०) केवल भारतेंदु युग के साहित्य का इतिहास है। इस काल में हिंदी नाटक और उपन्यास के विकास के इतिहास से संबंधित कई ग्रंथ लिखे गए, जैसे-विश्वनाथप्रसाद मिश्र का हिंदी नाट्यसाहित्य का विकास (सन् १९२९), ब्रजरत्नदास का हिंदी नाट्यसाहित्य (सन् १९३८), गुलाबराय का हिंदी नाट्यविमर्श (सन् १९४०), दिनेशनारायण उपध्याय कृत 'हमारी नाट्यपरंपरा (सन् १९४०), ताराशंकर पाठक का हिंदी के सामाजिक उपन्यास (सन् १९३९) और शिवनारायण लाल का हिंदी उपन्यास (सन् १९४०)। हिंदी में गद्य साहित्य तथा उसकी विविध विधाओं और शैलियों के विकास से संबंधित ऐसे कई ग्रंथ लिखे गए जिन्हें इतिहास और व्यावहारिक समीक्षा दोनों माना जा सकता है। गणेशप्रसाद द्विवेदी कृत हिंदी साहित्य का गद्यकाल (सन् १९३४), रमाकांत त्रिपाठी कृत हिंदी गद्य मीमांसा (सन् १९२९), जगन्नाथ शर्मा का हिंदी गद्यशैली का विकास (सन् १९३०) और प्रेमनारायण टंडन कृत हमारे गद्यनिर्माता (सन् १९४०) ऐसे ही इतिहासपरक समीक्षाग्रंथ हैं। उपर्युक्त सभी इतिहासग्रंथों और इतिहासपरक समीक्षाग्रंथो में से जो महत्वपूर्ण हैं उन्हीं के संबंध में यहाँ विचार किया जायगा।

१—रामचंद्र शुक्ल का इतिहास

आचार्य रामचंद्र शुक्ल का 'हिंदी साहित्य का इतिहास' वैज्ञानिक और आलोचनात्मक पद्धति से लिखे गए इतिहासग्रंथों में सबसे पहले लिखा जानेवाला ग्रंथ ही नहीं है, उत्कृष्टता की दृष्टि से भी उसका स्थान सर्वोपरि है। इसकी रचना शुक्लजी ने एक विशेष दृष्टिकोण से की है जिसे उन्होंने ग्रंथ की भूमिका में स्पष्ट कर दिया है। वे केवल कविवृत्त संग्रह और समस्त रचनाकाल को आदि, मध्य, पूर्व, उत्तर आदि खंडों में आँख मूँदकर विभक्त कर देने मात्र को ही साहित्य का इतिहास नहीं मानते। उनका कथन है कि 'शिक्षित जनता की जिन जिन प्रवृत्तियों के अनुसार हमारे साहित्य के स्वरूप में जो जो परिवर्तन होते आए हैं, जिन जिन प्रभावों की प्रेरणा से काव्यधारा की भिन्न भिन्न शाखाएँ फूटती रहीं हैं, उन सबके सम्यक् निरूपण तथा उनकी दृष्टि से किए हुए सुसंगत कालविभाग के बिना साहित्य के इतिहास का सच्चा अध्ययन कठिन दिखाई पड़ता था।' इस कथन से स्पष्ट है कि शुक्लजी की इतिहाससंबंधी धारणा

वैज्ञानिक थी, वे संस्कृति और साहित्य को मानवसमाज के आंतरिक और बाह्य प्रयत्नों के मेल में रखकर देखने के पक्षपाती थे इसी कारण इतिहास में ही नहीं; समीक्षा में भी उनकी दृष्टि बहुत कुछ समाजशास्त्रीय थी। अतः उन्होंने अपने इतिहास में इसी दृष्टि से प्रवृत्तियों के अनुसार कालविभाजन किया है और प्रत्येक काल की प्रमुख अथवा सामान्य प्रवृत्ति के नाम पर उस काल का नामकरण किया है। शुक्लजी साहित्य को व्यक्ति की रचना उतना नहीं मानते थे जितना समाज की, क्योंकि व्यक्ति अंततोगत्वा समाज की ही देन है। इसी से वे साहित्य के इतिहास की परिभाषा बताते हुए कहते हैं 'जब कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है। अतः कारण स्वरूप इन परिस्थितियों का किंचित् दिग्दर्शन भी साथ साथ आवश्यक होता है।'[1] इस परिभाषा द्वारा शुक्लजी ने अपने इतिहास की पद्धति स्पष्ट कर दी है। लोक चित्त की प्रवृत्तियाँ हिंदी साहित्य में किस रूप में अभिव्यक्त हुई हैं यह दिखाने के लिये उन्होंने इतिहास के प्रत्येक काल के प्रारंभ में देश की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और सांप्रदायिक परिस्थितियों का सामान्य परिचय देकर उसके आधार पर उस काल की प्रमुख प्रवृत्ति और उसके मूल स्रोतों का पता लगाया है और फिर तत्कालीन काव्यप्रवृत्तियों का उन सामाजिक प्रवृत्तियों के साथ सामंजस्य दिखाते हुए इतिहास लिखने में प्रवृत्त हुए हैं। किंतु सामाजिक परिस्थितियों को वे साहित्य की प्रेरक शक्ति या पृष्ठभूमि के रूप में ही ग्रहण करते हैं, प्रमुखता साहित्य को ही देते हैं। इस कारण इनके इतिहास में राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों तथा उनके प्रभावों का वर्णन गौण रूप में तथा प्रसंगानुरूप ही हुआ है। अतः उनकी पद्धति तो ऐतिहासिक या समाजशास्त्रीय है पर इतिहास 'साहित्य का इतिहास' ही है, ललित कला, धर्म, दर्शन या समाज का इतिहास नहीं बन गया है। परवर्ती अनेक लेखकों ने हिंदी साहित्य के इतिहास या उसकी भूमिका के नाम पर ललित कला, धर्म या दर्शन के विकास का इतिहास लिख डाला है, साहित्य को उन्होंने अपने ग्रंथों में गौण स्थान दे दिया है। इस दृष्टि से शुक्लजी का इतिहास समाजशास्त्रीय पद्धति पर लिखा गया सर्वश्रेष्ठ 'साहित्यिक इतिहास' है।

१ हिंदी साहित्य का इतिहास, कालविभाग, पृष्ठ १।

शुक्लजी का इतिहास कोरा इतिहास ही नहीं है उसमें साहित्यिक समीक्षा के तत्व भी पर्याप्त मात्रा में वर्तमान हैं। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि क्या इतिहासकार को अपने इतिहास में आलोचना भी लिखनी चाहिए और यदि इतिहास में आलोचना हो ही तो उसका अनुपात क्या होना चाहिए? इस संबंध में एक मत तो यह है कि इतिहास और आलोचना दो भिन्न वस्तुएँ हैं; दोनों के मिश्रण से न तो ठीकठिकाने का इतिहास ही हो पाता है न आलोचना ही; अतः इतिहास में आलोचना न होकर रचनाओं, रचनाकारों और साहित्यिक धाराओं, प्रवृत्तियों से संबंधित शोध, विवरण आदि ही होना चाहिए, अर्थात् उसमें ऐतिहासिक तथ्य होना चाहिए, इतिहासकार के मतों या विचारों का आरोप उसपर नहीं होना चाहिए। इस दृष्टि से देखने पर शुक्लजी का इतिहास अवश्य दोषपूर्ण माना जायगा क्योंकि इतिहास लिखते समय उनका आलोचक सदा सचेत रहा है, किसी भी काव्यप्रवृत्ति या कवि की अच्छाई बुराई पर अपना मत प्रकट किए बिना वे आगे नहीं बढ़ते, और उनके वे मत पूर्वनिश्चित मान्यताओं पर ही आधारित हैं। इस तरह इतिहासकार को वैज्ञानिक की तरह जैसा निष्पक्ष होना चाहिए, अपने इतिहास में शुक्लजी वैसे नहीं रह सके हैं। पर इस संबंध में एक दूसरा मत यह है कि बिना आलोचना के इतिहास हो ही नहीं सकता चाहे वह समाज या देश का इतिहास हो या साहित्य का। इतिहासकार का एक अपना दृष्टिकोण होता है और वह चाहे कितना भी निष्पक्ष क्यों न हो, उसके इतिहास में वह दृष्टिकोण व्यक्त होता ही है। यदि ऐसा नहीं होगा तो इतिहास निर्जीव इतिवृत्त मात्र रह जायगा। शुक्लजी का यही पक्ष था। चाहे इतिहास हो या आलोचना, उनका दृष्टिकोण सर्वत्र परिलक्षित होता है।

जैसा पहले बताया जा चुका है उनका दृष्टिकोण समाजशास्त्रीय है जिसके आधार पर सामाजिक उपयोगिता या लोकहित को वे साहित्य का प्रमुख प्रतिमान मानते हैं। इसी प्रतिमान से उन्होंने अपनी समीक्षाओं में तुलसी, सूर, जायसी आदि का मूल्यांकन किया है और इतिहास में भी कवियों तथा काव्यप्रवृत्तियों के मूल्यांकन में उसी प्रतिमान का प्रयोग किया है। किंतु मूल्यांकन या आलोचना की प्रवृत्ति उनके इतिहास में इस सीमा तक नहीं पहुँची है कि इतिहास इतिहास न रहकर आलोचनाग्रंथ बन जाय। यह बात तो सही है कि उनके इतिहास में आलोचना का अंश अधिक है पर वह इतिहास की सीमा का अतिक्रमण कहीं कहीं ही करता है। उदाहरण के लिये आधुनिक काल में गद्य साहित्य के अंतर्गत तृतीय उत्थान की आलोचना का इतिहास लिखते समय उन्होंने दो पृष्ठों में तो इतिहास लिखा है और करीब बारह पृष्ठों में अभिव्यंजनावाद, प्रभाववाद, कलावाद आदि पाश्चात्य समीक्षासिद्धांतों की समीक्षा की

है।[1] इसी तरह छायावादी कविता का इतिहास लिखते समय भी ५–६ पृष्ठों तक रहस्यवाद, प्रतीकवाद, अभिव्यंजनावाद आदि की आलोचना करते चले गए हैं।[2] फिर भी कुल मिलाकर उनके इतिहास में आलोचना और इतिहास का अनुपात बिगड़ा नहीं है अर्थात् उसमें ऐतिहासिकता की ही प्रमुखता है, आलोचना की नहीं। उन्होंने स्वयं कहा है कि 'कवियों की साहित्यिक विशेषताओं के संबंध में मैंने जो संक्षिप्त विचार प्रकट किए हैं वे दिग्दर्शन मात्र के लिये। इतिहास की पुस्तक में किसी कवि की पूरी क्या अधूरी आलोचना भी नहीं आ सकती। किसी कवि की आलोचना लिखनी होगी तो स्वतंत्र प्रबंध या पुस्तक के रूप में लिखूँगा। बहुत प्रसिद्ध कवियों के संबंध में ही थोड़ा विस्तार के साथ लिखना पड़ा है। पर वहाँ भी विशेष प्रवृत्तियों का ही निर्धारण किया गया है। यह अवश्य है कि उनमें से कुछ प्रवृत्तियों को मैंने रसोपयोगी और कुछ को बाधक कहा है।'[3] इस तरह यह मानते हुए भी कि इतिहास में आलोचना का अंश अधिक नहीं होना चाहिए, उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि उनके इतिहास में कहीं कहीं आलोचनात्मक अंश अधिक हो गए हैं। पर इसे उन्होंने आवश्यक माना है।

शुक्लजी का इतिहास शोधग्रंथ नहीं है, इतिहास है। शोधग्रंथ में तथ्यों का पता लगाना तथा निष्कर्षों को प्रमाणित करना आवश्यक होता है पर इतिहासकार उपलब्ध सामग्री पर ही संतोष करता है, नवीन तथ्यों की खोज करने नहीं जाता। इसके अतिरिक्त शोधकर्ता के लिये एक छोटे से छोटा तथ्य भी नवीनता के कारण बहुत महत्व का होता है पर इतिहासकार के लिये उस तथ्य का महत्व अन्य बातों पर निर्भर करता है। साहित्य के इतिहास में किसी अप्रसिद्ध या सामान्य कवि तथा उसके ग्रंथों का उतना महत्व नहीं है, पर शोध की दृष्टि से उनका पता लगना ही एक महत्व की बात है। अतः शुक्लजी ने बहुत अधिक कवियों का इतिवृत्तसंग्रह नहीं किया है, बहुत से अप्रसिद्ध कवियों को उन्होंने या तो छोड़ दिया है या उनका सामान्य परिचय देकर आगे बढ़ गए हैं। पर साथ ही जो कवि उन्हें उत्कृष्ट कोटि के प्रतीत हुए हैं, उन्होंने उनकी अप्रसिद्धि की चिंता न कर उनकी विशेषताओं का उद्घाटन बहुत उत्साह से किया है। इस तरह जायसी और घनानंद की महत्ता प्रतिपादित करनेवाले

[1] हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५६२ से ५७६ तक।
[2] वही—पृष्ठ ६५० से ६५६ तक।
[3] वही—वक्तव्य, पृष्ठ ६।

प्रथम व्यक्ति शुक्ल जी ही हैं। अपनी आलोचनात्मक प्रतिभा के कारण ही उन्होंने अनेक प्रसिद्ध कवियों की ऐसी विशेषताओं का उद्घाटन किया है जिनकी ओर उनके पहले अन्य किसी आलोचक या इतिहासकार का कभी ध्यान ही नहीं गया था। उसी तरह उन्होंने कई प्रसिद्ध कवियों में ऐसे दोष दिखाए जिनके कारण बाद में उन कवियों का महत्व कम हो गया। केशवदास को महत्ता शुक्लजी के इतिहास के पूर्व असंदिग्ध मानी जाती थी पर शुक्लजी की कटु आलोचना के कारण ही बाद में केशव सामान्य कोटि के कवि माने जाने लगे, आचार्य के रूप में उनका महत्व कितना भी क्यों न हो। इतिहास में उनकी आलोचना प्रायः निर्णयात्मक पद्धति पर चली है। प्रायः सभी महत्वपूर्ण कवियों और लेखकों के गुण दोषों का तर्कपूर्ण ढंग से विवेचन करने के बाद उन्होंने उनके संबंध मे अपना मत दिया है अथवा साहित्य में उनका स्थान-निर्धारण किया है। कोई निष्पक्ष इतिहासकार शायद ऐसा न करता पर शुक्लजी का लक्ष्य केवल तथ्यनिरूपण नहीं था, अपने इतिहास द्वारा वे हिंदी साहित्य के पाठकों की रुचि का नियंत्रण भी करना चाहते थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि उन्हें अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त हुई। आज हिंदी साहित्य का सामान्य अध्येता या विद्यार्थी उनके इतिहास के निर्णयों को ही इदमित्थम् मानता है।

इतिहास के कालविभाजन में शुक्लजी ने जो पद्धति अपनाई और उन कालो को जो नाम दिए वे भी बाद में प्रायः सभी लोगों द्वारा स्वीकृत कर लिए गए। मिश्रबंधुओं ने अपने विनोद' में हिंदी साहित्य के इतिहास को चार कालों आदिकाल, पूर्वमध्य काल, उत्तरमध्य काल और आधुनिक काल में विभक्त अवश्य किया था पर उसका कोई तर्कसंगत कारण नहीं बताया था। शुक्लजी ने पहले विभिन्न कालों की प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया और फिर प्रत्येक काल की प्रमुख प्रवृत्ति के नाम पर उस काल का नामकरण किया। इस तरह उन्होंने हम्मीर के शासनकाल तक के युग को आदि काल माना। उस काल की प्रमुख प्रवृत्ति उन्हें वीरगाथा काव्य की दिखाई पड़ी, अतः उस काल को उन्होंने वीरगाथा काल भी कहा। इसी तरह उन्होंने पूर्वमध्य काल का भक्तिकाल, उत्तरमध्य काल का रीतिकाल और आधुनिक काल का गद्य काल नाम दिया। इनमें से कुछ नामों के संबंध में बाद के विद्वानों ने संदेह प्रकट किया। उदाहरण के लिये हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने 'हिंदी साहित्य का आदि काल' नामक ग्रंथ में आदि काल के वीरगाथा काल नाम को इस आधार पर अस्वीकृत किया कि उस काल में वीरगाथा संबंधी काव्य की प्रमुखता नहीं थी और जिन काव्यों के आधार पर शुक्लजी ने यह नाम रखा था उनमें से कुछ अप्राप्त हैं, कुछ बाद की रचनाएँ हैं और कुछ विकसनशील काव्य हैं और जो बच जाते हैं वे वस्तुतः वीर काव्य

है ही नहीं। द्विवेदीजी के इस मत का प्रभाव अधिक नहीं पड़ा और आज भी शुक्लजी द्वारा दिया गया नाम ही अधिक प्रचलित है। इसी तरह विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने बिहारी और वाङ्मय विमर्श नामक ग्रंथों में रीति काल को शृंगार काल नाम से अभिहित किया पर उनका नामकरण भी हिंदी साहित्य के सामान्य अध्येताओं द्वारा स्वीकृत नहीं हुआ। इससे यह पता चलता है कि शुक्लजी ने जो नाम रखे उनके पीछे तर्क की ही नहीं, तथ्य की प्रामाणिकता की शक्ति भी थी। आदि काल के संबंध में उनका नामकरण अवश्य भ्रामक कहा जा सकता है क्योंकि नवीन खोजों से उनका मत पुष्ट नहीं होता, खंडित ही होता है। उपर्युक्त समस्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रामचंद्र शुक्ल का इतिहास भले ही आलोचनात्मक अधिक हो गया है पर विचारों की गंभीरता, प्रतिपादनपद्धति की समीचीनता और मूल्यांकनसंबंधी तर्कों और प्रमाणों की अकाट्यता के कारण वह आज भी हिंदी का सर्वश्रेष्ठ इतिहासग्रंथ है।

२—श्यामसुंदर दास का 'हिंदी भाषा और साहित्य'

श्यामसुंदर दास के इस बृहदाकार ग्रंथ में प्रारंभ के १६४ पृष्ठों में तो हिंदी भाषा का इतिहास दिया गया है जो वस्तुतः भाषा विज्ञान के अंतर्गत आता है, साहित्य के इतिहास के अंतर्गत नहीं। यह अंश लेखक की अन्य पुस्तक 'भाषा विज्ञान' में भी अंतिम अध्याय के रूप में है। इस इतिहास का उद्देश्य लेखक के शब्दों में ही 'कवियों की कृतियों का अलग अलग विवेचन करना नहीं है' बल्कि यह दिखाना है कि 'साहित्य की प्रगति किस समय में किस ढंग की थी।' इस कारण यह इतिहास शुक्लजी तथा अन्य लेखकों के इतिहासग्रंथों से भिन्न ढंग का है। यह दस अध्यायों में विभक्त है जिनमें से प्रारंभ के दो अध्यायों में भूमिका के रूप में हिंदी भाषा की विशेषताओं तथा हिंदी साहित्य के इतिहास के भिन्न भिन्न कालों की राजनीतिक,धार्मिक,सामाजिक परिस्थितियों का विश्लेषण किया गया है और तीसरे अध्याय में भारतीय ललित कलाओं के विकास का इतिहास दिया गया है। इन तीन अध्यायों में संगृहीत सामग्री की साहित्य के इतिहास की दृष्टि से उपयोगिता तो है पर इतिहास के भीतर उनका इतने विस्तार से विवेचन उचित नहीं प्रतीत होता। इस सामग्री का भूमिका में संक्षेप रूप में ही उपयोग करना अनुपात की दृष्टि से उचित होता क्योंकि साहित्य के इतिहास में पाठक समाज, धर्म या ललित कलाओं का इतिहास पढ़ने नहीं आता है। बाद के अध्यायों में विभिन्न कालों के सामाजिक परिस्थितियों का पुनः विवेचन किया गया है और उन उन कालों की साहित्यिक प्रवृत्तियों का उन परिस्थितियों से सामंजस्य दिखाया गया है। यह पद्धति मूलतः रामचंद्र शुक्ल की ही है पर शुक्लजी ने सामंजस्य स्थापित करने में जिस सूक्ष्म दृष्टि और गहरी पैठ का परिचय दिया है वह श्याम-

सुंदर दास के इतिहास में नहीं है। इसका कारण यह है कि श्यामसुंदर दास ने अपनी 'सम्मिश्रणात्मक समन्वय' की पद्धति के अनुसार दूसरों की बातों का ही संकलन किया है, मौलिक उद्भावना और स्थापना की प्रवृत्ति उनमें नहीं दिखाई पड़ती। संकलित सामग्री को नए और व्यवस्थित ढंग से उपस्थित करने की क्षमता उनमें अवश्य बहुत अधिक है। इस इतिहास में भी वह क्षमता पर्याप्त मात्रा में दिखाई पड़ती है। विभिन्न कालों की साहित्यिक प्रवृत्तियों का विस्तृत विवेचन ही इस इतिहास का उद्देश्य है और यही इसकी विशेषता भी है। जो पाठक केवल प्रवृत्तियों का अध्ययन करना चाहता है, उसके लिये तो यह ग्रंथ उपयोगी है पर जो विभिन्न धाराओं के कवियों के संबंध में कुछ जानना चाहेगा उसे इस ग्रंथ से निराश होकर अन्य किसी इतिहास की शरण लेनी पड़ेगी। यद्यपि प्रमुख कवियों की जीवनी और समीक्षा इसमें है पर वह भी बहुत अपर्याप्त और परिचयात्मक ही है। अतः श्यामसुंदर दास का यह इतिहास हिंदी साहित्य के इतिहास संबंधी आवश्यकता की पूर्ति नहीं करता। इसी कारण शुक्लजी के इतिहास की लोकप्रियता के सामने यह टिक नहीं सका।

३—हरिऔध का 'हिंदी भाषा और साहित्य का विकास'

हरिऔधजी का इतिहास श्यामसुंदर दास के इतिहास से इस अर्थ में मिलता है कि इसमें भी हिंदी भाषा और साहित्य दोनों का इतिहास एक साथ दिया गया है। पर इससे आगे उन दोनों में कोई समानता नहीं है। यही नहीं, हरिऔधजी का इतिहास शुक्लजी के इतिहास से भी कई बातों में भिन्न है। उसमें राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों का बहुत कम विवेचन किया गया है और कालविभाजन तथा कवियों का विवरण ग्रियर्सन और मिश्रबंधुओं के इतिहास के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। हरिऔधजी ने हिंदी साहित्य के चार काल ये माने हैं—आरंभिक काल (८०० ई० से १३०० ई०), माध्यमिक काल (१३०० ई० से १६०० ई०), उत्तरकाल (१६०० ई० से १९०० ई०) और वर्तमान काल (१९०० ई० से)। उन्होंने इन कालों का नामकरण नहीं किया है क्योंकि उन्होंने यह माना है कि साहित्य की वे ही प्रवृत्तियाँ प्रायः सभी कालों में मिलती हैं, उनमें कभी एक प्रबल होती है और कभी दूसरी। फिर भी आरंभिक काल को उन्होंने ग्रियर्सन का अनुसरण करके वीरगाथा काल कहा है। उन्होंने ग्रियर्सन और शुक्लजी का अनुसरण करते हुए खुमान रासो, बीसलदेव रासो आदि के आधार पर उस काल में वीरगाथा की प्रमुखता मान ली है और उस काल के माने जानेवाले अन्य कवियों के संबंध में लिखा है कि इनमें से कुछ तो ऐसे हैं जिनके किसी ग्रंथ का नाम तक नहीं बतलाया गया, कुछ ऐसे हैं जिनके ग्रंथों का नाम तो लिखा गया पर वे अप्राप्य हैं।' पर ठीक यही

बात उस काल की वीरगाथात्मक रचनाओं के बारे में भी कही जा सकती है जिनमें से कुछ—जैसे खुमान रासो—तो बहुत बाद की लिखी है। उनका यह कालविभाजन भी मनमाना ही है, प्रवृत्तियों की प्रमुखता के आधार पर नहीं है। इसी लिये वर्तमान काल को उन्होंने १६०० ई० के बाद माना है और भारतेंदु युग को उत्तर काल के अंतर्गत रख दिया है। यद्यपि इस इतिहास में कवियों की संख्या अधिक है और उनकी रचनाओं के उदाहरण तो और भी अधिक हैं पर काव्यप्रवृत्तियों तथा उनके मूल स्रोतों और प्रभावों की विवेचना इसमें बिलकुल नहीं की गई है। इस कारण यह भी मिश्रबंधु विनोद की तरह कविवृत्त संग्रह मात्र ही हो गया है। कुछ प्रसिद्ध कवियों की समीक्षा भी की गई है पर वह प्रवृत्ति-विवेचन-मूलक न होकर भावात्मक ढंग की ही है। आधुनिक काल की कुछ प्रवृत्तियों—छायावाद, रहस्यवाद, उपन्यास, नाटक आदि के संबंध में अवश्य कुछ विवेचनात्मक ढंग से विचार किया गया है।

४—अन्य इतिहासग्रंथ

उपर्युक्त तीन इतिहासग्रंथों के अतिरिक्त आलोच्य काल में तीन इतिहास और प्रकाशित हुए—सूर्यकांत शास्त्री का 'हिंदी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' रामशंकर शुक्ल 'रसाल' का 'हिंदी साहित्य का इतिहास' और रामकुमार वर्मा का 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'। इनमें से सूर्यकांत शास्त्री के इतिहास में 'के' आधार पर कालविभाजन इस प्रकार किया गया है—प्राचीन चारणों का इतिहास (११५० से १४०० ई०), प्राचीन भक्त कवि – रामानंद आदि (१,४०० से १५५० ई०), हिंदी साहित्य पर लालित्य और लावण्य की छाप (१५५० से १८०० ई०), आधुनिक युग (१८०० ई० से)। इस विभाजन से स्पष्ट है कि लेखक के सामने न तो हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियों की स्पष्ट रूपरेखा ही है और न उनके आधार पर उसने इतिहास के कालों का विभाजन करना आवश्यक ही समझा है। लेखक का ऐतिहासिक दृष्टिकोण भी बहुत दोषपूर्ण और कहीं कहीं घोर सांप्रदायिक प्रतीत होता है। इतिहास के नाम पर यह ग्रंथ लेखक के उलझे हुए विचारों और उधार ली हुई सामग्री का बेढंगा संग्रहमात्र है। विवेचना के नाम पर लेखक ने पाश्चात्य लेखकों से हिंदी कवियों की तुलना ही नहीं की है, अँगरेजी कवियों और लेखकों की कविताओं और विचारों का इतना अधिक उद्धरण दिया है कि पूरा ग्रंथ असंतुलित और अनिवतिरहित हो गया है। निष्कर्ष यह कि इतिहास के रूप में इस ग्रंथ का कोई महत्व नहीं है।

'रसाल' जी का इतिहास आकार में पूर्ववर्ती सभी इतिहासग्रंथों से बड़ा है। इस आकारवृद्धि का कारण यह है कि हिंदी साहित्य का जिन जिन विषयों से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संबंध है उन सबका इसमें बड़े विस्तार से विवरण

उपस्थित किया गया है। उदाहरण के लिये भक्तिमार्ग से संबंधित सभी संप्रदायों और उनके सिद्धांतों का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसी तरह प्रेमाश्रयी निर्गुणधारा के काव्य के विवेचन में 'प्रेम' के संबंध में एक स्वतंत्र निबंध ही लिख दिया गया है। रसालजी की वृत्ति विषयों के विभाजन और वर्गीकरण की ओर इतनी अधिक है कि वे इतिहासकार की जगह आलंकारिक प्रतीत होने लगते हैं। जहाँ वे साहित्य के विषयों या प्रवृत्तियों का विश्लेषण विभाजन करने लगते हैं वहाँ इतिहास उनसे दूर भाग जाता है पर जब इतिहास की ओर लौटते हैं तो कविवृत्त संग्रह के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लगता। उनके इस इतिहास से सिद्ध हो जाता है कि न तो वे अच्छे इतिहासकार ही हैं न अच्छे आलोचक ही और उनका यह ग्रंथ न तो इतिहास है न आलोचना, बल्कि हिंदी साहित्य का एक छोटा सा कोशग्रंथ है, जिसमें सूचनाएँ तो सब तरह की हैं पर लेखक का समन्वित दृष्टिकोण और उभरा हुआ व्यक्तित्व कहीं नहीं दिखाई पड़ता। कालविभाजन में उन्होंने एक चमत्कार यह उत्पन्न किया है कि इतिहास को पुरुष मानकर उसे तीन अवस्थाओं में विभक्त किया है और फिर प्रत्येक अवस्था को दो दो कालों में विभक्त किया है, जैसे—आदिकाल या बाल्यावस्था (पूर्वार्ध और उत्तरार्ध-सं० १००० से १४००), मध्यकाल या किशोरावस्था (पूर्वार्ध और उत्तरार्ध-(सं० १४०० से १८००) और आधुनिक काल या युवावस्था (परिवर्तनकाल और वर्तमानकाल-सं० १८०० के बाद) । इसी से लेखक की अनावश्यक वर्गीकरण की प्रवृत्ति का पता चल जाता है। साहित्य के इतिहास का अध्येता या विद्यार्थी साहित्यिक प्रवृत्तियों के उद्भव और विकास की विवेचनात्मक कहानी जानने की इच्छा रखता है, वह बीच बीच में राजनीतिक स्थिति, धर्म, दर्शन, साहित्यशास्त्र आदि विषयों के वर्गीकरण के जाल में नहीं उलझना चाहता। इस ग्रंथ की अनावश्यक स्फीति और असंतुलित संघटन ही उसकी असफलता के मुख्य कारण हैं।

रामकुमार वर्मा का इतिहास अवश्य पर्याप्त सुसंघटित और व्यवस्थित है पर उसमें लेखक का दृष्टिकोण अन्य इतिहासकारों से भिन्न है। यह केवल आदिकाल और पूर्वमध्यकाल का ही इतिहास है पर आकार में अन्य सभी इतिहासग्रंथों से बड़ा है। कारण यह है कि लेखक की दृष्टि काव्यप्रवृत्तियों के मूल स्रोतों तथा कवियों के संबंध में शोध करने की ओर बहुत अधिक है। वस्तुतः यह वर्माजी का शोधप्रबंध है जिसपर उन्हें डि० लिट० की उपाधि मिली थी। अतः उसमें उनका दृष्टिकोण मूलतः शोधात्मक ही है। उन्होंने इस संबंध में ग्रंथ के निवेदन में लिखा है कि साहित्य के इतिहास में वैज्ञानिक विवेचन की गंभीरता के साथ साथ इतिहास की बिखरी हुई सामग्री का संकलन करना तथा अनुपलब्ध सामग्री

की खोज करना भी इतिहासकार का उत्तरदायित्व है, इस बात को उन्होंने इन शब्दों में स्पष्ट किया है—'साहित्य का इतिहास आलोचनात्मक शैली से अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। अतः ऐतिहासिक सामग्री के साथ कवियों एवं साहित्यिक प्रवृत्तियों की आलोचना करना मेरा दृष्टिकोण है।' इस कथन को उन्होंने अपने इतिहास में पूर्णतः चरितार्थ किया है। परिणाम यह हुआ है कि इस एक ही ग्रंथ में अनेक स्वतंत्र ग्रंथ दिखाई पड़ते हैं। उदाहरणार्थ इसमें अकेले तुलसी का विवरण १८३ पृष्ठों में लिखा गया है। उसी तरह अकेले कबीर ने ६० पृष्ठ ले लिए हैं। इससे स्पष्ट है कि कबीर और तुलसी के बारे में वर्माजी ने सभी ज्ञातव्य बातें लिख देने का प्रयास किया है। पर यही नियम उन्होंने सभी कवियों के बारे में नहीं अपनाया है। सूफी कवियों के अतिरिक्त अन्य सभी कवियों की तो उन्होंने अलग अलग जीवनवृत्त देते हुए विवेचना की है, पर सूफी कवियों के केवल ग्रंथों की ही समीक्षा की है। ऐसा करने का कोई कारण उन्होंने नहीं बताया है। इसी तरह प्रारंभ में उन्होंने जो कालविभाजन दिया है उसमें संधिकाल (सं० ७५० से १०००), चारणकाल (सं० १००० से १३७५), भक्तिकाल (सं १३७५ से १७००), रीतिकाल (सं० १७०० से १६००) और आधुनिक काल (सं० १६०० के बाद) ये पाँच काल माने गए हैं जो प्रायः शुक्लजी के कालविभाजन के अनुसार ही हैं। पर वर्माजी की इतिहास-लेखन-पद्धति शुक्लजी की पद्धति की तरह वैज्ञानिक नहीं है, यद्यपि उन्होंने प्रारंभ में हो वैज्ञानिक पद्धति पर बहुत बल दिया है। शुक्लजी ने प्रत्येक युग की प्रमुख काव्यप्रवृत्ति के अंतर्गत आनेवाले कवियों का इतिहास देने के बाद अन्य प्रवृत्तिवाले कवियों को 'फुटकल कवि' की श्रेणी में रखकर उनपर विचार किया है, पर वर्माजी ने एक युग की किसी प्रवृत्ति के कवियों के साथ परवर्ती युगों में होनेवाले उस प्रवृत्ति के कवियों का विवरण भी एक ही साथ दे दिया है। इससे कालविभाजन का सारा महत्व ही समाप्त हो जाता है। श्यामसुंदरदास ने भी अपने इतिहास में यही पद्धति अपनाई है। पर इसे वैज्ञानिक पद्धति नहीं माना जा सकता।

(ख) कालविशेष के साहित्य का इतिहास

यों तो रामकुमार वर्मा का इतिहास भी भक्तिकाल तक के साहित्य का ही इतिहास है पर उसमें परवर्ती कालों के कवियों का विवरण भी आ जाने से उसके संबंध में अन्य इतिहासग्रंथों के साथ ही विचार किया गया है। पर इस काल में दो इतिहासग्रंथ ऐसे लिखे गए, जो किसी एक ही काल या युग के साहित्य से संबंधित हैं। इसमें से प्रथम कृष्णशंकर शुक्ल का 'आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास' है और द्वितीय है लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का भारतेंदुयुगीन साहित्य का इतिहास जिसका नाम 'आधुनिक हिंदी साहित्य' पाठकों के मन में यह भ्रम

उत्पन्न करता है कि पूरे आधुनिक काल के साहित्य का इतिहास है। कृष्णाशंकर शुक्ल ने आधुनिक काल का प्रारंभ सन् १८६७ से माना है। इस काल को उन्होंने तीन युगों में विभक्त किया है--प्रारंभिक काल या भारतेंदु युग (सन् १८६७ से १९०३, मध्यकाल या द्विवेदी युग (सन् १९०३ से १९१८) और नवीनकाल (सन् १९१८ के बाद)। इस तरह उन्होंने शुक्लजी के इतिहास में किए गए आधुनिक काल के कालविभाजन को थोड़े अंतर के साथ स्वीकार कर लिया है। इसमें शुक्लजी की पद्धति ही नहीं अपनाई गई है, उनकी सामग्री और विचारों को भी अपना लिया गया है। उदाहरण के लिये 'नवीन काल' के 'पद्य' की विवेचना में शुक्लजी की ही सभी बातें दुहराई गई हैं, लेखक ने कोई भी नई उद्भावना, नया तर्क नहीं उपस्थित किया है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि यह इतिहास शुक्लजी इतिहास के आधुनिक कालवाले अंश का ही परिवर्द्धित संस्करण है। इसकी नवीनता इतनी ही है कि बहुत से ऐसे कवियों और लेखकों का विवरण भी इसमें दिया गया है जिन्हें शुक्लजी ने स्थानाभाव के कारण उन्हें अधिक महत्व का न मानकर छोड़ दिया था। रचनाओं के उदाहरणों की भी इसमें भरमार है।

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के ग्रंथ 'आधुनिक हिंदी साहित्य' में भारतेंदु युग के साहित्य का इतिहास बहुत ही अध्ययन और परिश्रम से उपस्थित किया गया है। यह लेखक का शोधग्रंथ है जिसपर उसे प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० फिल० की उपाधि मिली थी। इस कारण यह इतिहास शोधप्रधान अधिक है। इसमें साहित्यिक प्रवृत्तियों के विभाजन और विश्लेषण की ओर लेखक ने बहुत कम ध्यान दिया है। वस्तुतः यह विवेचनात्मक नहीं, विवरणात्मक इतिहास है जिसमें लेखक का लक्ष्य भारतेंदुयुगीन साहित्य का लेखाजोखा उपस्थित करना, साहित्यिक कृतियों की मूल प्रेरणाओं और तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक परिस्थितियों सामाजिक और सांस्कृतिक आंदोलनों आदि के संबंध में शोध करके अज्ञात तथ्यों का उद्घाटन करना तथा उपलब्ध सामग्री का संकलन करना है। इस दृष्टि से लेखक को अपने प्रयत्न में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। प्रारंभ के दो अध्यायों में लेखक ने उन्नीसवीं शताब्दी के भारत की राजनीतिक परिस्थितियों, और सामाजिक तथा धार्मिक गतिविधियों का विस्तार से विवेचन किया है और तत्कालीन हिंदी साहित्य पर उनके प्रभाव तथा प्रेरणा का आकलन किया है। बाद के अध्यायों में हिंदी गद्य के विविध रूपों और विधाओं के प्रारंभ और प्रचलन का इतिहास तथा तत्कालीन कविता की प्रवृत्तियों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस तरह साहित्य की विविध विधाओं और प्रवृत्तियों के विकास के अध्ययन की दृष्टि से तो यह ग्रंथ बहुत

उपयोगी है पर इसकी एक बड़ी भारी और खटकनेवाली कमी यह है कि इसमें लेखकों और कवियों के जीवनवृत्त और रचित ग्रंथों का विवरण नहीं दिया गया है और न उनकी प्रवृत्तियों और गुण दोषों का ही विवेचन किया गया है।

(ग) 'हिंदी साहित्य की भूमिका'

व्यावहारिक आलोचनावाले अध्याय में बताया जा चुका है कि हजारी-प्रसाद द्विवेदी का 'हिंदी साहित्य की भूमिका' नामक ग्रंथ विशुद्ध आलोचना-ग्रंथ नहीं, इतिहासपरक आलोचनाग्रंथ है। सच पूछा जाय तो न तो यह विशुद्ध आलोचना है न विशुद्ध इतिहास। इसकी प्रकाशकीय भूमिका में प्रकाशक ने लिखा है कि 'यह पुस्तक हिंदी साहित्य का इतिहास नहीं है और न यह ऐसे किसी इतिहास का स्थान ही ले सकती है। आधुनिक इतिहासों को यह अधिक स्पष्ट करती है और भविष्य में लिखे जानेवाले इतिहासों की मार्गदर्शिका है।' यह कथन सर्वांशतः सत्य है क्योंकि द्विवेदीजी ने इस पुस्तक में हिंदी साहित्य के उन मूल स्रोतों, प्रेरक शक्तियों तथा उसपर पड़े आंतरिक और बाह्य प्रभावों का विस्तृत विवेचन किया है जिनकी ओर साहित्य के इतिहासकारों ने केवल संकेत भर किया है अथवा जिनका संक्षिप्त परिचय देकर ही आगे बढ़ गए हैं। इस तरह इसमें उनकी दृष्टि इतिहासकार की नहीं, समाजशास्त्री की है। जिस तरह समाजशास्त्र में साहित्य और कला के विकास तथा आदिम मानव-समाज में उनके स्वरूप का अध्ययन किया जाता है और साहित्य को अनंत मानवप्रयत्नों का एक अंग मानकर उसपर पड़े अन्य मानवप्रयत्नों के प्रभावों का विश्लेषण किया जाता है, ठीक उसी तरह द्विवेदीजी ने हिंदी साहित्य को इतिहास के विविध कालों में प्रवहमान भारतीय मनीषा की चिंताधारा की पृष्ठभूमि में रखकर देखा है। हिंदी साहित्य को वे भारतीय चिंतन के विकास की एक स्वाभाविक कड़ी मानकर उसका संबंध एक ओर तो विभिन्न दार्शनिक, धार्मिक और सांप्रदायिक सिद्धांतों से जोड़ते हैं, दूसरी ओर संपूर्ण भारतीय साहित्य की अखंड धारा से। इसी लिये यह पुस्तक हिंदी साहित्य के विकास पर उतना प्रकाश नहीं डालती जितना विभिन्न धर्मों, संप्रदायों, दर्शनों और जातीय समुदायों की उत्पत्ति, विकास और ह्रास की कथा कहती है। इस तरह हिंदी साहित्य के विभिन्न कालों की प्रमुख प्रवृत्तियों के मूल उत्स को प्राचीन भारतीय साहित्य की विभिन्न धाराओं में खोजने की प्रवृत्ति प्रधान होने के कारण इस पुस्तक में हिंदी का स्थान गौण और अन्य भाषाओं का प्रधान हो गया है। इस संबंध में अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए द्विवेदीजी ने पुस्तक के निवेदन में लिखा है—'ऐसा प्रयत्न किया गया है कि हिंदी साहित्य को संपूर्ण भारतीय

साहित्य से विच्छिन्न करके न देखा जाय। मूल पुस्तक में बार बार संस्कृत, पाली, प्राकृत और अपभ्रंश के साहित्य की चर्चा आई है। इसी लिये कई लंबे परिशिष्ट जोड़कर संक्षेप में वैदिक, बौद्ध और जैन साहित्यों का परिचय देने की चेष्टा की गई है। रीतिकाव्य की विवेचना के प्रसंग में कवि-प्रसिद्धियों और स्त्री अंग के उपमानों की चर्चा आई है। मध्यकाल की कविता के साथ संस्कृत कविता की तुलना के लिये आवश्यक समझकर परिशिष्ट में इन दो विषयों पर भी अध्याय जोड़ दिए गए हैं।'

उपर्युक्त कथन से यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि इस पुस्तक में संकलित अधिकांश बातों का हिंदी साहित्य से बहुत दूर का संबंध है। इस संबंध की ओर शुक्लजी ने अपने इतिहास में यत्र तत्र संकेत किया है और कई स्थलों पर तो कुछ बातों को प्रासंगिक समझकर उनकी सम्यक् विवेचना भी की है। पर द्विवेदीजी ने तो उन प्रासंगिक बातों को ही प्रमुख बनाकर उनका पूरा ब्यौरा ही उपस्थित कर दिया है। इसका प्रमाण इस पुस्तक का परिशिष्ट भाग है जो पूरी पुस्तक का प्रायः आधा है। मुख्य ग्रंथ में दस और परिशिष्ट में आठ अध्याय हैं। मूल पुस्तक की अधिकांश सामग्री दूसरे विद्वानों की पुस्तकों से संगृहीत है और परिशिष्ट का इतिहास भाग तो विंटरनित्स के 'भारतीय साहित्य के इतिहास' के संबंधित अंशों का संक्षेपीकरण ही है। मूल पुस्तक में बौद्ध धर्म तथा उसकी विविध शाखाओं, नाथ संप्रदाय, योगी जाति, वैष्णव मतों और सिद्धांतों से संबंधित प्रायः सभी सामग्री विंटरनित्स, क्षितिमोहन सेन, विधुशेखर शास्त्री, वेणीमाधव बड़ुआ, पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, राहुल सांकृत्यायन आदि विद्वानों के ग्रंथों और लेखों से ली गई है। इस तरह द्विवेदीजी ने इस पुस्तक में कोई मौलिक शोध नहीं किया है। हिंदी में इन विषयों का विवेचन पहले कम हुआ था फिर भी डा० बड़थ्वाल योगी जाति और नाथ संप्रदाय के बारे में तथा राहुल सांकृत्यायन तांत्रिक सिद्धों के संबंध में द्विवेदीजी से बहुत पहले ही लिख चुके थे। अपभ्रंश भाषा और आभीर जाति के संबंध में भी चंद्रधर शर्मा गुलेरी तथा अन्य विद्वान् पहले ही लिख चुके थे। अतः इस पुस्तक की नवीनता केवल उपलब्ध सामग्री को व्यवस्थित करने में ही है। पर इस समस्त सामग्री को एक साथ रखकर हिंदी साहित्य के अध्ययन का एक नया मार्ग खोलने का कार्य इस पुस्तक के द्वारा द्विवेदीजी ने अवश्य किया है, इसमें कोई संदेह नहीं।

(घ) गद्यविधाओं के विकास का इतिहास

हिंदी साहित्य की विभिन्न विधाओं के विकास का इतिहास लिखने की प्रवृत्ति तो इस काल में उत्पन्न हो गई थी पर उसका प्रचलन अभी अधिक नहीं

हुआ था। रमाकांत त्रिपाठी के 'हिंदी गद्य मीमांसा' और जगन्नाथप्रसाद शर्मा के 'हिंदी गद्य शैली का विकास' में हिंदी गद्य साहित्य का इतिहास प्रासंगिक रूप में अवश्य दिया गया है पर उनमें मुख्यतः गद्यशैलियों का विवेचन किया गया है, अतः पिछले अध्याय में व्यावहारिक आलोचना के अंतर्गत उनपर विचार किया जा चुका है। हिंदी नाटकों के इतिहास से संबंधित प्रथम पुस्तक विश्वनाथप्रसाद मिश्र का 'हिंदी में नाट्यसाहित्य का विकास' है जो आकार में बहुत लघु है। वस्तुतः यह एक निबंध है जो 'साहित्यरत्न' की परीक्षा में बैठनेवाले विद्यार्थियों के लिये लिखा गया था। फलतः यह एक सामान्य परिचयात्मक पुस्तिका है जिसमें नाटक की उत्पत्ति, भारत में नाट्य साहित्य की प्राचीनता, भारतीय नाट्यशास्त्र, रंगशाला के प्रकार, आदि विषयों पर संक्षेप में विचार करने के बाद लेखक ने विद्यापति से लेकर बीसवीं शताब्दी तक के नाटककारों द्वारा लिखित नाटकों की प्रवृत्तियों और शैलियों का परिचय दिया है। इस तरह यह वास्तविक अर्थ में इतिहास नहीं है क्योंकि इसमें केवल नाट्यप्रवृत्तियों का ऐतिहासिक विकास दिखाया गया है, नाटककारों के जीवनवृत्त तथा उनके लिखे ग्रंथों का विवरण और विवेचना नहीं प्रस्तुत की गई है। फिर भी इसमें विश्वनाथजी की पकड़ बहुत सच्ची दिखाई पड़ती है और यदि इसी सूझ बूझ से उन्होंने हिंदी नाट्यसाहित्य का विस्तृत इतिहास लिखा होता तो वह निस्संदेह एक बड़े अभाव की पूर्ति करता।

इस अभाव की कुछ पूर्ति व्रजरत्नदास के 'हिंदी नाट्यसाहित्य' से हुई जो सही अर्थ में हिंदी नाट्यसाहित्य का इतिहास है। इसमें प्रारंभ के दो प्रकरणों में संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति और विकास का इतिहास, उनके स्वरूप और तत्वों का विवेचन तथा पाश्चात्य नाट्यसाहित्य की प्रगति का परिचय दिया गया है और फिर हिंदी नाट्यसाहित्य के इतिहास को तीन कालों—पूर्वभारतेंदु काल, भारतेंदु काल और वर्तमान काल—में विभक्त कर प्रत्येक काल के नाटककारों के जीवनवृत्त और ग्रंथों का विवरण भिन्न भिन्न 'प्रकरणों' में लिखा गया है। वस्तुतः यह इतिहास विवरणात्मक अधिक है। इसमें नाटककारों की रचनाओं की समीक्षा बहुत कम की गई है और जहाँ की गई है वहाँ नाटककार की मूल प्रवृत्तियों और प्रेरणाओं तथा उसके शिल्पविधान की समीक्षा न करके केवल कथावस्तु का सारांश दे दिया गया है और नाटक के स्थूल गुणदोषों की गिनती कर दी गई है। इससे पता चलता है कि लेखक मूलतः समीक्षक नहीं, तथ्यनिरूपक इतिहासकार ही है। व्रजरत्नदास की दृष्टि शोधप्रधान है, इसलिये नाटककारों के जन्मकाल, ग्रंथ आदि के संबंध में साहित्य के पूर्ववर्ती इतिहासकारों ने जो गलतियाँ की हैं, वे उन्हें ठीक करते गए हैं। उनके विवरणों को पढ़ने से ज्ञात होता है कि उन्होंने नाटककारों की कृतियों को स्वयं पढ़कर और पुस्तकालयों, पत्र पत्रिकाओं

की फाइलों आदि से परिश्रम से खोजकर तब उनके संबंध में कुछ लिखा है। जिन पुस्तकों को वे नहीं देख सके उनके बारे में यह बात स्पष्ट लिख भी दी है। पर इसमें कुछ खटकनेवाली बातें भी हैं। पहली बात तो यह है कि उन्होंने हिंदी नाटकों की प्राचीनता दिखाने के लिये मध्यकाल के कवियों के उन ग्रंथों को जो संस्कृत के नाटकों के हिंदी में पद्यानुवाद हैं, नाटक मानकर उसपर विचार किया है और उनके लेखकों को नाटककार माना है। शुक्लजी और कोई इतिहासकार यदि ऐसा करता है तो वह इसलिये क्षम्य है कि साहित्यनिर्माण के किसी भी रूप में साहित्य के इतिहास में लिया जा सकता है। पर नाट्यसाहित्य के इतिहास में तो वे ग्रंथ ही ग्राह्य हैं जो सचमुच नाटक हैं। दूसरी बात यह है कि भारतेंदु और प्रसाद पर इस ग्रंथ में एक एक अध्याय में पूरी आलोचना लिखी गई है और अन्य नाटककारों की चलती आलोचना कर दी गई है जिससे लेखक पर पक्षपात का आरोप लगाया जा सकता है। समस्यानाटकों के प्रति भी लेखक निष्पक्ष नहीं रह सका है अथवा उनकी पद्धति और रूपशिल्प को वह अच्छी तरह समझ नहीं सका है जिसके कारण लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक 'सिंदूर की होली' के संबंध में वह इस प्रकार का मत व्यक्त करता है—'स्थानाभाव से नाटक में किसी पात्र का पूर्णरूपेण चित्रण नहीं हो सका है क्योंकि घटनाचक्र काफी है और सिद्धांतों का तर्कवितर्क भी बहुत है।...... बाद का कुछ हाल न खुलने से चित्र सभी अधूरे रह गए।......यह नाटक हत्याकांड, घूसखोरी आदि से भरा है।'[१] समस्या नाटकों के शिल्प और उद्देश्य को समझनेवाला कोई आलोचक ऐसी बात नहीं कह सकता।

शिवनारायण श्रीवास्तव का 'हिंदी उपन्यास' हिंदी में उपन्यास साहित्य के विकास की रूपरेखा प्रस्तुत करनेवाला प्रथम ग्रंथ है पर इसे वास्तविक अर्थ में इतिहासग्रंथ नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें लेखक की दृष्टि ऐतिहासिकता की ओर बिलकुल नहीं है। इसमें न तो उपन्यास लेखकों के जीवनवृत्त के वर्णन की ओर ध्यान दिया गया है न उपन्यासों के रचनाकाल का ही उल्लेख किया गया है। जो पाठक इस ग्रंथ के आधार पर किसी उपन्यासकार के जीवन या किसी उपन्यास के रचनाकाल की जानकारी प्राप्त करना चाहता है, उसे इस पुस्तक से निराशा ही हाथ लगेगी। वस्तुतः इसमें मुख्यतः ऐतिहासिक कालक्रम के अनुसार उपन्यासकारों की संक्षिप्त आलोचना की गई है, जिससे न तो औपन्यासिक प्रवृत्तियों के विकास का इतिहास ही अच्छी तरह दिखाया जा सका है और न उन प्रवृत्तियों का

[१] हिंदी नाट्यसाहित्य, तृतीय संस्करण, पृष्ठ २०७।

वैज्ञानिक विवेचन ही संभव हो सका है। उपन्यासकारों की जो समीक्षा की गई है वह भी वैज्ञानिक विवेचनायुक्त नहीं है। प्रायः उसमें भावात्मक शैली अपनाई गई है अथवा लेखकों की भाषाशैली के गुणदोषों का स्थूल ढंग से उल्लेख कर दिया गया है। उपन्यासकार के उद्देश्य, उसकी मूल प्रेरकशक्ति तथा उसपर पड़े प्रभावों की विवेचना में लेखक अधिक नहीं प्रवृत्त हुआ है। इस कारण इस पुस्तक का आलोचनात्मक महत्व भी अधिक नहीं है। इसके प्रारंभ के दो प्रकरणों में उपन्यास की परिभाषा, स्वरूप, तत्व और प्रकार आदि की व्याख्या तथा भारतीय साहित्य में कथा के स्वरूपविकास की विवेचना की गई है। इसके बाद हिंदी उपन्यास के इतिहास को मनमाने ढंग से दो कालों—आदिकाल या बालकाल तथा आधुनिककाल में विभक्त कर दिया गया है। पर उनकी सीमारेखा निर्धारित नहीं की गई है; अनुमान से यह प्रतीत होता है कि प्रेमचंद के पूर्व के उपन्यासकारों को लेखक ने आदिकाल में माना है और प्रेमचंद तथा उनके बाद के लेखकों को आधुनिककाल के भीतर रखा है। यह विभाजन भी अवैज्ञानिक है क्योंकि औपन्यासिक प्रवृत्तियों के आधार पर यह नहीं किया गया है। उपन्यासों का वर्गीकरण भी प्रवृत्तियों या प्रकारों के आधार पर होना चाहिए था और एक वर्ग के उपन्यासकारों की विवेचना एक साथ होनी चाहिए थी। ऐसा करने पर यह विशुद्ध आलोचनात्मक पुस्तक हो जाती। पर लेखक का उद्देश्य इसे इतिहास बनाना था, इसी लिये उपन्यासकारों का विवरण उसने ऐतिहासिक कालक्रम के अनुसार दिया है। फलतः न तो यह अच्छा इतिहासग्रंथ हो सका है न सफल आलोचनाग्रंथ। इस तरह उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिये भले ही इस पुस्तक का महत्व हो, साहित्य के गंभीर अध्येताओं के लिये यह अधिक महत्व की नहीं है।

(ङ) शोधप्रधान ग्रंथ और निबंध

इतिहास का शोध से बहुत घनिष्ठ संबंध है। प्राचीन साहित्य का इतिहास प्राचीन पोथियों के प्रकाश में आने के बाद ही लिखा जा सकता है। उसी तरह प्राचीन साहित्य के मूल स्रोतों को भी अतीतकालीन दर्शनों, धर्मों, संप्रदायों और सामाजिक स्थितियों के भीतर से खोजकर निकालना पड़ता है। इस तरह शोध के बिना इतिहास का निर्मित होना असंभव है। इसी लिये हिंदी साहित्य के इतिहास के प्रसंग में शोधग्रंथों के संबंध में भी विचार करना आवश्यक है। ऊपर जिन इतिहासों या इतिहासपरक समीक्षा ग्रंथों की चर्चा की गई है उनमें से रामकुमार वर्मा और लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के इतिहास प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत शोधग्रंथ ही हैं। पर शोधग्रंथ हमेशा इतिहास ही नहीं होता। अनेक शोधग्रंथों में केवल इतिहास की सामग्री होती है जिनसे इतिहासलेखक

और साहित्य के पाठक लाभ उठा सकते हैं। हिंदी में डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल राहुल सांकृत्यायन, चंद्रबली पांडेय, हजारीप्रसाद द्विवेदी, सत्येंद्र आदि के बहुत से निबंध और ग्रंथ इसी तरह के हैं जिनमें साहित्य और साहित्यकारों से संबंधित बहुत सी नई बातों की खोज की गई है अथवा उस खोज के आधार पर नवीन स्थापनाएँ और व्याख्याएँ की गई हैं। राहुल सांकृत्यायन की 'पुरातत्व निबंधावली' में महायान बौद्धधर्म की उत्पत्ति, वज्रयान और चौरासी सिद्ध, हिंदी के प्राचीनतम कवि और उनकी कविताएँ आदि ऐसे निबंध हैं जिनसे मध्यकालीन निर्गुण काव्यधारा की पूर्वपरंपरा तथा उसके मूल स्रोतों पर बहुत अधिक प्रकाश पड़ता है। बड़थ्वालजी का शोधप्रबंध 'हिंदी काव्य में निर्गुण धारा' तथा उनके निबंधों का संग्रह 'योग प्रवाह' (सन् १९४६) भी शोधविषयक ग्रंथ ही हैं। चंद्रबली पांडेय ने नागरीप्रचारिणी पत्रिका में कबीर, तुलसी, जायसी आदि के जीवनवृत्त के संबंध में कई शोधपूर्ण निबंध लिखे थे। हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'हिंदी साहित्य की भूमिका' की चर्चा पहले हो चुकी है। उनकी अन्य दो पुस्तकें 'सूर साहित्य' और 'कबीर' भी शोधप्रधान ही हैं। गौरीशंकर सत्येंद्र की पुस्तक 'साहित्य की झाँकी' (सन् १९३६) में भी कुछ निबंध शोधविषयक हैं। यहाँ केवल महत्वपूर्ण शोधप्रबंधों और निबंधों के संबंध में ही विचार किया जायगा।

१—डा० बड़थ्वाल के शोधग्रंथ

डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल का अंग्रेजी में लिखा ग्रंथ 'दी निर्गुन स्कूल आफ हिंदी पोइट्री' हिंदी का प्रथम शोधप्रबंध है जिसपर लेखक को हिंदू विश्वविद्यालय से डी० लिट की उपाधि मिली थी। पर प्रथम शोधप्रबंध होने के साथ ही मेरे विचार से यह हिंदी का आज तक का सर्वोत्कृष्ट शोधप्रबंध भी है। इससे न केवल बड़थ्वालजी के एक सच्चे और अध्यवसायी शोधकर्ता होने का परिचय मिलता है बल्कि उनके गहन चिंतन, मौलिक दृष्टि, और गंभीर दार्शनिक व्यक्तित्व के भी दर्शन होते हैं। यह ग्रंथ अत्यंत पांडित्यपूर्ण और मौलिक उद्भावनाओं से युक्त है। इसमें प्रथम अध्याय में भक्तिकालीन राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों का विश्लेषण करके यह निष्कर्ष निकाला गया है कि यद्यपि उस समय मुसलमानों के अत्याचारों से हिंदू जाति त्रस्त हो चुकी थी, पर साथ ही उसकी आंतरिक दुर्बलताओं और वर्णवैषम्यसंबंधी रूढ़ियों के कारण भी ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी जिसमें एक प्रबल धार्मिक और सामाजिक आंदोलन का उठ खड़ा होना स्वाभाविक ही नहीं आवश्यक भी था। यह आंदोलन मुसलमानों के आने के कारण ही उत्पन्न हुआ। हिंदू जाति को संघटित करने के लिये इस्लाम की एकता के आदर्श को अपनाकर सामाजिक समता और

आध्यात्मिक साधना में सबके समान अधिकार का आंदोलन आवश्यक समझा गया। यद्यपि नाथ संप्रदाय और योग मार्ग में यह सिद्धांत पहले से ही मान्य था पर इस काल में वर्णभेद तथा हिंदू मुसलिम भेद को मिटाने के लिये वैष्णव मतावलंबी रामानंद आदि और मुसलमान सूफी संतों द्वारा समान रूप से प्रयत्न किया गया। इस तरह निर्गुण मार्ग केवल ऐकांतिक साधना का मार्ग नहीं था बल्कि लोकहित के उद्देश्य से परिचालित एक देशव्यापी सामाजिक आंदोलन था। बड़थ्वालजी का यह मत शुक्लजी के इस मत का विरोधी है कि निर्गुण मत समाजविरोधी और लोकहित की भावना से शून्य था। संत और भक्तिमत के आंदोलनों को शुक्लजी ने मुसलमानी आक्रमणों और विजय के कारण हिंदुओं में उत्पन्न निराशा की भावना की देन माना है पर बड़थ्वालजी ने उसे उस समय की सामाजिक आवश्यकता तथा इस्लाम धर्म के संपर्क के प्रभाव की देन बताया है। बड़थ्वालजी की यह स्थापना पुष्ट प्रमाणों पर आधारित होने से अकाट्य है जब कि शुक्लजी का मत कोरे अनुमान पर आधारित है।

डा० बड़थ्वाल के शोधप्रबंध की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें उन्होंने निर्गुण धारा के कवियों के काव्य के आधार पर निर्गुण मत के दार्शनिक सिद्धांतों का निरूपण किया है और उनकी पूर्वपरंपरा उपनिषदों, वेदांत, सांख्य, योग आदि दर्शनों तथा नाथ संप्रदाय के सिद्धांतों में खोजने का प्रयत्न किया है। फलतः वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि निर्गुण मत भले ही मुसलमानों के भारत में आकर बस जाने के कारण एक आंदोलन के रूप में उठ खड़ा हुआ हो पर उसकी जड़ें भारतीय दार्शनिक और धार्मिक परंपरा के भीतर हैं, विशेष रूप से वेदांत, सांख्य, योग, विशिष्टाद्वैत, भेदाद्वैत और नाथपंथी शैव दर्शन से उसका सीधा संबंध है। नाथ संप्रदाय और निरंजन मत का तो उसपर इतना प्रभाव है कि उनकी साधनापद्धति ही नहीं, शब्दावली को भी निर्गुण मतवादी संतों ने ज्यों का त्यों ग्रहणकर लिया है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि निर्गुण धारा के संतों ने विभिन्न दर्शनों की पंचमेल खिचड़ी पकाई है। इसके विपरीत बड़थ्वालजी का मत है कि निर्गुण मत का अपना एक स्वतंत्र दर्शन है जो पूर्ववर्ती दर्शनों से पर्याप्त भिन्नता रखता है। इसी लिये उन्होंने विभिन्न भारतीय दर्शनों का अलग अलग सिद्धांतनिरूपण करके निर्गुण काव्यधारा पर उन्हें ऊपर से लादा नहीं है बल्कि दोनों को आमने सामने रखकर उनकी तुलनात्मक परीक्षा की है। उन्होंने भारतीय दर्शन से ही नहीं, पाश्चात्य देशों के आधुनिक दार्शनिकों और रहस्यवादियों के सिद्धांतों और कविताओं से भी निर्गुण मत के सिद्धांतों और कविताओं की तुलना करके उनका महत्व प्रतिपादित किया है। उनकी रहस्यवादी कविताओं के वस्तु तत्त्व और अभिव्यंजना पद्धति पर एक अध्याय में बहुत ही विद्वत्तापूर्ण ढंग से विचार किया गया है तथा उलटवासियों और प्रतीकात्मक

कविताओं में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली का प्रतीकार्थ भी समझाया गया है। अंतिम अध्याय में निर्गुण धारा के विभिन्न कवियों का प्रामाणिक जीवन वृत्त भी दे दिया गया है। इस तरह निर्गुण धारा के काव्य के अध्येयता के लिये यह एक ही पुस्तक काफी हो सकती है। इसमें खटकनेवाली बात बस इतनी ही है कि सहजयान और वज्रयान के सिद्धों और तांत्रिकों के दार्शनिक सिद्धांतों और कविताओं का लेखक ने कहीं उल्लेख नहीं किया है। हो सकता है, उस समय तक बड़थ्वालजी को उनका पता न रहा हो।

किंतु उनके निबंधसंग्रह 'योग प्रवाह' से पता चलता है कि उन्हें चौरासी सिद्धों के संबंध में न केवल जानकारी थी बल्कि उनकी शाखा प्रशाखाओं का भी उन्हें ज्ञान था। इस संग्रह के सभी निबंध शोधप्रधान हैं जिनमें से कुछ में नवीन सामग्री की खोज की गई है और कुछ व्याख्यात्मक हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण निबंध 'हिंदी कविता में योगप्रवाह' है जिसमें लेखक ने नाथ पंथ के साधकों की परंपरा तथा उनकी उपलब्ध कविताओं के संबंध में विचार किया है। इस खोज से हिंदी की निर्गुण काव्यधारा और सहजयानी सिद्धों की कविताओं के बीच की कड़ी जुड़ जाती है। 'गोरखबानी' का संपादन करके डा० बड़थ्वाल ने इस कड़ी को और भी सुदृढ़ बना दिया और अब निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि निर्गुण काव्यधारा का प्रारंभ दसवीं शताब्दी के आसपास ही हो गया था। 'कुछ निरंजनी संतों की बानियाँ' शीर्षक निबंध में भी एक नए तथ्य का उद्घाटन किया गया है। इसमें जिन निरंजनी संतों की कविताएँ दी गई हैं वे कबीर आदि निगुर्णमतवादी कवियों से बहुत मिलते जुलते हैं यद्यपि उनकी उपासनापद्धति भिन्न है। इस निबंध में लेखक ने यह स्थापना की है कि 'निरंजन धारा भी सिद्ध, नाथ और निर्गुण धाराओं की भाँति आध्यात्मिक धारा है।' 'नागार्जुन' शीर्षक निबंध भी बहुत ही गंभीर गवेषणा के बाद लिखा प्रतीत होता है। इस निबंध की स्थापना यह है कि जिस नागार्जुन की हिंदी में लिखी कुछ सबदियाँ मिली हैं वे दसवीं शताब्दी के लामा तारानाथ के गुरु सिद्धाचार्य नागार्जुन थे जिन्हें नाथपंथी योगियों तथा सिद्धों दोनों की सूची में संमिलित कर लिया गया है। इस खोज के फलस्वरूप दसवीं शताब्दी की हिंदी कविता और लोकभाषा हिंदी का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। अन्य निबंध भी किसी न किसी नवीन तथ्य का उद्घाटन अवश्य करते हैं। इस दृष्टि से हिंदी में शोध के क्षेत्र में बड़थ्वालजी के इन निबंधों का महत्व और स्थान अद्वितीय है।

२—हजारीप्रसाद द्विवेदी के शोधपरक ग्रंथ

हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'सूरसाहित्य' और 'कबीर' की चर्चा व्यावहारिक आलोचना के अंतर्गत की जा चुकी है और बताया जा चुका है कि ये मुख्यतः

शोधप्रधान ग्रंथ हैं। पर यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि द्विवेदीजी डा० बड़थ्वाल और राहुल सांकृत्यायन की तरह मुख्यतः शोधकर्ता नहीं हैं। इसलिये उनकी इन दोनों पुस्तकों में उनकी अपनी शोधगत उपलब्धि कुछ भी नहीं है, इनकी समस्त सामग्री अन्य शोधकर्ताओं से अथवा प्रख्यात प्राचीन ग्रंथों से ली गई है। अतः ये सही अर्थ में शोधग्रंथ नहीं हैं, व्याख्याग्रंथ हैं। वस्तुतः द्विवेदीजी ने इनमें कभी प्रासंगिक और कभी कभी अप्रासंगिक सामग्रियों का संकलन करके उनकी नए ढंग से व्याख्या की है और निष्कर्ष निकाला है। यही उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि है। उदाहरण के लिये 'सूरसाहित्य' का पहला निबंध 'राधा कृष्ण का विकास' लिया जा सकता है। इसमें लेखक ने जैकोबी ग्रियर्सन, केनेडी, भंडारकर, मेकडानल्ड, कीथ, आनंदकुमार स्वामी, राय चौधरी, गौरीशंकर हीराचंद ओझा, गणपति शास्त्री, काशीप्रसाद जायसवाल, विंटरनित्स आदि प्रख्यात शोधकर्ता विद्वानों के ग्रंथों, लेखों आदि से सहायता लेकर उनके मतों का खंडनमंडन करते हुए अंत में अनुमानतः यह निष्कर्ष निकाला है कि राधा आभीर जाति की प्रेमदेवी रही होगी और बाल कृष्ण आर्येतर आभीर जाति के देवता थे जिन्हें भारतीय भागवत मत के 'वासुदेव' से मिला दिया गया होगा। यह सब ऊहापोह करने का लाभ ही क्या हुआ यदि निष्कर्ष अनुमान के आधार पर निकालना था। पर द्विवेदीजी का उद्देश्य तो एक ओर राधा और कृष्णसंबंधी शोधसामग्री को एक साथ इकट्ठा करना और दूसरी ओर वल्लभ संप्रदाय के सिद्धांतों से उसका संबंध जोड़ना था। अतः वे झट अनुमान द्वारा निष्कर्ष निकालकर चौदहवीं शताब्दी के वैष्णव आंदोलन से उसका संबंध जोड़ देते हैं। यही पद्धति उन्होंने इस पुस्तक के अन्य प्रसंगों में तथा 'कबीर' में भी अपनाई है। अँगरेजी और बँगला में वैष्णव धर्म, बौद्ध तंत्र-मार्ग, सहजयान, शाक्त तंत्र, वैष्णव तंत्र, बाउल साधना, गौड़ीय मधुर साधना, योगमार्ग, नाथ संप्रदाय, योगी जाति आदि के संबंध में जहाँ जो कुछ लिखा मिला है, उसका उपयोग उन्होंने इन दोनों ग्रंथों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य किया है। जहाँ प्रत्यक्ष उपयोग किया है वहाँ तो मूल स्रोत का उल्लेख कर दिया है और जहाँ अप्रत्यक्ष उपयोग किया है, वहाँ मूल शोधकर्ता का नामोल्लेख न होने पर भी यह बताया जा सकता है यह सामग्री कहाँ से ली गई है। सूर साहित्य की अधिकांश सामग्री बंगीय आलोचकों, इतिहासकारों और शोधकर्ताओं के ग्रंथों से ली गई है, यह बात पादटिप्पणियों के उल्लेखों से ही स्पष्ट हो जाती है। जिन प्रसंगों में उन्होंने अन्य शोधकर्ताओं से सामग्री नहीं ली है वे बहुत सामान्य कोटि की व्याख्या मात्र होकर रह गये हैं जैसे 'सूर साहित्य' के 'प्रेम तत्व', 'सूर की विशेषता', 'कवि सूरदास की बहिरंग परीक्षा' शीर्षक अध्याय।

उनका कबीर नामक ग्रंथ जो प्रकाशित तो सन् १९४१ में हुआ पर लिखा सन् १९४० के पहले ही गया था, सूरसाहित्य की अपेक्षा अधिक गंभीर और ठोस है। पर इसमें भी लेखक का निजी शोध कुछ भी नहीं है। इस ग्रंथ की विवेच्य सामग्री और स्थापनाएँ या तो दूसरे शोधकों से ली गई हैं या लेखक ने कबीर के साहित्य की व्याख्या करके उन्हें प्रस्तुत किया है। इसकी प्रस्तावना में जुलाहा और जुगी जाति के संबंध में जो कुछ कहा गया है, वह सब क्षितिमोहन सेन की पुस्तक 'भारतवर्ष में जातिभेद' और डा० बड़थ्वाल के लेख 'कबीर के कुल का निर्णय' जो बहुत पहले वीणा में प्रकाशित हुआ था, से लिया गया है। इस प्रसंग में द्विवेदीजी ने क्षितिमोहन सेन का नाम तो लिया है पर डा० बड़थ्वाल का नामोल्लेख तक नहीं किया है। बाद के अध्यायों में भी डा० बड़थ्वाल की दोनों पुस्तकों 'हिंदी काव्य में निर्गुण धारा' और 'योग प्रवाह' की स्थापनाओं को ज्यों का त्यों उठा लिया है। दोनों ग्रंथों के संबंधित प्रसंगों को मिला कर देखने पर यह बात पूर्णतः प्रमाणित हो जाती है पर इसके लिये यहाँ अवकाश नहीं है। निर्गुण धर्मसाधना पर नाथपंथी योगियों के प्रभाव का विवेचन डा० बड़थ्वाल ने अपने शोधग्रंथ में तथा सन् १९३० में नागरीप्रचारिणी सभा में प्रकाशित 'हिंदी कविता में योगप्रवाह' शीर्षक निबंध में द्विवेदीजी से बहुत पहले ही कर दिया था। हठयोग की पद्धति पर तो रामकुमार वर्मा, डा० बड़थ्वाल आदि सबने विचार किया था और यह गोरखनाथ की शिवसंहिता के आधार पर कोई भी संकलन कर सकता है। 'निरंजन कौन है' शीर्षक अध्याय में कही अधिकांश बातें भी बड़थ्वालजी के लेख 'कुछ निरंजनी संतों की बानियाँ' में पहले ही कही जा चुकी थीं जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। रामानंद पर योग का प्रभाव और कबीर में रामानंद के प्रभाव से योग और भक्ति के समन्वय की प्रवृत्ति पर भी बड़थ्वालजी अपने ग्रंथों में लिख चुके थे जिसे द्विवेदीजी ने 'संतों भक्ति सतो गुरु आनी' शीर्षक अध्याय में बढ़ा चढ़ाकर लिख दिया है। 'योगपरक रूपक और उलटबासियाँ' शीर्षक अध्याय में सांकेतिक शब्दों के जो अभिप्राय द्विवेदीजी ने दिए हैं उनसे कहीं अधिक अर्थों का उल्लेख बड़थ्वालजी ने अपने शोधग्रंथ में किया है। कबीर के दर्शन को कबीरसाहित्य के आधार पर प्रतिपादित करने का जो कठिन कार्य बड़थ्वालजी ने किया है उसका भरपूर लाभ द्विवेदीजी ने 'ब्रह्म और माया, निर्गुण राम, बाह्याचार, भगवत्प्रेम का आदर्श' शीर्षक अध्यायों में उठाया है। यह सब कहने का तात्पर्य यह नहीं कि द्विवेदीजी का 'कबीर' महत्वपूर्ण ग्रंथ नहीं है। वस्तुतः कबीर-साहित्य के अध्येता के लिये यह ग्रंथ बहुत ही उपयोगी है पर साथ ही यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि इस ग्रंथ की समस्त सामग्री द्विवेदीजी की मौलिक खोज है।

छठा अध्याय

उपलब्धियाँ और अभाव

सन् १६२० से सन् १६४० तक की हिंदी आलोचना के इस विवेचनात्मक सर्वेक्षण का उद्देश्य तत्कालीन आलोचना का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत करना था। वह काल आज हमसे काफी पीछे छूट गया है और हिंदी आलोचना ही नहीं, समूचा हिंदी साहित्य उस काल की तुलना में पर्याप्त समृद्ध हो चुका है। अतः हम अब इस स्थिति में हैं कि उस काल की हिंदी आलोचना की उपलब्धियों और अभावों पर ऐतिहासिक तटस्थता के साथ विचार कर सकें। पिछले पृष्ठों में हम देख चुके हैं कि हिंदी आलोचना का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। आधुनिक आलोचना का प्रारंभ हिंदी में सही अर्थों में बीसवीं शताब्दी में हुआ। अतः हमारा आलोच्य काल वस्तुतः उसकी शैशवावस्था का काल था। ऐसी स्थिति में तत्कालीन हिंदी आलोचना में सभी प्रकार की पूर्णता खोजना उचित नहीं है। यही नहीं, आलोचना का स्तर और रूप बहुत कुछ आलोच्य रचनात्मक साहित्य के अनुरूप ही निर्मित होता है। अतः हम देखते हैं कि तत्कालीन हिंदी आलोचना प्राचीन हिंदी साहित्य की विवेचना की दृष्टि से जितनी संपन्न है उतनी आधुनिक साहित्य की विवेचना की दृष्टि से नहीं। इसका कारण यही है कि हिंदी का प्राचीन साहित्य तो पर्याप्त संपन्न था किंतु आधुनिक साहित्य इस काल में अभी प्रारंभिक अवस्था में ही था। इन बातों को ध्यान में रखकर ही तत्कालीन हिंदी आलोचना की उपलब्धियों, सीमाओं और अभावों पर विचार करना उचित है।

सन् १६२० से सन् १६४० तक की आलोचना का प्रतिमान बहुत कुछ आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा निर्मित हुआ था। किंतु यह प्रतिमान उस युग की आलोचना का एकमात्र प्रतिमान नहीं था। इस काल में हिंदी साहित्य में एक के बाद एक कई साहित्यिक सिद्धांत या 'वाद' प्रतिष्ठित और प्रचारित हुए, जिससे आलोचकों का भी वादग्रस्त हो जाना स्वाभाविक था। वस्तुतः यह समूचा युग विविध प्रकार के 'वादों' का युग था। हिंदी साहित्य में इन 'वादों' का प्रारंभ सर्वप्रथम इस शताब्दी के दूसरे दशक में छायावाद और रहस्यवाद के साथ हुआ। फिर चौथे दशक में प्रगतिवाद और पाँचवें दशक में प्रयोगवाद का प्रादुर्भाव हुआ। अतः आलोचकों में से भी कई किसी न किसी 'वाद' के पक्षपाती हो गए थे। छायावाद के समर्थकों ने जो आलोचना लिखी, उसे तो छायावादी

समीक्षा नहीं कहा गया पर प्रगतिवाद के समर्थकों की आलोचना को प्रगतिवादी समीक्षा अवश्य कहा गया। प्रयोगवादी लेखकों की आलोचना को प्रयोगवादी नहीं वरन् 'मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा' नाम दिया गया। इस युग के जिन समीक्षकों की आलोचना में भावुकता और अलंकृति अधिक थी उनकी समीक्षा को कुछ लोगों ने प्रभाववादी समीक्षा कहा है। उसे ही छायावादी समीक्षा भी कहा जा सकता है। इन तीनों छायावादी या प्रभाववादी, प्रगतिवादी और मनोविश्लेषणवादी समीक्षापद्धतियों का प्रभाव साहित्य पर स्थाई रूप से नहीं पड़ सका, किंतु रामचंद्रशुक्ल द्वारा प्रवर्तित ऐतिहासिक और व्याख्यात्मक समीक्षापद्धति ने हिंदी आलोचना पर अपना गहरा प्रभाव छोड़ा। यह स्थायित्व इस बात नहीं है कि शुक्लजी ने समीक्षा के जो प्रतिमान स्थिर किए थे, हिंदी के समीक्षक बाद में भी उसी को दुहराते रहे। उसको स्थाई इस अर्थ में कहा जा सकता है कि शुक्लजी के बाद उनकी ऐतिहासिक समीक्षापद्धति समाजशास्त्रीय समीक्षापद्धति के रूप में विकसित हुई। यद्यपि प्रगतिवादी समीक्षकों ने उसे मार्क्सवादी सिद्धांतों के अनुरूप ढालने का प्रयास किया और हजारीप्रसाद द्विवेदी, परशुराम चतुर्वेदी आदि ने सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक इतिहास के धरातल पर ले जाकर उसे शोध के क्षेत्र में पहुँचा दिया, फिर भी सामान्य रूप में किसी भी समीक्षात्मक कृति के लिये यह आवश्यक माना जाने लगा कि उसमें आलोच्य साहित्य या प्रवृत्ति की केवल शास्त्रीय और व्याख्यात्मक समीक्षा ही नहीं होनी चाहिए बल्कि उसे अपने युगविशेष की सामाजिक और सांस्कृतिक स्थितियों और विचारधाराओं से जोड़कर देखना चाहिए। इस तरह हिंदी आलोचना की पीठिका उत्तरोत्तर अधिक समाजशास्त्रीय होती गई। इस तरह आधुनिक समाजशास्त्रीय समीक्षापद्धति का प्रारंभ हमारे आलोच्य युग में ही आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा हुआ था।

इस युग की आलोचना की दूसरी बड़ी उपलब्धि व्याख्यात्मक समीक्षापद्धति है और इसका प्रारंभ भी आचार्य शुक्ल द्वारा ही हुआ था। शुक्लजी पहले आलोचक थे जिन्होंने पूर्ववर्ती रूढ़िवादी शास्त्रीय समीक्षा, पक्षपातपूर्ण तुलनात्मक समीक्षा और अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसावाली प्रभावात्मक समीक्षा की पद्धतियों को छोड़कर मात्र आलोच्य कृति की आतरिक प्रवृत्तियों की विवेचना करके व्याख्यात्मक समीक्षापद्धति की नींव डाली थी। हिंदी आलोचना के क्षेत्र में आधुनिकता का प्रवेश इस व्याख्यात्मक पद्धति द्वारा ही हुआ था। व्याख्यात्म समीक्षा का आधार समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, दर्शन और सौंदर्यशास्त्र होता है। आलोच्य कृति के बाह्य गुण, दोषों की गणना करना व्याख्यात्मक समीक्षा नहीं है। सच्ची समीक्षा में, जिसे व्याख्यात्मक समीक्षा कहा जाता है, रचना के मूल में निहित उन सत्यों का उद्घाटन

किया जाता है, जिन्हें रचनाकार ने अपनी नैसर्गिक प्रतिभा और जीवनसाधना के फल के रूप में उपलब्ध किया है। इस तरह व्याख्यात्मक समीक्षा रचनाकार और उसके सामाजिक परिवेश के घात प्रतिघात के अतिरिक्त रचनाकार की अंतःप्रवृत्ति के संघटक तत्वों का उद्घाटन और विवेचन भी करती है और साथ ही रचना के उस आंतरिक सूक्ष्म सौंदर्य का भी उद्घाटन करती है, जिसके कारण ही कोई रचना मूल्यवान बनती है। इस प्रसंग में रचना में व्यक्त जीवंत मूल्यों तथा अनुभूति के व्यापक और गहरे आयामों का उद्घाटन भी अनिवार्य हो जाता है। कहने की अवश्यकता नहीं कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने समय तक की ज्ञानविज्ञान संबंधी अधिकांश उपलब्धियों को जानने समझने का प्रयास किया था और उन्हीं के प्रकाश में अपना एक विशेष दृष्टिकोण निर्मित किया था, जिसके प्रकाश में उन्होंने अपनी व्याख्यात्मक समीक्षा का मार्ग निकाला था। इस दृष्टि से देखने पर यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि आज भी हिंदी आलोचना शुक्लजी द्वारा निर्मित मार्ग से अधिक इधर उधर नहीं हटी है।

इस काल की आलोचना का एक वैशिष्ट्य इस बात में भी है कि उसमें विविधता और विस्तार अधिक दिखाई पड़ता है। इसका प्रमुख कारण यह था कि इस काल में आलोचकों ने पाश्चात्य आलोचनापद्धतियों तथा पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियों से अधिकाधिक प्रभाव ग्रहण किया। स्वयं रामचंद्र शुक्ल की आलोचना आर्नल्ड और आइ० ए० रिचार्ड्स की आलोचनापद्धति से कम प्रभावित नहीं है। यही नहीं, शुक्लजी ने पाश्चात्य मनोविज्ञान और सौंदर्यशास्त्र से भी अधिकाधिक लाभ उठाया है। शुक्लोत्तर समीक्षा पर आधुनिक ज्ञान विज्ञान-मनोविश्लेषणशास्त्र, मार्क्सवाद, सौंदर्यशास्त्र, समाजशास्त्र आदि—का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। इससे सिद्ध होता है कि इस काल के आलोचकों ने हिंदी आलोचना को समृद्ध बनाने की दृष्टि से सदैव अपने दिमाग की खिड़कियाँ खुली रखीं और किसी भी विचार या सिद्धांत को अपने विवेक की कसौटी पर कसकर स्वीकार करने में हिचकिचाहट नहीं दिखाई। उदाहरण के लिये लक्ष्मीनारायण सुधांशु की अभिव्यंजनावाद संबंधी विवेचना अथवा डा० नगेंद्र की स्वच्छंदतावाद संबंधी विचारधारा को ले सकते हैं। किंतु इन बाह्य प्रभावों को ग्रहण करते हुए भी इस काल के आलोचकों ने भारतीय चिंताधारा की अवहेलना नहीं की। इसके विपरीत उनकी दृष्टि मुख्यतः भारतीय ही बनी रही। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि इस काल में हिंदी आलोचना का बहुमुखी विकास हुआ। इस विकास के क्रम में हिंदी में अनेकानेक आलोचनात्मक प्रतिभाओं का उदय हुआ। शांतिप्रिय द्विवेदी, लक्ष्मीनारायण सुधांशु, नंददुलारे वाजपेयी, नगेंद्र, हजारी-प्रसाद द्विवेदी, इलाचंद्र जोशी, प्रकाशचंद्र गुप्त, शिवदान सिंह चौहान आदि

वर्तमान आलोचकों की प्रारंभिक आलोचनाएँ इसी काल में लिखी गई थीं। इन सभी आलोचनाओं का समीक्षामार्ग एक ही नहीं था। सबने अपना अपना अलग रास्ता चुना था और इस तरह हिंदी आलोचना को वैविध्य और विस्तार प्रदान किया था।

किंतु यदि तत्कालीन आलोचना में केवल वैविध्य और विस्तार ही होता तो उसे वह महत्व न मिल पाता जो उसको आज भी प्राप्त है। उस महत्ता का कारण शुक्लजी तथा कुछ अन्य आलोचकों की वह तलगामिनी दृष्टि थी जिसके द्वारा हिंदी आलोचना में गहराई और ऊँचाई आ सकी। गहरी और पैनी दृष्टि के मामले में आचार्य शुक्ल जैसा कोई दूसरा आलोचक हिंदी ही नहीं, किसी अन्य भारतीय भाषा में नहीं हुआ। वस्तुओं के भीतर प्रवेश कर उनके वास्तविक सूक्ष्म रूप को देखने की जो प्रवृत्ति शुक्लजी से प्रारंभ हुई थी वह नंददुलारे वाजपेयी, डा० नगेंद्र, लक्ष्मीनारायण सुधांशु, स० ही० वात्स्यायन आदि शुक्लोत्तर समीक्षकों में विशेष रूप से विकसित हुई। मनोविज्ञान और दर्शन की सहायता से इन आलोचकों ने मानव मन के भीतर गहराई तक प्रवेश करके साहित्यिक कृतियों और प्रवृत्तियों का जो विवेचन किया उसका स्तर निश्चय ही बहुत ऊँचा था। इसी का यह परिणाम है कि हिंदी साहित्य अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य की तुलना में कम से कम आलोचना के क्षेत्र में तो निस्संदेह सबसे आगे है।

हिंदी आलोचना की यह गहराई और ऊँचाई उस समय व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में ही अधिक दिखाई पड़ी थी। व्यावहारिक समीक्षा में शुक्लजी ने प्राचीन हिंदी साहित्य की ओर जितना ध्यान दिया उतना अर्वाचीन साहित्य की ओर नहीं; किंतु जिस किसी कवि या साहित्यप्रवृत्ति को उन्होंने आलोचना का विषय बनाया, उसकी इतनी सूक्ष्म, सम्यक् और पूर्ण समीक्षा की कि बादवाले आलोचकों के लिये उन कवियों और प्रवृत्तियों के विषय में अधिक कहने की गुंजाइश नहीं रह गई। शुक्लोत्तर समीक्षकों में नंददुलारे वाजपेयी और डा० नगेंद्र ने आधुनिक साहित्यकारों और साहित्यिक प्रवृत्तियों को लेकर जो विवेचना की उसमें यद्यपि शुक्लजी जैसी ऊँचाई नहीं है फिर भी उनकी समीक्षात्मक कृतियाँ बहुत महत्व की हैं। सैद्धांतिक आलोचना इस काल में अवश्य उतनी पुष्ट नहीं थी फिर भी शुक्लजी और लक्ष्मीनारायण सुधांशु जैसे कुछ आलोचकों ने इस दिशा में जो थोड़ा बहुत कार्य किया था वह आज भी मानदंड के रूप में मान्य है।

शोध और साहित्य के इतिहास के क्षेत्र में भी यह काल कम महत्वपूर्ण नहीं है। शोध के क्षेत्र में डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, राहुल सांकृत्यायन,

चंद्रधर शर्मा गुलेरी, रामकुमार वर्मा और हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बहुत ही मौलिक और महत्वपूर्ण कार्य किया था। उन्होंने न केवल शोधकार्य का दिशानिर्देश किया बल्कि ऐसे भूले बिसरे तथ्यों का पता भी लगाया जिनके सूत्र को पकड़ कर आगे के शोधकर्ताओं ने अधिकाधिक कार्य किया। हिंदी काव्य की निर्गुण धारा के मूल स्रोतों के संबंध में डा० बड़थ्वाल और राहुल सांकृत्यायन के कार्य ने तो हिंदी साहित्य के इतिहास के नए अध्याय ही खोल दिए। वज्रयानी सिद्धों और गोरखनाथ के काव्य, तथा गुलेरीजी की पुरानी हिंदी की कविताओं की खोज और व्याख्या के फलस्वरूप हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास कई सौ वर्ष पीछे की ओर खिसक गया। यदि हिंदी के भाषाशास्त्रियों ने इन विद्वानों के कार्यों और मतों से लाभ उठाया होता तो हिंदी भाषा का उद्भवकाल १००० ई० से न मानकर ७०० ई० के आसपास माना गया होता। नागरी प्रचारिणी सभा ने इस काल में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज कराने का जो कार्य अपने हाथ में लिया था उसके परिणामस्वरूप हिंदी साहित्य के इतिहास की सम्यक् रूपरेखा निर्मित हो सकी। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इन सभी शोधकार्यों से लाभ उठाकर जो इतिहास लिखा वह कई दृष्टियों से आज भी हिंदी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ इतिहासग्रंथ है। इस काल में हिंदी के कई इतिहासग्रंथ लिखे गए और निश्चय ही इतिहासग्रंथों की दृष्टि से यह काल अत्यंत समृद्धि का काल है। इस काल के सभी इतिहासग्रंथों में अलग अलग कुछ न कुछ विशेषताएँ हैं किंतु उनमें से रामचंद्रशुक्ल, रामकुमार वर्मा, डा० बड़थ्वाल, हजारी प्रसाद द्विवेदी और कृष्णशंकर शुक्ल के ग्रंथ अपने अपने विषयक्षेत्र के सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ थे और आज भी उनका महत्व वैसा ही बना हुआ है।

विवेच्य काल की हिंदी आलोचना की जिन उपलब्धियों का उल्लेख ऊपर किया गया है वे अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। किंतु इन उपलब्धियों के होते हुए भी उस काल की आलोचना में अनेक अभाव वर्तमान थे। इस काल में आलोचना का अर्थ उतना व्यापक नहीं समझा जाता था जितना आज समझा जाता है। प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्र में कश्मीर के शैवागमदर्शन के प्रतिपादक आचार्यों ने ध्वनि का जो साहित्यिक सिद्धांत प्रतिपादित किया वह साहित्य के उतना ही निकट था जितना दर्शन के। उन्होंने साहित्यशास्त्र को साहित्यदर्शन का रूप प्रदान करने का प्रयास किया था। वस्तुतः जीवन साहित्य और दर्शन के विविध खंडों या घेरों में विभक्त नहीं होता है, वह एक समग्र और अखंड इकाई है। उस दृष्टि से साहित्य और दर्शन का क्षेत्र मिलाजुला है। संस्कृत के परवर्ती साहित्यकारों और आचार्यों ने साहित्य को धर्म और दर्शन से भिन्न एक स्वतंत्र लौकिक सत्ता के रूप में स्थापित करने का प्रयत्न किया था। हिंदी का

रीतिसाहित्य भी इसी भावना से अनुप्रेरित होकर निर्मित हुआ था। आधुनिक काल में द्विवेदीयुग के आलोचकों ने साहित्य को उपयोगितावादी दृष्टि से देखकर उसे और भी स्थूल वस्तु बना देना चाहा। छायावाद युग का दुर्भाग्य यह था कि इस युग की आलोचना, जिसका नेतृत्व रामचंद्र शुक्ल के हाथ में था, अधिकाधिक वैज्ञानिक पथ पर बढ़ती गई जब कि तत्कालीन छायावादी काव्य आध्यात्मिकतापरक था। इन दोनों के बीच एक ऐसी खाई थी जिसपर कोई सेतु नहीं था। इसका अर्थ यह है कि इस काल का रचनात्मक और आलोचनात्मक साहित्य किसी एक सामान्य जीवनदर्शन से प्रभावित नहीं था। जीवनदर्शन ही मनुष्य को वह मूल्य प्रदान करता है जिसके आधार पर मनुष्यसमाज अपनी सांस्कृतिक और साहित्यिक परंपराओं को तोड़ता, मोड़ता और छोड़ता हुआ साहित्य को अपने युग के नवीन संदर्भों से जोड़ता है। इस प्रक्रिया में साहित्यकार को कुछ ऐसे युगीन मूल्यों की उपलब्धि होती है जिन्हें वह अपने साहित्य के भीतर आधाररूप में संयोजित करता है। इन युगीन जीवनमूल्यों की खोज और स्थापना के बिना कोई भी रचनात्मक अथवा आलोचनात्मक कृति महत्वपूर्ण नहीं मानी जा सकती। हमारे विवेच्य काल में छायावादी और रहस्यवादी काव्य में जीवनमूल्य इतना सूक्ष्म और अभौतिक था कि ऐसा समस्त काव्य ही युगीन संदर्भों से विच्छिन्न प्रतीत होता था। प्रगतिवाद और यथार्थवाद के नाम पर लिखा जानेवाला साहित्य अधिकतर उपयोगितावादी और प्रचारात्मक था जिससे उसमें सूक्ष्म और चिरकालव्यापी जीवनमूल्यों की प्रतिष्ठा नहीं हो सकी। इसी तरह तत्कालीन आलोचनात्मक साहित्य भी अधिकतर परंपरागत जीवनमूल्यों पर ही आधारित था। परवर्ती आलोचकों ने अवश्य नवीन युगसापेक्ष्य जीवनमूल्यों की खोज करने का प्रयत्न किया किंतु उनका प्रयास अभी प्रारंभिक अवस्था में था। इस तरह सन् १९२० से १९४० ई० तक की आलोचना में हमें नवीन युगसापेक्ष्य जीवनमूल्यों का अभाव दिखाई पड़ता है।

आलोचक का कर्तव्य केवल रचनात्मक साहित्य के गुण दोषों या उसकी अंतःप्रवृत्तियों का विवेचन करना ही नहीं है बल्कि उसमें निहित जीवनमूल्यों की व्याख्या करना तथा उसी प्रसंग में नवीन जीवनमूल्यों की स्थापना करना भी है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपनी आलोचनात्मक कृतियों में जिन जीवनमूल्यों की स्थापना की है उन्हें पूर्णतः युगसापेक्ष्य और नवीन जीवनमूल्य नहीं कहा जा सकता। शुक्लजी का दृष्टिकोण परंपरावादी था यद्यपि उन्होंने अनेक स्थलों पर परंपरा को मोड़ने तथा उनकी नई व्याख्या करने का प्रयास भी किया है। ऐसी दृष्टि को पुनरुत्थानवादी दृष्टि कहा जाता है। साहित्य की परंपरागत धारा को एक दम नई दिशा में मोड़ने में पुनरुत्थानवादी जीवनदृष्टि असमर्थ

होती है। यही कारण है कि शुक्लजी की आलोचना ने साहित्य में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं उपस्थित किया, न उसे नई दिशाओं में मुड़ने के लिये प्रेरणा ही दी। नंददुलारे वाजपेयी, डा० नगेंद्र, हजारीप्रसाद द्विवेदी, शांतिप्रिय द्विवेदी आदि शुक्लोत्तर समीक्षकों में भी ऐसी समर्थ प्रतिभा नहीं थी कि वे नवीन जीवनमूल्यों की खोज और स्थापना में प्रवृत्त होते। निष्कर्ष यह कि इस काल की समीक्षा अधिकतर परंपराविहित जीवनमूल्यों को ही लेकर चलनेवाली थी और उसमें नवीन जीवनमूल्यों की खोज और स्थापना की प्रवृत्ति अधिक नहीं थी।

इस काल की आलोचना का दूसरा अभाव यह था कि उसमें हिंदी साहित्य के सभी पक्षों पर समान रूप से आलोचनात्मक दृष्टि नहीं डाली गई। उदाहरण के लिये हिंदी गद्यसाहित्य की उतनी गंभीर आलोचना नहीं हुई जितनी हिंदी-काव्य की। इसका एक कारण तो यह था कि हिंदी का गद्यसाहित्य अभी अधिक संपन्न नहीं था और गद्य की कुछ विधाएँ तो अभी शैशवावस्था में ही थीं। पर नाटक, उपन्यास और कहानी का क्षेत्र इतना सूना नहीं था कि बड़े आलोचकों का उधर ध्यान ही न जाय। इन विधाओं की ओर शुक्लजी ने भी बहुत कम ध्यान दिया था। फिर भी उन्होंने अपने इतिहास में इनके विषय में जो कुछ लिखा है, वह स्वतंत्र आलोचना जैसा ही है। पर अन्य प्रख्यात आलोचकों ने इस दिशा में इस काल में कुछ भी कार्य नहीं किया। वस्तुतः इस काल के आलोचकों का ध्यान जितना प्रवृत्तियों के विवेचन की ओर था उतना आधुनिक रचनात्मक साहित्य की कृतियों की समीक्षा की ओर नहीं था। इसी कारण वर्तमान हिंदी गद्य के कई पक्ष आलोचकों की दृष्टि से उपेक्षित हो रह गए।

इस काल की आलोचना यद्यपि अनेक दृष्टियों से अत्यंत महत्वपूर्ण है किंतु समग्र दृष्टि से देखने पर तत्कालीन आलोचनात्मक साहित्य को संपन्न नहीं कहा जा सकता। इस काल में एक कवि या प्रवृत्ति को लेकर एक एक, दो दो पुस्तकें ही लिखी गईं और अनेक प्राचीन या नवीन कवियों पर तो कुछ भी नहीं लिखा गया अथवा कुछ इनेगिने निबंध मात्र लिखे गए। इस काल में आलोचकों की संख्या भी बहुत अधिक नहीं थी और जो थोड़े से आलोचक थे वे भी एक दूसरे के मतों का खंडन करने अथवा किसी रचनाकार विशेष की ऊहात्मक प्रशंसा करने में ही अधिक रुचि लेते थे। प्रेमचंद और प्रसाद के साहित्य को लेकर इस प्रकार की बहुत सी समीक्षाएँ लिखी गईं जिनका आज कोई महत्व नहीं रह गया है। यदि इस काल में रामचंद्र शुक्ल जैसे दो चार और आलोचक हो गए होते तो निश्चय ही यह युग हिंदी आलोचना का स्वर्णयुग होता।

सन् १६२० से १६४० तक के आलोचनात्मक साहित्य के इस सर्वेक्षण से यह स्पष्ट हो गया होगा कि यद्यपि इस काल की आलोचना में अनेक अभाव वर्तमान थे पर उसकी उपलब्धियाँ इतनी महत्वपूर्ण थीं कि उनकी तुलना में उपर्युक्त अभाव महत्वहीन प्रतीत होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का व्यक्तित्व एक विशाल वटवृक्ष की तरह था और अन्य सभी आलोचनात्मक प्रतिभाएँ उस महाकाय व्यक्तित्व की छाया में दब सी गई थीं। यद्यपि उस व्यक्तित्व की विराट् छाया के हटते ही वे प्रतिभाएँ तीव्र गति से विकास के पथ पर आगे बढ़ीं किंतु वह छाया परोक्षरूप में भी परवर्ती हिंदी आलोचना पर अपना प्रभाव डालती रही। आज उन आलोचकों में से कई यह स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि वे आचार्य रामचंद्र शुक्ल की ही परंपरा के आलोचक हैं। डा० नगेंद्र और पं० नंददुलारे वाजपेयी ने शुक्लजी के समय में शुक्लजी से उतना प्रभाव नहीं ग्रहण किया जितना परवर्ती काल में किया। डा० नगेंद्र का भारतीय साहित्यशास्त्र, विशेष रूप से रससिद्धांत की ओर अग्रसर होकर आधुनिक मनोविज्ञान और पाश्चात्य आलोचना के साथ उनकी तुलनात्मक विवेचना करना इस बात का प्रमाण है कि वे शुक्लजी की समीक्षा-पद्धति और परंपरा को आगे बढ़ा रहे हैं। उसी तरह श्रीनंददुलारे वाजपेयी ने प्रयोगवाद और नई कविता की कटु आलोचना करके भारतीय राष्ट्रीय और सांस्कृतिक परंपरा को ग्रहण करने का जो आग्रह प्रदर्शित किया है उसमें भी शुक्लजी की छायावाद और रहस्यवाद संबंधी आलोचनाओं में अभिव्यक्त चिंताधारा का स्पष्ट प्रभाव दिखलाई पड़ता है। इस तरह आज भी रामचंद्र शुक्ल का प्रभाव हिंदी आलोचना पर कम नहीं है। अतः यदि केवल आलोचनात्मक साहित्य की दृष्टि से ही सन् १६२० से १६४० तक के काल का नामकरण करना हो तो उसे हम शुक्ल युग कह सकते हैं।

———

पंचम खंड

सैद्धांतिक आलोचना

डा० रामदरस मिश्र

सैद्धांतिक आलोचना

(सन् १९२० - १९४० ई०)

कालांतर में प्रत्येक प्रकार की रचना के लिये नियमों की समस्याएँ होने लगतीं हैं। आरंभ में बड़े बड़े सर्जक अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के बल पर कला की रचना करते हैं, बाद में उन रचनाओं की विशेषताओं और प्रवृत्तियों को आधार बनाकर उस कला के अध्ययन, मनन और सर्जन के लिये सिद्धांतों की सृष्टि कर दी जाती है। ये सिद्धांत उस कलाविशिष्ट के अंतर्गत प्रणीत होनेवाली समस्त कृतियों के नियमन, मूल्यांकन और उनकी सर्जनप्रक्रिया को स्पष्ट कर नए सर्जकों का मार्गनिर्देशन का कार्य करते हैं। साहित्य और उसकी समस्त विधाओं के लिये उपर्युक्त उद्देश्य को लक्षित कर जो सिद्धांत बनते हैं, उन्हें सैद्धांतिक आलोचना कहते हैं।

ये सिद्धांत रूढ़ भी होते हैं और गतिशील भी। वास्तव में जीवंत साहित्य सदैव प्रवहमान होता है। काल की धारा में बहते हुए जीवन की नितनूतन शक्ति, आकांक्षा, प्रश्न और चिंतना को रूप देनेवाला साहित्य सदैव सर्जन की नई नई समस्याओं का सामना करता है, नए जीवन सत्यों की प्रतीति को नई अभिव्यक्ति देने के लिये कृतिकार नए नए द्वार खोलता है, युगचेतना के आलोक में वह साहित्य के नए दायित्वों को समझता है। पुराने पड़े हुए मान जीवन और उसे अभिव्यक्ति देनेवाले साहित्य को न तो समझ सकते हैं और न उसकी सर्जन शक्ति में सहायक हो सकते हैं और नहीं तो उसके मार्ग में आकर उसकी गति बाधित करते हैं। वास्तव में आलोचना का दायित्व बड़ा जटिल होता है, इसे समझनेवाली आलोचना ही साहित्य को दिशा दे सकती है। इस प्रकार साहित्यसिद्धांत सदैव गतिशील रहते हैं, युग, समाज और स्वयं साहित्यकार के व्यक्तित्व के मिलेजुले तत्वों से निर्मित साहित्य को कोई भी स्थिर सिद्धांत न तो समझ सकता है, न उसका मूल्यांकन कर सकता है। अतएव या तो पुराने साहित्यसिद्धांतों को नवीन चिंतन मनन से नई दिशा देनी होती है या नए सर्जन को प्रेरित करनेवाले नए सिद्धांतों की स्थापना करनी होती है। जैसे देखा जा सकता है कि छायावादी प्रयोगवादी साहित्य को समझने के लिये आलोचना को नए मानदंड निर्धारित करने पड़े हैं। स्थिर सिद्धांत सारे युगों की कृतियों को उनकी विशिष्टता विधायक नवीन प्रकृतियों को समझे बिना एक ही कसौटी पर कसते हैं। इस प्रकार ये स्थिर सिद्धांत साहित्य के साथ न्याय नहीं कर पाते।

जो साहित्य इन स्थिर सिद्धांतों का नियमन स्वीकार कर निर्मित होता है वह रचनाकार के प्रातिभ सौंदर्य और युगचेतना से दीप्त न होकर रूढ़ियों के विराट् आडंबर से मंडित होता है। उस साहित्य के सृजन मूल में कोई अदम्य भीतरी प्रेरणा नहीं होती। उसके सामने तो पहले से बना बनाया एक राजमार्ग होता है जिसपर वह आँख मूँदकर चल पड़ता है। मान्य सिद्धांतों के आधार पर साहित्य रचने की इच्छा बाहरी उपकरणों के बटोरने में ही लगी रहती है। रूढ़ सिद्धांतों पर आधारित साहित्य भव्य हो सकता है, किंतु सप्राण नहीं। जब रूढ़ सिद्धांत नए साहित्य की व्याख्या और मूल्यांकन करने चलते हैं तब अपने अनुकूल उस साहित्य को न पाकर उसका अवमूल्यन करने लगते हैं और उसकी नई छवियों और प्रतीतियों को समझ न पाने के कारण उसे व्यर्थ और अनियंत्रित समझने लगते हैं। ऐसे पिटे पिटाए सिद्धांतों को पढ़ पढ़ाकर बहुत से लोग सहज ही आचार्य की पदवी पा लेना चाहते हैं और फिर अपने साहित्येतर मानदंडों पर साहित्य को घिसना शुरू करते हैं।

साहित्यसिद्धांतों की उपादेयता में संदेह नहीं किया जा सकता। प्राचीन काल से लेकर आजतक काव्यालोचन के जो अनेक सिद्धांत बने हैं वे सभी साहित्य को समझने की प्रक्रिया में बने हैं। साहित्य में जो महत् है, जो हीन है उसके भीतरी और बाहरी स्वरूप को सुरूप और कुरूप करनेवाले जो तत्व हैं उनका विश्लेषण कर महत्व और सौंदर्य की प्रतिष्ठा करनेवाले तत्वों को सिद्धांत रूप में स्वीकार लेना ही सैद्धांतिक आलोचना का उद्देश्य रहा है। पश्चिम और पूरब में प्राचीनकाल से लेकर आजतक साहित्य और उसकी अनेक विधाओं की रचनाप्रक्रिया, उद्देश्य, स्वरूप, प्रेरणा और उन्हें प्रभावित करनेवाले अनेक सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक प्रश्नों पर चिंतकों ने विचार किए हैं और वे ही विचार सिद्धांत का रूप धारण करते गए हैं। प्लेटो, अरस्तू, होरेस, कालरिज से लेकर टी० एस० इलियट तक और भरत मुनि, क्षेमेंद्र, मम्मट, विश्वनाथ, दंडी, वामन और पंडितराज जगन्नाथ से लेकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल तथा अन्य आलोचकों तक नए साहित्यसिद्धांतों के निर्माण और प्राचीन साहित्यसिद्धांतों के नवीन चिंतन की परंपरा चली आई है। इन विचारकों ने परवर्ती साहित्यसिद्धांतो का अध्ययन मनन कर उनमें नए अध्याय जोड़े हैं या नए सिद्धांत ही बनाए हैं। वास्तव में आलोचना में इन दोनों कार्यों का बड़ा महत्व है। साहित्य के कुछ तत्व ऐसे होते हैं जो पूर्ववर्ती और परवर्ती साहित्य में समान भाव से गृहीत होते हैं। हाँ, युगानुरूप उनका स्वरूप अवश्य बदलता रहता है। इसलिये नया आलोचक उन पुराने सिद्धांतों को नए आलोक में विकसित करता है, किंतु साहित्य की नवीन प्रगति में कुछ तत्व तो सर्वथा नए

होते हैं। उनके लिये नए सिद्धांतों के निर्माण की आवश्यकता होती है। फिर आलोचक के जीवन, विश्वास, दृष्टि और परिस्थिति के अनुसार साहित्यसिद्धांतों का स्वरूप बहुमुखी होता है; जैसे कोई कला कला के लिये मानता है, कोई अनुल वासनाओं के विकास के लिये मानता है, कोई मात्र आनंद के लिये मानता है। हिंदी साहित्य के आलोच्यकाल में हमें सैद्धांतिक समीक्षा के वैविध्य का दर्शन होता है। प्रस्तुत निबंध का आलोच्यकाल सन् १६२० और १६४० ई० के बीच का समय है। किसी काल के अंतर्गत रची गई कृतियों की समीक्षा करने की दो पद्धतियाँ हो सकती हैं-- एक तो यह कि इस काल के बीच की कृतियों की समीक्षा की जाय, दूसरी यह कि इस काल के अंतर्गत उभरनेवाली मुख्य प्रवृत्तियों को परखा जाय और इन प्रवृत्तियों के समर्थ कृतिकारों को एक साथ लिया जाय, भले ही उनकी कुछ कृतियाँ आलोच्य समय के बाद लिखी गई हों। समीक्षा की समीक्षा करते समय भी ये पद्धतियाँ अपनाई जा सकती हैं।

प्रस्तुत निबंध में मैंने दूसरा मार्ग ही अपनाया है। आलोच्यकाल के पहले का काल हिंदी साहित्य में द्विवेदीकाल के नाम से विख्यात है। सन् १६०० और १६२० ई० (जो द्विवेदीकाल का विस्तार माना गया है) के बीच साहित्य और आलोचना में नई प्रवृत्तियाँ और मान्यताएँ पनपीं। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने नई धारा का नेतृत्व किया। सैद्धांतिक समीक्षा और व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में विस्तृत कार्य किए गए। नैतिकता और उपयोगिता के स्वरों की प्रधानता होने के बावजूद द्विवेदीकाल की आलोचना आलोचना के साहित्यिक स्वरूप को उभारती दृष्टिगत होती है। अर्थात् कहा जा सकता है कि इस काल की आलोचना का मूल स्वर निर्णयात्मक था, और यह निर्णयात्मक स्वर मुख्यतः नैतिकता, सामाजिक उपयोगिता जैसे साहित्येतर मूल्यों से निर्मित था, किंतु फिर भी व्याख्यात्मक समीक्षा के विकास की पर्याप्त संभावनाएँ इनमें दीप्त थीं। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने नैतिकता के आग्रह के बावजूद रसविज्ञ कवियों की भावछवियों की बड़ी रसमयता के साथ व्याख्या की। उन्होंने एक और प्राचीन कवियों की जीवनियों और उनकी कृतियों की साहित्यिक परीक्षाएँ कीं, दूसरी ओर समसामयिक रचनाकारों के कृतित्व को तत्कालीन सामाजिक चेतना और दायित्व भावना के आलोक में देखा। व्यावहारिक परीक्षण के साथ ही उन्होंने साहित्यसिद्धांत संबंधी कुछ निबंध भी लिखे जो 'रसज्ञ रंजन' में संगृहीत हैं।

द्विवेदीजी और द्विवेदीजी के अनुयायियों के अतिरिक्त इस काल में कुछ ऐसे भी आलोचक हुए जो नैतिकता और सामाजिक उपयोगिता के भाव को छोड़कर रीतिकालीन साहित्यपरंपरा को आदर्श मानकर चले। इनमें पद्मसिंह शर्मा और लाला भगवानदीन विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। मिश्रबंधुओं की स्थिति दोनों प्रकार की समीक्षापद्धतियों के बीच दिखाई पड़ती है।

कहा जा सकता है कि आगे विकसित रूप में दिखाई पड़नेवाली आलोचना के अनेक प्रकारों का सूत्रपात द्विवेदीकाल में हो चुका था, किंतु उनकी अपनी सीमाएँ थीं। व्याख्यात्मक, निर्णयात्मक, तुलनात्मक, प्रभाववादी, रीतिवादी, ऐतिहासिक आदि अनेक प्रकार की आलोचनाओं का आरंभ हो गया था, परंतु इन सबपर द्विवेदीकाल की इस या उस मान्यता और पद्धति का प्रभाव था। अतः इन आलोचनाओं को सन् २० ई० के बाद रामचंद्र शुक्ल और श्यामसुंदर दास से प्रारंभ होनेवाली प्रौढ़ आलोचना धाराओं से स्पष्ट रूप से अलग कर सकते हैं। द्विवेदीकाल के आलोचकों की बहुत सी पुस्तकें, जैसे 'हिंदी नवरत्न', 'मिश्रबंधु विनोद', 'देव और बिहारी', 'रसज्ञरंजन', 'साहित्य संदर्भ' आदि सन् १६२० ई० के बाद की छपी हैं किंतु उन्हें सन् २० ई० के पहले की द्विवेदीयुगीन आलोचना के अंतर्गत ही समेटना चाहिए।

इसी प्रकार शुक्ल परंपरावादी, स्वच्छंदतावादी (छायावादी), प्रगतिवादी आलोचनाओं (जिनका स्वरूप सन् १६२० और ४० ई० के बीच विकसित हो गया था) के अंतर्गत आनेवाली कृतियाँ यदि सन् ४० के बाद छपी हैं तो भी उन्हें इसी बीच समेटा गया है। मनोविश्लेषणवादी समालोचना का विकास सन् ४० के इस पार और उस पार दोनों ओर हुआ है इसलिये उसे बहुत विस्तार से आलोच्यकाल के भीतर नहीं लिया गया है।

सन् १६२० और १६४० के बीच हिंदी आलोचना की मुख्यतः तीन विचार परंपराएँ लक्षित होती हैं, १—आचार्य रामचंद्र शुक्ल और उनके अनुयायियों की परंपरा, २—स्वच्छंदतावादी समीक्षकों की परंपरा और ३—प्रगतिवादी समीक्षकों की परंपरा। इन परंपराओं के प्रमुख समीक्षकों ने कृतियों का मूल्यांकन करने के लिये साहित्यसिद्धांतों का पुनः परीक्षण या नवनिर्माण किया। वास्तव में इन विभिन्न समीक्षकों की आलोचनात्मक दृष्टि का विकास विभिन्न प्रकार की कृतियों के आधार पर हुआ था, अतएव उनके साहित्यिक मानदंडों में भी अंतर होना स्वाभाविक था। साहित्य क्या है, उसकी आत्मा क्या है, उसका लक्ष्य क्या है, साहित्य को सौंदर्य प्रदान करनेवाले कौन से मुख्य तत्त्व हैं, साहित्य का दोष क्या है, उसके शिल्प के अनिवार्य गुण क्या हैं आदि बातें प्राचीन काल से ही चर्चा का विषय रही हैं और बहुचर्चित होने पर भी नित नूतन चर्चाओं की अपेक्षा रखती हैं। अतः इस काल के समीक्षकों ने भी साहित्यशास्त्र के सिद्धांतों की अपने अपने दृष्टिकोण से परीक्षा की और उन्हें अपूर्ण पाकर या तो उन्हें विकसित किया या उनकी उपेक्षा कर दूसरे मानदंड निर्मित किए।

आधुनिक काल पश्चिम और पूर्व की संक्रांति का काल है। पश्चिमी साहित्य का अध्ययन प्रारंभ हो गया था, पश्चिमी साहित्य की अनेक नई

विधाओं और विचारसरणियों को अपनाने के लिये हम आगे बढ़े। आधुनिक काल के पास भारतीय साहित्य की अपार संपत्ति थी, लेकिन अनेक विधाओं को लेकर आनेवाला पश्चिमी साहित्य आधुनिक चेतना के अधिक समीप था। आधुनिक उपन्यास, कहानी, एकांकी आदि विधाएँ अपने नवीन रूप में वर्तमान जीवन की अनेकानेक समस्याओं और वास्तविकताओं को अभिव्यक्ति देने में समर्थ थीं। मध्यकाल की रूढ़ियों के स्थिर सरोवर में साहित्य की गति बंद हो गई थी, वह सामाजिक जीवन की ज्वलंत चेतना के निकट संपर्क में न आकर कुछ स्थिर विषयों और शैलियों को शास्त्रीय परिपाटी पर ग्रहण कर परिपाटी विहित रसज्ञता का विकास करना ही अपना लक्ष्य समझ रहा था। आधुनिक काल की संघर्षरत भारतीय चेतना को अपने को व्यक्त करने के लिये पश्चिमी साहित्य से अनेक नवीन विधाएँ प्राप्त हुईं। रचना की नई विधाएँ प्राप्त हुईं तो उन विधाओं पर या साहित्य मात्र पर जो चिंतन और मनन वहाँ प्रस्तुत किए गए थे, वे भी उसे प्राप्त हुए। आधुनिक काल में पद्य के साथ ही साथ गद्य का विकास हुआ और गद्य के माध्यम से व्यक्त होनेवाला साहित्य लिखा और पढ़ा जाने लगा। गद्य के साहित्य की प्रथा अभी तक हिंदी में नहीं थी अतएव गद्य साहित्य के नवीन रूपों पर चिंतन मनन प्रस्तुत करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। कविता के संबंध में रीतिकाल के आचार्यों ने कुछ सिद्धांतचर्चाएँ की थीं, किंतु वे चर्चाएँ उनकी मौलिक उद्‌भावनाएँ न होकर संस्कृत के आचार्यों के विचारों का रूपांतर मात्र थीं। गद्य का विकास होने से आलोचना का भी विकास हुआ। तर्क, विश्लेषण, सूक्ष्म मीमांसा पद्य में संभव नहीं, गद्य में ही इन्हें विकसित होने का अवसर मिल सकता है।

पश्चिम में भारतीय साहित्य की तरह मध्यकाल में विचारपरंपरा टूटी नहीं और न तो रूढ़ हुई; इसलिये वहाँ के आलोचनसिद्धांत निरंतर जीवित साहित्य के संपर्क में होने के कारण अधिक नए और आधुनिक काल की चेतना के अनुरूप सिद्ध हुए। इसलिये सामाजिक जागृति से ऊष्म भारतीय जनता को पश्चिमी साहित्य की अनेक गद्यविधाएँ और विचारसरणियाँ अधिक वस्तुन्मुखी लगीं और इस साहित्य के संपर्क में आते ही हिंदी में भी गद्य में उपन्यास, कहानी, एकांकी, नए प्रकार के नाटक लिखे जाने लगे तथा कविता में भी परिपाटीविहित सौंदर्य के स्थान पर नव सामाजिक चेतना और जीवनमूल्य स्थान पाने लगे। संस्कृत और हिंदी के रीति काल की आलोचना की सीमा से आगे बढ़कर पुस्तकों के रूप में कृतियों और कृतिकारों तथा विभिन्न साहित्यसिद्धांतों पर विचारविमर्श होने लगा। संस्कृत साहित्य में साहित्य-सिद्धांत-चर्चा बहुत समृद्ध है, एक एक प्रश्न को लेकर सूक्ष्म विश्लेषण की लंबी परंपरा दिखाई पड़ती है। काव्य की आत्मा, काव्यहेतु, काव्य

उद्देश्य, काव्य के गुण दोष, काव्य आस्वादन की प्रक्रिया के साथ साथ काव्य के अनेक भेदों, उपभेदों, उनके विषयों, शैलियों, उद्देश्यों आदि अनेक छोटे-बड़े प्रश्नों पर संस्कृत साहित्य में गहन विवेचन प्रस्तुत हुआ है। अनेक आचार्यों की दृष्टि में दिखाई पड़नेवाली समता और विषमता उनके मौलिक चिंतन का ही परिणाम है। यह अवश्य है कि इन संस्कृत आचार्यों ने काव्यधर्म की स्थापना करते समय चिरंतनता का ही विशेष ध्यान रखा, युगसापेक्ष गतिशीलता या नवीनता की चिंता नहीं की।

वर्तमान चिंतना में युगसापेक्ष सत्यों के ग्रहण की ओर विशेष आग्रह दिखाया जाने लगा है। भाव, संवेदना, सौंदर्य, कार्यशिल्प, सभी को बदलते हुए युग के परिवेश मे देखा जाने लगा है, इसलिये प्राचीन सिद्धांतों को या तो नवीन अनिवार्यता की कसौटी पर कसकर उनमें निहित नई संभावनाओं का विकास किया जा रहा है, उनको चिंतन का नया आवास दिया जा रहा है अथवा उन्हें छोड़कर या बहुत ही गौण रूप से स्वीकारकर नए मानदंड तैयार किए जा रहे हैं। पश्चिम से आई हुई नई विधाओं के लिये पश्चिम में मान्य मानदंडों को ही स्वीकार करना पड़ा और अपने युग और समाज की वास्तविकताओं की पृष्ठभूमि पर उनकी शक्ति और सुंदरता की परीक्षा की जाने लगी। लेकिन काव्य और नाटक की विधा तो अपने यहाँ बड़ी पुरानी हैं और उन्हें ले कर इतने सारे सिद्धात निर्मित हुए हैं। अतः इनकी परीक्षा के लिये आज भी ये पुराने सिद्धांत कितने मूल्यवान तथा सार्थक हैं तथा उनमें कितना नया जोड़ने और समझने की आवश्यकता है, बार बार आलोचकों के सामने यह प्रश्न आता ही रहा है।

आलोच्यकाल में आचार्य रामचंद्र शुक्ल एक ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने पहली बार आलोचना के सिद्धात और व्यवहार पक्ष को प्रौढ़ता, उत्कर्ष और नवीन दिशा दी। रामचंद्र शुक्ल द्वारा स्थापित सिद्धांतों के पहले उनके पूर्ववर्ती और समकालीन डा० श्यामसुंदरदास के साहित्यालोचन के सिद्धातों की परीक्षा करना कालक्रम की दृष्टि से समीचीन होगा। डा० श्यामसुंदरदास का 'साहित्यालोचन' हिंदी आलोचना का सर्वप्रथम ग्रंथ है जिसमें भारतीय सिद्धांतों की परीक्षा तथा पश्चिम से आई हुई विधाओं की मीमांसा एक साथ व्यापक भूमि पर की गई। स्पष्ट है कि इन विवेचित सिद्धांतों में कुछ तो ऐसे हैं जिनका संबंध साहित्य के चिरंतन प्रश्नों से है जैसे काव्य की आत्मा क्या है? साहित्य का उद्देश्य क्या है-यानी कला कला के लिये है या जीवन के लिये या अन्य किसी प्रयोजन के लिये। दूसरे सिद्धांत विभिन्न विधाओं के रूपों से संबद्ध हैं। बहुत वादविवाद के पश्चात् यह स्थापित सा हो गया कि काव्य की आत्मा रस है। भारतीय आचार्यों ने रस के अंगों, उसके संयोग और निष्पत्ति को लेकर गहन चिंतन प्रस्तुत किए, फिर भी

इस बात में मतैक्य नहीं हो पाया कि रस की निष्पत्ति कहाँ होती है और कैसे होती है? रस कार्य में है या कर्ता में है या अनुकर्ता में है या कवि में है या प्रेक्षक या पाठक में है। फिर भी इन चर्चाओं में यह मत प्रधान रहा कि रस की निष्पत्ति मूलतः प्रेक्षक या पाठक में ही होती है। अभिनव गुप्त का अभिव्यक्तिवाद इस मत का स्थापक है। इस मत के अनुसार रस की निष्पत्ति सामाजिक (प्रेक्षक या पाठक) में होती है, क्योंकि सामाजिकों में स्थायीभाव वासना या संस्कार रूप से स्थिर रहते हैं और वे साधारणीकृत विभावादि द्वारा उद्‌बुद्ध हो जाते हैं। यानी काव्यादि का पाठ, नाटकों का अभिनय सामाजिक के हृदय में वासनारूप से स्थित स्थायी भावों को जगाने के साधन होते हैं। रस के बारे में दूसरी प्रमुख स्थापना है कि वह अलौकिक है अर्थात् काव्यानंदब्रह्मानंद सहोदर है। आचार्यों ने स्थायी भाव की संख्या निर्धारित कर नव रस मान लिए और फिर अनुभाव, संचारीभाव आदि की भी संख्याएँ निश्चित कर ली गईं। बाद के आलोचकों और हिंदी के रीतिकाल के आचार्यों ने इन आचार्यों द्वारा स्थापित रस के स्वरूप पर चिंतन मनन न कर उसे आप्त सत्य की तरह स्वीकार कर लिया और बने बनाए सूत्र के आधारपर कविताएँ लिखते रहे। आधुनिक काल में मनोविज्ञान तथा अन्यान्य वैज्ञानिक सत्यों के विकास के नाते नई चेतना का उदय हुआ और इस नई चेतना ने समस्त प्राचीन का वस्तुवादी दृष्टि से आकलन करने के लिये आधुनिक मनीषा को प्रेरित किया। रामचंद्र शुक्ल रस को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हुए भी उसके नए वैज्ञानिक विवेचन की ओर प्रवृत्त हुए और रस के प्रसंग में उन्होंने अनेक नए प्रश्न उठाए और उनका समाधान किया। स्वीकृत रसस्वरूप को विकसित कर उसकी नई संभावनाओं की ओर संकेत किया। आचार्य शुक्ल समयक्रम से डा० श्याम-सुंदरदास के पीछे आते हैं, किंतु दोनों के कार्य प्रायः समकालीन थे। आचार्य शुक्ल ने रस के क्षेत्र में जो नई स्थापनाएँ कीं वे बाबू साहब (डा० श्यामसुंदरदास) को पसंद नहीं आईं। उन्होंने शुक्लजी की मान्यताओं के विपरीत और प्राचीन आचार्यों के अनुकूल रस के स्वीकृत स्वरूप को ही ग्रहण किया। हाँ, विवेचन का ढंग नया अवश्य हो गया। शुक्लजी की स्थापनाओं की चर्चा अपने स्थान पर होगी, हम बाबू साहब के रससंबंधी सिद्धांतों को देखें।

बाबू साहब ने रससंबंधी समस्त चर्चाओं का उल्लेखकर अभिनवगुप्ताचार्य के मत का समर्थन किया है तथा रस के अंगों, उपांगों की जानकारी देते हुए रस के प्रकरण को पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है। बाबू साहब ने रस की अलौकिकता स्वीकार की है। रस अलौकिक है अर्थात् आनंददायी है, आनंददायी इसलिये है कि उसका साधारणीकरण होता है। बाबू साहब ने अभिनवगुप्त के साधारणीकरण और उसके भीतर से दीप्त होनेवाले ब्रह्मानंदसहोदर आनंद को

केशवप्रसाद मिश्र की 'मधुमती भूमिका और परप्रत्यक्ष' के नियम के आधार पर सिद्ध किया है। मिश्रजी ने 'मधुमती भूमिका और परप्रत्यक्ष' का सिद्धांत दर्शन से लिया है। पातंजल सूत्रों के भाष्यकर्ता भगवान् व्यास की दार्शनिक मधुमती भूमिका को मिश्रजी ने रस के प्रसंग में प्रयुक्त किया है। 'मधुमती भूमिका' चित्त की वह विशेष अवस्था है जिसमें वितर्क की सत्ता नहीं रह जाती। शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों की पृथक् प्रतीति वितर्क है। दूसरे शब्दों में वस्तु, वस्तु का संबंध और वस्तु के संबंधी इन तीनों के भेद को अनुभव करना ही वितर्क है। जैसे, 'यह मेरा पुत्र है' इस वाक्य से पुत्र, पुत्र के साथ पिता का जन्यजनक संबंध और जनक होने के नाते संबंधी पिता इन तीनों की पृथक् पृथक् प्रतीति होती है। इस पार्थक्यानुभव को अपर प्रत्यक्ष भी कहते हैं। जिस अवस्था में संबंध और संबंधी विलीन हो जाते हैं केवल वस्तु मात्र का आभास मिलता रहता है उसे परप्रत्यक्ष या निर्वितर्क समापत्ति कहते हैं। जैसे पुत्र का केवल पुत्र के रूप में प्रतीत होना। इस प्रकार प्रतीत होता हुआ पुत्र प्रत्येक सहृदय के वात्सल्य का आलंबन हो सकता है। चित्त की यह समापत्ति सात्विक वृत्ति की प्रधानता का परिणाम है। रजोगुण की प्रबलता भेद बुद्धि और तत्फल दुःख का तथा तमोगुण की प्रबलता अबुद्धि की तत्फल मूढ़ता का कारण है। जिसके दुःख और मोह दोनों दबे रहते हैं, सहायकों से उन्मेष पाकर उभरने नहीं पाते, उसे भेद में भी अभेद और दुःख में भी सुख की अनुभूति हुआ करती है। चित्त की यह अवस्था साधना के द्वारा भी लाई जा सकती है और न्यूनातिरेक मात्रा में सात्विकशील सज्जनों में स्वभावतः भी विद्यमान रहती है। इसको सत्ता से ही उदारचित्त सज्जन वसुधा को अपना कुटुंब समझते हैं और इसके अभाव में क्षुद्र चित्त व्यक्ति अपने पराए का बहुत भेद किया करते हैं और इसी लिये दुःख पाते हैं क्योंकि 'भूमा वै सुखम् नाल्पे सुखमस्ति।' रस सहृदय को इसी मधुमती भूमिका पर ले जाते हैं जहाँ सहृदय संबंध और संबंधी के ज्ञान को भूल जाता है, केवल उसे वस्तु का आभास मिलता रहता है। यह अवस्था आनंद की होती है इसलिये रस आनंदमय है।

कहना न होगा कि डा० श्यामसुंदरदास ने रससंबंधी सारी ज्ञातव्य बातों का परस्पर संयोजन किया, कोई मौलिक उद्भावना नहीं की। हाँ, इतना अवश्य किया है कि भावों को इंद्रियजनित, प्रज्ञात्मक और रागात्मक तीन कोटियों में बाँटकर उनका मनोवैज्ञानिक ढंग से विवेचन किया है; या यों कहा जाय कि वर्तमान काल में विकसित मनोवैज्ञानिक चिंतन का रस के प्रसंग में थोड़ा बहुत उपयोग किया है।

'साहित्यालोचन' वास्तव में पश्चिमी और भारतीय साहित्यशास्त्र के सिद्धांतों का सुंदर समुच्चय है, जिसमें कला, साहित्य, काव्य, उपन्यास, नाटक, कहानी, निबंध;

आलोचना के संबंध में स्थापित विचारों को समन्वयात्मक दृष्टि से गुंफित करने का प्रयत्न किया गया है। लेखक के स्वतंत्र चिंतन का उत्फुल्ल उभार नहीं दीखता, लेकिन उसकी निजी रुचि, अरुचि का व्यक्तित्व सर्वत्र प्रतिबिंबित है। वह विभिन्न मतों का खंडन और समर्थन करता चलता है, अपनी ओर से निष्कर्ष निकालता चलता है और हिंदी साहित्य की तद्‌युगीन रचना या आलोचना में उभरनेवाली प्रवृत्तियों के पक्ष विपक्ष में विचार करता चलता है। कुल मिलाकर बाबू साहब साहित्य को प्राचीन और नवीन, पश्चिम और पूरब की विकसित और मिली-जुली उपलब्धियों के आधार पर परखने के पक्षपाती ज्ञात होते हैं। निष्कर्ष रूप से इनके साहित्यसिद्धांतों को हम निम्नलिखित रूप में देख सकते हैं।

१—काव्य की आत्मा रस है, रस अलौकिक और ब्रह्मानंदसहोदर है।

२—काव्य कला के अंतर्गत है। डा० साहब ने कला का विशद विवेचन करते हुए उसके अनेक भेदों की व्याख्याएँ की और काव्य को उन सारी कलाओं में श्रेष्ठ माना। भारत में काव्य को कला के अंतर्गत नहीं माना गया था, क्योंकि कलाओं को मनोरंजनप्रधान और काव्य को रसप्रधान स्वीकृत किया गया था, किंतु बाबू साहब ने सारी कलाओं की मूल प्रेरणा एक ही मानी। प्रभाव की अधिकता और स्थूल उपकरणों की स्वल्प ग्रहणता के अनुपात से कलाएँ एक दूसरे से अधिक महत्वपूर्ण होती जाती हैं, काव्य इसी लिये श्रेष्ठतम कला है। बाबू साहब का यह चिंतनप्रकरण हीगेल और बार्सफोल्ड के कलाविभाजन के सिद्धांतों पर आधारित है, लेकिन उपर्युक्त विचारकों के विचारों को अपनाते हुए भी लेखक ने संस्कार और वृत्तियाँ, अभिव्यंजना की शक्ति, कला और अभिव्यंजना, कला और मनःशक्तियाँ, कला और प्रकृति, कला और आचार जैसे नए विषयों के विवेचन से कलासंबंधी चर्चा को अधिक रूप से पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया।

३—काव्य मानवजीवन का विशद चित्र है। वह समाज से विच्छिन्न होकर कवि की वस्तुनिरपेक्ष कल्पना और प्राणहीन रूपविलास को लेकर नहीं जी सकता। काव्य सामाजिक होता है लेकिन सामाजिक के अंतर्गत समाज की राजनीति, धार्मिक आर्थिक परिस्थितियाँ, परंपराएँ, नए युग के प्रभाव के कारण जगी हुई नई संभावनाएँ मान्यताएँ सभी अंतर्भुक्त हैं। सामाजिक स्वरूपों की अभिव्यक्ति के लिये साहित्यकार अपने व्यक्तिगत भीतरी जीवन को सर्वथा त्याग नहीं देता है, यदि ऐसा हो तो साहित्य का निर्माण कार्य असंभव हो जाय।

'साहित्यालोचन' और 'रूपक रहस्य' डा० श्यामसुंदरदास की सैद्धांतिक आलोचनासंबंधी पुस्तकें हैं।

हिंदी में सर्वप्रथम सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना का प्रौढ़ रूप आचार्य शुक्ल की समीक्षाओं में दिखाई पड़ा। आचार्य शुक्ल सच्चे अर्थों में

नए सिद्धांतों की स्थापना करनेवाले या पुराने सिद्धांतों को नई दिशा देनेवाले आचार्य थे। शुक्लजी ने पश्चिमी साहित्य की प्रवृत्तियों और युगीन आवश्यकताओं को समझा और परखा, लेकिन उन्होंने साहित्यसर्जन और आकलन का मूलाधार भारतीय सिद्धांतों को ही स्वीकृत किया। शुक्लजी ने भी डा० श्यामसुंदरदास के साथ ही आलोचना को साहित्यिक रूप प्रदान किया, परंतु शुक्लजी ने आलोचना को साहित्यिक शैली प्रदान करने के लिये भारतीय साहित्य का मंथन किया और उच्चकोटि के काव्य का रहस्य समझा। शुक्लजी की दृष्टि में महान् काव्य का पहला गुण है भावों की गहराई, व्यापकता तथा औदात्य से संपन्न होना। जो काव्य मानवजीवन और जगत् के जितने ही अधिक मार्मिक और सामान्य भावों को अपने में ग्रहणकर पाठकों का मानसिक स्तर ऊँचा और संवेदनशील बना सकेगा वह उतना ही महान् काव्य है। शुक्लजी इसी लिये भारतीय रसवाद को विशेष महत्व देते हैं। काव्य की रसात्मक स्थिति को विशेष महत्व देते हुए भी वे काव्य को लोकमंगल जैसे आदर्श पक्ष से जोड़ते हैं। शुक्लजी अपने इन दो अडिग और दृढ़ सिद्धांतों के आलोक में साहित्य के सारे मर्मों का उद्घाटन और मूल्यांकन करते हैं।

डा० श्यामसुंदरदास के रसवाद की चर्चा हो चुकी है। वे रसवाद को स्वीकारते हुए भी रस चर्चा को आगे नहीं बढ़ा सके, किंतु आचार्य शुक्ल ने रस को सामाजिक भूमिका पर प्रतिष्ठित कर उसके अनेक ऐसे पक्षों को और संबद्ध प्रश्नों को सामने रखा और उनपर विचार किया जो पहले के रसवादी आचार्यों द्वारा उद्घाटित नहीं किए गए थे या जो गलत रूप में पेश किए गए थे। जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिये मनुष्य की वाणी जो शब्दविधान करती आई है उसे कविता कहते हैं। इस साधना को हम भावयोग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञानयोग का समकक्ष मानते हैं[1]। रस पर आधारित यह कविता अपने उद्देश्य में महान् होती है अर्थात् वह केवल आनंद नहीं प्रदान करती, बल्कि आनंद देने के साथ साथ मनुष्य के मनोविकारों का परिष्कार कर शेष सृष्टि के साथ उस के रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह करती है 'कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ संबंधों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोकसामान्य भावभूमि पर ले जाती है जहाँ जगत् की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है। इस

[1] शुक्ल : रस मीमांसा, पृष्ठ ५-६।

भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिये अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोक सत्ता में विलीन किए रहता है। उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है या हो सकती है। इस अनुभूति योग के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह होता है[1]।'

शुक्लजी की इस व्याख्या से स्पष्ट है कि रस काव्य की आत्मा है और वह मानव हृदय को परिष्कृत कर उसे मानवीय भावों की रक्षा और दानवीय वृत्तियों तथा कार्यों के दमन के लिये प्रेरित करता है अर्थात् रस का लोकमंगल से सीधा संबंध है। दूसरी बात इस प्रसंग में यह स्पष्ट होती है कि काव्य में विषयवस्तु प्रमुख है और विषय भी ऐसे होने चाहिए जो हमारे नित्य के परिचित हों और अपने आप में महत्त्वशाली हों, क्योंकि 'जिन रूपों और व्यापारों से मनुष्य आदिम युगों से ही परिचित है, जिन रूपों और व्यापारों को पाकर वह नर जीवन के आरंभ से ही लुब्ध और क्षुब्ध होता आ रहा है उनका हमारे भावों के साथ मूल या सीधा संबंध है।''' इस विशाल विश्व के प्रत्यक्ष से प्रत्यक्ष और गूढ़ से गूढ़ तथ्यों को भावों के विषय या आलंबन बनाने के लिये इन्हीं मूल रूपों और मूल व्यापारों में परिणत करना पड़ता है[2]।'

रस को आचार्यों ने अलौकिक तथा उसके आनंद को ब्रह्मानंदसहोदर माना है किंतु शुक्लजी ने इस मान्यता को अस्वीकार किया है। उनकी दृष्टि से काव्यानुभूति और लोकानुभूति में कोई अंतर नहीं है। उनका कहना है कि चाहे काव्य हो चाहे जीवन की घटना, जिस किसी से प्रभावित होकर हम कुछ क्षणों के लिये वैयक्तिक रागद्वेष से मुक्त होकर सामान्य भावभूमि पर पहुँच जाते हैं, उच्च कोटि की अनुभूति है। जीवन में अनेक ऐसे अवसर आते हैं जब हम अपने ही राग द्वेष में बँधे रहने के कारण काव्यानुभूति का अनुभव नहीं कर पाते। दूसरी ओर काव्य के क्षेत्र में भी बहुत सी घटिया रचनाएँ मिलती हैं जिनमें या तो चामत्कारिक तमाशे खड़े होते हैं या वैयक्तिक अनुभूतियाँ होती हैं। शुक्लजी की मान्यता है कि 'रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक् कोई अंतर्वृत्ति नहीं, बल्कि उसी का एक उदात्त और अवदात्त स्वरूप है।' रसानुभूति का ब्रह्मानंदसहोदर के रूप में ग्रहण केवल उसकी उच्चता सिद्ध करने के लिये हुआ है। शुक्लजी ने काव्यानुभूति को लोकानुभूति से जोड़कर रस के ब्रह्मानंदसहोदरत्व और अलौकिकता को आधार बनाकर नकली आध्यात्मिक

[1] शुक्ल : रस मीमांसा, पृष्ठ ५-६।
[2] वही।

अनुभूतियों को अपनानेवाली तथा जगत् का प्रकृत आधार छोड़कर रहस्यमय लोक में विचरण करनेवाली कविताओं का खंडन किया।

शुक्लजी ने अपनी उपर्युक्त मान्यता के आधार पर रस की उत्तम और मध्यम कोटियाँ निर्धारित कीं तथा क्षणिक दशा, स्थायी दशा और शील दशा के आधार पर रस के विभाग किए। 'रसात्मक बोध' शीर्षक निबंध में उन्होंने रूपविधान के तीन भेद किए—(१) प्रत्यक्ष रूपविधान, (२) स्मृत रूपविधान और (३) संभावित या कल्पित रूपविधान। इन तीनों विधानों में शुक्लजी ने रसानुभूति मानी है, लेकिन यह भी स्पष्ट किया है कि कविता में तीसरे प्रकार का रूप-विधान ही प्राह्य हुआ है और यह ठीक भी है क्योंकि काव्य शब्दव्यापार है।

साधारणीकरण के प्रसंग में शुक्लजी ने साधारणीकरण की कुछ ऐसी शर्तों की विवेचना की है जिनपर प्राचीन आचार्यों ने विचार नहीं किया था। प्राचीन आचार्यों ने तो इतना भर कह दिया कि विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से स्थायी भाव रसदशा प्राप्त करता है, किंतु शुक्लजी ने साधारणीकरण या रसनिष्पत्ति के लिये केवल आलंबन अपेक्षित नहीं समझा बल्कि उसमें आलंबन धर्म की स्थापना करना आवश्यक माना। रसनिष्पत्ति के लिये आवश्यक है कि आलंबन में अभिप्रेत भाव जगाने का गुण हो या कवि द्वारा आरोपित किया जाय।

कहा जा चुका है कि शुक्लजी ने काव्य की मूल प्रकृति को लोकमंगल के पक्ष से संबद्ध माना। लोकमंगल काव्य पर ऊपर से आरोपित किया हुआ बाह्य धर्म नहीं है, बल्कि उसकी प्रकृति में अंतर्निहित है। काव्य की आत्मा है रस। रसानुभूति जगानेवाले पात्र का सामाजिक भावों से निर्मित होना आवश्यक है। सामाजिक मर्यादा को खंडितकर अपनी अतिवैयक्तिक सनक या दानवी वृत्तियों को लेकर चलनेवाला पात्र कभी भी हमारे भावों का आलंबन नहीं हो सकता। रस के क्षेत्र में सामाजिक औचित्य की स्थापना कोई नई वस्तु नहीं है, किंतु जहाँ रस और औचित्य संप्रदाय के प्राचीन आचार्यों ने औचित्य को रसनिष्पत्ति का साधक माना है वहाँ शुक्लजी ने दोनों को अन्योन्याश्रित माना। अर्थात् औचित्य रसनिष्पत्ति में सहायक होता है और रसनिष्पत्ति से औचित्य का संप्रसारण और संशोधन होता है। लोकधर्म के आधार पर शुक्लजी ने काव्य के दो भेद किए—(१) आनंद की साधनावस्था, (२) आनंद की सिद्धावस्था। आनंद की साधना-वस्था में मंगलविधान करनेवाले दो भाव हैं—करुणा और प्रेम। करुणा की गति रक्षा की ओर होती है और प्रेम की रंजन की ओर। आनंद की सिद्धावस्था में मुख्य भाव है प्रेम। इस क्षेत्र में अन्य भाव प्रेम के वशवर्ती होकर ही आएँगे।

शुक्लजी आनंद की साधनावस्था को सिद्धावस्था की अपेक्षा श्रेष्ठ मानते हैं, इसलिये प्रबंध काव्यों को मुक्तकों की अपेक्षा अच्छा मानते हैं। प्रबंध काव्यों में

प्रयत्न की विविधता होती है, मानव के विविध भावों की छटा एकसाथ दिखाई पड़ती है। मुक्तक काव्यों में आनंद की सिद्धावस्था होती है। उनमें जीवन के विविध पक्षों, विविध भावों, विविध प्रयत्नों का, नहीं वरन् एक सिद्ध भाव का, विशेषतया प्रेम का चित्र होता है।

शुक्लजी ने काव्यसंबंधी अन्य प्रश्नों पर भी मार्मिकता से विचार किया और अपनी मान्यताएँ स्थापित कीं। जैसे काव्य और कला में भिन्नता है। वे मूलतः कला का संबंध वाग्वैचित्र्य या चमत्कार से मानते हैं, जब कि काव्य का मूल स्वरूप अनुभूति, रस, संवेदना आदि में निहित है। शुक्लजी काव्य में रहस्यवादी प्रवृत्ति को नकली मानते हैं। काव्य के उपादान प्रत्यक्ष जगत् से लिए जाने चाहिए क्योंकि उसका मुख्य विषय अनुभूति और भाव ही है। शुक्लजी ने कल्पना और काव्य के संबंधों की व्याख्या करते हुए कल्पना के विविध रूपों का विश्लेषण किया। 'रसमीमांसा', 'चिंतामणि' और 'काव्य में रहस्यवाद' के निबंधों में शुक्लजी के साहित्यालोचन संबंधी विचार दर्शनीय हैं। शुक्लजी की इन सैद्धांतिक स्थापनाओं को आधार बनाकर चलनेवाले आलोचकों की एक बड़ी परंपरा है। इस परंपरा में बाबू गुलाबराय, डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पं० चंद्रबली पांडेय, श्रीलक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', डा० केसरीनारायण शुक्ल, पं० कृष्णशंकर शुक्ल और डा० सत्येंद्र के नाम लिए जा सकते हैं। किंतु इनमें से अधिकाश ने शुक्लजी की मान्यताओं को आधार बनाकर कृतियों का मूल्यांकन ही किया, वे शुक्लजी की तरह नए सिद्धांतों की न तो स्थापना कर सके और न तो शुक्लजी के सिद्धांतों की चर्चा आगे बढ़ा सके। शुक्लजी के सिद्धांतों की परंपरा में विचारचर्चा के जो नए प्रयास हुए उनमें श्रीपदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, बाबू गुलाब राय के 'काव्य के रूप' 'सिद्धांत और अध्ययन', डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा के 'कहानी का रचनाविधान', पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के 'वाङ्मय विमर्श', श्रीलक्ष्मीनारायण सुधांशु के 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धांत' तथा 'काव्य में अभिव्यंजनावाद', डा० सत्येंद्र के 'समीक्षा के सिद्धांत' तथा 'कला कल्पना और साहित्य' का उल्लेख किया जा सकता है। श्रीपदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का कार्य विशेषतया व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र से संबद्ध है। बाबू गुलाब राय के साहित्यसिद्धांत शुक्लजी के सिद्धांतों पर अवलंबित होने के बावजूद अधिक लचीले हैं। आपने पूर्व और पश्चिम, प्राचीन तथा नवीन सभी प्रकार के विचारों को आपस में मिलाकर उदार साहित्यसिद्धांतों की स्थापनाएँ करनी चाही हैं। शास्त्रीय प्रश्नों को भी आधुनिकता के आलोक में देखने का प्रयत्न किया है। 'रस और मनोविज्ञान', 'अभिव्यंजनावाद और कलावाद', 'कविता और स्वप्न' आदि साहित्यसिद्धांतों की चर्चा में इसी लिये बाबू साहब की मौलिकता के दर्शन होते हैं।

डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा की 'कहानी का रचना विधान' पुस्तक कहानी-कला के सिद्धांतों की मार्मिक और विशद विवेचना प्रस्तुत करती है। (यो यह पुस्तक सन् १९५६ में लिखी गई है।) इस पुस्तक में लेखक ने कहानी के शिल्प के क्षेत्र में प्रचलित सभी प्रयोगों को सहृदयतापूर्वक देखा है और उनका वस्तुगत विवेचन किया है। यह नहीं कहा जा सकता कि लेखक ने कहानीकला के क्षेत्र में किसी नए सिद्धांत या विचारसरणि की स्थापना की है, किंतु यह अवश्य है कि सभी विचारों को सुसंबद्ध रूप में दृष्टि में रखकर लेखक ने कहानी का बड़ा निर्भ्रांत स्वरूप सामने रखा है और इस प्रकार वह मानता है कि कहानी में दो भेदक गुण होते हैं—(१) विषय का एकत्व अथवा मूलभाव की अनन्यता और (२) प्रभावसमष्टि अथवा प्रभावान्विति।

विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने आलोचनसिद्धांत के क्षेत्र में शुक्लजी को दुहराया है। ये भी रसवाद को माननेवाले हैं लेकिन इनमें शुक्लजी की तरह नवीन स्थापनाओं की प्रवृत्ति नहीं है। इन्होंने रसों तथा काव्यसंप्रदायों की व्याख्याएँ पुराने लक्षणग्रंथों के आधार पर की हैं। ये पुरानी विपुल सामग्रियों का उपयोग नवीन युगनिर्माण के लिये नहीं, वरन् परिचय ज्ञान के लिये करते हैं। ये साहित्य को एक शाश्वत भावधारा का अभिव्यंजक मानते हैं। पाश्चात्य विचारों का भी ग्रहण मिश्रजी ने उसी मात्रा में किया है जितनी मात्रा में वे भारतीय रसवाद के समीप जान पड़ते हैं। शुक्लजी की ही भांति ये भी साहित्य को लोकहित से जोड़ते हैं।

श्रीलक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' शुक्लजी की परंपरा के होते हुए भी कुछ अपने ढंग से सिद्धांतों की चर्चाएँ करते हैं। 'सुधांशु' जी ने 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धांत' में भावों और जीवन की अलग अलग विविध स्थितियों तथा उनके पारस्परिक प्रभावों का विवेचन दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक आधार पर किया है। लेखक ने साहित्य को सर्जित और प्रभावित करनेवाली कुछ मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं का रहस्य बड़ी मार्मिकता से उद्घाटित किया है। लेखक ने रस-निष्पत्ति, अर्थबोध, काव्य की प्रेरणाशक्ति, छंद और लय पर अपने ढंग से विचार रखे हैं। लेखक ने फ्रायड के कामवाद पर भारतीय दार्शनिकों के मत के आलोक में चर्चा की है। वास्तव में काम कविता को जन्म देनेवाले प्रेरक आवेगों में प्रमुख है।

स्वच्छंदतावादी (छायावादी) समीक्षा

छायावादी कविता के उद्भव और विकास के पश्चात् आलोचना के मान में नए परिवर्तन लक्षित हुए। छायावादी साहित्य का स्वरूप परिपाटीबद्ध साहित्य से बहुत कुछ भिन्न था। वह नई चेतना, नया सौंदर्यबोध, नया भाव-

बोध और नया शिल्पविधान लेकर आया था। आलोचना के पुराने मान इस नवीन साहित्य को समझने और इसका मूल्य आँकने में असमर्थ रहे। अतः नवीन साहित्यसिद्धांतों की स्थापना की आवश्यकता पड़ी। छायावादी साहित्य के आधार पर निर्मित आलोचनसिद्धांत में निम्नलिखित बातें प्रमुख हैं—

(१) आत्मानुभूति की प्रधानता—छायावादी समीक्षक शास्त्रीय आलोचकों की पिटी पिटाई, बँधी बँधाई शैली पर न चलकर स्पष्ट घोषित करते हैं कि शुद्ध भाव और अनुभूति की अभिव्यक्ति ही साहित्य का उद्देश्य है। साहित्यकार के लिये सामाजिक आदर्शों, नैतिकताओं और बाह्य चेतनाओं से प्रभावित होना आवश्यक नहीं, संचालित होना तो बिल्कुल आवश्यक नहीं। समीक्षक को यही देखना चाहिए कि लेखक ने प्रस्तुत कृति में कहाँतक भावों और अनुभूतियों की कुशल अभिव्यक्ति की है और इस प्रकार वह कहाँतक आनंद की सृष्टि में समर्थ हो सका है। ये अनुभूतियाँ और भाव किस कोटि के हों, यह आवश्यक प्रश्न नहीं है आवश्यक शर्त यह है कि वे अनुभूतियाँ हों। अनुभूति छोटी बड़ी नहीं होती, अनुभूति अनुभूति होती है। सच्चाई के साथ अनुभूतियाँ प्रकाशित हों तो उत्तम साहित्य की सृष्टि होती है। अनुभूति समाज की है या व्यक्ति की, एक वर्ग की है या अनेक वर्गों की, यह प्रश्न गौण है, वह सच्ची अनुभूति है कि नहीं यह मुख्य प्रश्न है। छायावादी साहित्य पूँजीवादी समाज की वैयक्तिक चेतना से अनुप्राणित होनेवाला साहित्य है। अतः उसमें सर्वत्र कवि की आत्मानुभूति की प्रधानता लक्षित होती है। कवियों ने परिपाटीबद्ध सामाजिक और साहित्यिक चेतनाओं को तोड़कर वैयक्तिक दृष्टि से प्रत्येक वस्तु को देखा अतः जो कुछ उन्होंने अनुभव किया उसी को महत्व दिया। छायावादी आलोचना ने इसी लिये आत्मानुभूति के निविड़ आवेग को साहित्य का प्रमुख तत्व माना। 'साहित्य आत्माभिव्यक्ति है। आत्माभिव्यक्ति ही आनद है पहले स्वयं लेखक के लिये फिर प्रेषणीयता के नियमानुसार पाठक के लिये।'[१]

उपर्युक्त मान्यता को साहित्य का मूल तत्व स्वीकार कर लेने के कारण छायावादी समीक्षा ने विषय की अपेक्षा विषयी को महत्व दिया। शास्त्रीय परिपाटी में अच्छे काव्य के लिये अच्छे विषय का चुनाव अनिवार्य माना गया है। प्रबंध काव्यों, नाटकों आदि के पात्रों का इतिहास पुराण ख्यात तथा उदात्त होना आवश्यक है, किंतु छायावादी साहित्य ने विषय की लघुता और महानता का बंधन तोड़ दिया। अतः छायावादी समीक्षा की दृष्टि में भी विषय की महानता

[१] विचार और अनुभूति, डा० नगेंद्र, पृ० १७।

या लघुता के स्थान पर आत्मानुभूति की सघनता या विरलता का प्रश्न महत्व का हुआ। विषयों मे स्वतः महान् या लघु साहित्य रचने की क्षमता अक्षमता नहीं होती है। क्षमता तो होती है साहित्यकार में जो अपनी संवेदना और अनुभूति के स्पर्श से बाह्य विषयों को प्राणवान् कर देता है और इसी स्पर्श से स्पंदित होकर ये विषय काव्यविषय बनते हैं। 'विषय अपने आप में कैसा है, यह मुख्य बात नहीं थी बल्कि मुख्य बात यह रह गई थी कि विषयी (कवि) के चित्त के राग विराग से अनुरंजित होने के बाद वह कैसा दिखता है। विषय इसमें गौण हो गया, विषयी (कवि) प्रधान। तीन बातें सन् १९२० ई० के बाद के काव्य साहित्य मे अधिक दिखने लगीं—कवि की कल्पना, उसका चिंतन और उसकी अनुभूति।'[1]

अनुभूति और नैसर्गिक भावावेग को काव्य का मुख्य उपजीव्य मान लेने के कारण छायावादी समीक्षकों ने इतिवृत्तात्मक और प्रबंधात्मक कविताओं की अपेक्षा भाववादी गीतो को उच्च स्थान दिया। 'जहाँ एक ओर नए समीक्षकों ने विशुद्ध प्रेमगीतों को प्रबंधमूलक रचनाओ और उनमें प्रदर्शित नीतिवाद से पृथक् और उच्चतर स्थान देने की चेष्टा की वहीं भक्ति के नाम पर रचित भाव-रहित शुष्क अतिशृंगारी काव्य को भी उन्होंने अलग कर दिया है।'[2]

(२) सौंदर्यदृष्टि—छायावादी सौंदर्यदृष्टि ने वस्तुजगत् की छवियों और उसकी आंतरिक चेतनाओं, राग विरागों अर्थात् मानसिक छवियों, दोनों को अगाध आस्था से देखा। वस्तुजगत् के भीतर की छवि या चेतना को देखना इन कवियों की आत्मवादी दृष्टि का परिणाम था। इन्होंने बाह्य संसार को अपनी समस्त रागात्मकता के साथ देखा, इसी लिये इन्हें कोई भी वस्तु या दृश्य स्थूलवस्तु या दृश्य के रूप मे लक्षित नहीं हुआ, उसके भीतर कवि को अपनी सी, मानव की सी, स्पंदनशीलता या चेतन व्यक्तित्व दिखाई पड़ा। इसलिये छायावादी सौंदर्यदृष्टि किसी भी व्यक्ति या वस्तु के स्थूल सौंदर्य को ही सौंदर्य नहीं मानती, वह उसके भीतर निहित आंतरिक सौंदर्य या मानसचेतना को देखना और उद्घाटित करना चाहती है। बाहर और भीतर की रूपसंश्लिष्टता ही सच्चे अर्थों मे सौंदर्य का सृजन करती है। प्रकृति और मानव दोनों का चित्रण तथा परीक्षण करते समय छायावादी कविता तथा आलोचना की सौंदर्यचेतना इस दृष्टि से सदैव सजग दिखाई पड़ती है। सौंदर्य की यह दृष्टि आचार्य शुक्ल तथा द्विवेदीकाल के समीक्षकों की काव्य मे प्रकृतिचित्रण संबंधी धारणा के प्रतिकूल मान्यताएँ

१ हिंदी साहित्य, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ४५५।
२ पं० नंददुलारे वाजपेयी, आधुनिक साहित्य, पृ० २५८।

स्थापित करती है। प्रकृति का यथातथ्य निरूपण प्रकृति के वास्तविक सौंदर्य को व्यक्त करने में सफल नहीं है। उसके भीतर की धड़कनों, उसकी चुप्पियों में सोए हुए अनंत स्वरों, उसके बाह्याकार के भीतर तड़पते हुए सैकड़ों भावों, उसके हर्ष विषाद के अगणित संकेतों को पहचान पानेवाला कवि ही वास्तव में उसके सच्चे सौंदर्य का चितेरा हो सकता है। बाह्य अंगों का संगठन कर देने मात्र से एक निर्जीव सुंदर देह का निर्माण हो सकता है, उससे व्यक्तित्व का निर्माण नहीं हो सकता। अतएव छायावादी आलोचकों ने काव्य में प्रकृति के परिपाटीबद्ध चित्रण को (चाहे वह शृंगारिक कविता का उद्दीपनगत रूप रहा हो या द्विवेदीकाल का आलंबनगत यथातथ्य निरूपण रहा हो) असुंदर माना।

इसी प्रकार मानवसौंदर्य को भी छायावादी दृष्टि ने एक नया आयाम प्रदान किया। नारीसौंदर्य रीतिकाल की वासनाप्रेरक मांसलता और द्विवेदी-काल की नीतिमूलक मानसिक उदात्तता से उबरकर सहज मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित हुआ। उसे बाहर का रूप तो मिला ही, अंतर का सहज नारीत्व भी प्राप्त हुआ। यह नारी व अपनी समस्त कोमलता, करुणा, ओज, राग विराग के साथ प्रस्फुटित हुआ। उसे एक व्यक्तित्व प्राप्त हुआ। नारीसौंदर्य अंतर छवि से दीप्त होने के नाते मंगलमूलक होता है। सौंदर्य प्रेमछवि से आलोकित रहता है और यह प्रेम कृत्रिम बाहरी सीमाओं से मुक्त और निर्बंध होता है। इसी लिये छायावादी काव्य मे जो प्रेम का स्वरूप दिखाई पड़ता है वह शुद्ध मानवीय धरातल पर का है, जाति पाँति या अन्य किसी बाह्यबंधन से आबद्ध नहीं। अतः छायावादी सौंदर्यदृष्टि एक ओर तो आंतरिकता में सौंदर्य को देखती है, दूसरी ओर नवीनता में, अर्थात् वह काव्य का सौंदर्य मानवसौंदर्य की तरह ही परिपाटी से या बाह्य बंधनों से मुक्त होने में तथा सूक्ष्म अंतरजगत् की छवियों की अभिव्यक्ति मे मानती है। छायावादी दृष्टि परिपाटीविहित रसज्ञता, परिपाटीविहित विषय-स्वीकृति और परिपाटीबद्ध अभिव्यक्ति प्रणालियों को असुंदर मानकर नवीन रसज्ञता, नवीन विषय स्वीकृति और नवीन अभिव्यंजनापद्धति मे सौंदर्य पाती है। यही वजह है कि ये आलोचक छायावादी काव्य के गुणों के निकट दिखाई पड़ने-वाले सूर आदि रसमग्न कवियों के काव्य को अन्य कवियों जैसे–प्रबंध कवियों – की कविताओं की अपेक्षा सुंदर मानते हैं। 'मानवतावादी दृष्टिकोण को अपनानेवाले कवि के चित्त में उन काव्यरूढ़ियों का प्रभाव नहीं रह जाता जो दीर्घकालीन परंपरा और रीतिबद्ध चिंतन के मार्ग से सरकती हुई सहृदय के चित्त पर आ गिरी होती हैं और कल्पना के अविरल प्रवाह में तथा आवेगों की निर्बाध अभिव्यक्ति में अंतराय उपस्थित करती हैं। इस दृष्टिकोण को अपनाने से सौंदर्य की नई दृष्टि मिलती है क्योंकि मानवीय आचारों और क्रियाओं के मूल्य में अंतर आ जाता है।

इस अवस्था में सौंदर्य केवल बाह्य रूप मे नहीं रहता बल्कि आंतरिक औदार्य और मानसगठन में भी व्यक्त होता है। सौंदर्य के बँधे सधे आयोजनों—घिसे-पिसाए उपमानों और पिटी पिटाई उपेक्षाओं पर आधारित चिंतनशून्य काव्य रुढ़ियों—से मुक्ति पाया हुआ चित्त मानवता के मानदंड से सब कुछ देखता है।'[१]

(३) काव्य और कल्पना—छायावादी काव्य में अनुभूति और नैसर्गिक भावावेग का प्रवाह मुख्य वस्तु है किंतु वह भावावेग कल्पना के अविरल प्रवाह से संवलित है। 'रोमांटिक साहित्य की वास्तविक उत्स भूमि वह मानसिक गठन है जिसमें कल्पना के अविरल प्रवाह से घन संश्लिष्ट निविड़ आवेग की ही प्रधानता होती है। इस प्रकार कल्पना का अविरल प्रवाह और निविड़ आवेग ये दो निरंतर घनीभूत मानसिक वृत्तियाँ ही इस व्यक्तित्वप्रधान साहित्यिक रूप की प्रधान जननी हैं।'[२]

छायावादी आलोचना ने काव्य में कल्पना का प्रमुख स्थान माना है। छायावादी कवियों ने विराट् कल्पना की शक्ति से पूर्व अनुभूत भावों, विषयों और पूर्वदृष्ट दृश्यों का पुनः सृजनकर एक नई सृष्टि खड़ी की है। यह उनकी कल्पना ही थी जो प्रकृति के अनंत और अदृश्य विस्तार में चक्कर काटती हुई तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव और रूपसत्ताओं के भीतर प्रविष्ट होती हुई नवीन छवियों का उद्घाटन और सर्जन करती थी। यह कल्पना अनुभूत वस्तुओं का ही पुनः सृजन नहीं करती, कहीं कहीं वस्तुओं का सृजन भी करती है और इस प्रकार एक ऐसे लोक का निर्माण हो जाता है जो रहस्यमय, स्वप्निल और वायवी दिखाई पड़ता है। छायावादी कल्पना अभिव्यक्ति के क्षेत्र में भी नवीन सृष्टि करती है। यह कल्पना अभिव्यंजना की पूर्वमान्य शक्तियों से संतुष्ट न होकर नवीन शक्तियों, नवीन प्रतीकों, बिंबों, शब्दों, चित्रों, ध्वनियों इंद्रियबोधों, उपमानों आदि—का सर्जन करती है। इसी लिये छायावादी काव्यशिल्प इतना नया और समर्थ हो सका। छायावादी समीक्षा ने कल्पना के गहन विश्लेषण की ओर तो ध्यान दिया ही, साथ ही साथ साहित्य में कल्पना के महत्व का विवेचन किया। पाश्चात्य रोमांटिक कवियों और आलोचकों में से कुछ ने तो कल्पना को ही काव्य का मूलाधार मान लिया। शेली के अनुसार तो कविता कल्पना की अभिव्यक्ति है। शेली कहता है कि कविता दर्पण है जो प्रकाश को पूर्ण रूप से प्रतिबिंबित करती है। भाषा कल्पनाप्रसूत है अतः उसका सीधा

१ डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य, पृ० ४६२।

२ डा० देवराज लिखित रोमांटिक साहित्यशास्त्र की भूमिका, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी।

संबंध पारस्परिक है जो कल्पना और अभिव्यक्ति के बीच सीमा तथा संबंध खूब बनती है'।'

(४) अभिव्यक्ति संबंधी दृष्टि—छायावाद ने शिल्प के क्षेत्र में भी क्रांति की। परंपरावादी साहित्य की धारणा है कि परिपाटी से चली आती हुई भाषाशक्ति को खूब निखारा जाय, माँजा जाय और फिर उसमें भावप्रतिष्ठा की जाय। किंतु छायावादी मान्यता स्पष्ट यह घोषित करती है कि अभिव्यक्ति पक्ष का वर्णन विषय से अलग कोई महत्त्व नहीं होता। युगीन परिस्थितियों के अनुसार काव्य के वर्ण्य नए नए हुआ करते हैं और वे वर्ण्य अपने अपने स्वभाव के अनुसार नवीन अभिव्यक्ति मार्ग पकड़ते रहते हैं। कवि वर्ण्य से अलग हटकर निरपेक्ष रूप से शैली को नहीं गढ़ता, शैली तो वर्ण्य का ही असंपृक्त अंग होती है और उसके अनुसार नया नया रूप धारण करती रहती है। अनुभूतियों, भावों और मर्मछवियों का आवेग स्वतः अपने अपने सुंदर ढंग से फूट चलता है। रोमांटिक कवि आलोचक शेली ने कहा है कि 'कविता अंतर्तम प्रदेश की प्रेरणा है। जन्म लेती है तब वह कवि को अपने रूपका सृजन करने के लिये बाध्य कर देती है। कवि मानों किसी दिव्य आध्यात्मिक शक्ति के वशीभूत हो जाता है जो अभिव्यक्त होकर ही दम लेती है।' वर्ड्सवर्थ भी कविता को हृदय का सहज उद्‌गार मानता है। सुमित्रानंदनपंत की 'वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान, निकलकर आँखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान' पंक्ति में भी यही ध्वनि है। इस प्रकार छायावादी आलोचक और कवि परंपरा से चले आते हुए मँजे मँजाए ढाँचे की उपेक्षा करते हैं। 'इन नवीन रचनाओं में बाहरी ढाँचे की अवहेलना भी थी। अलंकारों का आधिक्य नहीं था, नवीन स्वरलहरी का उल्लास था। प्राचीन शास्त्रीय मान्यताओं का तिरस्कार भी था[२]।'

(५) साहित्य का उद्देश्य—छायावादी आलोचकों ने यह प्रतिपादित किया कि साहित्य में अनुभूति और भावावेग मूल तत्व हैं और सब बातें बाहरी हैं। राजनीति, अर्थनीति, धर्म, समाजनीति साहित्य को प्रभावित अवश्य करते हैं, किंतु वे साहित्य के विधायक तत्व नहीं हैं। साहित्य अनुभूति और भावावेग का चित्रणकर पाठकों को आनंद प्रदान करता है। इसका संबंध केवल अनुभूतिजन्य सहज आनंद से है। रोमांटिक कवि और समीक्षक कालरिज ने स्पष्ट घोषित किया है कि 'सौंदर्य के माध्यम से सद्यः आनंदोद्रेक के लिये भावों को जाग्रत करना'

[१] डा० देवराज, रोमांटिक साहित्यशास्त्र, पृ० ८६।
[२] पं० नंददुलारे वाजपेयी, आधुनिक साहित्य, पृष्ठ २६०।

काव्य का उद्देश्य है। इन कवियों और आलोचकों की दृष्टि में महत् आदर्श नीतिवाद और उपयोगितावाद साहित्य परीक्षण के बहुत स्थूल मानदंड हैं। वास्तव में आनंद ही साहित्य का उद्देश्य है, वही उसका मानदंड भी है। इस आनंद की सृष्टि के मूल में साहित्यकार की आत्माभिव्यक्ति की शक्ति है। 'साहित्य का मूल्य साहित्यकार के आत्म की महत्ता और अभिव्यक्ति की संपूर्णता एवं सच्चाई के अनुपात से ही आँकना चाहिए। अन्य मान एकांगी हैं, अतः प्रायः धोखा दे जाते हैं[1]।' साहित्यकार की कुशल आत्माभिव्यक्ति द्वारा पहले साहित्यकार को फिर पाठक को आनंद प्राप्त होता है। इसी आधार पर छायावादी समीक्षकों ने आचार्य रामचंद्र शुक्ल की समीक्षा के नीतिवादी स्वर का विरोध किया। 'ये साहित्य के मनोवैज्ञानिक सौष्ठव की अपेक्षा उसमें अभिव्यक्त वर्गवादी सिद्धांतों को अधिक महत्व देते हैं और वर्गवाद के आधार पर ही साहित्य का नया मानदंड स्थिर करना चाहते हैं। यह मतवादी प्रवृत्ति पूर्व युगों में भी अनेक रूपों में दिखाई देती रही है, किंतु यह साहित्यिक सिद्धांत के रूप में कभी स्वीकार नहीं की गई[2]।'

छायावादी समीक्षा के नए मूल्यों की स्थापना करनेवाले लेखकों में प्रमुख हैं डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पं० नंददुलारे वाजपेयी, डा० नगेंद्र, श्रीशांतिप्रिय द्विवेदी, श्रीजयशंकर प्रसाद, श्रीसूर्यकांत त्रिपाठी निराला, श्रीमती महादेवी वर्मा।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी छायावादी आलोचक परंपरा में आकर भी नहीं आते। अर्थात् छायावादी मान्यताओं को स्वीकार करते हुए भी ये उन्हें विराट् संदर्भों में देखने के पक्षपाती हैं। ये साहित्य के मूल सौंदर्य तत्वों की व्याख्या वैज्ञानिक ढंग से करते हैं और यह मानते हैं कि साहित्य के मूल सौंदर्य तत्व जीवन के अन्य तत्वों से बाहरी रूप से नहीं बल्कि आंतरिक रूप से जुड़े हुए हैं। वास्तव में ये साहित्य को अपने आप में साध्य नहीं मानते। साध्य तो मानव-जीवन है। मानवजीवन को प्रभावितकर उसे उत्कर्ष देना ही साहित्य की सार्थकता है। इसमें आनंद और आदर्श दोनों स्वतः परस्पर जुड़ जाते हैं। कवि की आत्मानुभूति का संबंध केवल उसके स्वयं से नहीं उसमें जाने अनजाने सामाजिक जीवन के विकास में उपलब्ध अनेक ज्ञानराशियों, नैतिक सामाजिक मूल्यों का योग रहता है। 'व्यक्ति के अंतःकरण से गृहीत तथ्यात्मक ज्ञानराशि संपूर्ण रूप से वैयक्तिक नहीं होती। वह दूसरों की उपलब्धि और स्मृति से बनी तथ्यात्मक ज्ञानराशि से टकरा टकराकर बना हुआ एक ऐसा पदार्थ है जिसे हम अंतर्वैयक्तिक तथ्य जगत् कह सकते हैं। दूसरी बात यह मालूम होती है कि यह

[1] डा० नगेंद्र, विचार और अनुभूति, पृष्ठ १८८।

[2] पं० नंददुलारे वाजपेयी, आधुनिक साहित्य, पृष्ठ २८।

अंतर्वैयक्तिक तथ्य जगत् निरंतर परिवर्द्धमान और परिवर्तमान पदार्थ है—वह गतिशील है। वह नाना वैयक्तिक तथ्य जगतों के संघर्ष से स्थिरीकृत सामान्य जगत् है। हमारी ज्ञानराशि अधिकांश में वैयक्तिक न होकर अंतर्वैयक्तिक है।"'निरंतर परिवर्तमान और परिवर्द्धमान इन उपलब्धियों के लिखित रूप को ही हम सामान्य रूप से साहित्य कहते हैं। विशेष रूप में साहित्य उपलब्धियों के उस लिखित रूप को कहते हैं जो हमारी सामान्य मनुष्यता को नित्य प्रभावित करती रहती है और भाव और आवेग से वेगवती होकर सामान्य मनुष्य के सुख दुःख को विशेष मनुष्य—श्रोता या पाठक—के चित्त में संचारित कर देती है। भाषा साहित्य का वाहन है[1]।'

द्विवेदीजी मानवतावादी आलोचक हैं। वे मनुष्य की समस्त सामाजिक उपलब्धियों को साहित्य की सामग्री मानते हैं किंतु वे साहित्य के मूल तत्वों के साथ उनका वैज्ञानिक संबंध जोड़ते हैं, आदर्शवादियों या उपयोगितावादियों की तरह ऊपर से आरोपित नहीं करते। वे साहित्य की मूल शक्तियों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते हुए उन्हें व्यापक जीवनसंदर्भों से जोड़ते हैं। द्विवेदीजी समन्वयवादी आलोचक हैं—सामाजिक यथार्थ और नैतिकता, परंपरा और प्रगति, निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक समीक्षा, सत्य और सौंदर्य सभी के भीतर एक संतुलन स्थापित करना चाहते हैं। किंतु ध्यान रखने की बात है कि वे कहीं भी मिथ्या आदर्शों से प्रेरित होकर ऐसा नहीं करते, वरन् वे मानते हैं कि सदैव विरोधी से दीखनेवाले तत्वों में सत्य का कोई न कोई अंश होता है और वास्तव में वे तत्व एक दूसरे के पूरक हैं। अलग होकर नहीं, आपस से जुड़कर ही पूर्ण सत्य की अभिव्यक्ति कर सकते हैं। 'विचार और वितर्क', 'अशोक के फूल' के कुछ निबंध तथा 'साहित्य का साथी' आप की समीक्षासंबंधी मान्यताओं की परिचायक कृतियाँ हैं।

पं० नंददुलारे वाजपेयी—सच्चे अर्थों में वाजपेयीजी ही छायावादी आलोचना सिद्धांतों के समर्थक हैं। डा० नगेंद्र पर छायावादी आलोचन सिद्धांतों के साथ साथ मनोविश्लेषणवाद का भी गहरा असर है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी पर भी अन्य समीक्षा मान्यताओं का प्रभाव है, यह हमने देखा ही। वाजपेयीजी ने सच्चे अर्थों में छायावादी मान्यताओं को अपना आलोचन सिद्धांत बनाया। वाजपेयीजी के शब्दों में आलोचनासंबंधी उनकी मान्यताएँ निम्नलिखित हैं। ये मान्यताएँ महत्वक्रम से हैं—

[1] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, विचार और वितर्क, पृ० २२६।

(१) रचना में कवि की अंतर्वृत्तियों (मानसिक उत्कर्ष अपकर्ष) का अध्ययन (एनालसिस आफ पोयटिक स्पिरिट)।

(२) रचना में कवि की मौलिकता, शक्तिमत्ता, सृजन की लघुता विशालता (कलात्मक सौष्ठव) का अध्ययन (एस्थेटिक एप्रीसिएशन)।

(३) रीतियों, शैलियों और रचना के बाह्यांगों का अध्ययन (स्टडी आफ टेकनिक)

(४) समय और समाज तथा उनकी प्रेरणाओं का अध्ययन।

(५) कवि की व्यक्तिगत जीवनी और रचना पर उसके प्रभाव का अध्ययन (मानसविश्लेषण)।

(६) कवि के दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारों आदि का अध्ययन।

(७) काव्य के जीवनसंबंधी सामंजस्य और संदेश का अध्ययन।

'..........यदि एक ही वाक्य में कहना हो तो कहा जा सकता है कि साहित्य के मानसिक और कलात्मक उत्कर्ष का आकलन करना इन निबंधों का प्रधान उद्देश्य रहा है। यद्यपि काव्य की सामाजिक प्रेरणा के निरूपण में भी मैं उदासीन नहीं रहा हूँ। मेरी समझ मे समस्त वादों के परे साहित्य समीक्षा का प्रकृत पथ यही है। इसी माध्यम से साहित्य का स्थायी और सांस्कृतिक मूल्य आँका जा सकता है'।[1]

'हिंदी साहित्य बीसवीं शताब्दी', 'आधुनिक साहित्य,' 'नए प्रश्न, नए मूल्य' वाजपेयीजी के आलोचन सिद्धांत संबंधी ग्रंथ हैं।

डा० नगेंद्र—कहा जाता है कि डा० नगेंद्र की समीक्षा पर छायावाद और मनोविश्लेषणवाद दोनों का प्रभाव है। मनोविश्लेषणवाद और छायावाद दोनों अपने अपने ढंग से व्यक्तिवाद के समर्थक हैं। अतः इन दोनों से प्रभावित होनेवाले डा० नगेंद्र साहित्य को वस्तुतः वैयक्तिक चेतना मानते हैं। 'साहित्य की प्रेरणा' के संबंध में पूर्व और पश्चिम के अनेक मतवादों की चर्चा करते हुए आपने निष्कर्ष निकाला है —

(१) काव्य के पीछे आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा है।

(२) यह प्रेरणा व्यक्ति के अंतरंग—अर्थात् उसके भीतर होनेवाले आत्म और अनात्म के संघर्ष से ही उद्भूत होती है। कहीं बाहर से जान बूझकर प्राप्त नहीं की जा सकती।

[1] पं० नंददुलारे वाजपेयी, हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृष्ठ २६।

(३) हमारे आत्म का निर्माण जिन प्रवृत्तियों से होता है उनमें कामवृत्ति का प्राधान्य है। अतएव हमारे व्यक्तित्व मे होनेवाला आत्म और अनात्म का संघर्ष मूलतः काममय है और चूँकि ललित साहित्य तो मूलतः रसात्मक होता है, उसकी प्रेरणा में कामवृत्ति की प्रमुखता है'[1]।

नगेंद्रजी वैयक्तिक चेतना और सामाजिक चेतना के पारस्परिक संबंधों को स्वीकारते हैं। साहित्य मे दोनों की मिलीजुली अनुभूति की अभिव्यक्ति होती है। किंतु जब वे दोनों का तुलनात्मक महत्त्व आँकने लगते हैं तो व्यक्ति और व्यक्ति की अनुभूति को समाज और समाज की अनुभूति के ऊपर प्रतिष्ठित करते हैं।

नगेंद्रजी भी साहित्य को आनंद मानते हैं। आत्माभिव्यक्ति आनंद है। जिस कलाकृति मे आनंद देने की जितनी ही अधिक शक्ति होगी वह उतनी ही अधिक महत्त्वशालिनी होगी। 'इस आनंद का परिमाण कौन और कैसे तै करे?' का उत्तर देते हुए डा० नगेंद्र ने कहा है कि जनसाधारण नहीं केवल इसके अधिकारी ही आनंद के परिमाण को तै कर सकते हैं। कैसे तै करें? इसके लिये उसे देखना होगा कि कृति का कर्ता कहाँतक उसमें अपने व्यक्तित्व को अनूदित अर्थात लय कर सका है। और फिर यह देखना होगा कि वह व्यक्तित्व कितना प्राणवान् है। 'विचार और अनुभूति' तथा 'विचार और वितर्क' नगेंद्रजी के दो निबंधसंग्रह हैं जिनमे उनकी समीक्षा सिद्धांत संबंधी मान्यताएँ व्यक्त हैं।

छायावादी कवियों मे जिन लोगों ने साहित्यसिद्धांत संबंधी प्रश्नों पर मूल्यवान् विचार प्रस्तुत किए उनमें प्रसादजी और महादेवीजी के नाम अग्रगण्य हैं। प्रसादजी ने 'काव्यकला तथा अन्य निबंध' में छायावाद, रहस्यवाद, आदर्शवाद, यथार्थवाद, काव्य और कला पर बहुत ही मननीय विचार प्रस्तुत किए हैं। इसी प्रकार महादेवीजी ने भी काव्य के अनेक प्रश्नों पर विचार करते हुए अपनी मान्यताएँ स्थापित की हैं। इनके अतिरिक्त श्रीसुमित्रानंदन पंत और निरालाजी ने भी काव्य के कुछ पक्षों पर कुछ विचार प्रतिष्ठित किए हैं। 'गद्य पद्य' में पंतजी के ये विचार संगृहीत हैं। निरालाजी ने 'पंत और पल्लव' निबंध में मुक्तछंद संबंधी कुछ नए प्रश्नों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है तथा उसकी सुंदर व्याख्या की है।

प्रगतिवादी समीक्षा

प्रगतिवाद रचना और आलोचना के क्षेत्र में एक नवीन दृष्टिकोण लेकर आया। प्रगतिवादी समीक्षा का प्रमुख मानदंड यह है कि साहित्य सोद्देश्य है।

[1] डा० नगेंद्र, विचार और अनुभूति, पृ० १०।

और वह उद्देश्य क्या है ? वह उद्देश्य आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति मात्र नहीं है, कल्पनाविलास नहीं है, शैली का चमत्कारप्रदर्शन नहीं है वरन् सामाजिक यथार्थ का सही और मार्मिक उद्घाटन है। सामाजिक यथार्थ का स्वरूप क्या है ? यथार्थ की अनेक परिभाषाएँ की गई हैं, उसके अनेक संप्रदाय हैं। कुछ लोगों ने सामाजिक विकृतियों और गंदगी को ही यथार्थ मान लिया है और वे या तो इससे घृणाकर आदर्श के कल्पनालोक में भागते हैं या इस गंदे यथार्थ में रस लेकर उस चित्र खींचते हैं, समझते हैं, यही अंतिम सत्य है जीवन का। लेकिन प्रगतिवादी साहित्य मार्क्सवादी दृष्टिकोण से यथार्थ को देखता है। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद मार्क्स दर्शन है। यह दर्शन मानता है कि प्रकृति और समाज दोनों का विकास द्वंद्वात्मक प्रकृतियों द्वारा होता है, किसी अज्ञात सत्ता के संकेत और इच्छा द्वारा नहीं। संसार की सभी वस्तुओं में विरोधी तत्त्व एक साथ उपस्थित रहते हैं, वे आपस में संघर्ष करते हैं। इसी विरोधजनित संघर्ष से नित्य नए विकास होते रहते हैं। वस्तु का विकास पहली स्थिति का नाश करके नए रूप में होता है। सामाजिक क्षेत्र में मार्क्स आर्थिक भूमिका को विशेष महत्व देता है। अर्थ उपादान के साधनों के अनुसार सामाजिक संबंध बनते हैं और इन सामाजिक संबंधों के अनुसार कला और संस्कृति का रूप बदला करता है। अर्थोत्पादन के साधनों के विभिन्न रूपों के आधार पर निर्मित समाज मे स्पष्टतः दो वर्ग दिखाई पड़ते हैं—(१) शोषक और (२) शोषित। शोषक वर्ग अर्थ उपादान के साधनों पर अधिकार जमा लेता है और शेष समाज का शोषण करता है। और फिर जीने के लिये शोषित वर्ग शोषक वर्ग से संघर्ष छेड़ता है और इस संघर्ष से नए समाज की रचना होती है, पुराना समाज नष्ट होता है। इस प्रकार पुराने और नए, शोषक और शोषित, मरणोन्मुख और विकासोन्मुख का सतत संघर्ष यथार्थ को नए नए आयाम देता चलता है। इस बुनियादी सत्य को पहचानना ही यथार्थ को पहचानना है। ऊपरी सतह पर तो पुरानी शक्तियों की विकृतियाँ उतराई रहती हैं, लेकिन सतह के नीचे नवीन शक्तियाँ धीरे धीरे उन्हें काटती रहती हैं। ये शक्तियाँ व्यक्ति की नहीं समाज की होती हैं, उनमें पीड़ा और अभाव के साथ ही साथ जिंदगी का अडिग विश्वास और भविष्य की सुंदर आकांक्षा होती है। इन बुनियादी तत्वों को ग्रहण करनेवाला ही सच्चा यथार्थवादी है। ऐसा ही साहित्य अपने युग की वास्तविकता का सच्चा प्रतिनिधि हो सकता है और भावी युगों के लिये प्रेरणास्रोत होता है।

सन् १९३५ ई० के आसपास हिंदी में प्रगतिवादी आंदोलन प्रारंभ हुआ और रचना तथा आलोचना के क्षेत्र में नए प्रकार के साहित्यसिद्धांतों की स्थापना की गई। साहित्यसर्जन और परीक्षण के मानदंड बदले। जैसा कि ऊपर

स्पष्ट किया गया है, प्रगतिवाद का प्रमुख मानदंड यह देखना है कि किसी साहित्य में सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति है या नहीं। प्रगतिवादी समीक्षा-दृष्टि न केवल समसामयिक साहित्य को वरन् प्राचीन साहित्य को भी इसी कसौटी पर रखती है। लेकिन यह समझना गलत है कि वह प्राचीन साहित्य में आज के यथार्थ को पाना चाहती है। वह तो युग की सीमाओं के अंतर्गत उस काल के साहित्य की परीक्षा करती है। प्रगतिवाद उसमें शाश्वत सार्वभौम जैसे वायवी सत्यों के फेर में न पड़कर ठोस सामाजिक सत्यों की खोज करता है। तत्कालीन दर्शन, साहित्य और कला का स्वरूप इन्हीं सीमाओं के अंतर्गत निर्मित होता है। प्रगतिवादी आलोचना समाज के युगीन संबंधों के सत्यों को छोड़कर हवा में शाश्वत सत्यों का महल तैयार करनेवाले साहित्य को निकृष्ट समझती है। आज का सामाजिक सत्य वे शक्तियाँ हैं जो पूँजीवाद को नष्ट कर समाजवाद स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील हैं। अतः प्रगतिवादी आलोचना साहित्य को जीवन के प्रति सच नहीं मानती जबतक वह मौजूदा समाज के ह्रास और जनक्रांति की अनिवार्यता नहीं स्वीकार करता।

यह स्पष्ट है कि प्रगतिवादी समीक्षा रस या आनंद की सृष्टि को साहित्य के उद्देश्य के रूप में नहीं स्वीकार करती। इसलिये प्राचीन या नवीन कोई भी साहित्य अपनी रसमयता और शिल्पगत भव्यता के बावजूद इस समीक्षा का श्रद्धाभाजन नहीं बन सकता यदि उसमें ऐतिहासिक सामाजिक सत्य मुखर नहीं है। 'जहाँ यह सत्य है कि बाह्य परिस्थितियों से साहित्य अनेक स्वस्थ और अस्वस्थ प्रभाव ग्रहण करता है वहाँ यह भी उतना ही सत्य है कि ये प्रभाव साहित्य की ऐतिहासिक परंपराओं के माध्यम से जीवन के अगणित संबंधों को ग्रहण करके ही व्यक्त होते हैं और इस प्रकार एक ओर वे साहित्य की परंपरा को बदलते हैं तो दूसरी ओर साहित्य के इतिहास की तारतम्यता और संबद्धता को पुष्ट करते हैं।'[१]

प्रगतिवादी समीक्षा साहित्य का निर्माण सोद्देश्य मानती है। इसका एक अर्थ यह भी लगाया जाता है कि वह प्रचारवादी साहित्य का पोषण करती है, अर्थात् वह साहित्य को समाजवादी सिद्धांतों के प्रचार का शास्त्र मानती है। यह सत्य है कि प्रगतिवाद एक विशेष प्रकार के दृष्टिकोण—मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद—का समर्थक है, उस दृष्टिकोण से जीवन और साहित्य को देखता है और चाहता है कि ऐसा साहित्य निर्मित हो, जिसमें समाजवादी दृष्टि से लक्षित होनेवाला यथार्थ व्यंजित हो और जो मौजूदा शोषक समाज के ह्रास और जनक्रांति

[१] शिवदानसिंह चौहान, साहित्य की परख, पृ० २१-२२।

की अनिवार्यता में विश्वास रखे तथा इस विश्वास को ध्वनित करे। लेकिन यह भी सत्य है कि प्रगतिवाद मूलतः साहित्य को साहित्य ही मानता है। अर्थात् वह मानता है कि साहित्य के माध्यम से व्यक्त होनेवाले यथार्थ, दृष्टिकोण या प्रचार का रूप साहित्य की शर्तों से बँधा होता है। साहित्य एक संश्लिष्ट रचना है, जिसमें मानवहृदय की सौंदर्यानुभूतियों, भावछवियों शिल्पगत शक्तियों आदि का मिला-जुला रूप रहता है और कोई भी सामाजिक या व्यक्तिगत यथार्थ इन मूल तत्वों के माध्यम से ही प्रस्फुटित होता है। अतः खुला प्रचार तो साहित्य और प्रभाव दोनों को मारता है। 'लेकिन हमें यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि सारे साहित्य को प्रोपेगेंडा या सामाजिक प्रभाव का अस्त्र कहकर आज के समाज में उसके एक महत्वपूर्ण संविधायक पहलू का ही निर्देश किया जाता है और केवल इस दृष्टि से खरी उतरनेवाली कोई रचना अपने में श्रेष्ठ रचना नहीं हो जाती। उसकी श्रेष्ठता का निरूपण करते समय उसकी सौंदर्यानुभूति, उसकी रूपयोजना, शैली और प्रौढ़ता, वाक्यरचना, शब्दप्रयोग आदि अनेक दूसरी कसौटियों पर भी कसना आवश्यक है और प्रगतिवादी इन सब कसौटियों पर किसी भी काव्य या साहित्यकृति का कसना आवश्यक समझते हैं। वे उनके महत्व को जानते हैं यद्यपि आज के संक्रमणकाल में वे साहित्य के संविधायक पहलू को दृष्टि में रखकर उसका सामाजिक दृष्टिकोण से विवेचन करना अधिक आवश्यक समझते हैं'।[1]

प्रगतिवादी समीक्षा साहित्य को वर्गचेतना की अभिव्यक्ति मानती है। कवि जिस वातावरण में पलता है उसी का संस्कार उसके हृदय में बद्धमूल होता है। इसलिये वह अपने साहित्य में अपने संस्कारों से आगे नहीं बढ़ता। शोषक वर्ग से संबद्ध साहित्यकार अपने साहित्य में शोषकवर्गीय चेतना को ही व्यक्त करेगा। अतः यह आवश्यक है कि जनवादी साहित्य लिखनेवाला साहित्यकार जनसंघर्ष में भाग लेकर उससे रागात्मक संबंध स्थापित करे।

प्रगतिवादी समीक्षा मानती है कि जाग्रत समाज में साहित्य भी जाग्रत होता है। स्थितिशील, मंद और ह्रासोन्मुख समाज में साहित्य का उच्च स्वर नहीं सुनाई पड़ता। 'काडवेल के अनुसार महान् कविता वे ही लिख सकते हैं जो स्वतंत्र हैं। सामंत वर्ग अपेक्षाकृत स्वतंत्र है अतएव महाकाव्यों की सृष्टि करता है, शोषित शूद्र और दास केवल दंतकथाओं, लोकगीतों, भजन जैसे गौण साहित्य को जन्म देते हैं। सामंतीयुग में कविता की भावसंपदा और आंगिक में महत्वपूर्ण विकास होते हैं, किंतु दासप्रथा पर अवलंबित मिस्र, चीन, भारत, ग्रीस इत्यादि की

[1] श्रीशिवदान सिंह चौहान, प्रगतिवाद, पृ० २१।

सामंती सभ्यता जब पतनोन्मुख हुई तब उनकी कला का भी सैकड़ों वर्ष तक ह्रास होता रहा।"[1] प्रगतिशील समीक्षा किसी काल और समाज के साहित्य की परीक्षा करते हुए समाज की इस रूपरेखा की परीक्षा करती है।

प्रगतिशील समीक्षा ने सौंदर्यबोध की व्याख्या परिवर्तनशील समाज के हृदय की सापेक्षता में की। व्यक्ति का सौंदर्यबोध फ्रायड आदि मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में कामवासना युक्त होता है। प्रगतिवादी समीक्षा ने सौंदर्य जनता में खोजा। सौंदर्य का संबंध हमारे हार्दिक आवेगों और मानसिक चेतना दोनों से होता है। इन दोनों का संबंध सामाजिक संबंधों से है। नए समाज में पलनेवाला अथवा उसके साथ चलने का प्रयास करनेवाला नए उठते हुए समाज में सौंदर्य देखेगा, वह संघर्षों से भागकर अतीत या कल्पनालोक में सौंदर्य नहीं खोजना चाहेगा वरन् संघर्षशील जनता के जीवंत जीवन में सुंदरता का दर्शन करना चाहेगा। सौंदर्य जीवन है। सुंदर वह वस्तु है जिसमें हम जीवन देखते हैं, वह जीवन जो हमारे विचारों के अनुकूल हो। सुंदर वह वस्तु है जो जीवन को अभिव्यक्त करता है या हमें जीवन का स्मरण दिलाता है। प्रगतिवादी समीक्षा लोकजीवन की समस्त शक्तियों, विश्वासों और यथार्थवादी प्रतीतियों को स्वर देनेवाले साहित्य में ही सौंदर्य देखती है।

साहित्य का सौंदर्य सामाजिक यथार्थ की पकड़ और अभिव्यक्ति में है। इसी लिये अभिव्यक्ति का सौंदर्य भी सामाजिक यथार्थ की सुंदरता की सापेक्षता में ही सार्थक है। यह समीक्षा अस्पष्ट, वायवी असामान्य, रेशमी परिधानवाली रूढ़ शिल्पछवि को स्वीकार नहीं करती, बल्कि लोकशिल्प की तरह सुस्पष्ट, सामान्य, लौकिक और सीधी अभिव्यक्ति छवि को महत्व देती है।

श्रीशिवदान सिंह चौहान (प्रगतिवादी साहित्य की परख), डा० रामविलास शर्मा (संस्कृति और साहित्य, प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ), श्रीअमृतराय (नई समीक्षा), श्रीप्रकाशचंद्र गुप्त (नया हिंदी साहित्य, हिंदी साहित्य की जनवादी परंपरा), डा० रांगेय राघव (काव्य के मूल विवेच्य, काव्य कला और शास्त्र), डा० नामवरसिंह (इतिहास और आलोचना, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ) आदि के नाम इस क्षेत्र में उल्लेखनीय हैं।

मनोविश्लेषणप्रधान आलोचना

मनोविश्लेषणप्रधान आलोचना फ्रायड, एडलर और युंग आदि (विशेषतया फ्रायड) के मनोविश्लेषणवाद से प्रभावित साहित्य के मूल्यों की

[1] अवंतिका, आलोचनांक, पृ० २८२।

प्रतिष्ठा करनेवाली आलोचना है। इस आलोचना के मूल सिद्धांत निम्नलिखित हैं —

१—साहित्यनिर्माण की प्रेरणा मनुष्य को चेतना से नहीं, अचेतन में दमित वासनाओं से मिलती है।

२—अचेतन में दमित वासनाएँ प्रवृत्तिमूलक होती हैं, सहज होती हैं, सामाजिक चेतना से विच्छिन्न होती हैं और उन्हीं दमित वासनाओं के परिशोधित रूप में साहित्य बनता है। अतः साहित्य सामाजिक होने की अपेक्षा व्यक्तिगत अधिक होता है। साहित्य या कला में जो कुछ सामाजिक तत्व दिखाई पड़ते हैं वे कलाकार के सामाजिक दायित्व के अनुभव के परिणाम नहीं होते हैं, बल्कि सामाजिक दबाव के परिणाम होते हैं अर्थात् कला स्वांतःसुखाय होती है।

३—साहित्य या कला में बौद्धिकता नहीं, वरन् प्रवृत्तियाँ काम करती हैं। बुद्धि या तर्क से हम मानवसत्य के किसी निर्णय पर नहीं पहुँचते, बल्कि सहज प्रवृत्तियों के द्वारा सत्य के पास पहुँचते हैं।

४—नैतिकता के पुराने मान व्यर्थ हैं। रति (लिबिडो) ही मानव-प्रकृति का मूल प्रेरणास्रोत है। मनुष्य के समस्त आचारविचार में रति का अस्तित्व है। मनुष्य अपनी सहज कामप्रवृत्तियों (एडलर के अनुसार हीनता की ग्रंथियों और क्षतिपूर्ति की चेष्टाओं, युंग के अनुसार जिजीविषा की प्रवृत्तियों) से प्रेरित होकर परिस्थितियों के अनुकूल काम करता है। उन कार्यों के हो जाने या न हो जाने की जिम्मेदारी उसपर नहीं होती। इसलिये आज के साहित्य में अत्यंत भले या अत्यंत बुरे स्मरणीय चरित्रों का निर्माण नहीं हो पाता, बल्कि आज के पात्र नदी के समान होते हैं—कहीं तेज, कहीं मंद, कभी पाप-कर्म-प्रवृत्त, कभी पुण्य कर्म-लीन। अर्थात् आज के पात्र भले बुरे नहीं होते, वे तमाम प्रवृत्तियों के संश्लिष्ट चरित्र होते हैं। मनोविश्लेषणप्रधान आलोचना पात्रों की परीक्षा इन्हीं आधारों पर करती है।

५—मनोविश्लेषणवाद अचेतन की दमित वासनाओं को ही साहित्य की प्रेरणा मानता है। ये दमित वासनाएँ चिरंतन और सनातन हैं इसलिये यह आलोचना साहित्य की मूल चेतना को शाश्वत मानती है। अवचेतन की दमित वासनाओं पर परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है किंतु वह ऊपरी होता है। यह प्रभाव मूलप्रवृत्तियों को इधर उधर न्यूनाधिक किया करता है, किंतु उनकी शाश्वतता में कोई व्यवधान नहीं डालता। नवीन सामाजिक विधिविधानों, नवीन राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों और अभिव्यक्ति की नूतनताओं के साथ चिरंतन व्यक्ति प्रवृत्तियों का संघर्ष और सामंजस्य होता रहता है।

श्रीइलाचंद्र जोशी (साहित्य सर्जना, विवेचन) श्रीसच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' (त्रिशंकु) और कुछ सीमा तक डा० नगेंद्र इस क्षेत्र के अग्रगण्य विचारक हैं

साहित्य-सिद्धांत-निरूपण के क्षेत्र में इन वादों से अलग स्वच्छंद रूप से सोचने विचारनेवाले भी कुछ महत्वपूर्ण आलोचक हैं। इनकी आलोचनाओं में सभी प्रकार की प्रचलित साहित्यधारणाओं का ग्रहण उनकी रुचि और उद्देश्य के अनुसार होता चला है। इन आलोचकों में सबसे सशक्त व्यक्तित्व है डा० देवराज (साहित्य चिंता और आधुनिक समीक्षा) का। डा० देवराज ने समाजवादी और व्यक्तिवादी दृष्टियोंवाली सारी विचारपरंपराओं को स्वस्थ साहित्यिक स्तर पर ग्रहण किया है तथा साहित्य के निर्माण में सहायक और अभिव्यक्त आवेगमूलक, बुद्धिमूलक चेतनाछवियों, परंपराओं और नवीनताओं, संस्कृति के विभिन्न उपकरणों तथा अभिव्यक्ति की तीव्रता और प्रभाव प्रदान करनेवाले शिल्प-सौष्ठव की निर्भ्रांत व्याख्या की है। डा० प्रभाकर माचवे (संतुलन) और श्रीनलिनविलोचन शर्मा (दृष्टिकोण) भी इस क्षेत्र के प्रमुख आलोचक हैं। वास्तव में इन आलोचकों के महत्वपूर्ण समीक्षाकार्य सन् १९४० ई० के बाद ही दिखाई पड़ते हैं, यद्यपि इन्होंने लिखना सन् १९४० ई० के पहले ही प्रारंभ कर दिया था।

व्यावहारिक आलोचना

साहित्यसिद्धांतों के विविध आधारों को स्वीकारकर कृतियों की व्याख्या और परीक्षा करनेवाली आलोचना व्यावहारिक आलोचना कहलाती है। व्याख्या, परीक्षण और मूल्यांकन की अलग अलग कसौटियों को ग्रहणकर चलनेवाली व्यावहारिक समीक्षा के अनेक भेद हैं जिनमें प्रमुख दो हैं—(१) निर्णयात्मक और (२) व्याख्यात्मक।

ये दोनों भेद मूलतः दो प्रकार के अलग अलग मौलिक सिद्धांतों पर आधारित हैं। शेष इन्हीं के आसपास दिखाई पड़ते हैं—कहीं इनकी शैलियाँ बनकर, कहीं इनके अंग बनकर, कहीं सहयोगी बनकर। लेकिन विभिन्न शैलियों और कुछ भिन्न भिन्न विचारधाराओं के कारण शेष को भी आलोचना का अलग अलग प्रकार मान लिया गया है; जैसे आचारवादी, अर्थनिरूपणमूलक, तुलनात्मक, जीवनीमूलक, व्यक्तिवादी व्यक्तित्वप्रदर्शन प्रणाली मूलक, रसवादी, रीतिवादी, अलंकारवादी, छायावादी, अभिव्यंजनावादी, प्रभाववादी, अनुभवात्मक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, नैसर्गिक, क्रियात्मक, कार्यात्मक, प्रगतिवादी आदि। जहाँतक इन आलोचनाओं के मूल में निहित अलग अलग विचारों के विवेचन का प्रश्न है वहाँतक इतने भेद स्वीकार

किए जा सकते हैं; किंतु इतनी विभिन्न शैलियाँ और विचारपद्धतियाँ हिंदी आलोचना के क्षेत्र में व्यवहारतः लक्षित नहीं होतीं। जैसे, हिंदी के अनेक आलोचकों ने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का विवेचन तो किया है, किंतु उनकी आलोचना अभिव्यंजनावादी है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। सच्चे अर्थों में हिंदी मे निर्णयात्मक, तुलनात्मक, छायावादी, प्रभाववादी, मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक आलोचनाएँ ही लक्षित होती हैं। शेष इनमें अंतर्भुक्त हो जाती हैं। वैसे देखा जाय तो अलंकारवादी, रीतिवादी, रसवादी आदि समीक्षाएँ निर्णयात्मक समीक्षा में और छायावादी, प्रगतिवादी मनोविश्लेषणवादी आदि समीक्षाएँ व्याख्यात्मक समीक्षा के अंतर्गत आ जाती हैं।

निर्णयात्मक समीक्षा—अंगरेजी में इसे 'जुडीशल क्रिटिसिज्म' कहते हैं। इसका आधार और लक्ष्य व्याख्यात्मक समीक्षा के आधार और लक्ष्य से मूलतः भिन्न होता है। इसका आधार है साहित्य और कला के क्षेत्र में मान्य प्रचलित नियम। यह अपरिवर्तित मानों को आधार बनाकर साहित्य के मूल्य का निर्णय देना चाहती है। यह स्थायी सिद्धांतों के ऊपर विशेष बल देने के कारण साहित्य-निर्माण की प्रेरणा देनेवाले तथा सूक्ष्म रूप से कृति को प्रभावित करनेवाले उन अनेक तत्वों की उपेक्षा कर जाती है जो सर्जक के व्यक्तित्व, उसके युग और वातावरण से निःसृत होते हैं। निर्णयात्मक समीक्षा में आलोचक निर्णायक के समान होता है। वह कृति की महत्ता और लघुता का निर्णय देता है। निर्णयात्मक समीक्षा जिन सिद्धांतों पर आधारित होती है वे सिद्धांत विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं। ये शुद्ध साहित्यिक मानवाले भी हो सकते हैं और साहित्येतर मानवाले भी, लेकिन प्रत्येक अवस्था में ये होते हैं रूढ़ ही। जैसे रससिद्धांत साहित्य की आत्मा से संबद्ध सिद्धांत है, लेकिन रससिद्धात अपने रूढ़ रूप में आज के साहित्य के मूल्यांकन के लिये सही मानदंड नहीं हो सकता। इसी प्रकार साहित्येतर सिद्धांत मूलतः नैतिकता, सामाजिक महत्ता आदि जीवनमूल्यों से संबद्ध होते हैं। ये सिद्धांत साहित्य की मूलगत उपलब्धियों की परीक्षा इन साहित्येतर कसौटियों पर करते हैं।

किंतु निर्णयात्मक समीक्षा का महत्व कम नहीं। यदि वह सही ढंग से उपयोग में लाई जाय। व्याख्यात्मक समीक्षा से संबद्ध होकर निर्णयात्मक समीक्षा का मूल्य बढ़ जाता है। व्याख्यात्मक समीक्षा की विवेचनात्मक शैली से संपृक्त होकर निर्णयात्मक समीक्षा की गुण दोष उद्घाटन करनेवाली प्रशंसात्मक या निंदात्मक शैली गहन और विश्लेषणात्मक हो उठती है।

हिंदी आलोचना का द्विवेदीकाल निर्णयात्मक समीक्षा का स्वरूप प्रस्तुत करता है। द्विवेदीकाल में निर्णयात्मक समीक्षा की दो धाराएँ दो प्रकार के सिद्धांतों पर आधारित दिखाई पड़ती हैं। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, मिश्रबंधु

तथा अन्य छोटे छोटे लेखक साहित्य में नैतिकता, उपयोगिता और सादगी का गुण अनिवार्य मानते थे। दूसरी ओर लाला भगवानदीन, पं० पद्मसिंह शर्मा आदि रीतिवादी सिद्धांतों को मूल्यांकन की कसौटी मानते थे। यद्यपि समय के प्रभाव से इस काल में व्याख्यात्मक समीक्षा का पर्याप्त संस्पर्श लक्षित होता है किंतु मूल स्वर निर्णयात्मक ही रहा जो गुण-दोष-विवेचन और तुलनात्मकता पर आधारित था।

निर्णयात्मक समीक्षा सन् १६५० ई० के बाद भी दिखलाई पड़ती है। लेकिन व्याख्यात्मक समीक्षा का विकास हो जाने से वह अधिक प्रौढ़ और विश्लेषणात्मक हो गई। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की समीक्षाओं में व्याख्यात्मक और निर्णयात्मक समीक्षा का बड़ा ही संतुलित स्वरूप लक्षित होता है। आचार्य शुक्ल ने साहित्य के मूल साहित्यधर्म को पहचाना, साहित्य की सृष्टि में सहायक मूल तत्वों का विश्लेषण किया और इन तत्वों से निर्मित साहित्य के संश्लिष्ट प्रभावों की व्याख्या की, किसी भी कृति को उसके कृतिकार के व्यक्तिगत, सामाजिक और युगीन परिवेश में देखा और इस परिवेश के सम्यक् प्रभाव को स्वीकार किया। किंतु सारा साहित्यिक सौंदर्य देखने के बाद उस कृति की महत्ता या लघुता का निर्णय देना नहीं भूल सके। साहित्य के संबंध में आचार्य शुक्ल की अपनी कुछ निश्चित मान्यताएँ थीं। ये मान्यताएँ साहित्यिक होकर भी नैतिक थीं, अर्थात् इनकी मान्यताओं में साहित्यिकता और नैतिकता दोनों ही स्वीकृत थीं। इन्होंने रस जैसे शुद्ध साहित्यिक सिद्धांत को अपनी आलोचना का मूलाधार बनाया, किंतु रस की व्याख्या इस तरह की कि रस लोकमंगल के भाव से जुड़ गया। इस प्रकार आचार्य शुक्ल के आलोचनासिद्धांत में रस के साथ लोकमंगल जैसा नैतिक और सामाजिक मूल्य भी जुड़ा हुआ चलता रहा। उनकी दृष्टि में रस अलौकिक या ब्रह्मानंदसहोदर नहीं है बल्कि लौकिक है और उसका आनंद भी लोक का ही है। लोकानुभूति और काव्यानुभूति में अंतर नहीं है। इसलिये आचार्य शुक्ल ने सभी प्रकार के साहित्यों का उनका अपना स्वरूप और मूल्य तो पहचाना और उनकी मार्मिक व्याख्या भी की, लेकिन अंत में निर्णय देने से नहीं चूके। इस निर्णय में सबसे पहले वे यह देखते रहे कि कोई कृति साहित्यिक गुणों से भूषित है कि नहीं? फिर यह देखते थे कि कोई कृति साहित्यिक गुणों से भूषित होकर भी जीवन की कितनी व्यापकता और गहनता को समेटे हुए है और जीवन को शक्ति देने की उसमें कितनी क्षमता है। शुक्लजी रहस्यात्मकता, अलौकिकता तथा रसहीन, भावहीन कलात्मकता को काव्यक्षेत्र के बाहर की वस्तु मानते थे। अतः इन तत्वों पर आधारित कृतियों को महत्वहीन समझते थे। अपनी आलोचनाओं में शुक्लजी

ने सदैव इन साहित्यिक मान्यताओं को ध्यान में रखकर निर्णय दिए हैं। सूर, तुलसी, कबीर, जायसी आदि भक्तिकालीन कवियों की कविताओं की भावसंपत्ति की बड़ी मार्मिक व्याख्या करने के बाद तारतम्यनिरूपण के समय मुक्तकों या गीतों की अपेक्षा प्रबंधों को महत्तर स्थान दिया और प्रबंधों में भी भावात्मक ऊँचाई के साथ लोकमंगल की स्थापना करनेवाली कृतियों को विशेष सराहा। तुलसी सूर से और जायसी कबीर से महत्तर सिद्ध किए गए, क्योंकि वे प्रबंधकाव्यकार थे। मुक्तकों में रस के छींटे होते हैं, अर्थात् आनंद की सिद्धावस्था होती है। प्रबंधों में रस की धाराएँ होती हैं जो जीवन के अनेक उतार चढ़ावों को स्पर्श करती हुई उसकी बहुमुखी छवि को उद्घाटित करती हैं, अर्थात् आनंद की साधनावस्था होती है। आधुनिक काल में भी शुक्लजी ने छायावाद के रससिक्त भावगीतों की अपेक्षा प्रवाही प्रबंधकाव्यों (जो भावात्मक गरिमा में छायावादी गीतों से हलके ठहरते हैं) को विशेष महत्व दिया। छायावादी कविता एक तो गीतप्रधान थी, दूसरे उसमें शुक्लजी की दृष्टि में रहस्यात्मकता थी। उसमें प्रस्तुत के स्थान पर अप्रस्तुत की योजना थी—विषय में भी, शिल्प में भी। अतः शुक्लजी ने इन रहस्योन्मुखी कविताओं को भक्तिकालीन रहस्योन्मुखी कविताओं की भाँति ही जगत्जीवन के प्रकृत क्षेत्र से विच्छिन्न मानकर काव्य के ऊँचे धरातल पर प्रतिष्ठित नहीं किया। शुक्लजी कला कला के लिये सिद्धांत के घोर विरोधी थे। उन्हें जहाँ कहीं ऐसा आभास मिला कि कोई कवि (चाहे वह पश्चिमी कवि रहा हो, चाहे रवींद्रनाथ ठाकुर रहे हो, चाहे हिंदी छायावादी कवि रहे हों) जगत् के प्रकृतिधर्म से विच्छिन्न होकर कला का निर्माण कर रहा है, वहाँ वे उसके पीछे पड़ जाते थे और उसकी लघुता महत्ता का निर्णय दिए बिना नहीं रह सकते थे।

आचार्य शुक्लकी इस निर्णयात्मक समीक्षादृष्टि का अनुगमन उनके अनुयायियों ने भी अपने अपने ढंग से किया। इनमें पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र का नाम विशेषरूप से उल्लेख्य है। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र भी आचार्य शुक्ल की ही तरह बड़ी दृढ़ता से कवियों और कृतियों की महत्ता और लघुता की घोषणा करते हैं। मिश्रजी और शुक्लजी के सिद्धांतों में बड़ी ही अनुरूपता है। अतः इनके निर्णयों में भी बड़ी अनुरूपता है।

ऐसा लगता है कि निर्णयात्मक समीक्षा अपने शुद्ध रूप में साहित्य के लिये बड़ी ही अपरिहार्य वस्तु है। मनुष्य किसी चीज की व्याख्या मात्र देकर चुप नहीं बैठ सकता। वह व्याख्या करने के बाद उस चीज की उपयोगिता अनुपयोगिता का निर्णय देना ही चाहता है। 'लेकिन वनस्पति शास्त्र के बबूल और गुलाब का जातिभेद बताने के बाद भी एक ऐसे शास्त्र की आवश्यकता रह जाती है जो

बतावे कि इन दोनों में से किसका नियोजन मानव जाति के कल्याण में किया जा सकता है। उसी प्रकार समालोचक नहीं तो कोई और ही बतावे कि इस कवि से समाज को क्या लाभ या हानि है—अर्थात् समाज के लिये कौन कितना उत्कृष्ट या अपकृष्ट है ? इस प्रकार की समस्या जहाँ की तहाँ रह जाती है।'[1] इसलिये भिन्न भिन्न समयों पर इस प्रकार की समीक्षा का चाहे कितना भी विरोध क्यों न हुआ हो लेकिन किसी न किसी प्रकार यह विद्यमान अवश्य रही है। छायावादी आलोचकों ने निर्णयात्मक समीक्षा के विरोध में अभ्यूहमूला (व्याख्यात्मक) आलोचना को खड़ा किया। इस प्रकार की आलोचना में कवियों के प्रकार में भेद किया जाता है, मात्रा में नहीं। पं० नंददुलारे वाजपेयी ने अनुभूतियों में छोटाई बड़ाई का भेद नहीं माना है। अनुभूतियाँ अनुभूतियाँ हैं, क्या छोटी क्या बड़ी। अनुभूतियाँ ही काव्य का चरम उपादान हैं और उन्हीं का अनुभव कराना काव्य का लक्ष्य। प्रकारांतर से नैतिकता, सामाजिकता, उपयोगिता आदि तत्वों को वाजपेयीजी ने काव्य के लिये उपेक्षणीय तत्व माना है किंतु व्यवहार में दिखाई पड़ता है कि वाजपेयीजी भी निर्णय से अपने को बचा नहीं पाए हैं। व्याख्या करने के साथ ही साथ वे कृति की उत्कृष्टता अपकृष्टता की ओर भी संकेत करते चले हैं। यद्यपि वाजपेयीजी ने यह घोषित किया कि 'काव्य का लक्ष्य तो होता है रसविशेष की प्रतीति या अनुभूति उत्पन्न करना। इस काव्यलक्ष्य को भूल जाने पर काव्य का समस्त कलात्मक और मनोवैज्ञानिक आधार ढह पड़ता है।' तो भी इन्होंने जैनेंद्र, अज्ञेय और भगवतीप्रसाद वाजपेयी की प्रधान औपन्यासिक कृतियों पर विचार करते समय इनकी व्यक्तिवादी कृतियों पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए सामाजिक नैतिकता का सवाल उठाया है और नित नवीन सामाजिक नैतिकता का (उसकी परंपरागत जीवंत पृष्ठभूमियों सहित) समर्थन किया है। इसी प्रकार आपने प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नई कविता के मूल्यों का निर्णय दिया है।

पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी तो सिद्धांततः भी व्याख्यात्मक और निर्णयात्मक समीक्षा का संतुलन बनाए रखना आलोचना के लिये अनिवार्य मानते हैं। व्याख्या का संबंध विज्ञान से है अर्थात् किसी कृति का तटस्थ विवेचन। किंतु आलोचक मनुष्य है, और कृति मानवजीवन की अभिव्यक्ति। मानवजीवन निरुद्देश्य नहीं है, उसका उद्देश्य है महत्तर मूल्यों की प्राप्ति का प्रयास। साहित्य भी उसके प्रयास का एक प्रकार है। मनुष्य किसी भी कृति को अपने राग विराग,

[1] पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, साहित्य का साथी, पृ० १४७।

संस्कार या मान्यता से सर्वथा असंपृक्त होकर देख ही नहीं सकता, अतः आलोचक साहित्य की व्याख्या करने के बाद उसके मूल्यों की परीक्षा करता है और करना भी चाहिए। लेकिन खतरा वहाँ पैदा होता है जहाँ आलोचक युग के अनुरूप परिवर्तित मान्यताओं के स्थान पर किसी रूढ़ मान्यता या अपनी झक को मूल्यांकन का आधार बना बैठता है। द्विवेदीजी जीवन को बड़े ही व्यापक परिवेश में देखने के पक्षपाती हैं। विज्ञान, मनोविज्ञान और सौंदर्य-बोध के तथ्यों पर आधारित मानवतावाद और सामाजिकता के आदर्शों की स्वीकृति द्विवेदीजी की समीक्षाओं में है। इसी उदात्त और व्यापक मानव-मंगल का स्वर द्विवेदीजी साहित्यिक कृतियों में भी खोजते हैं। साहित्य के निर्माण में सहायक मूलभूत तत्वों और उनसे प्रतिभासित होनेवाली सौंदर्य-प्रतीति तथा मानव की जिजीविषा को द्विवेदीजी मूल्यनिर्णय का आधार बनाते हैं। मनुष्य की सौंदर्यभावना तथा जीने की निष्ठा को जगानेवाली कृति अपने उद्देश्य में महान् है। द्विवेदीजी ने किसी रूढ़ या साम्प्रदायिक जीवनादर्श को न अपनाकर सत्यसंवलित, गतिशील और व्यापक जीवनादर्श को स्वीकार किया है। इसी लिये वे तुलसी, कबीर, सूर तथा अन्य नए पुराने कवियों (जिनमें अलग अलग ढंग से और अलग कोटि के जीवन मूल्य व्यक्त हुए हैं, किंतु वे सभी मूलतः मानव की जीवन के प्रति निष्ठा को दृढ़ करते हैं) सभी को न्याय दे सके हैं, सबके मूल्यों को पहचान सके हैं।

छायावाद के कवि आलोचकों ने (विशेषतया पंत और निराला ने) भी मूल्यों का निर्णय दिया है। पंतजी स्पष्टतः विकासशील जीवन की गति पहचानने-वाले कवि रहे हैं छायावाद की तुलना में रीतिकालीन कविता या रीतिकालीन कविता की तुलना में छायावादी कविता का मूल्यांकन किया है। कवि ने रीति-कालीन कविता की प्रवृत्तियों की व्याख्या मात्र नहीं की, बल्कि उनपर अपना निर्णय भी दिया है। निरालाजी ने पंत की कविताओं की विवेचना करते हुए उनकी साहित्यिक उपलब्धियों संबंधी मूल्यों का निर्णय दिया है। और मुझे तो ऐसा लगता है कि साहित्य में व्याख्या और निर्णय को सर्वथा अलग किया ही नहीं जा सकता। निर्णय का स्वर व्याख्या के भीतर से उभर ही आता है। इसी लिये निर्णयात्मक समीक्षा का स्वर व्याख्यात्मक समीक्षा का चरम विकास हो जाने पर भी छूटा नहीं। प्रगतिवादी, मनोविश्लेषणवादी, स्वच्छंद रूप से लिखी जानेवाली तथा आज की पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित आलोचनाओं में निर्णय का स्वर धूमिल नहीं हुआ है। हाँ, इन भिन्न भिन्न प्रकार की आलोचनाओं में लक्षित होनेवाला निर्णय का स्वर आलोचक की वैयक्तिक रुचि, संस्कार या जिस किसी विचार-संस्था से वह संबद्ध है उसके सिद्धांत और उसकी साहित्यिक समझदारी के

अनुसार विभिन्न रूपों में दिखाई पड़ता है। यह निर्णयात्मक स्वर संस्कृत की, रीतिकाल की या द्विवेदीकाल की कुछ निर्णयात्मक समीक्षाओं के गुणदोष निराकरण पर आधारित नहीं है, सूक्तियों या प्रशंसा, निंदा के रूप में नहीं है, बल्कि कृति की वस्तुगत व्याख्या के भीतर से फूटता है।

व्याख्यात्मक समीक्षा

व्याख्यात्मक समीक्षा समीक्षा का उत्कृष्टतम रूप है। इसे अंग्रेजी में इंटरप्रिटेटिव क्रिटिसिज्म कहते हैं। राजशेखर ने इसी को तत्वाभिनिवेशी आलोचना कहा है। व्याख्यात्मक समीक्षा निर्णयात्मक समीक्षा के विरोध में खड़ी हुई। निर्णयात्मक समीक्षा रूढ़ शास्त्रीय नियमों के आधार पर साहित्य के मूल्यों का निर्णय देती रही है, परंतु यह निर्णय साहित्य की प्रगति में बाधक बन जाता है। साहित्य सर्जन के मूल में शास्त्रीय नियम नहीं होते, बल्कि मानवजीवन की अनुभूतियाँ, प्रतीतियाँ, छवियाँ होती है जो सर्जक के व्यक्तित्व के माध्यम से अभिव्यक्ति पाती हैं। साहित्यसर्जन एक संश्लिष्ट व्यापार है। उसमें युग, परिवेश, इतिहास, सर्जक का व्यक्तित्व, चिंतन, अनुभव आदि अनेक तत्व काम करते हैं। साहित्यशास्त्रों के नियमन से सर्जित होनेवाला साहित्य निर्जीव होता है। अतः शास्त्रानुशासन को ही स्वीकारकर चलनेवाली निर्णयात्मक समीक्षा सदैव उच्च साहित्यसृष्टि का अवरोधक रही है—साहित्य की मूल प्रेरणाओं की उपेक्षा करनेवाली। व्याख्यात्मक समीक्षा साहित्य की मूल प्रेरणाओं को समझती है। उसका मुख्य उद्देश्य होता है कृति को उसके वास्तविक रूप में देखना परखना। कृति को समझने के लिये आलोचक उसके युग, समाज, लेखक के व्यक्तित्व, कृति के मूल उद्देश्य को समझता है। आलोचक अपने रूढ़ सिद्धांत, वैयक्तिक रुचि, पूर्वग्रह, आसक्ति या विरक्ति, भावुकता या कठोरता का भाव लेकर कृति के पास नहीं पहुँचता, बल्कि वह उसका शुद्ध अध्येता होकर पहुँचता है और कृति को उसके समस्त परिवेश में समझता है और उसका मूल्य आँकने के लिये उसी के भीतर से आधार खोज निकालता है। यों व्याख्यात्मक समीक्षा में मूल्य आँकना आवश्यक नहीं, वह तो किसी कृति में सर्जित भावलोक की छवियों का उद्घाटन करती है। व्याख्यात्मक आलोचना केवल प्रकारभेद स्वीकार करती है। उसकी सीमाओं और उपलब्धियों की व्याख्या कर पाठकों को कवि की मूल अनुभूति का अनुभव करने की सुविधा निर्मित करती है। स्पष्ट है कि यह कार्य करने के लिये आलोचकों को कृति के साथ ऐक्य स्थापित करता पड़ता है।

निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक समीक्षा में तीन भेद बताए गए हैं—(१) निर्णयात्मक आलोचना उत्तम, मध्यम, निकृष्ट श्रेणियों का भेद स्वीकार करती है। वह विज्ञान की भाँति वर्गभेद तो मानती है किंतु ऊँच नीच के

भेद में उसे विश्वास नहीं। व्याख्यात्मक आलोचना भिन्न भिन्न प्रकार की रचनाओं की विशेषता बता देगी, ऊँच नीच का भेद नहीं करेगी। (२) निर्णयात्मक आलोचना नियमों को राजकीय नियमों की भाँति किसी अधिकार से प्राप्त हुआ मानती है और उसका पालन करना अनिवार्य समझती है, किंतु व्याख्यात्मक आलोचना उन नियमों को किसी बाह्य अधिकारी द्वारा नहीं, वरन् अपनी ही प्रकृति के नियम मानती है। व्याख्यात्मक आलोचना कवि या कलाकार की अपनी सृष्टि की विशेषताएँ स्वीकार करती है और निर्णयात्मक आलोचना उसे निर्जीव पत्थर की कसौटी पर कसना चाहती है। (३) निर्णयात्मक आलोचना नियमों को स्थिर और अपरिवर्तनशील मानती है। व्याख्यात्मक आलोचना प्रगतिशील और परिवर्तनशील मानती है।

हिंदी में व्याख्यात्मक आलोचना का सर्वप्रथम प्रौढ़रूप दिखाई पड़ता है आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचनाओं में। किसी भी कृति की समीक्षा करने के लिये उसके उचित परिवेश को उसकी मूल प्रेरणा को, उसके उद्देश्य को, उसके काव्यत्व को समझना होता है। पुराने मानदंडों के स्थान पर कृति के भीतर से नए मानदंड निर्धारित करने पड़ते हैं। शुक्लजी व्याख्यात्मक समीक्षा के प्रौढ़ आलोचक हैं। उनके सामने मुख्य रूप से कृति रहती है। वे किसी कृति के पास अपने दुराग्रह या रूढ़ सिद्धांत लेकर नहीं पहुँचते। कृति का गहरा मनन और अध्ययन करने के पश्चात् वे देखना चाहते हैं कि वह मानवजीवन के मार्मिक स्थलों या गहरी संवेदनाओं को रूपायित कर सकी है या नहीं? कहीं फैशनवश तो नहीं लिखी गई है? किसी भी कृति की भावात्मक या संवेदनात्मक गहराई तक पहुँचने में शुक्लजी की दृष्टि धोखा नहीं खाती, क्योंकि उनकी रसज्ञता बड़ी ही उच्चकोटि की है। वे हर प्रकार के काव्य के मर्म में प्रविष्ट होकर उसकी भावछवि को पा लेते हैं। किसी भी कृति की समीक्षा के समय उनकी रसज्ञता, सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्व की पकड़ और वैज्ञानिक विश्लेषण का दिव्य स्वरूप लक्षित होता है। शुक्लजी रसग्रहण और वैज्ञानिक विश्लेषणतकक ही नहीं रुकते, वे मूल्यांकन भी करते चलते हैं। वे रसग्रहण और वैज्ञानिक विवेचन के लिये कृतिकार के उचित परिवेश का निर्माण करते हैं। वे देखते हैं कि कृति किस काल की है, किस समाज की है, कृतिकार किस दार्शनिक, धार्मिक और साहित्यिक संप्रदाय का है, कृतिकार के जीवन में कौन कौन सी महत्वपूर्ण घटनाएँ घटी थीं जिनका प्रभाव उसकी कृतियों में प्रतिबिंबित हुआ है, किंतु मूल्यांकन के समय वे अपने प्रतिमान को सामने रख देते हैं। अतः कृतियों के भावग्रहण और विश्लेषण में शुक्लजी बहुत ही तटस्थ और प्रौढ़ दीखते हैं, पर मूल्यांकन के समय उनकी वैयक्तिक रुचि या नैतिकता बीच में आ जाती है। यों कृतियों की स्वच्छंद रसात्मकता को भी शुक्लजी बहुत अधिक मूल्य देते हैं, लेकिन दो कवियों के तारतम्यनिरूपण के समय रसात्मक

होने के साथ ही साथ लोकमंगल की भावना से पूर्ण कृति को विशेष महत्व देते हैं।

शुक्लजी की सूक्ष्म मौलिक दृष्टि कृतियों की मौलिकता और नवीन उद्भावनाओं को बड़ी सफाई से पकड़ लेती है और उनका विवेचन करने में नहीं चूकती। उनकी एक बहुत बड़ी विशेषता है मनोविकारों के सूक्ष्म सूक्ष्म रूपों और उनके भेदों को समझना। आचार्यों ने जितने मनोविकार गिनाए हैं उनसे अधिक भाव भी हो सकते हैं। शुक्लजी स्थान स्थान पर उन्हें पहचानकर उनका निर्देश करते हैं; जैसे तुलसी के—

> 'बाँधे जलनिधि नीर निधि, जलधि सिंधु बारीस।
> सत्य तोयनिधि, कंपती, उदधि, पयोधि नदीस।'

दोहे में हकपकाहट का भाव बताया है जो पूर्व गणित भावों से थोड़ा सा भिन्न है।

शुक्लजी किसी मार्मिक बात को पकड़कर सामान्य सिद्धांतनिरूपण भी करने लगते हैं। या किसी कवि के किसी कथन को सिद्ध करने के लिये किसी सामान्य सिद्धांत की चर्चा करने लगते हैं।

यों तो हिंदी साहित्य का इतिहास लिखते समय शुक्लजी ने हिंदी साहित्य के समस्त कवियों और लेखकों की कृतियों का विवेचन किया है, किंतु मुख्य और विशद रूप से तुलसी, सूर और जायसी का अध्ययन प्रस्तुत किया है। तीनों कवियों के मूल प्रेरणा स्रोतों, उनके काव्य के स्वरूप, उनकी भावात्मक गहराई और व्यापकता की मार्मिक व्याख्या की है। जो काव्य जीवन के जितने ही मर्मस्पर्शी स्थलों और मानवीय संवेदनाओं को चित्रित करने में समर्थ हुआ है वह उतना ही प्रभावकारी और उच्चकोटि का काव्य बन पड़ा है। तुलसी और जायसी प्रबंध काव्यकार थे यानी उनकी कीर्ति का स्तंभ उनके प्रबंध काव्य ही हैं। अतः शुक्लजी ने इन्हें प्रबंध काव्यकार के रूप में देखने और इनकी कृतियों (रामचरित मानस और पद्मावत) में प्रबंध काव्य की विशेषताएँ खोजने का प्रयत्न किया है। प्रबंध काव्य अपने स्वभाव से ही जीवन के अनेक मार्मिक प्रसंगों को समेटने और रस की धारा बहाने में समर्थ होता है। उनमें रससिद्धि के साथ ही साथ जीवनव्यापार का साधनात्मक पक्ष भी लक्षित होता है। सूरदास गीतकवि हैं। गीत कविता का अपना रसात्मक रूप होता है। सूरदास की विवेचना शुक्लजी ने गीतकवि के रूप में की है, और गीतकवि के रूप में उन्हें प्राप्त होनेवाली भावात्मक उपलब्धियों का विश्लेषण करने में शुक्लजी कहीं चूके नहीं हैं। शुक्लजी की रसमग्नता अवसर पाकर उभर उठती है, लेकिन उनकी जीवनसंबंधी दृष्टि मूल्यांकन के अवसर पर सामने आ जाती है। इसलिये सूरदास, कबीर, रीतिकाल के स्वच्छंद कवियों, छायावादी कवियों

के भावसौंदर्य के उन्मुक्त प्रशंसक होकर भी उन्हें प्रबंध काव्यकारों के सामने थोड़ा छोटा ही मान बैठते हैं। कहा जा सकता है कि शुक्लजी ने सुंदर का शिव के साथ जितना गहरा संबंध जोड़ा है उतना सत् के साथ नहीं। शुक्लजी के पूर्ववर्ती और समकालीन डा० श्यामसुंदर दास की व्याख्यात्मक समीक्षाओं में अधिक उदारता दिखाई पड़ती है। बाबू साहब ने भी कृति के मूल्यांकन के लिये कृति को प्रभावित करनेवाले तत्कालीन परिवेश का उचित विश्लेषण किया और उस परिवेश के बीच उस कृति की सीमाओं और उपलब्धियों का विवेचन किया। बाबू साहब में व्याख्यात्मक आलोचना की तटस्थता शुक्लजी की अपेक्षा अधिक विकसित रूप में दृष्टिगोचर होती है किंतु शुक्लजी की सी रसग्राहिता एवं गहन विश्लेषणक्षमता नहीं दिखाई देती। बाबू साहब ने शुक्लजी की अपेक्षा साहित्यकार की वैयक्तिकता का अधिक आदर किया। साथ ही साथ उसकी कृति को सामाजिकता के संदर्भ से भी विच्छिन्न देखना नहीं चाहा, अर्थात् वे सर्वत्र एक प्रकार का समन्वय स्थापित करना चाहते रहे। इसलिये वे साहित्य में सामाजिकता के समर्थक होकर भी शुक्लजी की तरह एक प्रकार की नैतिकता को साहित्य के लिये सर्वथा अपरिहार्य वस्तु नहीं मानते थे। अतः इनका मान-दंड शुक्लजी की अपेक्षा अधिक साहित्यिक था इसी लिये ये कबीर और छायावादी कवियों के साथ अधिक न्याय कर सके। इनकी व्यावहारिक आलोचना सिद्धांततः व्याख्यात्मक आलोचना की प्रकृति के अधिक अनुकूल है, किंतु शुक्लजी की सी मर्म छवियों के उद्घाटन की शक्ति और रसग्राहिता इनमें नहीं है। 'हिंदी साहित्य' इनका इतिहास ग्रंथ है और 'गोस्वामी तुलसीदास' तथा 'कबीर ग्रंथावली' स्वतंत्र आलोचनात्मक पुस्तकें।

श्रीपदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने भी हिंदी पाठकों के समक्ष देश और विदेश की विविध साहित्यिक सामग्री प्रस्तुत की। श्रीबख्शी की आलो-चनाएँ जितनी परिचयात्मक हैं उतनी विश्लेषणात्मक नहीं। 'विश्व साहित्य' और 'हिंदी साहित्य विमर्श' इनकी व्याख्यात्मक समीक्षा संबंधी दो पुस्तकें हैं। व्याख्यात्मक प्रौढ़ता के अभाव में भी इनकी आलोचनाओं का तत्कालीन परिस्थिति को देखते हुए महत्व स्वीकारना ही पड़ेगा।

शुक्लपरंपरा के समर्थ आलोचक हैं—बाबू गुलाबराय, डा० जगन्नाथ-प्रसाद शर्मा, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पं० चंद्रबली पांडेय, श्रीलक्ष्मीनारायण सुधांशु, पं० कृष्णशंकर शुक्ल, डॉ० केसरी नारायण शुक्ल, डॉ० सत्येंद्र। बाबू गुलाब राय ने भी डा० श्यामसुंदर दास की तरह उदार समन्वयवादी दृष्टि अपनाई है। 'हिंदी साहित्य का इतिहास' तथा 'प्रसादजी की कला' में उनकी आलोचना का यही उदार स्वरूप दिखाई पड़ता है। डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने 'हिंदी गद्यशैली का विकास' और 'प्रसाद के नाटकों

का शास्त्रीय अध्ययन' में संबद्ध कृतिकारों की मूल प्रवृत्तियों, दृष्टियों, भावसंपत्ति और शैली का तटस्थ विश्लेषण किया है। प्रसाद के नाटकों को लेखक ने प्रसाद की दृष्टि के आलोक में देखा है। साथ ही साथ नाटकों की मूल प्रकृति से प्रसाद के नाटकों की प्रकृति कहाँ अलग है, कहाँ समान है, इसे भी परखा है, अर्थात् प्रसाद कितने शास्त्रीय हैं कितने मौलिक, इसकी व्याख्या लेखक ने सम्यक् रीति से की है। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने घनानंद, बिहारी और भूषण के काव्य की गंभीर व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। मिश्रजी लाला भगवानदीन की टीकापद्धति और आचार्य शुक्ल की विश्लेषणपद्धति दोनों से प्रभावित हैं। अतः जहाँ ये एक ओर नए पुराने कवियों के काव्य के गूढ़ार्थ को स्पष्ट करते चलते हैं वहीं उनका गहन विश्लेषण भी प्रस्तुत करते दिखाई पड़ते हैं। मिश्रजी ने आलोच्य कृतिकारों की कृतियों को परंपरा और सामयिक प्रवृत्ति दोनों के परिपार्श्व में रखकर उनका सौंदर्य उद्घाटित किया है। पं० चंद्रबली पांडेय की 'तुलसीदास', 'हिंदी कविचर्चा' और 'केशवदास', पं० कृष्णशंकर शुक्ल की 'कविवर रत्नाकर' और 'केशव की काव्यकला', डा० सत्येंद्र की 'गुप्तजी की काव्यकला', 'प्रेमचंद और उनकी कहानीकला', 'हिंदी एकांकी', 'व्रजलोक साहित्य का अध्ययन' आदि पुस्तकें आचार्य शुक्ल की परंपरा की समीक्षा का रूप प्रस्तुत करती हैं।

स्वच्छंदतावादी (छायावादी), प्रगतिवादी और मनोविश्लेषण प्रभावित समीक्षकों की व्यावहारिक समीक्षाओं को भी व्याख्यात्मक समीक्षा के ही अंतर्गत लेंगे। इन अलग अलग विचारसंप्रदायों के आलोचकों ने साहित्यसृजन की प्रेरणाओं को भिन्न-भिन्न रूपों में देखा है और उनकी व्यावहारिक समीक्षा करते समय इन आलोचकों ने उनके मूल प्रेरणा स्रोतों और उद्देश्यों पर विचार किया है और वस्तुगत दृष्टि से इनके सौंदर्यबोध, भावलोक और अन्य उपकरणों की व्याख्या की है। ये समीक्षाएँ मूल्यांकन के समय भले ही अपने अपने प्रतिमानों को सामने लाकर उत्कृष्टता अपकृष्टता का निर्णय करती हों किंतु व्याख्या के समय बौद्धिक निस्संगता बनाए रखने का प्रयास करती हैं। कृतिकारों के विचारों के आलोक में उनकी कृतियों की मूल प्रेरणाओं और उनमें प्रतिबिंबित साहित्यिक छवियों की मार्मिक व्याख्या करने में नहीं चूकतीं।

छायावादी या स्वच्छंदतावादी आलोचकों में प्रमुख हैं आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पं० नंददुलारे वाजपेयी, शांतिप्रिय द्विवेदी, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', डा० रामकुमार वर्मा। कहा जा चुका है कि द्विवेदीजी को छायावाद की सीमा में ठीक ठीक बाँधना कठिन है, उनमें अन्य विचारपरंपराओं का भी अद्भुत संयोग है। 'कबीर' और 'सूर साहित्य' में द्विवेदीजी ने इन दोनों महाकवियों की मौलिक शक्तियों, काव्यप्रतिभाओं, विषयवस्तुओं और शैलीसौंदर्य

के विवेचन के साथ साथ उन संप्रदायों, सामाजिक और पारिवारिक स्थितियों, परंपराओं और भक्ति के स्वरूपों की व्यापक परीक्षा की है जो इन दोनों कवियों की कृतियों पर प्रभाव डाल रही थीं। द्विवेदीजी पुराने साहित्य के पंडित तो हैं ही, साथ ही साथ नवीनता में सतत विश्वास करनेवाले हैं। अतः वे नए और पुराने सभी ग्रंथों पर पांडित्यपूर्ण और पूर्वग्रहहीन राय दे पाते हैं। ये रूढ़िवादी पंडितों की तरह साहित्य को पुराने सिद्धांतों या शाश्वत प्रवृत्तियों की ही कसौटी पर न कसकर उसे युगसंभूत चेतनाओं, सामाजिक संबंधों और उसे प्रभावित करने‑वाली सारी सामाजिक उपलब्धियों के आलोक में परखते हैं। गंभीर से गंभीर वैज्ञानिक विवेचन और सहृदयसुलभ रसमयता शुक्लजी के बाद अपने उन्नत रूप में किसी में दिखाई पड़ी तो द्विवेदीजी में। द्विवेदीजी में उच्चकोटि का समन्वय‑वाद है अर्थात् संतुलन है। संतुलित दृष्टिकोण एकांगी दृष्टियों की अतिवादिता से विनिर्मुक्त और इन सबमें पाई जानेवाली सचाई पर आधारित समग्र दृष्टि है। इसी लिये द्विवेदीजी की व्याख्यात्मक आलोचनाओं में छायावादी दृष्टि की भावतरलता, अनुभूतिगत गहराई पर बल देने की प्रवृत्ति, वैज्ञानिक दृष्टि की गहन विश्लेषणक्षमता, ऐतिहासिक आलोचना की शोधमूलक जिज्ञासा, समाजवादी आलोचना की सामाजिक सौंदर्यभावना और यथार्थोन्मुखता आदि सभी का संतुलित स्वरूप दिखाई पड़ता है। 'कबीर' और 'सूर साहित्य' के अतिरिक्त 'अशोक के फूल', 'कल्पवृक्ष' तथा 'विचार और वितर्क' में व्याख्यात्मक समीक्षासंबंधी कुछ उच्चकोटि के निबंध संगृहीत हैं।

छायावादी समीक्षादृष्टि का शुद्ध उन्मेष दिखाई पड़ता है पं० नंददुलारे वाजपेयी की आलोचनाओं में। वाजपेयीजी ने कवियों और लेखकों की मूल वृत्तियों को पहचानकर अनुभूतियों के आधार पर उनकी व्याख्या की है। जिन कवियों पर वाजपेयीजी ने विचार किया है उनमें से अधिकांश पर शुक्लजी भी विस्तार से विचार कर चुके थे। लेकिन शुक्लजी अपनी मार्मिक पकड़ और सुस्पष्ट व्याख्या के बावजूद अपने कुछ पूर्वग्रहों के कारण रचनाओं के मूल उद्गम स्रोतों तक न जाकर उन्हें पाश्चात्य अनुकरण मान बैठे। वाजपेयीजी ने उन्हें अपने देश और समय के आंदोलनों से संबद्ध करके देखा। उनमें व्यक्त रहस्यवादिता की वैज्ञानिक व्याख्या की। इन कविताओं में व्यक्त कला के, सौंदर्यबोध के, अनुभूतियों के, अभिव्यक्तियों के, राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतनाओं के नवीन स्वरूपों को देखा। इस प्रकार वाजपेयीजी ने आधुनिक हिंदी काव्य की विकासधारा के स्वाभाविक क्रम का मार्मिक विवेचन किया और इन सभी कवियों के व्यक्तिगत विकासक्रमों को भी निर्धारित किया।

वाजपेयीजी ने वैसे तो पुराने कवियों की कविताओं की भी मार्मिक व्याख्याएँ कीं, किंतु उनका विशेष क्षेत्र रहा आधुनिक काल। आधुनिक काल के

अलग अलग वादों के कवियों और लेखकों के सर्जन के मूल में कार्य करनेवाली प्रेरणाओं और शक्तियों का वस्तुगत विश्लेषण किया और अनुभूति तथा संवेदना की सघनता और सच्चाई को काव्य का मूल मर्म स्वीकारकर इन कृतियों का मूल्य परखा। 'हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी', 'आधुनिक साहित्य' तथा 'नया साहित्य नए प्रश्न' में आधुनिक प्रवृत्तियों और साहित्यकारों की समीक्षा से संबद्ध अनेक निबंध हैं। इन निबंधों के अतिरिक्त 'जयशंकर प्रसाद', 'प्रेमचंद' और 'महाकवि सूरदास' नामक स्वतंत्र समीक्षापुस्तकें भी इन्होंने लिखी है।

डा० नगेंद्र की दृष्टि में आलोचक एक विशेष रसग्राही पाठक है और आलोचना उस गृहीत रस को सर्वसुलभ करने का प्रयत्न। इस प्रयत्न में आलोच्य कृति के सहारे आलोचक जितनी सच्चाई और सफाई के साथ अपने को व्यक्त कर सकेगा उतना ही उसकी आलोचना का मूल्य होगा। डा० नगेंद्र ने अपनी आलोचनाओं में इस दायित्व का सुंदर निर्वाह किया है। डा० नगेंद्र में कई प्रकार की विशेषताओं का सम्यक् समन्वय दीखता है। एक ओर तो वे मनोविश्लेषणवाद से प्रभावित होकर यह स्वीकार करते हैं कि कविता या कला के पीछे आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा होती है और चूँकि आत्मा के निर्माण में कामवृत्ति का और अतृप्तियों का योग है, अतः इस प्रेरणा में उनका विशेष महत्व भी मानना अनिवार्य है। दूसरी ओर वे उपयोगिता का व्यापक अर्थ लेकर आत्माभिव्यक्ति में ही उसका समावेश करके उपयोगिता का तथा बाह्य परिस्थितियों का महत्व भी स्वीकार करते हैं। लेकिन पहले के सामने इसे अत्यंत गौण स्थान देते हैं। तीसरी ओर समस्त प्राचीन साहित्याचार्यों के विचारों की निधि ग्रहणकर उनके आधार पर शास्त्रीय ढंग के विचारक हो उठते हैं। चौथी ओर वे छायावाद के काव्यलालित्य और स्वच्छंद वृत्ति से प्रेरित होकर प्रभाववादी समीक्षा का स्पर्श अपनी आलोचना में देते चलते हैं। इस प्रकार ये अनेक तत्वों के संयोग डा० नगेंद्र की समीक्षा-पद्धति को अधिक साहित्यिक रूप दे देते हैं। 'देव और उनकी कविता' डा० नगेंद्र की व्यावहारिक समीक्षासंबंधी सबसे महत्वपूर्ण पुस्तक है। लेखक ने बड़े गंभीर अध्ययन और मनन के आधार पर देव साहित्य का सर्वांगीण विवेचन किया है। डा० नगेंद्र शास्त्रीय विवेचन का मार्ग अपनाए रखते हैं, इससे वे अस्पष्ट से अस्पष्ट विषय को भी सुलझाकर रख सकने में समर्थ होते हैं। यह शास्त्रीय पद्धति डा० नगेंद्र की ललित शैली के कारण एक ओर विषयबोध और भावबोध को स्पष्ट करती है और दूसरी ओर साहित्यिक सरसता की सृष्टि करती है। डा० नगेंद्र के कुछ ऐसे भी निबंध हैं जिनमें इन्होंने काव्यात्मक और नाटकीय वातावरण की सृष्टि करके सरल और रोचक ढंग से गंभीर से गंभीर बात कहने की चेष्टा की है। 'यौवन के द्वार पर', 'साहित्य की प्रेरणा', 'हिंदी उपन्यास,' 'वाणी के न्याय-

मंदिर में' आदि निबंध इसी प्रकार के हैं। 'आधुनिक हिंदी नाटक', 'सुमित्रानंदन पंत', 'साकेत : एक अध्ययन' इनकी मुख्य समीक्षापुस्तकें हैं। 'विचार और अनुभूति' में व्याख्यात्मक समीक्षासंबंधी निबंध संगृहीत हैं।

पं० शांतिप्रिय द्विवेदी प्रभाववादी समीक्षक के नाम से प्रख्यात हैं, किंतु इनके कुछ आलोचनात्मक निबंध ऐसे भी हैं जो ललित शैली में कृतिविशेष या कृतिकारविशेष की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। शांतिप्रियजी छायावाद को नवीन वस्तु मानकर स्वच्छंद ढंग से उसकी आलोचना के पक्षपाती हैं। इसलिये इनके विचारप्रधान निबंधों में भी शास्त्रीय क्रमबद्धता के स्थान पर उड़ती हुई स्वच्छंदता दिखाई पड़ती है। एक बात को छूकर दूसरी बात पर निकल जाना इनकी प्रकृति है। आलोचनाओं में भी सूत्रात्मक सूक्तियों से काम लेना इन्हें पसंद है। लेकिन इनके कुछ निबंध ऐसे अवश्य हैं जिनमें लेखक भावनिष्ठ की अपेक्षा वस्तुनिष्ठ हो गया है और वह अपनी सूझबूझ तथा मार्मिक पकड़ का परिचय दे गया है। शुक्लजी का कृतित्व' (सामयिकी), 'प्रेमचंद और गोदान' (युग और साहित्य) निबंध तथा 'ज्योति विहग' और 'प्रतिष्ठान' पुस्तकें शांतिप्रियजी की व्याख्यात्मक समीक्षा का परिचय देनेवाली महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

निरालाजी का 'पंत और पल्लव' तथा 'मेरे गीत और कला' निरालाजी की कलामर्मज्ञता के परिचायक निबंध हैं। डा० रामकुमार वर्मा ने 'कबीर का रहस्यवाद' में कबीर के काव्य की सांगोपांग विवेचना की है।

प्रगतिवादी आलोचकों ने कृतियों का विश्लेषण समाजशास्त्रीय आधार पर किया है। साहित्य का भावबोध, सौंदर्यबोध सामाजिक यथार्थ से संपृक्त रहता है। वास्तव में सामाजिक यथार्थ से घनिष्ठ परिचय होने पर ही साहित्य का भाव और सौंदर्यबोध उच्चकोटि का हो सकता है। जीवित यथार्थ से, लोकजीवन से संबद्ध साहित्यकार की ही कृति सशक्त और जीवंत होती है तथा मृत यथार्थ या शोषक वर्गों की व्यक्तिवादी, अहंवादी शोषक संस्कृतियों और जीवनसत्यों से निर्मित होनेवाला साहित्य ह्रासोन्मुख होता है, अपनी बाहरी साजसज्जा, चमक-दमक और गहन मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के बावजूद निर्जीव और अशक्त होता है। प्रगतिवादी आलोचकों ने आलोचना की व्याख्यात्मक गहनता और वस्तु-वादी विश्लेषणशीलता को एक नई दिशा दी। इन्होंने विभिन्न प्रकार के प्रेरणा-स्रोतों से निर्मित होने हुए साहित्य के भावसौंदर्य, अनुभूति और विचार का विश्लेषण किया, किंतु साहित्य के मूल्य का निर्धारण उनके सामाजिक और असामाजिक स्वरों के आधार पर किया। कहीं-कहीं यह सामाजिकता का आग्रह इतना प्रबल हो गया कि अनुभूति की गहनता के दृष्टिकोण से उन्नत से उन्नत कृतियाँ अपकृष्ट मान ली गईं। ऐसे अवसरों पर आलोचना का

स्वर साहित्यिक की अपेक्षा सामाजिक हो गया। लेकिन प्रगतिवाद की स्वस्थ व्याख्यात्मक आलोचना ने कुंठा, जड़ता और व्यक्तिवाद के घेरे में बंदी होकर निर्जीव होते हुए साहित्य को सामाजिक जीवन के यथार्थ की ओर उन्मुख किया। साहित्यिक सौंदर्य को नया आयाम दिया।

श्रीशिवदान सिंह चौहान प्रगतिवादी आलोचकों में अधिक सुलझे हुए आलोचक हैं। लेकिन इन्होंने जितना साहित्य के सिद्धांतपक्ष पर लिखा है उतना व्यवहारपक्ष पर नहीं। फिर भी इनकी 'प्रगतिवाद' तथा 'साहित्य की परख' पुस्तकों में व्याख्यात्मक समीक्षा का पुष्ट रूप लक्षित होता है। श्रीचौहान ने इन पुस्तकों में श्रीसुमित्रानंदन पंत, भगवतीचरण वर्मा, दिनकर और रामचंद्र शुक्ल की मूल प्रवृत्तियों का वस्तुगत विश्लेषण किया है।

डा० रामविलास शर्मा ने व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में बहुत अधिक काम किया है। नए और पुराने सारे साहित्यकारों के साहित्य की व्याख्या करते समय तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति और उसके प्रभाव की मीमांसा डा० शर्मा ने बड़ी सफाई से की है। जिन नए पुराने साहित्यकारों ने अपने समय की जनता के जीवन को तत्कालीन विकसित मानवतावादी दृष्टिकोण से देखा और अंकित किया वे निश्चय ही क्रांतिकारी कवि हैं। प्रगतिवाद वर्तमान चेतना का आरोप प्राचीन साहित्य पर नहीं करना चाहता वरन् प्राचीन काल की सामाजिक चेतना की ही खोज उसमें करना चाहता है। इसी लिये डा० शर्मा ने तुलसी, भूषण, भारतेंदु, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पंत, निराला आदि कवियों को क्रांतिकारी कहा है। 'प्रेमचंद और उनका युग', 'प्रेमचंद', 'भारतेंदु युग', 'निराला', 'रामचंद्र शुक्ल विभिन्न लेखकों पर लिखी गई इनकी पुस्तकें हैं। इनके अतिरिक्त 'शरत्चंद्र चटर्जी', 'नजरुल इस्लाम', 'शेली और रवींद्रनाथ', 'स्व० बलभद्र दीक्षित पढ़ीस', 'भूषण का वीर रस', 'आई० ए० रिचार्ड्स के आलोचनासिद्धांत', 'अनामिका और तुलसीदास', 'हिंदी साहित्य पर तीन नए ग्रंथ', 'देशद्रोही', 'अहं का विस्फोट', 'सतरंगिनी', 'बच्चनजी का नया प्रयोग', 'कुप्रिन और वेश्याजीवन' आदि इनके फुटकर लेख हैं जो 'संस्कृति और साहित्य' में संगृहीत हैं। शर्माजी व्याख्यात्मक आलोचना की पूरी शक्ति धारण करते हुए भी अनेक स्थलों पर तटस्थ नहीं रह सके हैं। वे कहीं कहीं निंदा और स्तुति के अलग अलग मार्ग पकड़ लेते हैं।

श्रीप्रकाशचंद्र गुप्त इस परंपरा के सबसे उदार आलोचक हैं। नए नए लेखकों की कृतियों को प्रोत्साहित करने में वे सबसे आगे हैं। परंतु इनकी उदारता में व्याख्यात्मक गहनता और वैज्ञानिक तटस्थता के स्थान पर लेखकों को प्रश्रय देने की भावना काम करती है। कभी कभी तो ह्रासशील कवियों को भी प्रगतिशील मान

कर उन्हें प्रगति की कसौटी पर कसने लगते हैं और कभी कभी सतही प्रगतिशीलों को प्रतिनिधि, सच्चा साहित्यकार मानकर उन्हें अधिक मान दे बैठते हैं।

मनोविश्लेषणात्मक आलोचना कृतियों के सर्जन की मूल प्रेरणा अचेतन में स्थित दमित कामवासनाओं को या क्षतिपूर्ति को या जीवनेच्छा को मानती है। वह साहित्य को सामाजिक की अपेक्षा व्यक्तिगत अधिक मानती है, अर्थात् ऐसी आलोचना कृति को अचेतन की दमित वासना की अभिव्यक्ति मानती है। यह सर्जन किसी सामाजिक दायित्व के दबाव के कारण नहीं होता। यह स्वांतः सुखाय होता है। इसका मूल उद्देश्य है अहेतुक आनंद प्राप्त करना। मनोविश्लेषणावाद से प्रभावित आलोचकों ने अपने अपने ढंग से प्रत्येक कृति के मूल में प्रेरणास्वरूप कार्य करनेवाली कृतिकार की व्यक्तिगत वासनाओं का विश्लेषण किया है और इस प्रकार की आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा (जिसमें कामवृत्ति का प्राधान्य है) से प्रेरित साहित्य को सच्चा साहित्य माना है। जहाँ इन आलोचकों को साहित्य के मूल में कोई सामाजिक या अन्य प्रकार की तथाकथित बाहरी प्रेरणा काम करती दिखाई पड़ी है उस साहित्य को ये आलोचक उच्चकोटि का साहित्य नहीं मान सके हैं।

श्रीइलाचंद जोशी ने जिन रचनाओं में मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद का चित्रण देखा है उन्हें ऊँचा स्थान प्रदान किया है। ये मनोविश्लेषण या व्याख्या की शक्ति से संपन्न होकर भी अपनी एकांगी दृष्टि के नाते अन्य प्रकार के प्रेरणा स्रोतोंवाले साहित्य की वास्तविक छवियों का उद्घाटन नहीं कर पाते। इसी लिये ये या इनके समान अन्य आलोचक प्रगतिवाद और छायावाद के सौंदर्य का उचित विश्लेषण नहीं कर सके। 'भारतीय साहित्य में प्रगतिशीलता', 'छायावादी तथा प्रगतिपंथियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण', 'उन्नीसवीं शताब्दी और उसके बाद का उपन्यास साहित्य', 'आधुनिकतम उपन्यास का दृष्टिकोण', 'आधुनिक कथा-साहित्य का क्रमविकास और नई दिशा', 'हिंदी आलोचना साहित्य का भविष्य', 'महादेवीजी का आलोचनासाहित्य', 'चिरयुवा और चिरजीवी रवींद्रनाथ', 'मेघदूत रहस्य', 'मानवधर्मा कवि चंडीदास', 'कामायनी', 'शरत्चंद्र की प्रतिभा' आदि निबंध इनकी व्याख्यात्मक समीक्षा की शक्तियों, सौंदर्यों और सीमाओं से पूर्ण निबंध हैं।

इन विशेष विचारपरंपराओं से प्रभावित आलोचकों के अतिरिक्त कुछ ऐसे आलोचक भी हैं जिन्होंने स्वच्छंद दृष्टि से समीक्षाएँ लिखी हैं, अपने काल तक की विकसित समस्त उपलब्धियों को अपने ढंग से स्वीकृत किया है और उनके आलोक में कृतियों का विश्लेषण किया है। डा० देवराज (साहित्य चिंता, आधुनिक समीक्षा, छायावाद का पतन), डा० प्रभाकर माचवे, (व्यक्ति

और वाङ्मय, संतुलन, समीक्षा की समीक्षा), पं० नलिनविलोचन शर्मा (दृष्टिकोण) आदि इस कोटि में लिए जा सकते हैं, किंतु इनकी आलोचनाएँ प्रमुखतः आलोच्यकाल सन् ४० ई० के बाद की हैं, अतः इनकी चर्चा यहाँ अभिप्रेत नहीं।

प्रभाववादी आलोचना

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा कोई ठीक ठिकाने की वस्तु ही नहीं। न ज्ञान के क्षेत्र में उसका कोई मूल्य है न भाव के क्षेत्र में। उसे समीक्षा या आलोचना कहना ही व्यर्थ है। किसी कवि की आलोचना कोई इसलिये पढ़ने बैठता है कि उस कवि के लक्ष्य को, उसके भाव को ठीक ठीक हृदयंगम करने का सहारा मिले, इसलिये नहीं कि आलोचक की भाव-भंगी और सजीले पदविन्यास द्वारा अपना मनोरंजन करे। यदि किसी रमणीय अर्थगर्भित पद्य की आलोचना इसी रूप में मिले कि 'एक बार इस कविता के प्रवाह में पड़कर बहना ही पड़ता है। स्वयं कवि को भी विवशता के साथ बहना पड़ा है। वह एकाधिक बार मयूर की भाँति अपने सौंदर्य पर आप ही नाच उठा है, तो उसे लेकर कोई क्या करेगा?'

इस प्रकार की आलोचना में आलोचक कृति की छवि का वस्तुगत विश्लेषण न कर अपने ऊपर उसके पड़े हुए प्रभाव को काव्यात्मक शैली में कह चलता है। यह आलोचना स्वच्छंद व्यक्तिवाद और आत्मचेतना पर आधारित होती है। इसी लिये इसे आत्मगत या प्रभावाभिव्यंजक आलोचना भी कहते हैं। आलोचक कृतिकार के आनंद का अनुभव कर उसी के समानांतर उस आनंद का पुनः सृजन करता सा लगता है। इस प्रकार की आलोचना का उद्देश्य कृति में सन्निहित आनंद का विश्लेषण करना नहीं, बल्कि अनुभव करना कराना होता है। इस आलोचना का मूल आधार एक प्रकार से आलोचक का व्यक्तित्व ही होता है, इसलिये जहाँ आलोचक का सबल और पूर्ण रसग्राही व्यक्तित्व अपने प्रभाव के माध्यम से पाठक को कृति के मूल आनंद तक ले जाता है, वहीं हलके स्तर का व्यक्तित्व कृति के मर्म का अनुभव कराने के स्थान पर पाठक को मधुर वाग्जाल में उलझाता है, सतही भावुकता, आलंकारिकता और विस्मयबोधक प्रशंसोक्तियों की दुनिया में भटकाता है। आचार्य शुक्ल ने इसी प्रकार की आलोचनाओं को ध्यान में रख कर प्रभाववादी आलोचना को ठीक ठिकाने की वस्तु नहीं माना। किंतु सिद्धांत रूप से इस प्रकार की आलोचना को नगण्य नहीं माना जा सकता। इसी लिये डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसका भी उचित महत्व स्वीकार किया है। द्विवेदीजी का मत है कि आचार्य शुक्ल समीक्षा में बुद्धिमूलक चिंतन प्रधान मानते हैं, यह उचित ही है, लेकिन वे इस बात को भूल जाते हैं कि काव्य की समीक्षा कितनी

भी बुद्धिमूलक क्यों न हो वह भावावेग को समझाने का प्रयत्न करती है। 'जब-तक सहृदय का व्यक्तित्व कवि के साथ एकाकार नहीं हो जाता तबतक रस का अनुभव नहीं हो सकता। समीक्षक जबतक अपना अहंकार लेकर बैठा रहेगा तबतक रस नहीं पा सकेगा। स्वयं शुक्लजी ने कहा है कि काव्य का जो चरम लक्ष्य सर्वभूत को आत्मभूत करके अनुभव कराना है उसके साधन में भी अहंकार का त्याग है।'

द्विवेदीकाल में पं० पद्मसिंह शर्मा प्रभाववादी आलोचना के क्षेत्र में अग्रगण्य दीखते हैं, लेकिन शर्माजी का व्यक्तित्व संस्कार रीतिवादी था अतः इनकी आलोचनाओं में अंतःकरण की अभिव्यक्ति के स्थान पर रीतिवादी मानदंडों पर आधारित बाह्य प्रशंसामूलक उक्तियाँ मिलती हैं। हमारे आलोच्यकाल में छायावादी व्यक्तिवाद के उभार के कारण प्रभाववादी आलोचना का स्वरूप आंतरिक आकुलता से प्रेरित दिखाई पड़ता है। मोटे तौर पर इस काल में प्रभाववादी आलोचना दो रूपों में दिखाई पड़ती है—(१) समीक्षक अपने ऊपर पड़े हुए आलोच्य कृतियों के सौंदर्य के प्रभाव का उद्‌गार भावुकता के साथ अलंकृत शैली में करता है। (२) समीक्षक का उद्देश्य किसी सिद्धांत या रचना का स्वरूप विश्लेषण ही है, किंतु विषय का प्रतिपादन भावुकता और अलंकरणमयी शैली में करता है। श्रीशांतिप्रिय द्विवेदी के अधिकांश निबंध, डा० भगवत-शरण उपाध्याय द्वारा की गई गुरुभक्त सिंह की नूरजहाँ की समीक्षा आदि पहली श्रेणी में आते हैं तथा पंत, महादेवी, डा० रामकुमार वर्मा और डा० नगेंद्र के कुछ निबंध दूसरी श्रेणी में आते हैं।

श्रीशांतिप्रिय द्विवेदी कवि की कृतियों और व्यक्तित्वों को सटीक प्रतीकों, उपमाओं, रूपकों और उत्प्रेक्षाओं द्वारा व्यक्त करते चलते हैं। इन आलोचनाओं में बुद्धि और विचार के माध्यम से रचना की पृष्ठभूमि, अनुभूति, दर्शन और शैली का सर्वांगीण निरूपण तो नहीं हो पाता है किंतु इनमें रचना का सा रस मिलता है। ये आलोचनाएँ सहृदय पाठकों के मन में कवि की सी अनुभूति जगाती चलती हैं, लेकिन जिन पाठकों की कल्पना और कलात्मक रुचि बहुत ही परिष्कृत और सूक्ष्म होती है, वे ही इन आलोचनाओं का रस ले सकते हैं।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी में कहीं कहीं प्रभाववादी समीक्षा का बड़ा ही प्रांजल रूप दिखाई पड़ता है। 'सूरदास की राधा' निबंध उदाहरणार्थ रखा जा सकता है जिसे पढ़कर पाठक राधा के व्यक्तित्व से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। कवि की अनुभूति में वह चलता है और साथ ही साथ उसे सूरदास की राधा का अन्य कवियों की राधा से भिन्न व्यक्तित्व का बोध भी हो जाता है। श्रीशांतिप्रिय द्विवेदी और डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी दोनों एक स्थान पर साथ हैं अर्थात् दोनों की भावुकता विचारों के सूक्ष्मतंतुओं से अनुस्यूत होती है, लेकिन

अंतर यह है कि जहाँ द्विवेदीजी की शैली भावों का स्वच्छंद प्रवाह लेकर बहती है वहाँ शांतिप्रियजी की शैली आलंकारिक अनुरणन और सूक्तियाँ लेकर।

डा० भगवतशरण उपाध्याय ने गुरुभक्त सिंह की नूरजहाँ की आलोचना में अपने हृदय का उद्गार व्यक्त किया है। इसमें लेखक के भावों का प्रवाह मूल कृति के भावप्रवाह के अनुसार रूप धारण करता गया है। पंतजी, महादेवीजी, डा० रामकुमार वर्मा तथा डा० नगेंद्र के इस श्रेणी के निबंध मूलतः विचारधर्मी हैं, लेकिन शैली भावुकता और अलंकरणमयी है। डा० रामकुमार वर्मा तो समीक्षासिद्धांतों में भी इस शैली का प्रयोग करते हैं। जैसे 'कविता की शक्ति एक परी के समान है। यह पूर्ण स्वच्छंद है। जिन वस्तुओं की ओर जाना चाहती है वेग से उड़ जाती है।'

तुलनात्मक आलोचना

तुलना का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। तुलना प्रायः समान वस्तुओं की होती है। एक ही युग के दो या अधिक कृतिकारों को एक साथ रखकर उनकी समानता, विषमता, उनके प्रेरणास्रोतों, भावजगत्, विचारजगत्, उद्देश्य, शैली आदि की पारस्परिक तुलना करते हुए उनकी उत्कृष्टता अपकृष्टता को देखना तुलनात्मक समीक्षा के अंतर्गत आता है। किंतु ऐसा भी होता है कि ऐतिहासिक विकासक्रम में पास पास आनेवाले कालों की कृतियों को भी तुलना के लिये लेते हैं। जैसे हिंदी के भक्तिकाल और रीतिकाल के साहित्य को लेकर यह देखने का प्रयत्न करना भी तुलनात्मक समीक्षा के अंतर्गत आएगा कि रीतिकालीन कविता पर भक्तिकालीन कविता का कितना प्रभाव है और रीतिकालीन कविता भक्तिकालीन कविता से अपने संपूर्ण साहित्यिक व्यक्तित्व में कितनी सम, विषम है, कितनी अपकृष्ट, उत्कृष्ट है। इस प्रकार की आलोचना का सुंदर स्वरूप पं० नंददुलारे वाजपेयी के उन निबंधों में लक्षित होता है जहाँ उन्होंने छायावादी साहित्य को उसके पूर्ववर्ती कालों के साहित्य के परिपार्श्व में रखकर देखा है, जहाँ प्रसाद और मैथिलीशरण गुप्त की मानवतावादी भावधाराओं में अंतर स्थापित किया है और जहाँ छायावादी शृंगार और अध्यात्म भावना को रीतिवादी शृंगार और भक्तिकालीन अध्यात्म भावना से अलग किया है। वैज्ञानिक ढंग से साहित्य का इतिहास लिखते समय हर इतिहासकार को इस पद्धति का पालन करके चलना ही पड़ता है। किसी भी युग की प्रवृत्तियों की व्याख्या पार्श्ववर्ती युगों की प्रवृत्तियों की व्याख्या के बिना पूर्ण नहीं हो सकती। इसी लिये आचार्य रामचंद्र शुक्ल के 'हिंदी साहित्य के इतिहास' में तथा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'हिंदी साहित्य की भूमिका' में परवर्ती युगों पर पड़े हुए पूर्ववर्ती युगों के प्रभावों का विश्लेषण

विस्तार से मिलता है। एक ही कृतिकार की कई कृतियों की परस्पर तुलना हो सकती है। कालक्रम से विकसित उसकी भावात्मक, विचारगत तथा शैलीगत प्रौढ़ता की परीक्षा के लिये उसकी एक कृति को उसकी अन्य कृतियों के परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। जैसे कि प्रसाद, पंत, महादेवी, निराला या अन्य आधुनिक और प्राचीन कवियों की परीक्षा के समय अनेक आलोचकों ने किया है। इसके अतिरिक्त दो भाषाओं के समान प्रकार की विधा या भावसंपत्ति या जीवनोद्देश्य या शैली अपनानेवाले दो कृतिकारोंकी तुलना हो सकती है। जैसे कालिदास और शेक्सपियर, शेली और पंत, प्रेमचंद और गोर्की, रामचंद्र शुक्ल और रिचार्ड्स, क्रोचे और कुंतक, होमर और वाल्मीकि आदि की कुछ साहित्यिक समानताओं के कारण परस्पर तुलना की जाती है। शचीरानी गुर्टू का 'साहित्य दर्शन' इस दृष्टि से एक सुंदर प्रयास है। तुलना विषय, भाव, भाषा, शैली आदि सभी दृष्टियों से की जाती है। इस प्रकार तुलना का क्षेत्र बड़ा व्यापक है और उसका उद्देश्य है किसी कृति का सर्वांगीण पर्यवेक्षण और उसका सापेक्षिक मूल्यांकन।

लेकिन तुलना करने की रीतियों और आदर्शों में एकरूपता नहीं। तुलना व्याख्यात्मक आलोचना के माध्यम से भी हो सकती है और रूढ़ सिद्धांतों पर आधारित निर्णयात्मक समीक्षा के भी माध्यम से। उसका स्वर प्रशंसात्मक और निंदात्मक भी हो सकता है तथा विश्लेषणात्मक भी। अर्थात् तुलना का समावेश हर प्रकार की समालोचना के अंतर्गत हो सकता है। द्विवेदीकाल में पद्मसिंह शर्मा, कृष्णबिहारी मिश्र और लाला भगवान दीन द्वारा 'बिहारी और देव' पर लिखी गई तुलनात्मक समीक्षाएँ रीतिवादी साहित्यादर्शों को आधार बनाकर चली थीं और उनका स्वर प्रभाववादी था। अर्थात् भावुकता और अलंकरणमयी शैली में गुण दोष उद्घाटनवाला स्वर था, जब कि आचार्य शुक्ल आदि की तुलनात्मक समीक्षाएँ व्याख्यापरक और गंभीर विवेचनात्मक शैली में हैं। सूर और तुलसी की निजी विशेषताओं और उनके मूल प्रेरणास्रोतों का विवेचन करते समय इन दोनों में लक्षित होनेवाले साम्य एवं वैषम्य की बड़ी मार्मिक तुलना शुक्लजी ने की है। इसी प्रकार जायसी की विवेचना के समय स्थान स्थान पर भक्तिकाल के अन्य कवियों की चर्चा होती रही है। वास्तव में तुलना की प्रवृत्ति जब किसी कृति की विशेषताओं को सापेक्षिक रूप से समझने के लिये होती है तो श्रेयस्कर लगती है और जब दो कृतियों को आमने सामने रखकर किसी को छोटी किसी को बड़ी सिद्ध करने की भावना से प्रेरित होती है, अर्थात् दो टूक निर्णय देने के लिये होती है तो दूषित हो जाती है। आधुनिक काल में (नवीनतम समीक्षा में भी) कृतिकारों के व्यक्तित्वविधायक मौलिक गुणों को समझने के लिये तुलनात्मकता का पर्याप्त सहारा लिया गया है।

ऐतिहासिक आलोचना

हिंदी साहित्यकोश के अनुसार 'किसी कृति की व्याख्या करते समय रचयिता के समय के पूर्ववर्ती और समकालीन इतिहास का आश्रय ग्रहण करने से ऐतिहासिक आलोचना का जन्म होता है'। वास्तव में ऐतिहासिक आलोचना व्याख्यात्मक आलोचना की सहायक के रूप में स्वीकृत की जाती है। व्याख्यात्मक आलोचना रचना पर पड़े हुए देशकाल के प्रभाव तथा रचयिता की व्यक्तित्वनिःसृत विशेषताओं के परिवेश में उसे समझने का प्रयास करती है। युग और समाज के प्रभावों को लेकर भी कोई रचना समकालीन दूसरी रचनाओं से अलग क्यों होती है, इसको समझने के लिये रचनाकार की मौलिक प्रवृत्ति तथा सर्जनशक्ति तक पहुँचना होता है। ऐतिहासिक आलोचना अपने शुद्ध रूप में देश और काल तक ही सीमित रहती है किंतु रचनाकार के साहित्यिक व्यक्तित्व के परीक्षण की प्रवृत्ति के साथ मिलकर उच्चकोटि की व्याख्यात्मक समीक्षा का सर्जन करती है। यह सत्य है कि कोई कितना ही विराट् प्रतिभावान् सर्जक क्यों न हो, उसके कलात्मक मूल्यों के निर्माण में देश और काल का बहुत बड़ा हाथ होता है, कभी प्रत्यक्ष रूप से कभी परोक्ष रूप से। इसलिये किसी भी रचना को तबतक ठीक से नहीं समझा जा सकता जबतक कि देश और काल की प्रवृत्तियों का उचित विश्लेषण न कर लिया जाय। देश और काल की सापेक्षता में कला को समझ सकने के कारण चिरंतन मानदंडों की स्थापनाएँ कर ली जाती हैं जो रूढ़ ढंग से रसरीति और बँधीबँधाई शैली की दृष्टि से कृतियों का मूल्यांकन करती हैं। दूसरी ओर कला की व्यक्तित्वविधायक मौलिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण न कर यदि समीक्षा उसे सीधे तौर पर युग और समाज की उपज मान बैठती है तो एक निरंतर गतिशील किंतु असाहित्यिक मानदंड का निर्माण हो जाता है और कृति की साहित्यिक गहराई में पैठने के स्थान पर आलोचक युगीन राजनीति, समाजविज्ञान, दर्शनविज्ञान, आर्थिक जीवन, धार्मिक विश्वास, सामाजिक रूढ़ि आदि का विशद चित्र देने लगता है या कृतिकारविशेष के जीवन से संबद्ध बाहरी तथ्यों का संकलन करने लगता है। इस प्रयास में कृति का साहित्यिक मूल्यांकन या विश्लेषण नहीं हो पाता। वह आलोचना न होकर गवेषणा हो जाती है। आज विश्वविद्यालयों के अंतर्गत होनेवाले शोधकार्यों में अनेक ऐसे ही हैं जो कृति के इर्दगिर्द की ऐतिहासिक जानकारी को इकट्ठा करते हैं, लेकिन उसके सृजन की प्रक्रिया, उसके कलात्मक सौंदर्य और मूल्य को छू भी नहीं पाते। ऐतिहासिक आलोचना व्याख्यात्मक आलोचना की पूरक होकर ही साहित्यिक समीक्षा के दायित्व का निर्वाह कर सकती है। हिंदी साहित्य के इतिहास इसी दिशा में किए गए स्वस्थ प्रयास हैं। हिंदी साहित्य के इतिहासों में भी दो प्रकार के

स्वरूप दृष्टिगत होते हैं। एक में केवल कवियों के जीवनवृत्त और उनकी पुस्तकों की कोरी खोज की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। दूसरे में जीवनवृत्त और कृतियों की प्रामाणिकता के निरूपण के साथ विभिन्न युगों में सामाजिक स्थितियों और उनके बीच से फूटनेवाले साहित्यों की सामान्य प्रवृत्तियों की मार्मिक विवेचना मिलती है, और साथ ही विभिन्न कवियों की व्यक्तिगत सृजन छवियों की व्याख्या मिलती है। 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (आचार्य रामचंद्र शुक्ल), 'हिंदी साहित्य' (डा० श्यामसुंदर दास), 'आदि काल,' 'हिंदी साहित्य की भूमिका', 'हिंदी साहित्य', (डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी), 'बिहारी,' 'आनंदघन,' 'भूषण' (पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र), 'आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास' (पं० कृष्णशंकर शुक्ल), 'साहित्य की झाँकी' (डा० सत्येंद्र), 'आधुनिक हिंदी साहित्य' (डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय), 'आधुनिक हिंदी साहित्य' (डा० श्रीकृष्ण लाल) आदि दूसरी श्रेणी में आते हैं। इनमें ऐतिहासिक शोध और साहित्यविवेचन दोनों का समन्वित रूप प्राप्त होता है, मगर कुछ ऐसे भी कार्य हैं जिन्हें शुद्ध गवेषणा ही कहना संगत होगा। पृथ्वीराज रासो या वीर गाथाओं में आनेवाली अन्य संदिग्ध पुस्तकों और लेखकों की प्रामाणिकता अप्रामाणिकता सिद्ध करने के अनेक प्रयास हो रहे हैं और हुए हैं। संतों, नाथों, सिद्धों योगियों आदि पर भी निरंतर शोध हो रहे हैं। सगुण मार्गी और रीतिकालीन प्रमुख कवियों की गवेषणा चल रही है। इस क्षेत्र में महापंडित राहुल सांकृत्यायन की 'हिंदी काव्यधारा', दीनदयाल गुप्त की 'अष्टछाप के कवि', पीतांबरदत्त बड़थ्वाल की 'हिंदी काव्य में निर्गुण संप्रदाय' और 'योगप्रवाह' आदि पुस्तकें विशेष उल्लेखनीय हैं।

अन्य प्रकार की आलोचनाएँ

उपर्युक्त प्रकार की आलोचनाओं के अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार की आलोचनाएँ मानी गई हैं। किंतु इन आलोचनाओं का पश्चिम में प्रचलन भले ही रहा हो, हिंदी में इनका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। ये आलोचनाएँ मुख्य प्रकार की उपर्युक्त आलोचनाओं में अपने अपने स्वभाव के अनुसार अंतर्भुक्त हो जाती हैं। केवल इन्हीं को मानदंड बनाकर हिंदी में आलोचना नहीं लिखी गई है। जैसे नैसर्गिक आलोचना को प्रभाववादी आलोचना के अंतर्गत लिया जा सकता है। इस प्रकार की आलोचना में आलोचक की व्यक्तिगत रुचि अरुचि ही प्रधान होती है। यह आलोचना रचना का सौंदर्यसर्जन करनेवाले तत्वों का विश्लेषण नहीं करती। सिद्ध रूप में लक्षित होनेवाली रचना के सौंदर्य असौंदर्य के संबंध में आलोचक अपनी व्यक्तिगत प्रतिक्रिया कह चलता है। प्रभाववादी समीक्षक की तरह नैसर्गिक समीक्षक की भी कलासंबंधी मानसिक परिष्कृति पर आलोचना की उत्कृष्टता निर्भर करती है।

इसी से कुछ मिलती जुलती आलोचना है रचनात्मक या क्रियात्मक आलोचना। इस आलोचना में आलोचना के बाह्यारोपित मानों का विरोध मिलता है। साथ ही साथ यह प्रभाववादी आलोचना को भी पूर्ण नहीं मानती, क्योंकि प्रभाववादी आलोचना आलोचक की वैयक्तिक अनुभूति पर टिकी होती है जब कि रचनात्मक आलोचना कलाकार के अनुभवों को अपने भीतर जन्म देकर उनकी पुनः रचना करती है। कलाकार जीवन और जगत् का कल्पनात्मक अध्ययन करता है तो आलोचक कलाकार की सृष्टि का। इस प्रकार यह आलोचना समस्त बाहरी वस्तुओं—जीवनी, धर्म, परिस्थिति, युग, विषय की महत्ता—की उपेक्षाकर कलाकार के मानसिक जगत् का पुनर्निर्माण करने में ही अपनी सार्थकता समझती है। यह आलोचना प्रभाववादी आलोचना से कुछ इसलिये मिलती जुलती दिखाई पड़ती है कि दोनों की दृष्टि व्यक्तिवादी है। नियमों के अनुसरण के अभाव में और आलोचक की वैयक्तिक क्षमता अक्षमता पर अवलंबित रहने के कारण ये दोनों प्रकार की आलोचनाएँ व्यक्तिवादी हो जाती हैं। कहा जा सकता है कि उच्चकोटि की प्रभाववादी समीक्षा भी कला के प्रति आलोचक की व्यक्तिगत प्रतिक्रिया मात्र नहीं है वरन् वह कलाकृति के अनुभवों की पुनर्रचना भी करती चलती है। हिंदी में रचनात्मक या क्रियात्मक आलोचना का स्वरूप नहीं सा है। इसकी विशेषताओं को कहीं प्रभाववादी समीक्षा में, कहीं व्याख्यात्मक समीक्षा में, कहीं मनोविश्लेषण प्रभावित समीक्षा में अंतर्भुक्त कर लिया गया है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'सूरदास की राधा' निबंध कुछ सीमातक इस आलोचना के अंतर्गत लिया जा सकता है।

रीतिवादी आलोचना

संस्कृत साहित्य में 'काव्य की आत्मा' के प्रश्न को लेकर कई विचार संप्रदाय स्थापित हुए। आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना। विशिष्ट-पद-रचना रीति है। गुण विशिष्ट पदरचना के आधार हैं। रीति को आधार मानकर चलनेवाली आलोचना रीतिवादी आलोचना कही जाती है। कहा जा सकता है कि जहाँ रस संप्रदाय ने भाव या रस को विशेष महत्ता दी वहाँ रीति संप्रदाय ने विशिष्ट पदरचना अर्थात् साहित्य के बाह्य रूप को महत्व दिया। यों साहित्य के अंतरपक्ष और बाह्यपक्ष का अलगाव संभव नहीं, दोनों का संतुलन ही उच्च साहित्य की सृष्टि करता है किंतु प्रत्यक्षतः इन दोनों संप्रदायों ने क्रमशः अंतर-पक्ष और बाह्यपक्ष पर विशेष बल दिया। वास्तव में रीति अपने विकसित अर्थ में शैली का पर्याय हो गई है—इसके अंतर्गत शैली के समस्त गुण अंतर्भुक्त किए जा सकते हैं। कहा जा सकता है कि साहित्य के शैलीपक्ष पर विशेष बल देने-वाली आलोचना रीतिवादी आलोचना है। रीति से परिपाटी की भी ध्वनि आती

है, अर्थात् परिपाटीबद्ध शैली के चमत्कारों से संयुक्त साहित्य को सराहनेवाली आलोचना रीतिवादी आलोचना है। यह आलोचना स्वच्छंदतावादी आलोचना की इस दृष्टि के विपरीत मान्यता रखती है कि शैली विषय से अलग कोई वस्तु नहीं, विषय अपने स्वभाव के अनुसार स्वतः अभिव्यक्ति का मार्ग बना लेता है। विषय की प्रकृति के अनुसार शैली परिवर्तित होती रहती है और वह बाह्यारोपित कोई वस्तु नहीं वरन् विषय के साथ साथ फूटी हुई उसका संपृक्त अंग है। रीतिवादी आलोचना शैली को अलग से परिमार्जित और चमत्कृत करना चाहती है, शैली के भव्य प्रासाद में भाव की प्रतिष्ठा करना चाहती है। भव्य शैली में ही भाव भव्य रूप से दीप्त हो सकता है। इसलिये रीतिवादी आलोचक कृति की आलोचना करते समय कृति के मूल स्फुरण, नवीन अनुभूतियों और चेतनाओं तथा तदनुसार परिवर्तित या परिवर्द्धित होती हुई शैली की नई छवियों की चिंता न कर उसकी परिपाटीबद्ध शैलीछवि की परीक्षा करना चाहते हैं और परिपाटीबद्ध मँजीमँजाई चमत्कारपूर्ण भव्य शैली में खोट देखकर नए साहित्य को सदोष और हीन कोटि का मान बैठते हैं। द्विवेदीकाल में लाला भगवानदीन की समीक्षाओं में रीतिवादी समीक्षा का स्वरूप देखा जा सकता है। लालाजी मैथिलीशरण गुप्त प्रभृति नए कवियों की नई काव्य चेतनाओं की ओर ध्यान न देकर उनकी शैलीगत कमजोरियाँ प्रदर्शित कर रहे थे। इन आलोचकों के लिये ब्रजभाषा का शृंगारकाव्य अपने शैलीगत सौष्ठव और चमत्कारपूर्णता के कारण आदर्श काव्य था। नए काव्य में न वह मिठास थी, न परिमार्जन, न छंदनिर्वाह, न अलंकारों का निर्वाह आदि।

साहित्य में शैली का महत्व कम नहीं है। वह विषय का अविभाज्य अंग है। यदि रीति का अर्थ केवल शैली से लिया जाय तो उसका महत्व किसी भी प्रकार के साहित्य में या किसी काल की कृति में कम नहीं होता। यदि शैली को परिवर्तनशील रूप में स्वीकार किया जाय और रीति को शैली का पर्याय मान लिया जाय तो स्वीकार करना पड़ेगा कि रीति अपने विकसित अर्थ में सभी कालों की आलोचनाओं मे महत्वपूर्ण स्थान रखती आई है। आचार्य शुक्ल ने छायावादी काव्य के भाववैभव के साथ साथ उसके शिल्प में होनेवाले नए प्रयोगों— प्रतीक, अप्रस्तुतविधान, नई भाषाभंगिमा, बिंब, छंद, पद, संगीत आदि की ओर संकेत किया और बाद के आलोचकों ने विस्तार से इसपर विचार किया। प्रगतिवादी, प्रयोगवादी और नई कवितावादी आलोचकों ने भी साहित्य प्रयोगों के साथ बदलती हुई शैलीशक्तियों की जमकर व्याख्या की। किंतु रूढ़ अर्थ में इन्हें रीतिवादी आलोचना के अंतर्गत नहीं ले सकते। वह शैली के उदात्त स्वरूप जिसके अंतर्गत गुण, अलंकार, शब्दशक्तियाँ, वक्रोक्ति,

प्रतीक, बिंब तथा अभिव्यक्ति की अन्यान्य विशेषताएँ समाविष्ट हो जाती हैं—की व्याख्या है, शैलीवाद का अनुसरण नहीं।

जीवनीमूलक आलोचना

यह आलोचना मानती है कि कृतियों का और कृतिकार के जीवन का बड़ा निकटतम संबंध होता है। लेखक के भावजगत् और विचारजगत् पर उसके जीवन की घटनाओं और परिस्थितियों का बड़ा प्रभाव रहता है। अतः उसकी कृति में सन्निहित भाव और विचारधारा को समझने में उसका जीवनचरित बड़ा सहायक सिद्ध होता है। इसलिये उसके चरित्र का जितना ही सच्चा ज्ञान और विश्लेषण प्राप्त हो सकेगा उसकी कृति को समझने में उतनी ही अधिक सुगमता हासिल होगी। लेकिन इसमें एक बड़ा खतरा यह है कि आलोचक कृतिकार के जीवन का सतही अध्ययन कर उसकी कृतियों को उसका सीधा प्रतिफलन न मान बैठे। इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि आलोचक के पास कृतिकार के व्यक्तित्व और उसे निर्मित करनेवाली परिस्थितियों और घटनाओं का सूक्ष्म निरीक्षण करनेवाली दृष्टि हो, विश्लेषण करनेवाली बुद्धि हो, शोध करनेवाला धैर्य हो और लगन हो। शीघ्रता से निष्कर्ष पर पहुँच जानेवाली प्रवृत्ति यह कार्य करने में अक्षम सिद्ध होगी। वास्तव में जीवनीमूलक आलोचना भी ऐतिहासिक आलोचना की भाँति व्याख्यात्मक आलोचना की सहायक है, इसे भी व्याख्यात्मक आलोचना के भीतर ही समाविष्ट किया जा सकता है। जीवनीमूलक आलोचना का अर्थ केवल कृतिकार की जीवनी प्रस्तुत करना नहीं है बल्कि जीवनी और कृतियों के बीच कार्य-कारण संबंधों का विवेचन करना है। हिंदी में व्याख्यात्मक समीक्षा के अंतर्गत इस आलोचना का स्वरूप देखा जा सकता है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर की कविताओं के स्वरों का संबंध उनकी जीवनी से जोड़ा है। इसी प्रकार शुक्लजी ने भी अपने 'हिंदी साहित्य के इतिहास' में तुलसी, सूर, केशव, घनानंद आदि कवियों की जीवनी की प्रतिच्छवि उनकी कृतियों में देखने की ओर संकेत किया है। इसी प्रकार कुछ निबंधों में मीराबाई, महादेवी वर्मा, प्रसाद, पंत, निराला, प्रेमचंद आदि प्रमुख कृतिकारों की परिस्थितियों, उनसे प्रभावित उनके व्यक्तित्वों और उनकी कृतियों का कुछ कार्यकारण संबंध जोड़ा गया है।

———

अनुक्रमणिका

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

भाग १३

आलोचना और निबंध

नामानुक्रमणिका

[व्यक्ति, काल ग्रंथ, पत्र पत्रिकाएँ तथा संस्थाएँ]

अ

इ

ई

उ

ऋ

ए

ऐ

ओ

औ

क

म

य

स

ह